जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा

आगम-अनुसन्धान ग्रन्थमाला

ग्रन्थ : १

निग्गंथं पावयणं

आगम-अनुसन्धान ग्रन्थमाला

ग्रन्थ : २

उत्तरज्झयणाणि

(भाग १)

[मूल पाठ, संस्कृत-छाया, हिन्दी अनुवाद]

वाचना प्रमुख

आचार्य तुलसी

अनुवादक और सम्पादक

मुनि नथमल

(निकाय-सचिव)

प्रकाशक :

जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा

(आगम-साहित्य प्रकाशन समिति)

३, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कलकत्ता-१

प्रबन्ध सम्पादक :
श्रीचन्द रामपुरिया, बी० कॉम०, बी० एल्०

संकलक :
आदर्श साहित्य संघ,
चूरू (राजस्थान)

आर्थिक सहायक :
श्री रामलाल हंसराज गोलेछा
विराटनगर (नेपाल)

प्रकाशन तिथि :
१, दिसम्बर, १९६७

प्रति संख्या :
१५००

पृष्ठाङ्क :
६७२

मुद्रक :
रेफिल आर्ट प्रेस,
३१, बड़तल्ला स्ट्रीट,
कलकत्ता-७

मूल्य :
रु० २०

JAIN SWETAMBAR TERAPANTHI MAHASABHA AGAM-GRANTHAMALA
GRANTHA : 2

UTTARAJJHAYANANI

(THE UTTARADHYAYANA SUTRA)

PART I

Text with variant readings, Sanskrit renderings and Hindi translation.

VACANA PRAMUKH
ACARYA TULASI

EDITED & TRANSLATED
BY
MUNI NATHMAL
Nikaya Saciva

PUBLISHER
JAIN SWETAMBAR TERAPANTHI MAHASABHA
AGAM-SAHITYA PRAKASHAN SAMITI
3 Portuguese Church Street
CALCUTTA-1 (INDIA)

First Edition : 1967
Copies Printed : 1500

Price : Rs. 20.00/-

Managing Editor :
Shreechand Rampuria, B. Com., B.L.



Manuscript compiled by :
Adarsha Sahitya Sangha
Churu (Rajasthan)



Financial Assistance :
Sri Ramlal Hanshraj Golchha
Biratnagar (Nepal)

Printer :
Raphael Art Press
31, Burtolla Street,
CALCUTTA-.7

समर्पण

॥१॥

पुट्ठो वि पण्णा-पुरिसो सुदक्खो,
आण्णा-पहाणो जणि जस्स निच्चं ।
सच्चप्पओगे पवरासयस्स,
भिक्खुस्स तस्स प्पणिहाण पुव्वं ॥

जिसका प्रज्ञा-पुरुष पुष्ट पटु,
होकर भी आगम-प्रधान था ।
सत्य-योग मे प्रवर चित्त था,
उसी भिक्षु को विमल भाव से ॥

॥२॥

विलोडियं आगम दुद्ध मेव,
लद्धं सुलद्धं णवणीय मच्छं ।
सज्झायसज्झाणरयस्स निच्चं,
जयस्स तस्स प्पणिहाण पुव्वं ॥

जिसने आगम-दोहन कर कर,
पाया प्रवर प्रचुर नवनीत ।
श्रुत-सद्ध्यान लीन चिर चिंतन,
जयाचार्य को विमल भाव से ॥

॥३॥

पवाहिया जेण सुयस्स धारा,
गणे समत्थे मम माणसे वि ।
जो हेउभूओ स्स पवायणस्स,
कालुस्स तस्स प्पणिहाण पुव्वं ॥

जिसने श्रुत की धार बहाई,
सकल संघ में मेरे मन में ।
हेतुभूत श्रुत-सम्पादन में,
कालुगणी को विमल भाव से ॥

विनयावनत:

आचार्य तुलसी

अन्तस्तोष

अन्तस्तोष अनिर्वचनीय होता है, उस माली का जो अपने हाथों से उप्त और सिञ्चित द्रुम-निकुञ्ज को पल्लवित, पुष्पित और फलित हुआ देखता है, उस कलाकार का जो अपनी तूलिका से निराकार को साकार हुआ देखता है और उस कल्पनाकार का जो अपनी कल्पना को अपने प्रयत्नों से प्राणवान् बना देखता है। चिरकाल से मेरा मन इस कल्पना से भरा था कि जैन-आगमों का शोध-पूर्ण सम्पादन हो और मेरे जीवन के बहुश्रमी क्षण उसमें लगें। संकल्प फलवान् बना और वैसा ही हुआ। मुझे केन्द्र मान मेरा धर्म-परिवार उस कार्य में संलग्न हो गया। अतः मेरे इस अन्तस्तोष में मैं उन सबको समभागी बनाना चाहता हूँ, जो इस प्रवृत्ति में संविभागी रहे हैं। संक्षेप में वह संविभाग इस प्रकार है—

अनुवादक और सम्पादक :			मुनि नथमल (निकाय-सचिव)
		सहयोगी :	मुनि मीठालाल
		,,	मुनि दुलहराज
पाठ-सम्पादन	:	,,	मुनि सुदर्शन
		,,	मुनि मधुकर
		,,	मुनि हीरालाल
संस्कृत छाया	:	,,	मुनि सुमेरमल 'लाडनूं'
		,,	मुनि श्रीचन्द्र 'कमल'
पदानुक्रम	:	,,	साध्वी जयश्री
		,,	साध्वी कनकश्री
विषयानुक्रम	:	,,	मुनि रूपचन्द्र

संविभाग हमारा धर्म है। जिन-जिनने इस गुरुतर प्रवृत्ति में उन्मुक्त भाव से अपना संविभाग समर्पित किया है, उन सबको मैं आशीर्वाद देता हूँ और कामना करता हूँ कि उनका भविष्य इस महान् कार्य का भविष्य बने।

—आचार्य तुलसी

ग्रन्थानुक्रम

प्रकाशकीय

'उत्तरज्झयणाणि' (उत्तराध्ययन सूत्र) मूलपाठ, संस्कृत छाया, हिन्दी अनुवाद एवं टिप्पणियों सहित दो भागों में आपके हाथों में है।

वाचना प्रमुख आचार्य श्री तुलसी एवं उनके इंगित और आकार पर सब कुछ न्योछावर कर देने वाले मुनि-वृन्द की यह समवेत कृति आगमिक कार्य-क्षेत्र में युगान्तरकारी है। इस कथन में अतिशयोक्ति नहीं, पर सत्य है। बहुमुखी प्रवृत्तियों के केन्द्र प्राणपुञ्ज आचार्य श्री तुलसी ज्ञान-क्षितिज के एक महान् तेजस्वी रवि हैं और उनका मण्डल भी शुभ्र नक्षत्रों का तपोपुञ्ज है। यह इस अत्यन्त श्रम-साध्य कृति से स्वयं फलीभूत है।

गुरुदेव के चरणों में मेरा विनम्र सुझाव रहा—आपके तत्वावधान में आगमों का सम्पादन और अनुवाद हो—यह भारत के सांस्कृतिक अभ्युदय की एक मूल्यवान् कड़ी के रूप में चिर-अपेक्षित है। यह अत्यन्त स्थायी कार्य होगा, जिसका लाभ एक-दो-तीन नहीं अपितु अचिन्त्य भावी पीढ़ियों को प्राप्त होता रहेगा। मुझे इस बात का अत्यन्त हर्ष है कि मेरी मनोभावना अंकुरित ही नहीं, पर फलवती और रसवती भी हुई है।

प्रस्तुत 'उत्तरज्झयणाणि' आगम-अनुसंधान ग्रन्थमाला का द्वितीय ग्रन्थ है। इससे पूर्व प्रकाशित 'दसवेआलियं' (मूल पाठ, संस्कृत-छाया, हिन्दी अनुवाद एवं टिप्पण युक्त) को अब अनुसन्धान ग्रन्थमाला का प्रथम ग्रन्थ समझना चाहिए।

'दसवेआलियं' एक जिल्द में प्रकाशित है। उसमें टिप्पण प्रत्येक अध्ययन के बाद में है। 'उत्तरज्झयणाणि' में टिप्पणों की अलग जिल्द द्वितीय भाग के रूप में प्रकाशित है।

'दसवेआलियं' में पाठान्तर नहीं दिये गये थे। 'उत्तरज्झयणाणि' में पाठान्तर दे दिये गये हैं।

'दसवेआलियं' की तरह ही 'उत्तरज्झयणाणि' में भी प्रत्येक अध्ययन के आरम्भ में पांडित्यपूर्ण आमुख दे दिया गया है, जिससे अध्ययन के विषय का सांगोपाङ्ग आभास हो जाता है। प्रत्येक आमुख एक अध्ययनपूर्ण निबन्ध-सा है। परिशिष्ट में आमुखों में प्रयुक्त ग्रन्थ-सूची दे दी गई है, जिससे आमुखों को लिखने में जो परिश्रम उठाया गया है, उसका सहज ही आभास हो जाता है। चारों चरणों का पदानुक्रम भी दे दिया गया है। आरम्भ में अध्ययन-अनुक्रमणिका के साथ-साथ अध्ययन विषयानुक्रम भी दे दिया गया है, जिससे प्रत्येक श्लोक का विषय जाना जा सकता है।

द्वितीय भाग में टिप्पण हैं। टिप्पणों के प्रस्तुत करने में चूर्णि, टीकाएँ आदि के उपयोग के साथ-साथ अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का भी सहारा लिया गया है, जिनकी सूची द्वितीय भाग के अन्त में दे दी गई है। प्रथम परिशिष्ट में शब्द-विमर्श और द्वितीय परिशिष्ट में पाठान्तर-विमर्श समाहित हैं। इस तरह टिप्पण भाग अपूर्व अध्ययन के साथ पाठकों के सामने उपस्थित हो रहा है। प्रयुक्त ग्रन्थों के सन्दर्भ सहित उद्धरण पाद-टिप्पणियों में दे दिये गये हैं, जिससे जिज्ञासु पाठक की तृप्ति हाथों हाथ हो जाती है और उसे संदर्भ देखने के लिए इधर-उधर दौड़ना नहीं पड़ता।

तेरापंथ के आचार्यों के बारे में यह कहा जाता है कि उन्होंने प्राचीन चूर्णि, टीका आदि ग्रन्थों का बहिष्कार कर दिया। वास्तव में इसके पीछे तथ्य नहीं था। सत्य जहाँ भी हो वह आदरणीय है, यही तेरापंथी आचार्यों की दृष्टि रही। चतुर्थ आचार्य जयाचार्य ने पुरानी टीकाओं का कितना उपयोग किया था, यह उनकी भगवती जोड़ आदि रचनाओं से प्रकट है। 'दसवेआलियं' तथा 'उत्तरज्झयणाणि' तो इस बात के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं कि निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि, टीकाओं आदि का जितना उपयोग प्रथम बार वाचना प्रमुख आचार्य श्री तुलसी एवं उनके चरणों में सम्पादन-कार्य में लगे हुए निकाय सचिव मुनि श्री नथमलजी तथा उनके सहयोगी साधुओं ने किया है, उतना किसी भी अद्यावधि प्रकाशित सानुवाद संस्करण में नहीं हुआ है। सारा अनुवाद एवं लेखन-कार्य अभिनव कल्पना को लिए हुए हैं। मौलिक चिन्तन भी उनमें कम नहीं है। बहुश्रुतता एवं गंभीर अन्वेषण प्रति पृष्ठ से झलकते हैं। हम आशा करते हैं कि पाठकों को दो भागों में प्रकाशित होने वाला यह ग्रन्थ अनेक नई सामग्री प्रदान करेगा और वे इसे बड़े ही आदर के साथ अपनायेंगे।

पाण्डुलिपि की प्रतिलिपि

आचार्य श्री के तत्त्वावधान में सन्तों द्वारा प्रस्तुत पाण्डुलिपि को नियमानुसार अवधार कर उसकी प्रतिलिपि करने का कार्य आदर्श साहित्य संघ, (चूरू) द्वारा सम्पन्न हुआ है, जिसके लिए हम संघ के संचालकों के प्रति कृतज्ञ हैं।

अर्थ-व्यवस्था

इस ग्रन्थ के प्रकाशन का व्यय विराटनगर (नेपाल) निवासी श्री रामलालजी हंसराजजी गोलछा द्वारा श्री हंसराजजी हुलासचन्दजी गोलछा को स्वर्गीया माता श्री धापीदेवी (धर्मपत्नी श्री रामलालजी गोलछा) की स्मृति में प्रदत्त निधि से हुआ है। एतदर्थ इस अनुकरणीय अनुदान के लिए गोलछा-परिवार हार्दिक धन्यवाद का पात्र है।

आगम-साहित्य प्रकाशन समिति की ओर से उक्त निधि से होने वाले प्रकाशन-कार्य की देख-रेख के लिए निम्न सज्जनों की एक उपसमिति गठित की गई है :—

१—श्रीमान् हुलासचन्दजी गोलछा
२— ,, मोहनलालजी बाँठिया
३— ,, श्रीचन्द रामपुरिया
४— ,, गोपीचन्दजी चोपड़ा
५— ,, केवलचन्दजी नाहटा

सर्व श्री श्रीचन्द रामपुरिया एवं केवलचन्दजी नाहटा उक्त समिति के संयोजक चुने गये हैं।

आगम-साहित्य प्रकाशन-कार्य

महासभा के अन्तर्गत आगम-साहित्य प्रकाशन समिति का प्रकाशन-कार्य ज्यों-ज्यों आगे बढ़ रहा है, त्यों-त्यों हृदय में आनन्द का पारावार नहीं। मैं तो अपने जीवन की एक साध ही पूरी होते देख रहा हूँ। इस अवसर पर मैं अपने अनन्य बन्धु और साथी सर्व श्री गोविन्दरामजी सरावगी, मोहनलालजी बाँठिया एवं खेमचन्दजी सेठिया को उनकी मुक्त सेवाओं के लिए हार्दिक धन्यवाद देता हूँ।

आभार

आचार्य श्री की सुदीर्घ दृष्टि अत्यन्त भेदिनी है। जहाँ एक ओर जन-मानस को आध्यात्मिक और नैतिक चेतना की जागृति के व्यापक आन्दोलनों में उनके अमूल्य जीवन-क्षण लग रहे हैं वहाँ दूसरी ओर आगम-साहित्य-गत जैन-संस्कृति के मूल सन्देश को जन-व्यापी बनाने का उनका उपक्रम भी अनन्य और स्तुत्य है। जैन-आगमों को अभिलषित रूप में भारतीय एवं विदेशी विद्वानों के सम्मुख ला देने की आकांक्षा में वाचना प्रमुख के रूप में आचार्य श्री तुलसी ने जो अथक परिश्रम अपने कन्धों पर लिया है, उसके लिए जैन ही नहीं अपितु सारी भारतीय जनता उनके प्रति कृतज्ञ रहेगी।

निकाय सचिव मुनि श्री नथमलजी का सम्पादन-कार्य एवं तेरापंथ-संघ के अन्य विद्वान् मुनि-वृन्द के सक्रिय सहयोग भी वस्तुतः अभिनन्दनीय है।

हम आचार्य श्री और उनके साधु-परिवार के प्रति इस जन-हितकारी पवित्र प्रवृत्ति के लिए नतमस्तक हैं।

जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा
३, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कलकत्ता-१

श्रीचन्द रामपुरिया
संयोजक
आगम-साहित्य प्रकाशन समिति

सम्पादकीय

आगम-सम्पादन की प्रेरणा

विक्रम सम्वत् २०११ का वर्ष और चैत्र मास। आचार्य श्री तुलसी महाराष्ट्र की यात्रा कर रहे थे। पूना से नारायण गाँव की ओर जाते-जाते मध्यावधि में एक दिन का प्रवास मंचर में हुआ। आचार्य श्री एक जैन परिवार के भवन में ठहरे थे। वहाँ मासिक पत्रों की फाइलें पड़ी थीं। गृह-स्वामी की अनुमति ले, हम लोग उन्हें पढ़ रहे थे। साँझ की वेला, लगभग छह बजे होंगे। मैं एक पत्र के किसी अंश का निवेदन करने के लिए आचार्य श्री के पास गया। आचाय श्री पत्रों को देख रहे थे। जैसे ही मैं पहुँचा, आचार्य श्री ने धर्मदूत के सद्यस्क अंक की ओर संकेत करते हुए पूछा—"यह देखा कि नहीं ?" मैंने उत्तर में निवेदन किया—"नहीं, अभी नहीं देखा।" आचार्य श्री बहुत गम्भीर हो गए। एक क्षण रुक कर बोले—"इसमें बौद्ध-पिटकों के सम्पादन की बहुत बड़ी योजना है। बौद्धों ने इस दिशा में पहले ही बहुत कार्य किया है और अब भी बहुत कर रहे हैं। जैन-आगमों का सम्पादन वैज्ञानिक पद्धति से अभी नहीं हुआ है और इस ओर अभी ध्यान भी नहीं दिया जा रहा है।" आचार्य श्री की वाणी में अन्तर-वेदना टपक रही थी, पर उसे पकड़ने में समय की अपेक्षा थी।

आगम-सम्पादन का संकल्प

रात्रि-कालीन प्रार्थना के पश्चात् आचार्य श्री ने साधुओं को आमंत्रित किया। वे आए और वन्दना कर पंक्ति-बद्ध बैठ गए। आचाय श्री ने सायं-कालीन चर्चा का स्पर्श करते हुए कहा—"जैन-आगमों का कायाकल्प किया जाय, ऐसा संकल्प उठा है। उसकी पूर्ति के लिए कार्य करना होगा, पूर्ण श्रम करना होगा। बोलो, कौन तैयार है ?"

सारे हृदय एक साथ बोल उठे—"सब तैयार हैं।"

आचार्य श्री ने कहा—"महान् कार्य के लिए महान् साधना चाहिए। कल ही पूर्व तैयारी में लग जाओ, अपनी-अपनी रुचि का विषय चुनो और उसमें गति करो।"

मंचर से विहार कर आचार्य श्री संगमनेर पहुँचे। पहले दिन वैयक्तिक बातचीत होती रही। दूसरे दिन साधु-साध्वियों की परिषद् बुलाई गई। आचार्य श्री ने परिषद् के सम्मुख आगम-सम्पादन के संकल्प की चर्चा की। सारी परिषद् प्रफुल्ल हो उठी। आचार्य श्री ने पूछा—"क्या इस संकल्प को अब निर्णय का रूप देना चाहिए ?"

समलय से प्रार्थना का स्वर निकला—"अवश्य, अवश्य।" आचाय श्री औरंगाबाद पधारे। सुराणा-भवन, चैत्र शुक्ला त्रयोदशी (वि० सं० २०११), महावीर-जयंती का पुण्य-पर्व। आचार्य श्री ने साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका—इस चतुर्विध-संघ की परिषद् में आगम-सम्पादन की विधिवत् घोषणा की।

आगम-सम्पादन का कार्यारम्भ

वि० सं० २०१२ श्रावण मास (उज्जैन चातुर्मास) से आगम-सम्पादन का कार्यारम्भ हो गया। न तो सम्पादन का कोई अनुभव और न कोई पूर्व तैयारी। अकस्मात् धर्मदूत का निमित्त पा आचार्य श्री के मन में संकल्प उठा और उसे सबने शिरोधार्य कर लिया। चिन्तन की भूमिका से इसे निरी भावुकता ही कहा जाएगा, किन्तु भावुकता का मूल्य चिन्तन से कम नहीं है। हम अनुभव-विहीन थे, किन्तु आत्म-विश्वास से शून्य नहीं थे। अनुभव आत्म-विश्वास का अनुगमन करता है, किन्तु आत्म-विश्वास अनुभव का अनुगमन नहीं करता।

प्रथम दो-तीन वर्षों में हम अज्ञात दिशा में यात्रा करते रहे। फिर हमारी सारी दिशाएँ और कार्य-पद्धतियाँ निश्चित व सुस्थिर हो गईं। आगम-सम्पादन की दिशा में हमारा कार्य सर्वाधिक विशाल व गुरुतर कठिनाइयों से परिपूर्ण है, यह कह कर मैं स्वल्प भी अतिशयोक्ति नहीं कर रहा हूँ। आचार्य श्री के अदम्य उत्साह व समर्थ प्रयत्न से हमारा कार्य निरन्तर गतिशील हो रहा है। इस कार्य में हमें अन्य अनेक विद्वानों की सद्भावना, समर्थन व प्रोत्साहन मिल रहा है। मुझे विश्वास है कि आचार्य श्री की यह वाचना पूर्ववर्ती वाचनाओं से कम अर्थवान् नहीं होगी।

आगम-सम्पादन की रूपरेखा

प्रस्तुत ग्रंथ उत्तराध्ययन का सानुवाद संस्करण है। यह आगम-ग्रन्थ-माला का दूसरा ग्रन्थ है। आगम-साहित्य के अध्येता दोनों प्रकार के लोग हैं—विद्वद्-जन और साधारण-जन। दोनों को दृष्टि में रख कर हमने सम्पादन कार्य को छह ग्रन्थ-माला में ग्रथित किया है। उसका आधार यह है—

(१) **आगम-सुत्त ग्रंथ-माला**— इस ग्रन्थ-माला में आगमों के मूलपाठ, पाठान्तर, शब्दानुक्रम आदि होंगे।

(२) **आगम ग्रंथ-माला**— इस ग्रन्थ-माला में आगमों के मूलपाठ, पाठान्तर, संस्कृत-छाया, हिन्दी अनुवाद, पदानुक्रम या सूत्रानुक्रम आदि होंगे।

(३) **आगम-अनुसन्धान ग्रंथ-माला**—इस ग्रन्थ-माला में आगमों के टिप्पण होंगे।

(४) **आगम-अनुशीलन ग्रंथ-माला**— इस ग्रन्थ-माला में आगमों के समीक्षात्मक अध्ययन होंगे।

(५) **आगम-कथा ग्रंथ-माला**— इस ग्रन्थ-माला में आगमों से सम्बन्धित कथाओं का संकलन होगा।

(६) **वर्गीकृत-आगम ग्रंथ-माला**— इस ग्रन्थ-माला में आगमों के वर्गीकृत और संक्षिप्त संस्करण होंगे।

प्रस्तुत ग्रन्थ की भूमिका बहुत ही लघुकाय है। उसका प्रतिपाद्य विषय 'उत्तराध्ययन : एक समीक्षात्मक अध्ययन' (आगम-अनुशीलन ग्रन्थ-माला, ग्रन्थ-२) तथा 'दसवेआलियं तह उत्तरज्झयणाणि' (आगम-सुत्त ग्रन्थ-माला, ग्रन्थ-१) की भूमिका में प्रतिपादित हो चुका है। प्रत्येक अध्ययन के प्रारम्भ में आमुख हैं, उनमें भी अध्ययन की प्रासंगिक चर्चा की गई है। इसलिए भूमिका में चर्चित विषयों की पुनः चर्चा करने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती।

मूलपाठ

प्रस्तुत ग्रन्थ में मूलपाठ वही है, जिसका प्रयोग हमने आगम-सुत्त ग्रन्थ-माला, ग्रन्थ-१ में किया है। पाठ-संशोधन में प्रयुक्त आदर्शों का परिचय उस ग्रन्थ में दिया जा चुका है। पाठान्तर पाद-टिप्पणों में दिए गए हैं। उनके आगे कोष्ठक में संशोधन में प्रयुक्त आदर्शों के संकेत हैं।

हस्तलिखित प्रतियों के संकेत

अ—मूलपाठ सावचूरी।

आ—उत्तराध्ययन मूलपाठ।

इ—उत्तराध्ययन मूल।

उ—उत्तराध्ययन पाठ, अवचूरी सहित।

ऋ—उत्तराध्ययन पाठ, अवचूरी सहित।

स—उत्तराध्ययन सर्वार्थसिद्धि टीका सहित।

मुद्रित प्रतियों के संकेत

सु—सुखबोधा टीका, नेमिचन्द्राचार्य कृत, प्र०—देवचन्द लालभाई।

बृ—बृहद्वृत्ति, शान्त्याचार्य कृत, प्र०—देवचन्द लालभाई जैन, पुस्तकोद्धार, ग्रंथांक-३३।

चू—चूर्णि, गोपालिक महत्तरशिष्य कृत, प्र०—देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार, ग्रंथांक-३३।

संस्कृत-छाया

संस्कृत-छाया को हमने वस्तुतः छाया रखने का ही प्रयत्न किया है। कुछ मुद्रित पुस्तकों में संस्कृत-छाया टीकाओं के आधार पर की गई है, किन्तु यह कई स्थलों पर छाया न हो कर संस्कृत पर्यायान्तर हो जाता है। टीकाकार प्राकृत शब्द की व्याख्या करते हैं अथवा उसका संस्कृत पर्यायान्तर देते हैं। छाया में वैसा नहीं हो सकता।

मूलपाठ में कुछ शब्द देशी भाषा के हैं। संस्कृत-छाया तत्सम प्राकृत शब्दों की हो सकती है, किन्तु देशी शब्दों की नहीं हो सकती। वहाँ हमने अर्थानुसार संस्कृत पर्याय का प्रयोग किया है। देखें—१२।२१ और २९।२२ में 'धणिय' शब्द का संस्कृत पर्याय। जिनके लिए संस्कृत का एक शब्द नहीं मिलता, वैसे देशी शब्दों को उभयवर्ती व्यवच्छेदों (कोमा) के अन्तर्गत रखा गया है। देखें १।५ का 'कणकुण्डग'। परिभाषाई शब्दों को भी उभयवर्ती व्यवच्छेदों के अन्तर्गत रखा गया है।

हिन्दी-अनुवाद

उत्तराध्ययन का हिन्दी-अनुवाद मूलस्पर्शी है। इसमें कोरे शब्दानुवाद की सी विरसता और जटिलता नहीं है तथा भावानुवाद जैसा विस्तार भी नहीं है। सूत्र का आशय जितने शब्दों में प्रतिबिम्बित हो सके, उतने ही शब्दों की योजना करने का प्रयत्न किया गया है। मूल शब्दों की सुरक्षा के लिए कहीं-कहीं उनका प्रचलित अर्थ कोष्ठकों में किया गया है। सूत्रगत हार्द की स्पष्टता टिप्पण के संस्करण में की गई है। देखें—उत्तराध्ययन के टिप्पण। सभी सूत्रों के टिप्पण अनुवाद के तत्काल बाद नहीं लिखे जा सकते। इस कठिनाई के कारण टिप्पणों के संकेत अनुवाद के साथ संबन्ध नहीं किये जा सके। इससे पाठकों के सामने किंचित् कठिनाई होती है। हमारी कठिनाई उससे कहीं अधिक है, इसलिए वैसा करना हमारे लिए संभव नहीं।

परिशिष्ट

इस संस्करण में तीन परिशिष्ट हैं—

(१) पदानुक्रम —इसमें प्रत्येक श्लोक के प्रत्येक चरण का अनुक्रम किया गया है।

(२) प्रयुक्त-ग्रन्थ—इसमें आमुखों में प्रयुक्त ग्रन्थों की सूची है।

(३) शुद्धि-पत्रम्।

ग्रन्थाग्र—ग्रन्थ-परिमाण

उत्तराध्ययन का अक्षर-परिमाण कुल ६५५१२।

उत्तराध्ययन अनुष्टुप् श्लोक-परिमाण २०५०।१२ अक्षर।

प्रस्तुत सम्पादन में सहयोगी

उत्तराध्ययन सर्वाधिक प्रसिद्ध आगम है। यह सरस, सरल और हृदयग्राही है। इसका अनुवाद भी हमने प्राञ्जल हिन्दी में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। अनुवाद-कार्य में मुनि मीठालालजी व दुलहराजजी ने पूरा योग दिया है। आचार्य श्री ने इसे स्व-रुचि तथा जन-रुचि दोनों कसौटियों से कसा है।

इसका पदानुक्रम साध्वी जयश्री, कनकश्री ने किया है। उसके संशोधन में मुनि हनुमानमलजी (सरदारशहर), हीरालालजी, श्रीचन्द्रजी, किशनलालजी, मोहनलालजी (आमेट), साध्वी कमलश्रीजी तथा सरोजकुमारीजी ने योग दिया है।

इसका विषयानुक्रम मुनि रूपचन्द्रजी ने किया है। अनुवाद की प्रतिलिपि में मुनि सुमेरमलजी 'सुमन' ने मेरा सहयोग किया है। ग्रन्थ-परिमाण की गणना मुनि सागरमलजी 'श्रमण', मुनि मोहनलालजी (आमेट) ने की है।

इस प्रकार प्रस्तुत ग्रन्थ में अनेक साधु-साध्वियों की पवित्र अँगुलियों का योग है। आचार्य श्री के वरदहस्त की छाया में बैठ कर कार्य करने वाले हम सब संभागी हैं, फिर भी मैं उन सब साधु-साध्वियों के प्रति सद्भावना व्यक्त करता हूँ, जिनका इस काय में योग है और आशा करता हूँ कि वे इस महान् कार्य के अग्रिम चरण में और अधिक दक्षता प्राप्त करेंगे।

आगमों के प्रबन्ध-सम्पादक श्री श्रीचन्दजी रामपुरिया तथा स्वर्गीय मदनचन्दजी गोठी का भी इस कार्य में निरन्तर सहयोग रहा है।

आदर्श साहित्य संघ के संचालक व व्यवस्थापक श्री हनूतमलजी सुराना व जयचन्दलालजी दफ्तरी का भी अविरल योग रहा है। आदर्श साहित्य संघ की सहयुक्त सामग्री ने इस दिशा में महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। इस लक्ष्य के लिए समान गति से चलने वालों की सम-प्रवृत्ति में योगदान की परम्परा का उल्लेख व्यवहार-पूर्ति मात्र है। वास्तव में यह हम सबका पवित्र कर्त्तव्य है और उसी का हम सबने पालन किया है।

आचार्य श्री प्रेरणा के अनन्त स्रोत हैं। हमें इस कार्य में उनकी प्रेरणा और प्रत्यक्ष योग दोनों प्राप्त हैं, इसलिए हमारा कार्य-पथ बहुत ऋजु हुआ है। उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित कर मैं कार्य की गुरुता को बढ़ा नहीं पाऊँगा। उनका आशीर्वाद दीप बन कर हमारा कार्य-पथ प्रकाशित करता रहे, यही हमारी आशंसा है।

—मुनि नथमल

सागर-सदन,
शाहीबाग,
अहमदाबाद-४
२० अगस्त, १९६७



भूमिका

जैन-आगम चार वर्गों में विभक्त हैं—(१) अंग, (२) उपांग, (३) मूल और (४) छेद। यह वर्गीकरण बहुत प्राचीन नहीं है। विक्रम की १३-१४वीं शताब्दी से पूर्व इस वर्गीकरण का उल्लेख प्राप्त नहीं है।

उत्तराध्ययन 'मूल वर्ग' के अन्तर्गत परिगणित होता है।

चूर्णि-कालीन श्रुत-पुरुष की स्थापना के अनुसार मूल-स्थानीय (चरण-स्थानीय) दो सूत्र हैं—(१) आचारांग और (२) सूत्रकृतांग। परन्तु जिस समय पैंतालीस आगमों की कल्पना स्थिर हुई, उस समय श्रुत-पुरुष की स्थापना में भी परिवर्तन हुआ और श्रुत-पुरुष की अर्वाचीन प्रतिकृतियों में दशवैकालिक और उत्तराध्ययन—ये दो सूत्र चरण-स्थानीय माने जाने लगे।

नाम

इस सूत्र का नाम उत्तराध्ययन है। यह दो शब्दों—'उत्तर' और 'अध्ययन'—से बना है। इसी सूत्र के अन्तिम श्लोक तथा निर्युक्ति आदि में इसका नाम बहुवचनात्मक मिलता है।

रचना-काल और कर्तृत्व

निर्युक्तिकार के अनुसार उत्तराध्ययन किसी एक कर्त्ता की कृति नहीं है। कर्तृत्व की दृष्टि से इसके अध्ययन चार वर्गों में विभक्त होते हैं। जैसे—(१) अंग-प्रभव—दूसरा अध्ययन, (२) जिन-भाषित—दसवां अध्ययन, (३) प्रत्येक-बुद्ध-भाषित—आठवाँ अध्ययन और (४) संवाद-समुत्थित—नौवाँ तथा तेईसवाँ अध्ययन।

इस सूत्र के अध्ययन कब और किसके द्वारा रचे गए, इसकी प्रामाणिक जानकारी के लिए साधन-सामग्री सुलभ नहीं है।

उत्तराध्ययन की विषय-वस्तु के अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उत्तराध्ययन के अध्ययन ई० पू० ६०० से ईसवी सन् ४००, लगभग हजार वर्ष की धार्मिक व दार्शनिक धारा का प्रतिनिधित्व कर रहे हैं।

कई विद्वान् ऐसा मानते हैं कि उत्तराध्ययन के पहले अठारह अध्ययन प्राचीन हैं और उत्तरवर्ती अठारह अध्ययन अर्वाचीन। किन्तु इस मत की पुष्टि के लिए कोई पुष्ट साक्ष्य प्राप्त नहीं है। यह सही है कि कई अध्ययन बहुत प्राचीन हैं और कई अर्वाचीन।

वीर निर्वाण की एक सहस्राब्दी के बाद देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण ने प्राचीन और अर्वाचीन अध्ययनों का संकलन कर उसे एक रूप दिया।

उत्तराध्ययन धर्मकथानुयोग में परिगणित होता है। इससे यह अनुमान लगता है कि इसके प्राचीन संस्करण का मुख्य भाग कथा-भाग था।

वर्तमान में प्राप्त उत्तराध्ययन में अनेक अनुयोगों का समावेश है। इसमें १४ अध्ययन धर्मकथात्मक (७, ८, ९, १२, १३, १४, १८ से २३, २५ से २७), छह अध्ययन उपदेशात्मक (१, ३, ४, ५, ६ और १०), नौ अध्ययन आचारात्मक (२, ११, १५, १६, १७, २४, २६, ३२ और ३५) तथा सात अध्ययन (२८, २९, ३०, ३१, ३३, ३४, ३६) सैद्धान्तिक हैं।

इन तथ्यों से यह फलित होता है कि यह संकलन-सूत्र है, एक-कर्तृक नहीं।

आकार और विषय-वस्तु

इसमें छत्तीस अध्ययन हैं और १६३८ श्लोक तथा ८९ सूत्र हैं। प्रत्येक अध्ययन का विषय भिन्न-भिन्न है। उसका विवरण इस प्रकार है—

अध्ययन	श्लोक	विषय
१—विणयसुयं	४८	विनय
२—परीसह	४६ सू० ३	प्राप्त-कष्ट-सहन का विधान
३—चाउरंगिज्जं	२०	चार दुर्लभ अंगों का प्रतिपादन
४—असंखयं	१३	प्रमाद और अप्रमाद का प्रतिपादन
५—अकाममरणिज्जं	३२	मरण-विभक्ति—अकाम और सकाम-मरण
६—पुरिसविज्जा	१७	विद्या और आचरण
७—उरब्भिज्जं	३०	रस-गृद्धि का परित्याग
८—काविलिज्जं	२०	लाभ और लोभ के योग का प्रतिपादन
९—नमिपव्वज्जा	६२	संयम में निष्प्रकम्प भाव
१०—दुमपत्तयं	३७	अनुशासन
११—बहुसुयपूजा	३२	बहुश्रुत की पूजा
१२—हरिएसिज्जं	४७	तप का ऐश्वर्य
१३—चित्तसंभूयं	३५	निदान—भोग-संकल्प
१४—उसुकारिज्जं	५३	अनिदान - भोग-असंकल्प
१५—सभिक्खुगं	१६	भिक्षु के गुण
१६—समाहिठाणाइं	१७ सू० १२	ब्रह्मचर्य की गुप्तियाँ
१७—पावसमणिज्जं	२१	पाप-वर्जन
१८—संजइज्जं	५३	भोग और ऋद्धि का त्याग
१९—मियचारिता	९८	अपरिकर्म—देहाध्यास का परित्याग
२०—अणाहपव्वज्जा	६०	अनाथता
२१—समुद्दपालिज्जं	२४	विचित्र चर्या
२२—रहनेमिज्जं	४९	चरण का स्थिरीकरण
२३—गोयमकेसिज्जं	८९	धर्म—चातुर्याम और पंचयाम
२४—समितीओ	२७	समितियाँ-गुप्तियाँ
२५—जन्नतिज्जं	४३	ब्राह्मण के गुण
२६—सामायारी	५२	सामाचारी
२७—खलुंकिज्जं	१७	अशठता
२८—मोक्खमग्गगई	३६	मोक्ष-मार्ग-गति
२९—अप्पमाओ	सू० ७४	आवश्यक में अप्रमाद
३०—तवोमग्गो	३७	तप

इस सूत्र में भाषा के विशिष्ट प्रयोग उपलब्ध होते हैं। इसकी मूल भाषा अर्द्धमागधी प्राकृत है, परन्तु यत्र-तत्र महाराष्ट्री-प्राकृत के प्रयोग भी बहुलता से मिलते हैं।

इन पृष्ठों में चर्चित विषय-वस्तु का विशद विवेचन 'दसवेआलियं तह उत्तरज्झयणं' की भूमिका (पृष्ठ १-४६) में किया जा चुका है। व्याकरण, छन्द, तुलनात्मक, भूगोल और व्यक्ति-परिचय—इनका विमर्श 'उत्तराध्ययन : एक समीक्षात्मक अध्ययन' में किया जा चुका है।

वाव
२६ अप्रैल, १९६७

—आचार्य तुलसी

उत्तरज्झयणाणि

अध्ययन अनुक्रमणिका

अध्ययन-विषयानुक्रम

१८—पिता द्वारा शरीर-नाश के साथ जीव-नाश का प्रतिपादन ।

१९—कुमारों द्वारा आत्मा की अमूर्तता का प्रतिपादन ।

आत्मा के आन्तरिक दोष ही संसार-बन्धन के हेतु ।

२०—धर्म की अजानकारी में पाप का आचरण ।

२१—पीड़ित लोक में सुख की प्राप्ति नहीं ।

२२—लोक की पीड़ा क्या ?

२३—लोक की पीड़ा—मृत्यु ।

२४—अधर्म-रत व्यक्ति की रात्रियाँ निष्फल ।

२५—धर्म-रत व्यक्ति की रात्रियाँ सफल ।

२६—यौवन बीतने पर एक साथ दीक्षा लेने का पिता का सुझाव ।

२७—मृत्यु को वश में करने वाला ही कल की इच्छा करने में समर्थ ।

२८—आज ही मुनि-धर्म स्वीकारने का संकल्प ।

२९,३०—पिता की भी साथ ही गृह-त्याग की भावना ।

शाखा-रहित वृक्ष, बिना पंख का पक्षी, सेना-रहित राजा और धन-रहित व्यापारी की तरह असहायता ।

३१—वाशिष्ठी द्वारा प्राप्त भोगों को भोगने के बाद मोक्ष-पथ के स्वीकार का सुझाव ।

३२—पुरोहित द्वारा भोगों की असारता । मुनि-धर्म के आचरण का संकल्प ।

३३—भोग न भोगने से बाद में अनुताप ।

३४—पुत्रों का अनुगमन क्यों नहीं ?

३५—रोहित मच्छ की तरह धीर पुरुष ही संसार-जाल को काटने में समर्थ ।

३६—वाशिष्ठी की भी पुत्र और पति के अनुगमन की इच्छा ।

३७-३८—पुरोहित-परिवार की प्रव्रज्या के बाद राजा द्वारा धन-सामग्री लेने की इच्छा ।

रानी कमलावती की फटकार ।

३९—समूचा जगत् भी इच्छा की पूर्ति के लिए असमर्थ ।

४०—पदार्थ-जगत् की अत्राणता । धर्म की त्राणता ।

४१—रानी द्वारा स्नेह-जाल को तोड़ कर मुनि-धर्म के आचरण की इच्छा ।

४२,४३—राग-द्वेष युक्त प्राणियों की संसार में मूढ़ता ।

४४—विवेकी पुरुषों द्वारा अप्रतिबद्ध विहार ।

४५—रानी द्वारा राजा को भृगु पुरोहित की तरह बनने की प्रेरणा ।

४६—निरामिष बनने का संकल्प ।

४७—काम-भोगों से सशंकित रहने का उपदेश ।

४८—बन्धन-मुक्त हाथी की तरह स्व-स्थान की प्राप्ति का उद्बोध ।

४९—राजा और रानी द्वारा विपुल राज्य और काम-भोगों का त्याग ।

५०—तीर्थङ्कर द्वारा उपदिष्ट मार्ग में घोर पराक्रम ।

५१—दुःखों के अन्त की खोज ।

५२—राजा, रानी, पुरोहित, ब्राह्मणी, पुरोहित-कुमारों द्वारा दुःख-विमुक्ति ।

१२—पंच महाव्रत व उनके आचरण का उपदेश।

१३—दयानुकम्पी होने का उपदेश।

१४—अपने बलाबल को तौल कर कालोचित कार्य करते हुए विहरण का उपदेश।

१५—सम-भाव की साधना का उपदेश।

१६—मन के अभिप्रायों पर अनुशासन और उपसर्गों को सहने का उपदेश।

१७-१६—परीषहों की उपस्थिति में समता-भाव का उपदेश।

२०—पूजा में उन्नत और गर्हा में अवनत न होने का उपदेश।

२१—संयमवान् मुनि की परमार्थ-पदों में स्थिति।

२२—ऋषियों द्वारा आचीर्ण स्थानों के सेवन का उपदेश।

२३—अनुत्तर ज्ञानधारी मुनि की सूर्य की तरह दीप्तिमत्ता।

२४—समुद्रपाल मुनि की संयम में निश्चलता से अपुनरागम-गति की प्राप्ति।

द्वाविंश अध्ययन : रथनेमीय (पुनरुत्थान) पृ० २८२-२९६

श्लोक १,२—वसुदेव राजा के परिवार का परिचय।

३,४—समुद्रविजय राजा के परिवार का परिचय। अरिष्टनेमि का जन्म।

५,६—अरिष्टनेमि का शरीर-परिचय और जाति-परिचय।

केशव द्वारा उसके लिए राजीमती की माँग।

७—राजीमती का स्वभाव-परिचय।

८—उग्रसेन द्वारा केशव की माँग स्वीकार।

९-१६—अरिष्टनेमि के विवाह की शोभा-यात्रा।

बाड़ों और पिंजरों में निरुद्ध प्राणियों को देख कर सारथि से प्रश्न।

१७—सारथि का उत्तर।

१८,१९—अरिष्टनेमि का चिन्तन।

२०—सारथि को कुण्डल आदि आभूषणों का दान।

२१—अभिनिष्क्रमण की भावना और देवों का आगमन।

२२-२७—शिविका में आरूढ होकर अरिष्टनेमि का रैवतक पर जाना। केश-लुंचन। वासुदेव द्वारा आशीर्वचन।

२८—अरिष्टनेमि की दीक्षा की बात सुन कर राजीमती की शोक-निमग्नता।

२९-३१—राजीमती का प्रव्रजित होने का निश्चय और केश-लुंचन। वासुदेव का आशीर्वाद।

३२—राजीमती द्वारा अनेक स्वजन-परिजनों की दीक्षा।

३३—रैवतक पर्वत पर जाते समय राजीमती का वर्षा से भीगने के कारण गुफा में ठहरना।

३४—वस्त्रों को सुखाना। रथनेमि का राजीमती को यथाजात (नग्न) रूप में देख कर भग्नचित्त हो जाना।

३५—राजीमती का संकुचित होकर बैठना।

३६-३८—रथनेमि द्वारा आत्म-परिचय और प्रणय-निवेदन।

३९-४५—राजीमती द्वारा रथनेमि को विविध प्रकार से उपदेश।

४६,४७—रथनेमि का संयम में पुनः स्थिर होना।

४८—राजीमती और रथनेमि को अनुत्तर सिद्धि की प्राप्ति।

४९—संबुद्ध का कर्त्तव्य।

१५५—पञ्चेन्द्रिय के चार प्रकार।

१५६-१६९—नरकों के नाम-निर्देश।

नैरयिक जीवों के चतुर्विध काल-विभाग का निरूपण।

१७०-१७१—पञ्चेन्द्रिय-तिर्यञ्च के प्रकार और अवतार भेद।

१७२-१७८—जलचर जीवों के प्रकार।

चतुर्विध काल-विभाग का निर्देश।

१७९-१८७—स्थलचर जीवों के प्रकार।

चतुर्विध काल-विभाग का निर्देश।

१८८-१९४—खेचर जीवों के प्रकार।

चतुर्विध काल-विभाग निर्देश।

१९५-२०३—मनुष्य के प्रकार।

चतुर्विध काल-विभाग का निर्देश।

२०४-२४७—देवों के प्रकार।

चतुर्विध काल-विभाग का निर्देश।

२४८-२४९—जीवाजीव के ज्ञान पूर्वक संयम का निर्देश।

२५०-२५५—संलेखना-विधि

२५६-२६२—शुभ और अशुभ भावनाएँ सुगति और दुर्गति का कारण।

२६३—कांदर्पी-भावना।

२६४—आभियोगी-भावना।

२६५—किल्विषिक-भावना।

२६६—आसुरी-भावना।

२६७—मोही भावना।

२६८—उपसंहार।

उत्तरज्झयणाणि

पढमं अज्झयणं :

विणय-सुयं

प्रथम अध्ययन :

विनय-श्रुत

आमुख

चूर्णि के अनुसार इस अध्ययन का नाम 'विनय-सूत्र'[1] और निर्युक्ति तथा बृहद्वृत्ति के अनुसार 'विनय-श्रुत' है[2]।

समवायांग में भी इस अध्ययन का नाम 'विनय-श्रुत' है[3]। 'श्रुत' और 'सूत्र' दोनों पर्यायवाची शब्द हैं। इस अध्ययन में विनय की श्रुति या सूत्रण है।

भगवान् महावीर की साधना-पद्धति का एक अंग 'तपोयोग' है। उसके बारह प्रकार हैं। उनमें आठवाँ प्रकार 'विनय' है[4]। उसके सात रूप प्राप्त होते हैं[5] :

१—ज्ञान-विनय—ज्ञान का अनुवर्तन।

२—दर्शन-विनय—दर्शन का अनुवर्तन।

३—चारित्र-विनय—चारित्र का अनुवर्तन।

४—मन-विनय—मन का प्रवर्तन।

५—वचन-विनय—वचन का प्रवर्तन।

६—काय-विनय—काया का प्रवर्तन।

७—लोकोपचार-विनय अनुशासन, शुश्रूषा और शिष्टाचार-परिपालन।

बृहद्वृत्ति में 'विनय' के पाँच रूप प्राप्त होते हैं[6]—

१—लोकोपचार-विनय।

२—अर्थ-विनय—अर्थ के लिए अनुवर्तन करना।

३—काम-विनय—काम के लिए अनुवर्तन करना।

४—भय-विनय—भय के लिए अनुवर्तन करना।

५—मोक्ष-विनय—मोक्ष के लिए अनुवर्तन करना। (इस विनय के पाँच प्रकार किए गए हैं—ज्ञान-विनय, दर्शन-विनय, चारित्र-विनय, तप-विनय और औपचारिक-विनय।[7])

इन दोनों वर्गीकरणों के आधार पर विनय के निम्न अर्थ प्राप्त होते हैं—अनुवर्तन, प्रवर्तन, अनुशासन, शुश्रूषा और शिष्टाचार-परिपालन।

१—उत्तराध्ययन चूर्णि, पृष्ठ ८ : प्रथममध्ययनं विनयश्रुतमिति, विनयो यस्मिन् सूत्रे वर्ण्यते तदिदं विनयसूत्रम्।

२—(क) उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा २८ : तत्थज्झयणं पढमं विणयसुयं...। (ख) बृहद्वृत्ति, पत्र १५ : विनयश्रुतमिति द्विपदं नाम।

३—समवायांग, समवाय ३६ : छत्तीसं उत्तरज्झयणा प० तं०—विणयसुयं...।

४—उत्तराध्ययन, ३०।८,३०

५—औपपातिक, सूत्र २० : से किं तं विणए ? २ सत्तविहे पण्णत्ते, तंजहा—णाणविणए दंसणविणए चरित्तविणए मणविणए वइविणए कायविणए लोगोवयारविणए।

६—बृहद्वृत्ति, पत्र १६ : लोकोवयारविणओ अत्थनिमित्तं च कामहेउं च।
भयविणयमोक्खविणओ खलु पंचहा णेओ॥

७—वही : दंसणणाणचरित्ते तवे य तह ओवयारिए चेव।
एसो य मोक्खविणओ पंचविहो होइ णायव्वो॥

प्रस्तुत अध्ययन में इन सभी प्रकारों का प्रतिपादन हुआ है।

दूसरे श्लोक में 'विनीत' की परिभाषा लोकोपचार-विनय के आधार पर की गई है। लोकोपचार-विनय के सात विभाग हैं[1]—

१—अभ्यासवृत्तिता—समीप रहना।

२—परछन्दानुवृत्तिता—दूसरे के अभिप्राय का अनुवर्तन करना।

३—कार्यहेतु—कार्य की सिद्धि के लिए अनुकूल वर्तन करना।

४—कृतप्रतिक्रिया—कृत उपकार के प्रति अनुकूल वर्तन करना।

५—आर्त्तगवेषणा—आर्त्त की गवेषणा करना।

६—देश-कालज्ञता—देश और काल को समझना।

७—सर्वार्थ-अप्रतिलोमता—सब प्रकार के प्रयोजनों की सिद्धि के लिए अनुकूल वर्तन करना।

दूसरे श्लोक में दी हुई विनीत की परिभाषा में इनमें से तीन विभाग—परछन्दानुवृत्तिता, अभ्यासवृत्तिता, देश-कालज्ञता—क्रमशः आज्ञानिर्देशकर, उपपातकारक और इंगिताकार-सम्पन्न के रूप में प्रयुक्त हुए हैं।

दसवें श्लोक मे 'मन-विनय', 'वचन-विनय' और 'ज्ञान-विनय' का संक्षेप मे बहुत सुन्दर निर्देश किया गया है।

इस प्रकार इस अध्ययन में विनय के सभी रूपों का सम्यक् संकलन हुआ है। प्राचीन काल मे विनय का बहुत मूल्य रहा है। तेईसवें श्लोक में बताया गया है कि आचार्य विनीत को विद्या देते हैं। अविनीत विद्या का अधिकारी नहीं माना जाता। इस अध्ययन से यह भी ज्ञात होता है कि गुरु शिष्य पर कठोर और मृदु दोनों प्रकार का अनुशासन करते थे (श्लोक २७)। समय की नियमितता भी विनय और अनुशासन का एक अंग था :

कालेण निक्खमे भिक्खू, कालेण य पडिक्कमे।
अकालं च विवज्जित्ता, काले कालं समायरे ॥१।३१॥

इस अध्ययन में स्वाध्याय और ध्यान दोनों का सम्मिलित उल्लेख मिलता है। आचार्य रामसेन ने लिखा है :

स्वाध्यायाद् ध्यानमध्यास्तां, ध्यानात् स्वाध्यायमामनेत्।
ध्यानस्वाध्यायसम्पत्त्या, परमात्माप्रकाशते ॥[2]

स्वाध्याय के पश्चात् ध्यान और ध्यान के पश्चात् स्वाध्याय—इस प्रकार स्वाध्याय और ध्यान की पुनरावृत्ति से परमात्मस्वरूप उपलब्ध होता है।

यह परम्परा बहुत पुरानी है। इसका संकेत दसवें श्लोक मे मिलता है—

कालेण य अहिज्जित्ता, तओ झाएज्ज एगगो।

विनय के व्यापक स्वरूप को सामने रखकर ही यह कहा गया था—"विनय जिन-शासन का मूल है। जो विनय-रहित है, उसे धर्म और तप कहाँ से प्राप्त होगा?"[3]

१—औपपातिक, सू० २० : से किं तं लोगोवयारविणए ? २ सत्तविहे पण्णत्ते तंजहा—अब्भासवत्तियं परच्छंदाणुवत्तियं कज्जहेउं कयपडिकिरिया अत्तगवेसणया देस-कालण्णुया सव्वट्ठेसु अपडिलोमया।

२—तत्त्वानुशासन, ८१

३—उपदेशमाला, २४१ : विणओ सासणे मूलं, विणीओ संजओ भवे।
विणयाओ विप्पमुक्कस्स, कओ धम्मो कओ तवो ॥

आचार्य वट्टकेर ने विनय का उत्कर्ष इस भाषा में प्रस्तुत किया—"विनयविहीन व्यक्ति कि सारी शिक्षा व्यर्थ है। शिक्षा का फल विनय है।"[1] यह नहीं हो सकता कि कोई व्यक्ति शिक्षित है और विनीत नहीं है। उनकी भाषा में शिक्षा का फल विनय और विनय का फल शेष समग्र कल्याण है।

विनय मानसिक-दासता नहीं है, किन्तु वह आत्मिक और व्यावहारिक विशेषताओं की अभिव्यंजना है। उसकी पृष्ठ-भूमि मे इतने गुण समाहित रहते हैं[2] :

१—निर्द्वन्द्व – कलह आदि द्वन्द्वों की प्रवृत्ति का अभाव।

२—ऋजुता—सरलता।

३—मृदुता—निश्छलता और निरभिमानता।

४—लाघव—अनासक्ति।

विनय के व्यावहारिक फल हैं—कीर्ति और मैत्री। विनय करने वाला अपने अभिमान का निरसन, तीर्थङ्कर की आज्ञा का पालन और गुणों का अनुमोदन करता है।[3]

सूत्रकार ने विनीत को वह स्थान दिया है, जो अनायास-लभ्य नहीं है। सूत्र की भाषा है—"हवइ किच्चाणं सरणं, भूयाणं जगई जहा।"[4] जिस प्रकार पृथ्वी प्राणियों के लिए आधार होती है, उसी प्रकार विनीत शिष्य धर्माचरण करने वालों के लिए आधार होता है।

१—मूलाचार, ५।२११ : विणएण विप्पहीणस्स, हवदि सिक्खा सव्वा णिरत्थिया।
विणओ सिक्खाए फलं, विणयफलं सव्व कल्लाणं॥

२—वही, ५।२१३ : आयारजीदकप्पगुणदीवणा, अत्तसोधि णिज्जंजा।
अज्जव-मद्दव-लाहव-भत्ती-पल्हादकरणं च॥

३—वही, ५।२१४ : कित्ती मित्ती माणस्स भंजणं गुरुजणे य बहुमाणं।
तित्थयराणं आणा गुणाणुमोदो य विणयगुणा॥

४—उत्तराध्ययन, १।४५

६—मुणियाऽभावं साणस्स
सूयरस्स नरस्स य ।
विणए ठवेज्ज अप्पाणं
इच्छन्तो हियमप्पणो ॥

श्रुत्वा अभावं शुन्याः
शूकरस्य नरस्य च ।
विनये स्थापयेदात्मानम्
इच्छन् हितमात्मनः ॥

६—अपनी आत्मा का हित चाहने वाला भिक्षु कुतिया और सूअर की तरह दुःशील मनुष्य के अभाव (हीन भाव) को सुनकर अपने आप को विनय में स्थापित करे ।

७—तम्हा विणयमेसेज्जा
सीलं पडिलभे जओ[1] ।
बुद्ध-पुत्त[2] नियागट्ठी
न निक्कसिज्जइ कण्हुई ॥

तस्माद् विनयमेषयेत्
शीलं प्रतिलभेत यतः ।
बुद्धपुत्रो नियागार्थी
न निष्काश्यते क्वचित् ॥

७—इसलिए विनय का आचरण करे जिससे शील की प्राप्ति हो । जो बुद्ध-पुत्र (आचार्य का प्रिय शिष्य) और मोक्ष का अर्थी होता है, वह गण से नहीं निकाला जाता ।

८—निसन्ते सियाऽमुहरी[3]
बुद्धाणं अन्तिए सया ।
अट्ठजुत्ताणि सिक्खेज्जा
निरट्ठाणि उ वज्जए ॥

निःशान्तः स्यादमुखरः
बुद्धानामन्तिके सदा ।
अर्थयुक्तानि शिक्षेत
निरर्थानि तु वर्जयेत् ॥

८—भिक्षु आचार्य के समीप सदा प्रशान्त रहे । वाचालता न करे । उनके पास अर्थ-युक्त पदों को सीखे और निरर्थक कथाओं का वर्जन करे ।

९—अणुसासिओ न कुप्पेज्जा
खंतिं सेविज्ज पण्डिए ।
खुड्डेहिं सह संसग्गिं
हासं कीडं च वज्जए ॥

अनुशिष्टो न कुप्येत्
क्षांतिं सेवेत पण्डितः ।
क्षुद्रैः सह संसर्गं
हासं क्रीडां च वर्जयेत् ॥

९—पण्डित भिक्षु गुरु के द्वारा अनुशासित होने पर क्रोध न करे, क्षमा की आराधना करे । क्षुद्र व्यक्तियों के साथ संसर्ग, हास्य और क्रीड़ा न करे ।

१०—मा य चण्डालियं कासी[4]
बहुयं मा य आलवे ।
कालेण य अहिज्जित्ता
तओ झाएज्ज एगगो[5] ॥

मा च चाण्डालिकं कार्षी
बहुकं मा चालपेत् ।
कालेन चाधीत्य
ततो ध्यायेदेककः ॥

१०—भिक्षु चण्डालोचित कर्म (क्रूर-व्यवहार) न करे । बहुत न बोले । स्वाध्याय के काल में स्वाध्याय करे और उसके पश्चात् अकेला ध्यान करे ।

११—आहच्च चण्डालियं कट्टु
न निण्हविज्ज कयाइ वि ।
'कडं कडे' त्ति भासेज्जा
'अकडं नो कडे' त्ति य ॥

आहत्य चाण्डालिकं कृत्वा
न निन्हुवीत कदाचिदपि ।
कृतं कृतमिति भाषेत
अकृतं नो कृतमिति च ॥

११—भिक्षु सहसा चण्डालोचित कर्म कर उसे कभी भी न छिपाए । अकरणीय किया हो तो किया और नहीं किया हो तो न किया कहे ।

---

१. पडिलभिज्जओ (ऋ०); पडिलभेज्जओ (अ) ।
२. बुद्ध उत्त (बृ०); बुद्धपुत्ते, बुद्धवुत्ते (बृ०पा०) ।
३. सियाअमुहरी (अ) ।
४. कुज्जा (उ) ।
५. एक्कओ (अ) ।

पढमं अज्झयणं : प्रथम अध्ययन

विणय-सुयं : विनय-श्रुतम्

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
१—संजोगा विप्पमुक्कस्स अणगारस्स भिक्खुणो । विणयं पाउकरिस्सामि आणुपुव्विं सुणेह मे ॥	संयोगाद् विप्रमुक्तस्य अनगारस्य भिक्षोः । विनयं प्रादुष्करिष्यामि आनुपूर्व्या शृणुत मे ॥	१—जो संयोग से मुक्त है, अनगार है, भिक्षु है, उसके विनय को क्रमशः प्रकट करूँगा । मुझे सुनो ।
२—आणानिद्देसकरे गुरूणमुववायकारए । इंगियागार-संपन्ने से 'विणीए त्ति' वुच्चई ॥	आज्ञानिर्देशकरः गुरुणामुपपातकारकः । इंगिताकारसम्प्रज्ञः स 'विनीत' इत्युच्यते ॥	२—जो गुरु की आज्ञा और निर्देश का पालन करता है, गुरु की शुश्रूषा करता है, गुरु के इंगित और आकार को जानता है, वह 'विनीत' कहलाता है ।
३—आणाऽनिद्देसकरे[1] गुरूणमणुववायकारए । पडिणीए असंबुद्धे 'अविणीए त्ति' वुच्चई ॥	आज्ञाऽनिर्देशकरः गुरुणामनुपपातकारकः । प्रत्यनीकोऽसम्बुद्धः 'अविनीत' इत्युच्यते ॥	३—जो गुरु की आज्ञा और निर्देश का पालन नहीं करता, गुरु की शुश्रूषा नहीं करता, जो गुरु के प्रतिकूल वर्तन करता है और तथ्य को नहीं जानता, वह 'अविनीत' कहलाता है ।
४—जहा सुणी पूइ-कण्णी निक्कसिज्जइ सव्वसो । एवं दुस्सील-पडिणीए मुहरी निक्कसिज्जई ॥	यथा शुनी पूतिकर्णी निष्काश्यते सर्वतः । एवं दुःशीलः प्रत्यनीकः मुखरो निष्काश्यते ॥	४—जैसे सड़े हुए कानों वाली कुतिया सभी स्थानों से निकाली जाती है, वैसे ही दुःशील, गुरु के प्रतिकूल वर्तन करने वाला और वाचाल भिक्षु गण से निकाल दिया जाता है ।
५—कण-कुण्डगं चइत्ताणं[2] विट्ठं भुंजइ सूयरे । एवं सीलं चइत्ताणं दुस्सीले रमई मिए[3] ॥	'कणकुण्डकं' त्यक्त्वा विष्ठां भुंक्ते शूकरः । एवं शीलं त्यक्त्वा दुःशीले रमते मृगः ॥	५—जिस प्रकार सूअर चावलों की भूसी को छोड़कर विष्ठा खाता है, वैसे ही अज्ञानी भिक्षु शील को छोड़कर दुःशील में रमण करता है ।

---

१. आणा अनिद्देसयरे (अ) ।
२. अछिड्डत्ताणं (बृ०, चू०); चइत्ताणं (बृ०पा०) ।
३. मिई (आ) ।

१२—मा 'गलियस्से व'[1] कसं
वयणमिच्छे पुणो पुणो।
कसं व दट्ठुमाइण्णे
पावगं परिवज्जए[2] ॥

मा गल्यश्व इव कशं
वचनमिच्छेद् पुनः पुनः।
कशमिव दृष्ट्वा आकीर्णः
पापकं परिवर्जयेत् ॥

१२—जैसे अविनीत घोड़ा चाबुक को बार-बार चाहता है, वैसे विनीत शिष्य गुरु के वचन को (आदेश-उपदेश) को बार-बार न चाहे। जैसे विनीत घोड़ा चाबुक को देखते ही उन्मार्ग को छोड़ देता है, वैसे ही विनीत शिष्य गुरु के इंगित और आकार को देखकर अशुभ प्रवृत्ति को छोड़ दे।

१३—अणासवा[3] थूलवया कुसीला
मिउं पि चण्डं पकरेंति सीसा।
चित्ताणुया लहु दक्खोववेया
पसायए ते हु दुरासयं पि ॥

अनाश्रवाः स्थूलवचसः कुशीलाः
मृदुमपि चण्डं प्रकुर्वन्ति शिष्याः।
चित्तानुगा लघुदाक्ष्योपेताः
प्रसादयेयुस्ते 'हु' दुराशयमपि ॥

१३—आज्ञा को न मानने वाले और अंट-संट बोलने वाले कुशील शिष्य कोमल स्वभाव वाले गुरु को भी क्रोधी बना देते हैं। चित्त के अनुसार चलने वाले और पटुता से कार्य को सम्पन्न करने वाले शिष्य, दुराशय (शीघ्र ही कुपित होने वाले) गुरु को भी प्रसन्न कर लेते हैं।

१४—नापुट्ठो वागरे किंचि
पुट्ठो वा नालियं वए।
कोहं असच्चं कुव्वेज्जा
धारेज्जा पियमप्पियं ॥

नापृष्टो व्यागृणीयात् किञ्चित्
पृष्टो वा नालीकं वदेत्।
क्रोधमसत्यं कुर्वीत
धारयेत् प्रियमप्रियम् ॥

१४—बिना पूछे कुछ भी न बोले। पूछने पर असत्य न बोले। क्रोध न करे। आ जाए तो उसे विफल कर दे। प्रिय और अप्रिय को धारण करे—उन पर राग और द्वेष न करे।

१५—'अप्पा चेव दमेयव्वो'[4]
अप्पा हु खलु दुद्दमो।
अप्पा-दन्तो सुही होइ
अस्सिं लोए परत्थ य ॥

आत्मा चैव दान्तव्यः
आत्मा 'हु' खलु दुर्दमः।
आत्मा दान्तः सुखी भवति
अस्मिल्लोके परत्र च ॥

१५—आत्मा का ही दमन करना चाहिए। क्योंकि आत्मा ही दुर्दम है। दमित-आत्मा ही इहलोक और परलोक में सुखी होता है।

१६—वरं[5] मे अप्पा दन्तो
संजमेण तवेण य।
माहं परेहि दम्मन्तो
बन्धणेहि वहेहि य ॥

वरं मयात्मा दान्तः
संयमेन तपसा च।
मा हं परैर्दमितः
बन्धनैर्वधैश्च ॥

१६—अच्छा यही है कि मैं संयम और तप के द्वारा अपनी आत्मा का दमन करूँ। दूसरे लोग बन्धन और वध के द्वारा मेरा दमन करें—यह अच्छा नहीं है।

---

१. गलियस्सुव्व (उ, ऋ०) ; गलियस्सेव्व (अ)।
२. पडिवज्जए (अ, बृ०पा०)।
३. अणासुणा (बृ०पा०)।
४. अप्पाणमेव दमए (बृ०, चू०) ; अप्पा चेव दम्मेयव्वो (बृ०पा०)।
५. वर (अ, उ.म)।

१७—पडिणीयं च बुद्धाणं
वाया अदुव कम्मुणा।
आवी वा जइ वा रहस्से
नेव कुज्जा कयाइ वि॥

प्रत्यनीकं (कत्वं) च बुद्धानां
वाचा अथवा कर्मणा।
आविर्वा यदि वा रहस्ये
नैव कुर्यात् कदाचिदपि॥

१७—लोगों के समक्ष या एकान्त में, वचन से या कर्म से, कभी भी आचार्यों के प्रतिकूल वर्तन न करे।

१८—न पक्खओ न पुरओ
नेव किच्चाण पिट्ठओ।
न जुंजे ऊरुणा ऊरुं
सयणे नो पडिस्सुणे॥

न पक्षतो न पुरतः
नैव कृत्यानां पृष्ठतः।
न युञ्ज्यात् ऊरुणोरुं
शयने नो प्रतिश्रृणुयात्॥

१८—आचार्यों के बराबर न बैठे। आगे और पीछे भी न बैठे। उनके ऊरु (जाँघ) से अपना ऊरु सटाकर न बैठे। बिछौने पर बैठा हुआ ही उनके आदेश को स्वीकार न करे, किन्तु उसे छोड़कर स्वीकार करे।

१९—नेव पल्हत्थियं कुज्जा
पक्खपिण्डं व संजए।
पाए पसारिए[1] वावि
न चिट्ठे गुरुणन्तिए॥

नैव पर्यस्तिकां कुर्यात्
पक्ष-पिण्डं वा संयतः।
पादौ प्रसारितौ वापि
न तिष्ठेद् गुरूणामन्तिके॥

१९—संयमी मुनि गुरु के समीप पलथी लगाकर (घुटनों और जाँघों के चारों ओर वस्त्र बांध कर) न बैठे। पक्ष-पिण्ड कर (दोनों हाथों से शरीर को बांधकर) तथा पैरों को फैला कर न बैठे।

२०—आयरिएहिं वाहित्तो
तुसिणीओ न कयाइ वि।
पसाय-पेही[2] नियागट्ठी
उवचिट्ठे गुरुं सया॥

आचार्यं र्व्याहृतः
तूष्णीको न कदाचिदपि।
प्रसादप्रेक्षी नियागार्थी
उपतिष्ठेत गुरुं सदा॥

२०—आचार्यों के द्वारा बुलाए जाने पर किसी भी अवस्था में मौन न रहे। गुरु के प्रसाद को चाहने वाला, मोक्षाभिलाषी शिष्य सदा उनके समीप रहे।

२१—आलवन्ते लवन्ते वा
न निसीएज्ज कयाइ वि।
चइऊणमासणं धीरो
जओ जत्तं[3] पडिस्सुणे॥

आलपन् लपन् वा
न निषीदेत् कदाचिदपि।
त्यक्त्वा आसनं धीरः
यतो यत्तत् प्रतिश्रृणुयात्॥

२१—बुद्धिमान् शिष्य गुरु के एक बार बुलाने पर या बार-बार बुलाने पर कभी भी बैठा न रहे, किन्तु वे जो आदेश दें, उसे आसन को छोड़कर यत्न के साथ स्वीकार करे।

२२—आसण-गओ न पुच्छेज्जा
नेव 'सेज्जा-गओ कया'[4]।
आगम्मुक्कुडुओ सन्तो
पुच्छेज्जा पंजलीउडो[5]॥

आसनगतो न पृच्छेत्
नैव शय्यागतः कदा।
आगम्योत्कुटुकः सन्
पृच्छेत् प्रांजलिपुटः॥

२२—आसन पर अथवा शय्या पर बैठा-बैठा कभी भी गुरु से कोई बात न पूछे, परन्तु उनके समीप आकर उकडू बैठ, हाथ जोड़कर पूछे।

---

१. पसारे नो (बृ०); पसारिए (बृ०पा०)।
२. पसायट्ठी (बृ०पा०)।
३. जुत्तं (अ, उ)।
४. णिसिज्जागओ कयाइ (बृ०)।
५. पंजलीगडे (बृ०); पंजलीउडो (बृ०पा०)।

२३—एवं विणयजुत्तस्स
सुत्तं अत्थं च तदुभयं।
पुच्छमाणस्स सीसस्स
वागरेज्ज जहासुयं॥

एवं विनययुक्तस्य
सूत्रमर्थं च तदुभयम्
पृच्छतः शिष्यस्य
व्यागृणीयाद् यथाश्रुतम्॥

२३—इस प्रकार जो शिष्य विनय-युक्त हो, उसके पूछने पर गुरु सूत्र, अर्थ और तदुभय (सूत्र और अर्थ दोनों) जैसे सुने हों (जाने हुए हों) वैसे बताए।

२४—मुसं परिहरे भिक्खू
न य ओहारिणिं वए।
भासा-दोसं परिहरे
मायं च वज्जए सया॥

मृषा परिहरेद् भिक्षुः
न चावधारिणीं वदेत्।
भाषादोषं परिहरेत्
मायां च वर्जयेत् सदा॥

२४—भिक्षु असत्य का परिहार करे। निश्चय-कारिणी भाषा न बोले। भाषा के दोषों को छोड़े। माया का सदा वर्जन करे।

२५—न लवेज्ज पुट्ठो सावज्जं
न निरट्ठं न मम्मयं।
अप्पणट्ठा परट्ठा वा
उभयस्सन्तरेण वा॥

न लपेत् पृष्टः सावद्यं
न निरर्थं न मर्मकम्।
आत्मार्थं परार्थं वा
उभयस्यान्तरेण वा॥

२५—किसी के पूछने पर भी अपने, पराए या दोनों के प्रयोजन के लिए अथवा अकारण ही सावद्य न बोले, निरर्थक न बोले और मर्म-भेदी वचन न बोले।

२६—समरेसु अगारेसु
'सन्धीसु य महापहे'[१]।
एगो एगित्थिए सद्धिं
नेव चिट्ठे न संलवे॥

स्मरेषु अगारेषु
सन्धिषु च महापथे।
एक एकस्त्रिया सार्धं
नैव तिष्ठेन्न संलपेत्॥

२६—कामदेव के मंदिरों में, घरों में, दो घरों के बीच की संधियों में और राजमार्ग में अकेला मुनि अकेली स्त्री के साथ न खड़ा रहे और न संलाप करे।

२७—जं मे बुद्धाणुसासन्ति
सीएण[२] फरुसेण वा।
मम लाभो त्ति पेहाए
पयओ तं पडिस्सुणे॥

यन्मां बुद्धा अनुशासति
शीतेन परुषेण वा।
मम लाभ इति प्रेक्ष्य
प्रयतस्तत् प्रतिशृणुयात्॥

२७—"आचार्य मुझ पर कोमल या कठोर वचनों से जो अनुशासन करते हैं वह मेरे लाभ के लिए है"—ऐसा सोचकर प्रयत्नपूर्वक उनके वचनों को स्वीकार करे।

२८—अणुसासणमोवायं
दुक्कडस्स य चोयणं[३]।
हियं तं मन्नए पण्णो
वेसं होइ असाहुणो॥

अनुशासनमौपायं
दुष्कृतस्य च चोदनम्।
हितं तन्मन्यते प्राज्ञः
द्वेष्यं भवत्यसाधोः॥

२८—मृदु या कठोर वचनों से किया जाने वाला अनुशासन दुष्कृत का निवारक होता है। प्रज्ञावान् मुनि उसे हित मानता है। वही असाधु के लिए द्वेष का हेतु बन जाता है।

---

१. गिहसन्धीसु महापहे (ढ०); गिहसंधिसु अ महापहेसु (बृ०)।
२. सीतेण (अ); सीलेण (बृ०पा०, चू०पा०)।
३. चेयणं (बृ०); चोयणा (चू०)।

२९—हियं विगय-भया बुद्धा
फरुसं पि अणुसासणं ।
वेसं तं होइ मूढाणं
खन्ति-सोहिकरं[1] पयं ॥

हितं विगतभया बुद्धाः
परुषमप्यनुशासनम् ।
द्वेष्यं तद् भवति मूढानां
क्षान्तिशोधिकरं पदम् ॥

२९—भय-मुक्त बुद्धिमान् शिष्य गुरु के कठोर अनुशासन को भी हितकर मानते हैं। परन्तु अज्ञानियों के लिए वही—क्षमा और चित्त-विशुद्धि करने वाला, गुण-वृद्धि का आधारभूत—अनुशासन द्वेष का हेतु बन जाता है।

३०—आसणे उवचिट्ठेज्जा
'अणुच्चे अकुए'[2] थिरे ।
अप्पुट्ठाई निरुट्ठाई
निसीएज्जप्पकुक्कुए ॥

आसने उपतिष्ठेत
अनुच्चे अकुचे स्थिरे ।
अल्पोत्थायी निरुत्थायी
निषीदेदल्पकुक्कुचः ॥

३०—जो गुरु के आसन से नीचा हो, अकम्पमान हो और स्थिर हो (जिसके पाये धरती पर टिके हुए हों) वैसे आसन पर बैठे। प्रयोजन होने पर भी बार-बार न उठे। बैठे तब स्थिर एवं शान्त होकर बैठे, हाथ-पैर आदि से चपलता न करे।

३१—कालेण निक्खमे भिक्खू
कालेण य पडिक्कमे ।
अकालं च विवज्जित्ता
काले कालं समायरे ॥

काले निष्क्रामेद् भिक्षुः
काले च प्रतिक्रामेत् ।
अकालं च विवर्ज्य
काले कालं समाचरेत् ॥

३१—समय पर भिक्षा के लिए निकले, समय पर लौट आए। अकाल को वर्जकर, जो कार्य जिस समय का हो, उसे उसी समय करे।

३२—परिवाडीए न चिट्ठेज्जा
भिक्खू दत्तेसणं चरे ।
पडिरूवेण एसित्ता
मियं कालेण भक्खए ॥

परिपाट्यां न तिष्ठेत्
भिक्षुर्दत्तैषणां चरेत् ।
प्रतिरूपेणैषयित्वा
मितं काले भक्षयेत् ॥

३२—भिक्षु परिपाटी (पंक्ति) में खड़ा न रहे। गृहस्थ के द्वारा दिए हुए आहार की एषणा करे। प्रति-रूप (मुनि के वेष) में एषणा कर यथासमय मित आहार करे।

३३—'नाइदूरमणासन्ने'[3]
नन्नेसिं चक्खु-फासओ ।
एगो चिट्ठेज्ज भत्तट्ठा
लंघिया तं नइक्कमे[4] ॥

नातिदूरेऽनासन्ने
नान्येषां चक्षुःस्पर्शतः ।
एकस्तिष्ठेद् भक्तार्थः
लङ्घयित्वा तं नातिक्रामेत् ॥

३३—पहले से ही अन्य भिक्षु खड़े हों तो उनसे अति-दूर या अति-समीप खड़ा न रहे और देने वाले गृहस्थों की दृष्टि के सामने भी न रहे। किन्तु अकेला (भिक्षुओं और दाता दोनों की दृष्टि से बचकर) खड़ा रहे। भिक्षुओं को लाँघकर भक्त लेने के लिए न जाए।

३४—नाइउच्चे व नीए वा
नासन्ने नाइदूरओ ।
फासुयं परकडं पिण्डं
पडिगाहेज्ज संजए ॥

नात्युच्चे वा नीचे वा
नासन्ने नातिदूरतः ।
प्रासुकं परकृतं पिण्डं
प्रति गृह्णीयात् संयतः ॥

३४—संयमी मुनि प्रासुक और गृहस्थ के लिए बना हुआ आहार ले किन्तु अति-ऊँचे या अति-नीचे स्थान से लाया हुआ तथा अति-समीप या अति-दूर से दिया जाता हुआ आहार न ले।

---

१. -छद्धिकरं (बृ०)।
२. अणुच्चेऽकुक्कुए (बृ०)।
३. णाइ दूरे अणासण्णे (चू०)।
४. न अइक्कमे (अ)।

३५—अप्पपाणेऽप्पबीयंमि[1]
पडिच्छन्नंमि संवुडे ।
समयं संजए भुंजे
जयं अपरिसाडियं[2] ॥

अल्पप्राणेऽल्पबीजे
प्रतिच्छन्ने संवृते ।
समकं संयतो भुंजीत
यतमपरिसाटितम् ॥

३५—संयमी मुनि प्राणी और बीज रहित, ऊपर से ढके हुए और पार्श्व में भित्ति आदि से संवृत उपाश्रय में अपने सहधर्मी मुनियों के साथ, भूमि पर न गिराता हुआ, यत्नपूर्वक आहार करे ।

३६—सुकडे त्ति सुपक्के त्ति
सुच्छिन्ने सुहडे मडे ।
सुणिट्ठिए सुलट्ठे त्ति
सावज्जं वज्जए मुणी ॥

सुकृतमिति सुपक्वमिति
सुच्छिन्नं सुहृतं मृतम् ।
सुनिष्ठितं सुलष्टमिति
सावद्यं वर्जयेन्मुनिः ॥

३६—बहुत अच्छा किया है (भोजन आदि), बहुत अच्छा पकाया है (घेवर आदि), अच्छा छेदा है (पत्ती का साग आदि), बहुत अच्छा हरण किया है (साग की कड़वाहट आदि), बहुत अच्छा मरा है (चूरमे में घी आदि), बहुत इष्ट है (प्रिय है)—मुनि इन सावद्य वचनों का प्रयोग न करे ।

३७—रमए पण्डिए सासं
हयं भद्दं व वाहए ।
बालं सम्मइ सासन्तो
गलियस्सं व वाहए ॥

रमते पण्डितान् शासत्
हयं भद्रमिव वाहकः ।
बालं श्राम्यति शासत्
गल्यश्वमिव वाहकः ॥

३७—जैसे उत्तम घोड़े को हाँकते हुए उसका वाहक आनन्द पाता है, वैसे ही पंडित (विनीत) शिष्य पर अनुशासन करता हुआ गुरु आनन्द पाता है और जैसे दुष्ट घोड़े को हाँकते हुए उसका वाहक खिन्न होता है, वैसे ही बाल (अविनीत) शिष्य पर अनुशासन करता हुआ गुरु खिन्न होता है ।

३८—'खड्डुया मे चवेडा मे
अक्कोसा य वहा य मे'[3] ।
कल्लाणमणुसासन्तो[4]
पावदिट्ठि त्ति मन्नई ॥

'खड्डुका' मे चपेटा मे
आक्रोशाश्च वधाश्च मे ।
कल्याणमनुशास्यमानः
पापदृष्टिरिति मन्यते ॥

३८—पाप-दृष्टि वाला शिष्य गुरु के कल्याणकारी अनुशासन को भी ठोकर मारने, चांटा चिपकाने, गाली देने व प्रहार करने के समान मानता है ।

३९—पुत्तो मे भाय नाइ त्ति
साहू कल्लाण मन्नई ।
पावदिट्ठी उ अप्पाणं
सासं 'दासं व'[5] मन्नई ॥

पुत्रो मे भ्राता ज्ञातिरिति
साधुः कल्याणं मन्यते ।
पापदृष्टिस्त्वात्मानं
शास्यमानं दासमिव मन्यते ॥

३९—गुरु मुझे पुत्र, भाई और स्वजन की तरह अपना समझकर शिक्षा देते हैं—ऐसा सोच विनीत शिष्य उनके अनुशासन को कल्याणकारी मानता है परन्तु कुशिष्य हितानुशासन से शासित होने पर अपने को दास तुल्य मानता है ।

---

१. अप्पपाणऽप्प० (अ, उ, ऋ०) ।
२. अप्परि० (उ, ऋ०, बृ०) ।
३. खड्डुयाहि चवेडाहि, अक्कोसेहि वहेहि य (बृ०, चू०); खड्डुया मे चवेडा मे, अक्कोसा य वहा य मे (चू०पा०, बृ०पा०) ।
४. ० सासन्तं (बृ०, चू०) ।
५. दासे त्ति (अ, आ, इ, उ, ऋ०) ।

४०—न कोवए आयरियं
अप्पाणं पि न कोवए।
बुद्धोवघाई न सिया
न सिया तोत्तगवेसए॥

न कोपयेदाचार्यं
आत्मानमपि न कोपयेत्।
बुद्धोपघाती न स्यात्
न स्यात् तोत्रगवेषकः॥

४०—शिष्य आचार्य को कुपित न करे। स्वयं भी कुपित न हो। आचार्य का उपघात करनेवाला न हो। उनका छिद्रान्वेषी न हो।

४१—आयरियं कुवियं नच्चा
पत्तिएण पसायए।
विज्झवेज्ज पंजलिउडो
वएज्ज न पुणो त्ति य॥

आचार्यं कुपितं ज्ञात्वा
प्रातीतिकेन प्रसादयेत्।
विध्यापयेत् प्रांजलिपुटः
वदेन्न पुनरिति च॥

४१—आचार्य को कुपित हुए जानकर विनीत शिष्य प्रतीतिकारक (या 'प्रीतिकेन'—प्रीतिकारक) वचनों से उन्हें प्रसन्न करे। हाथ जोड़कर उन्हें शान्त करे और यों कहे कि "मैं पुनः ऐसा नहीं करूँगा।"

४२—धम्मज्जियं च ववहारं
बुद्धेहायरियं सया।
तमायरन्तो ववहारं[1]
गरहं नाभिगच्छई॥

धर्मार्जितं च व्यवहारं
बुद्धैराचरितं सदा।
तमाचरन् व्यवहारं
गर्हां नाभिगच्छति॥

४२—जो व्यवहार धर्म से अर्जित हुआ है, जिसका तत्त्वज्ञ आचार्यों ने सदा आचरण किया है, उस व्यवहार का आचरण करता हुआ मुनि कहीं भी गर्हा को प्राप्त नहीं होता।

४३—'मणोगयं वक्कगयं'[2]
जाणित्तायरियस्स उ।
तं परिगिज्झ वायाए
कम्मुणा उववायए॥

मनोगतं वाक्यगतं
ज्ञात्वा आचार्यस्य तु।
तत् परिगृह्य वाचा
कर्मणोपपादयेत्॥

४३—आचार्य के मनोगत और वाक्यगत भावों को जानकर, उनको वाणी से ग्रहण करे और कार्यरूप में परिणत करे।

४४—वित्ते अचोइए निच्चं[3]
'खिप्पं हवइ सुचोइए'[4]।
जहोवइट्ठं सुकयं
किच्चाइं कुव्वई सया॥

वित्तोऽचोदितो नित्यं
क्षिप्रं भवति सुचोदितः।
यथोपदिष्टं सुकृतं
कृत्यानि करोति सदा॥

४४—जो विनय से प्रख्यात होता है वह सदा बिना प्रेरणा दिए ही कार्य करने में प्रवृत्त होता है। वह अच्छे प्रेरक गुरु की प्रेरणा पाकर तुरंत ही उनके उपदेशानुसार भलीभाँति कार्य सम्पन्न कर लेता है।

४५—नच्चा नमइ मेहावी
लोए 'कित्ती से'[5] जायए।
हवई किच्चाणं सरणं
भूयाणं जगई जहा॥

ज्ञात्वा नमति मेधावी
लोके कीर्तिस्तस्य जायते।
भवति कृत्यानां शरणं
भूतानां जगती यथा॥

४५—मेधावी मुनि उक्त विनय-पद्धति को जानकर उसे क्रियान्वित करने में तत्पर हो जाता है। उसकी लोक में कीर्ति होती है। जिस प्रकार पृथ्वी प्राणियों के लिए आधार होती है, उसी प्रकार वह धर्माचरण करनेवालों के लिए आधार होता है।

---

१. मेहावी (बृ०पा०)।
२. मणोरुइं वक्करुइं (बृ०पा०, चू०)।
३. खिप्पं (बृ०पा०, चू०पा०)।
४. पसन्ने थामवं करे (बृ०पा०, चू० पा०)।
५. कित्तीय (अ, उ, बृ०); कित्ती सि (ऋ०)।

४६—पुज्जा जस्स पसीयन्ति
संबुद्धा पुव्वसंथुया।
पसन्ना[1] लाभइस्सन्ति
विउलं अट्ठियं सुयं॥

पूज्या यस्य प्रसीदन्ति
सम्बुद्धाः पूर्व-संस्तुताः।
प्रसन्ना लाभयिष्यन्ति
विपुलमार्थिकं श्रुतम्॥

४६—उसपर तत्त्ववित् पूज्य आचार्य प्रसन्न होते हैं। अध्ययन-काल से पूर्व ही वे उसके विनय-समाचरण से परिचित होते हैं। वे प्रसन्न होकर उसे मोक्ष के हेतुभूत विपुल श्रुत-ज्ञान का लाभ करवाते हैं।

४७-स पुज्जसत्थे सुविणीयसंसए
'मणोरुई[2] चिट्ठइ कम्म-संपया।'[3]
तवोसमायारिसमाहिसंवुडे
महज्जुई पंच-वयाइं पालिया॥

स पूज्य-शास्त्रः सुविनीत-संशयः
मनोरुचिस्तिष्ठति कर्म-सम्पदा।
तपःसामाचारीसमाधिसंवृतः
महाद्युतिः पंच व्रतानि पालयित्वा॥

४७—वह पूज्य-शास्त्र होता है—उसके शास्त्रीय ज्ञान का बहुत सम्मान होता है। उसके सारे संशय मिट जाते हैं। वह गुरु के मन को भाता है। वह कर्म-सम्पदा (दस विध सामाचारी) से सम्पन्न होकर रहता है। वह तप-समाचारी और समाधि से संवृत होता है। पाँच महाव्रतों का पालनकर महान् तेजस्वी हो जाता है।

४८—स देव-गन्धव्व-मणुस्सपूइए
चइत्तु देहं मलपंकपुव्वयं।
सिद्धे वा हवइ सासए
देवे वा अप्परए महिड्ढिए॥
—त्ति बेमि।

स देवगन्धर्वमनुष्यपूजितः
त्यक्त्वा देहं मलपङ्कपूर्वकम्।
सिद्धो वा भवति शाश्वतः
देवो वाल्परजा महर्द्धिकः॥
—इति ब्रवीमि

४८—देव, गन्धर्व और मनुष्यों से पूजित वह विनीत शिष्य मल और पंक से बने हुए शरीर को त्यागकर या तो शाश्वत सिद्ध होता है या अल्पकर्म वाला महर्द्धिक देव होता है—ऐसा मैं कहता हूँ।

●

१. संपन्ना (बृ०पा०)।
२. मणोरुइ (बृ०पा०)।
३. मणोरुइं चिट्ठइ कम्म-संपयं (बृ० पा०); मणिच्छियं संपयमुत्तमं गया (नागार्जुनीयाः)।

उक्त प्रकारों में से कोई कष्ट जो स्वयं इच्छानुसार झेला जाता है, वह काय-क्लेश है और जो इच्छा के बिना प्राप्त होता है, वह परीषह है ।[1]

काय-क्लेश के अभ्यास से शारीरिक दुःख को सहने की क्षमता, शारीरिक सुखों के प्रति अनाकांक्षा और क्वचित् जिन-शासन की प्रभावना भी होती है ।[2] परीषह सहन करने से स्वीकृत अहिंसा आदि धर्मों की सुरक्षा होती है ।

इस अध्ययन के अनुसार परीषह बाईस हैं :—

१—क्षुधा	१२—आक्रोश
२—पिपासा	१३—वध
३—शीत	१४—याचना
४—उष्ण	१५—अलाभ
५—दंश-मशक	१६—रोग
६—अचेल	१७—तृण-स्पर्श
७—अरति	१८—जल्ल
८—स्त्री	१९—सत्कार-पुरस्कार
९—चर्या	२०—प्रज्ञा
१०—निषद्या	२१—अज्ञान
११—शय्या	२२—दर्शन

तत्त्वार्थसूत्र में भी इनकी संख्या बाईस ही है ।[3]

इनमें दर्शन-परीषह और प्रज्ञा-परीषह—ये दो मार्ग से अच्यवन में सहायक होते हैं और शेष बीस परीषह निर्जरा के लिये होते हैं ।[4]

समवायांग (समवाय २२) में अन्तिम तीन परीषहों का क्रम उत्तराध्ययन से भिन्न है :—

उत्तराध्ययन	समवायांग
१—प्रज्ञा	१—ज्ञान
२—अज्ञान	२—दर्शन
३—दर्शन	३—प्रज्ञा

अभयदेवसूरि ने समवायांग की वृत्ति में अज्ञान-परीषह का क्वचित् श्रुति के रूप में उल्लेख किया है ।

तत्त्वार्थसूत्र (९।९) में 'अचेल' के स्थान पर 'नाग्न्य'-परीषह का उल्लेख है और दर्शन-परीषह के स्थान पर अदर्शन-परीषह का । प्रवचनसारोद्धार (गाथा ६८६) में दर्शन-परीषह के स्थान में सम्यक्त्व-परीषह माना गया है । दर्शन और सम्यक्त्व यह केवल शब्द-भेद है ।

१—तत्त्वार्थवृत्ति (श्रुतसागरीय), पृष्ठ ३०१, सू० ९।१७ की वृत्ति : यदृच्छया समागतः परीषहः, स्वयमेव कृतः कायक्लेशः ।

२—वही : शरीरदुःखसहनार्थं शरीरसुखानभिवाञ्छार्थं जिनधर्मप्रभावनाद्यर्थञ्च ।

३—तत्त्वार्थसूत्र, ९।९ : क्षुत्पिपासाशीतोष्णदंशमशकनाग्न्यारतिस्त्रीचर्यानिषद्याशय्याक्रोशवधयाचनाऽलाभरोगतृणस्पर्शमलसत्कारपुरस्कार-प्रज्ञाज्ञानादर्शनानि ।

४—प्रवचनसारोद्धार, पत्र १९२, गा० ६८५ की वृत्ति : तत्र मार्गाच्यवनार्थं दर्शनपरीषहः प्रज्ञापरीषहश्च, शेषा विंशतिर्निर्जरार्थम् ।

बीअं अज्झयणं :
परीसह-पविभत्ती

द्वितीय अध्ययन :
परीषह-प्रविभक्तिः

अचेल और नाग्न्य मे थोड़ा अर्थ-भेद भी है। अचेल का अर्थ है—(१) नग्नता और (२) फटे हुए या अल्प-मूल्य वाले वस्त्र[1]।

तत्त्वार्थसूत्र श्रुतसागरीय वृत्ति मे प्रज्ञा-परीषह और अदर्शन-परीषह की व्याख्या मूल उत्तराध्ययन के प्रज्ञा और दर्शन-परीषह से भिन्न है। उत्तराध्ययन (२।४२) में जो अज्ञान-परीषह की व्याख्या है, वह श्रुतसागरीय में अदर्शन की व्याख्या है।

तत्त्वार्थवृत्ति (श्रुतसागरीय) पृ० २९५

प्रज्ञा-परीषह :—

यो मुनिस्तर्कव्याकरणच्छन्दोलंकारसारसाहित्याध्यात्मशास्त्रादिनिधानांगपूर्वप्रकीर्णकनिपुणोऽपि सन् ज्ञानमदं न करोति, ममाग्रतः प्रवादिनः सिंहशब्दश्रवणात् वनगजा इव पलायन्ते xxx मदं नाधत्ते स मुनिः प्रज्ञापरीषहविजयी भवति।

अर्थ : जो मुनि तर्क, व्याकरण, साहित्य, छन्द, अलंकार, अध्यात्मशास्त्र आदि विद्याओं मे निपुण होने पर भी ज्ञान का मद नहीं करता है तथा जो इस बात का घमंड नहीं करता है कि प्रवादी मेरे सामने से उसी प्रकार भाग जाते हैं जिस प्रकार सिंह के शब्द को सुनकर हाथी भाग जाते हैं, उस मुनि के प्रज्ञा-परीषह जय होता है।

अदर्शन-परीषह—

यो मुनिः xxx चिरदीक्षितोऽपि सन्नेवं न चिन्तयति अद्यापि ममातिशयवद्‌बोधनं न सञ्जायते उत्कृष्टश्रुतव्रतादिविधायिनां किल प्रातिहार्यविशेषाः प्रादुर्भवन्ति, इति श्रुतिर्मिथ्या वर्तते दीक्षेयं निष्फला व्रतधारणंच फल्गु एव वर्तते इति सम्यग्दर्शनविशुद्धिसन्निधानादेवं न मनसि करोति तस्य मुनेरदर्शनपरीषहजयो भवतीत्यवसानीयम्।

अर्थ :—चिर दीक्षित होने पर भी अवधिज्ञान या ऋद्धि आदि की प्राप्ति न होने पर जो मुनि विचार नहीं करता है कि यह दीक्षा निष्फल है, व्रतों का धारण करना व्यर्थ है इत्यादि, उस मुनि के अदर्शन-परीषह जय होता है।

उत्तराध्ययन अ० २

प्रज्ञा-परीषह :—

से नूणं मए पुव्वं, कम्माऽणाणफला कडा।
जेणाहं नाभिजाणामि, पुट्ठो केणइ कण्हुई ॥४०॥
अह पच्छा उइज्जंति, कम्माऽणाणफलाकडा।
एवमस्सासि अप्पाणं, णच्चा कम्मविवागयं ॥४१॥

अर्थ :—निश्चय ही मैंने पूर्व काल में अज्ञान-रूपी फल देने वाले कर्म किये हैं। उन्हीं के कारण मैं किसी से कुछ पूछे जाने पर भी कुछ नहीं जानता—उत्तर देना नहीं जानता। पहले किये हुए अज्ञान-रूप फल देने वाले कर्म पकने के पश्चात् उदय में आते हैं इस प्रकार कर्म के विपाक को जानकर आत्मा को आश्वासन दे।

दर्शन-परीषह :—

णत्थि णूणं परे लोए, इड्ढी वावि तवस्सिणो।
अदुवा वञ्चिओमित्ति, इइ भिक्खू ण चिंतए ॥४४॥
अभू जिणा अत्थि जिणा, अदुवावि भविस्सइ।
मुसं ते एवमाहंसु, इति भिक्खू न चिंतए ॥४५॥

अर्थ :—निश्चय ही परलोक नहीं है, तपस्वी की ऋद्धि भी नहीं है, अथवा मैं ठगा गया हूँ—भिक्षु ऐसा चिन्तन न करे। जिन हुये थे, जिन हैं और जिन होंगे ऐसा जो कहते हैं वे झूठ बोलते हैं—भिक्षु ऐसा चिन्तन न करे।

१—प्रवचनसारोद्धार, पत्र १६३, गा० ६८५ की वृत्ति : चेलस्य अभावो अचेलं जिनकल्पिकादीनां अन्येषां तु यतीनां भिन्नं स्फुटितं अल्पमूल्यं च चेलमप्यचेलमुच्यते।

आमुख

उत्तराध्ययन के इस दूसरे अध्ययन में मुनि के परीषहों का निरूपण है। कर्म-प्रवाद पूर्व के १७ वें प्राभृत में परीषहों का नय और उदाहरण-सहित निरूपण है। वही यहाँ उद्धृत किया गया है, यह निर्युक्तिकार का अभिमत है।[1] दशवैकालिक के सभी अध्ययन जिस प्रकार पूर्वों से उद्धृत हैं उसी प्रकार उत्तराध्ययन का यह अध्ययन भी उद्धृत है।

जो सहा जाता है उसे कहते हैं परीषह। सहने के दो प्रयोजन हैं : (१) मार्गाच्यवन और (२) निर्जरा। स्वीकृत मार्ग से च्युत न होने के लिये और निर्जरा—कर्मों को क्षीण करने के लिये कुछ सहा जाता है।[2]

भगवान् महावीर की धर्म-प्ररूपणा के दो मुख्य अंग हैं—अहिंसा और कष्ट-सहिष्णुता।[3] कष्ट सहने का अर्थ शरीर, इन्द्रिय और मन को पीड़ित करना नहीं, किन्तु अहिंसा आदि धर्मों की आराधना को सुस्थिर बनाये रखना है। आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है :—

सुहेण भाविदं णाणं, दुहे जादे विणस्सदि।
तम्हा जहाबलं जोई, अप्पा दुक्खेहि भावए ॥[4]

अर्थात् सुख से भावित ज्ञान दुःख उत्पन्न होने पर नष्ट हो जाता है, इसलिये योगी को यथाशक्ति अपने-आपको दुःख से भावित करना चाहिये।

इसका अर्थ काया को क्लेश देना नहीं है। यद्यपि एक सीमित अर्थ में काय-क्लेश भी तप रूप में स्वीकृत है किन्तु परीषह और काय-क्लेश एक नहीं हैं। काय-क्लेश आसन करने, ग्रीष्म-ऋतु में आतापना लेने, वर्षा-ऋतु में तरुमूल में निवास करने, शीत-ऋतु में अपावृत स्थान में सोने और नाना प्रकार की प्रतिमाओं को स्वीकार करने, न खुजलाने, शरीर की विभूषा न करने के अर्थ में स्वीकृत है।[5]

१—उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा ६६ : कम्मप्पवायपुव्वे सत्तरसे पाहुडंमि जं सुत्तं।
सणयं सोदाहरणं तं चेव इहंपि णायव्वं ॥

२—तत्त्वार्थसूत्र, ६।८ : मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिषोढव्याः परीषहाः।

३—सूत्रकृतांग १।२।१।१४ : धुणिया कुलियं व लेववं किसए देहमणासणा इह।
अविहिंसामेव पव्वए अणुधम्मो मुणिणा पवेइओ ॥

वृत्ति—विविधा हिंसा विहिंसा न विहिंसा अविहिंसा तामेव प्रकर्षेण व्रजेत्, अहिंसाप्रधानो भवेदित्यर्थः अनुगतो—मोक्षं प्रत्यनुकूलो धर्मोऽनुधर्मः असावहिंसालक्षणः परीषहोपसर्गसहनलक्षणश्च धर्मो 'मुनिना' सर्वज्ञेन 'प्रवेदितः' कथित इति।

४—अष्टपाहुड, मोक्ष प्राभृत ६२।

५—(क) उत्तराध्ययन ३०।२७ :
ठाणा वीरासणाईया जीवस्स उ सुहावहा।
उग्गा जहा धरिज्जन्ति कायकिलेसं तमाहियं ॥

(ख) औपपातिक, सूत्र १९ : से किं तं कायकिलेसे ?, अणेगविहे पण्णत्ते, तंजहा—ठाणाट्ठितिए ठाणाइए उक्कुडुआसणिए पडिमट्ठाई वीरासणिए नेसज्जिए दंडायए लउडसाई आयावए अवाउडए अकंडुयए अणिट्ठुहए सव्वगायपरिकम्मविभूसविप्पमुक्के से तं कायकिलेसे।

व्याख्याकारों ने सभी परीषहों के साथ कथाएँ जोड़कर उन्हें सुबोध बनाया है। कथाओं का संकेत निर्युक्ति में भी प्राप्त है।

परीषह-उत्पत्ति के कारण इस प्रकार बताये गये हैं[1] :—

परीषह	उत्पत्ति के कारण कर्म	परीषह	उत्पत्ति के कारण कर्म
१—प्रज्ञा	ज्ञानावरणीय	१२—क्षुधा	वेदनीय
२—अज्ञान	,,	१३—पिपासा	,,
३—अलाभ	अन्तराय	१४—शीत	,,
४—अरति	चारित्र-मोहनीय	१५—उष्ण	,,
५—अचेल	,,	१६—दंश-मशक	,,
६—स्त्री	,,	१७—चर्या	,,
७—निषद्या	,,	१८—शय्या	,,
८—याचना	,,	१९—वध	,,
९—आक्रोश	,,	२०—रोग	,,
१०—सत्कार-पुरस्कार	,,	२१—तृण-स्पर्श	,,
११—दर्शन	दर्शन-मोहनीय	२२—जल्ल	,,

ये सभी परीषह नौवें गुणस्थान तक हो सकते हैं। दशवें गुणस्थान में चारित्र-मोहनीय कर्म के उदय से होने वाले अरति आदि सात परीषह तथा दर्शन-मोहनीय से उत्पन्न दर्शन-परीषह को छोड़कर शेष चौदह परीषह होते हैं। छद्मस्थ वीतराग अर्थात् ग्यारहवें-बारहवें गुणस्थानवर्ती मुनि में भी ये ही चौदह परीषह हो सकते हैं। केवली में मात्र वेदनीय-कर्म के उदय से होने वाले ग्यारह परीषह पाये जाते हैं[2]।

तत्त्वार्थसूत्र में एक साथ उन्नीस परीषह माने हैं। जैसे—शीत और उष्ण में से कोई एक होता है। शय्या-परीषह के होने पर निषद्या और चर्या-परीषह नहीं होते। निषद्या-परीषह होने पर शय्या और चर्या-परीषह नहीं होते।[3]

१—उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा ७३-७८ :

णाणावरणे वेए मोहंमिय अन्तराइए चेव । एएसुं बावीसं परीसहा हुंति णायव्वा ॥
पन्नाण्णाणपरिसहा णाणावरणंमि हुंति दुन्नेए । इक्को य अतराए अलाहपरीसहो होइ ॥
अरई अचेल इत्थी निसीहिया जायणा य अक्कोसे। सक्कारपुरक्कारे चरित्तमोहंमि सत्तेए ॥
अरईइ दुगुंछाए पुंवेय भयस्स चेव माणस्स। कोहस्स य लोहस्स य उदएण परीसहा सत्त ॥
दंसणमोहे दंसणपरीसहो नियमसो भवे इक्को। सेसा परीसहा खलु इक्कारस वेयणीज्जंमि ॥
पंचेव आणुपुव्वी चरिया सिज्जा वहे व (य) रोगे य। तणफासजल्लमेव य इक्कारस वेयणीज्जंमि ॥

२—वही, गाथा ७८।

३—(क) तत्त्वार्थसूत्र, ९।१७ : एकादयो भाज्या युगपदेकस्मिन्नैकान्नविंशतिः।

(ख) तत्त्वार्थवृत्ति (श्रुतसागरीय), पृ०२९९ : शीतोष्णपरीषहयोर्मध्ये अन्यतरो भवति शीतमुष्णो वा। शय्यापरीषहे सति निषद्याचर्ये न भवतः निषद्यापरीषहे शय्याचर्ये द्वौ न भवतः, चर्यापरीषहे शय्यानिषद्ये द्वौ न भवतः। इति त्रयाणामसम्भवे एकान्नविंशतिरेकस्मिन् युगपद् भवति।

अज्ञान-परीषह :—

> **निरट्ठगंमि विरओ, मेहुणाओ सुसंवुडो ।**
> **जो सक्खं नाभिजाणामि, धम्मं कल्लाण पावगं ॥४२॥**
> **तवोवहाणमादाय, पडिमं पडिवज्जओ ।**
> **एवंपि मे विहरओ, छउमं ण णियट्टति ॥४३॥**

अर्थ :—मैं मैथुन से निवृत्त हुआ, इन्द्रिय और मन का मैंने संवरण किया—यह सब निरर्थक है । क्योंकि धर्म कल्याणकारी है या पापकारी—यह मैं साक्षात् नहीं जानता ।

तपस्या और उपाधान को स्वीकार करता हूँ, प्रतिमा का पालन करता हूँ—इस प्रकार विशेष चर्या से विहरण करने पर भी मेरा छद्म (ज्ञानावरणादि कर्म) निवर्तित नहीं हो रहा है—ऐसा चिन्तन न करे ।

मूलाचार में विचिकित्सा के दो भेद किये हैं—(१) द्रव्य-विचिकित्सा और (२) भाव-विचिकित्सा । भाव-विचिकित्सा के अन्तर्गत बाईस परीषहों का उल्लेख हुआ है । उनमें अरति के स्थान पर अरति-रति, याचना के स्थान पर अयाचना और दर्शन के स्थान पर अदर्शन-परीषह है ।[1]

इन बाईस परीषहों के स्वरूप के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि कई परीषह सामान्य व्यक्तियों के लिये नहीं थे । वे जिनकल्प-प्रतिमा को स्वीकार करने वाले विशेष संहनन और धृति-युक्त मुनियों के लिये थे । शान्त्याचार्य ने भी इस ओर संकेत किया है । उनके अनुसार अचेल-परीषह (जहाँ हम अचेल का अर्थ नग्नता करते हैं) जिनकल्पी मुनियों के लिये तथा ऐसे स्थविरकल्पी मुनियों के लिये ग्राह्य है, जिन्हें वस्त्र मिलना अत्यन्त दुर्लभ है, जिन के पास वस्त्रों का अभाव है, जिनके वस्त्र जीर्ण हो गये हैं अथवा जो वर्षा आदि के बिना वस्त्र-धारण नहीं कर सकते[2] *और तृणस्पर्श-परीषह केवल जिनकल्पी मुनियों के लिये ग्राह्य है*[3] *।*

प्रवचनसारोद्धार की टीका में सर्वथा नग्न रहना तथा चिकित्सा न कराना, केवल जिनकल्पी मुनि के लिये ही बतलाया है[4] *।*

१—*मूलाचार*, ५।७२,७३ : छुहतण्हा सीदुण्हा दंसमसयमचेलभावो य ।
अरदि रदि इत्थि चरिया णिसीधिया सेज्ज अक्कोसो ॥
वधजायणं अलाहो रोग तणप्फास जल्लसक्कारो ।
तह चेव पण्णपरिसह अण्णाणमदंसणं खमणं ॥

२—बृहद्वृत्ति, पत्र ९२,९३ : जिनकल्पप्रतिपत्तौ स्थविरकल्पेऽपि दुर्लभवस्त्रादौ वा सर्वथा चेलाभावेन सति वा चेले विना वर्षादिनिमित्तम-प्रावरणेन जीर्णादिवस्त्रतया वा 'अचेलक' इति अवस्त्रोऽपि भवति ।

३—वही, पत्र १२२ : जिनकल्पिकापेक्षं चैतत्, स्थविरकल्पिकाश्च सापेक्षसंयमत्वात्सेवन्तेऽपीति ।

४—(क) प्रवचनसारोद्धार, पत्र १९३ : , गा० ६८५ की वृत्ति (उद्धरण के लिये देखिये पृष्ठ २१ पाद-टि० १) ।
(ख) वही, पत्र १९४ : गा० ६८६ की वृत्ति : ज्वरकासश्वासादिके सत्यपि न गच्छनिर्गता जिनकल्पिकादयश्चिकित्साविधापने प्रवर्तन्ते ।

बौद्ध-भिक्षु काय-क्लेश को महत्त्व नहीं देते किन्तु परीषह-सहन की स्थिति को वे भी अस्वीकार नहीं करते। स्वयं महात्मा बुद्ध ने कहा है—"मुनि शीत, उष्ण, क्षुधा, पिपासा, वात, आतप, दंश और सरीसृप का सामना कर खंग-विषाण की तरह अकेला विहरण करे।"[1]

आचारांग निर्युक्ति में परीषह के दो विभाग हैं[2] *:—*

१—शीत—मन्द परिणाम वाले। जैसे—स्त्री-परीषह और सत्कार-परीषह। ये दो अनुकूल परीषह हैं।

२—उष्ण—तीव्र परिणाम वाले। शेष बीस। ये प्रतिकूल परीषह हैं।

प्रस्तुत अध्ययन में परीषहों के विवेचन रूप में मुनि-चर्या का बहुत ही महत्त्वपूर्ण निरूपण हुआ है।

१—सुत्तनिपात, उरगवग्ग, ३।१८ : सीतं च उण्हं च खुदं पिपासं, वातातपे डंससिरिंसपे च।
सब्बानिपेतानि अभिसंभवित्वा, एको चरे खग्गविसाणकप्पो॥

२—आचारांग निर्युक्ति, गाथा २०२,२०३ : इत्थी सक्कार परिसहा य दो भाव-सीयला एए।
सेसा वीसं उण्हा, परीसहा हुंति णायव्वा॥
जे तिव्वप्परिणामा, परीसहा ते भवन्ति उण्हाउ।
जे मन्दप्परिणामा, परीसहा ते भवे सीया॥

बीयं अज्झयणं : द्वितीय अध्ययन
परीसह-पविभत्ती : परीषह-प्रविभक्तिः

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
सू० १—सुयं मे, आउसं ! तेणं भगवया एवमक्खायं— इह खलु बावीसं परीसहा समणेणं भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइया, जे भिक्खू सोच्चा, नच्चा, जिच्चा, अभिभूय, भिक्खायरियाए[1] परिव्वयन्तो पुट्ठो नो विहन्नेज्जा[2] ।	श्रुतं मया आयुष्मन् ! तेन भगवता एवमाख्यातम्— इह खलु द्वाविंशतिः परीषहाः श्रमणेन भगवता महावीरेण काश्यपेन प्रवेदिताः, यान् भिक्षुः श्रुत्वा, ज्ञात्वा, जित्वा, अभिभूय, भिक्षाचर्यया परिव्रजन् स्पृष्टो नो विहन्येत ।	सू० १—आयुष्मन् ! मैंने सुना है भगवान् ने इस प्रकार कहा—निर्ग्रन्थ-प्रवचन में बाईस परीषह होते हैं, जो कश्यप-गोत्रीय श्रमण भगवान् महावीर के द्वारा प्रवेदित हैं, जिन्हें सुनकर, जानकर, अभ्यास के द्वारा परिचितकर, पराजितकर, भिक्षा-चर्या के लिए पर्यटन करता हुआ मुनि उनसे स्पृष्ट होने पर विचलित नहीं होता ।
सू० २—कयरे ते खलु बावीसं परीसहा समणेणं भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइया ? जे भिक्खू सोच्चा, नच्चा, जिच्चा, अभिभूय, भिक्खायरियाए परिव्वयन्तो पुट्ठो नो विहन्नेज्जा ।	कतरे ते खलु द्वाविंशतिः परीषहाः श्रमणेन भगवता महावीरेण काश्यपेन प्रवेदिताः ? यान् भिक्षुः श्रुत्वा, ज्ञात्वा, जित्वा, अभिभूय, भिक्षाचर्यया परिव्रजन् स्पृष्टो नो विहन्येत ।	सू० २—वे बाईस परीषह कौन से हैं जो कश्यप-गोत्रीय श्रमण भगवान् महावीर के द्वारा प्रवेदित हैं ? जिन्हे सुनकर, जानकर, अभ्यास के द्वारा परिचितकर, पराजितकर, भिक्षा-चर्या के लिए पर्यटन करता हुआ मुनि उनसे स्पृष्ट होने पर विचलित नहीं होता ।
सू० ३—इमे ते खलु बावीसं परीसहा समणेणं भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइया, जे भिक्खू सोच्चा, नच्चा, जिच्चा, अभिभूय, भिक्खायरियाए परिव्वयन्तो पुट्ठो नो विहन्नेज्जा, तं जहा—	इमे ते खलु द्वाविंशतिः परीषहाः श्रमणेन भगवता महावीरेण काश्यपेन प्रवेदिताः, यान् भिक्षुः श्रुत्वा, ज्ञात्वा, जित्वा, अभिभूय, भिक्षाचर्यया परिव्रजन् स्पृष्टो नो विहन्येत । तद्यथा—	सू० ३—वे बाईस परीषह ये हैं, जो कश्यप-गोत्रीय श्रमण भगवान् महावीर के द्वारा प्रवेदित हैं, जिन्हें सुनकर, जानकर, अभ्यास के द्वारा परिचितकर, पराजितकर, भिक्षाचर्या के लिए पर्यटन करता हुआ मुनि उनसे स्पृष्ट होने पर विचलित नहीं होता । जैसे—

१. भिक्खुचरियाए (बृ०); भिक्खायरियाए (बृ०पा०) ।
२. विनिहन्नेज्जा (बृ०) ।

१. दिगिंछा-परीसहे, २. पिवासा-परीसहे, ३. सीय-परीसहे, ४. उसिण-परीसहे, ५. दंस-मसय-परीसहे, ६. अचेल-परीसहे, ७. अरइ-परीसहे, ८. इत्थी-परीसहे, ९. चरिया-परीसहे, १०. निसीहिया-परीसहे, ११. सेज्जा-परीसहे, १२. अक्कोस[1]-परीसहे, १३. वह-परीसहे, १४. जायणा-परीसहे, १५. अलाभ-परीसहे, १६. रोग-परीसहे, १७. तणफास-परीसहे, १८. जल्ल-परीसहे, १९. सक्कारपुरक्कार-परीसहे, २०. पन्ना-परीसहे, २१. अन्नाण-परीसहे, २२. दंसण-परीसहे ।

१. क्षुधा-परीषहः, २. पिपासा-परीषहः, ३. शीत-परीषहः, ४. उष्ण-परीषहः, ५. दंश-मशक-परीषहः, ६. अचेल-परीषहः, ७. अरति-परीषहः, ८. स्त्री-परीषहः, ९. चर्या-परीषहः, १०. निषीधिका-परीषहः, ११. शय्या-परीषहः, १२. आक्रोश-परीषहः, १३. वध-परीषहः, १४. याचना-परीषहः, १५. अलाभ-परीषहः, १६. रोग-परीषहः, १७. तृण-स्पर्श-परीषहः, १८. 'जल्ल'-परीषहः, १९. सत्कार-पुरस्कार-परीषहः, २०. प्रज्ञा-परीषहः, २१. अज्ञान-परीषहः, २२. दर्शन-परीषहः ।

१. क्षुधा-परीषह, २. पिपासा-परीषह, ३. शीत-परीषह, ४. उष्ण-परीषह, ५. दंश-मशक-परीषह, ६. अचेल-परीषह, ७. अरति-परीषह, ८. स्त्री-परीषह, ९. चर्या-परीषह, १०. निषद्या परीषह, ११. शय्या-परीषह, १२. आक्रोश-परीषह, १३. वध-परीषह, १४. याचना-परीषह, १५. अलाभ-परीषह, १६. रोग-परीषह, १७. तृण-स्पर्श-परीषह, १८. जल्ल-परीषह, १९. सत्कार-पुरस्कार-परीषह, २०. प्रज्ञा परीषह, २१. अज्ञान-परीषह, २२. दर्शन-परीषह ।

१—परीसहाणं पविभत्ती
कासवेणं पवेइया ।
तं भे उदाहरिस्सामि
आणुपुव्विं सुणेह मे ॥

परीषहाणां प्रविभक्तिः
काश्यपेन प्रवेदिता ।
तां भवतामुदाहरिष्यामि
आनुपूर्व्या शृणुत मे ॥

१—परीषहों का जो विभाग कश्यप-गोत्रीय भगवान् महावीर के द्वारा प्रवेदित या प्ररूपित है, उसे मैं क्रमवार कहता हूं। तू मुझसे सुन।

(१) दिगिंछा-परीसहे

२—दिगिंछा-परिगए[2] देहे
तवस्सी भिक्खु थामवं ।
न छिंदे न छिंदावए
न पए न पयावए ॥

(१) क्षुधा-परीषहः

क्षुधापरिगते देहे
तपस्वी भिक्षुः स्थामवान् ।
न छिन्द्यान् न छेदयेत
न पचेत् न पाचयेत् ॥

(१) क्षुधा-परीषह

२—देह में क्षुधा व्याप्त होने पर तपस्वी और प्राणवान् भिक्षु फल आदि का छेदन न करे, न कराए। उन्हें न पकाए और न पकवाए।

३—काली-पव्वंग-संकासे
किसे धमणि-संतए ।
मायन्ने असण-पाणस्स
अदीण-मणसो चरे ॥

काली-पर्वाङ्ग-सङ्काशः
कृशो धमनि-सन्ततः ।
मात्रज्ञोऽशनपानयोः
अदीनमनाश्चरेत् ॥

३—शरीर के अंग भूख से सूखकर काक-जंघा नामक तृण जैसे दुर्बल हो जायें, शरीर कृश हो जाय, धमनियों का ढाँचा भर रह जाय तो भी आहार-पानी की मर्यादा को जानने वाला साधु अदीनभाव से विहरण करे।

---

१. उक्कोस (अ, बृ०)।
२. ०परियावेण (बृ०); ०परितावेण (चू०); ०परिगते (बृ० पा०)।

(२) पिवासा-परीसहे

४—तओ पुट्ठो पिवासाए
दोगुंछी लज्ज-संजए[1] ।
सीओदगं न सेविज्जा
वियडस्सेसणं चरे ॥

(२) पिपासा-परीषहः

ततः स्पृष्टः पिपासया
जुगुप्सी लज्जासंयतः ।
शीतोदकं न सेवेत
विकृतस्यैषणाय चरेत् ॥

(२) पिपासा-परीषह

४—असंयम से घृणा करने वाला, लज्जावान् संयमी साधु प्यास से पीड़ित होने पर सचित्त पानी का सेवन न करे, किन्तु प्रासुक जल की एषणा करे ।

५—छिन्नावाएसु पन्थेसु
आउरे सुपिवासिए[2] ।
परिसुक्कमुहेऽदीणे[3]
'तं तितिक्खे परीसहं'[4] ॥

छिन्नापातेषु पथिषु
आतुरः सुपिपासितः ।
परिशुष्कमुखोऽदीनः
तं तितिक्षेत परीषहम् ॥

५—निर्जन मार्ग में जाते समय प्यास से अत्यंत आकुल हो जाने पर, मुँह सूख जाने पर भी साधु अदीनभाव से प्यास के परीषह को सहन करे ।

(३) सीय-परीसहे

६—चरन्तं विरयं लूहं
सीयं फुसइ एगया ।
'नाइवेलं मुणी गच्छे
सोच्चाणं जिणसासणं'[5] ॥

(३) शीत-परीषहः

चरन्तं विरतं रूक्षं
शीतं स्पृशति एकदा ।
नातिवेलं मुनिर्गच्छेत्
श्रुत्वा जिनशासनम् ॥

(३) शीत-परीषह

६—विचरते हुए विरत और रूक्ष शरीर वाले साधु को शीत-ऋतु में सर्दी सताती है । फिर भी वह जिन-शासन को सुनकर (आगम के उपदेश को ध्यान में रखकर) स्वाध्याय आदि की वेला (अथवा मर्यादा) का अतिक्रमण न करे ।

७—न मे निवारणं अत्थि
छवित्ताणं न विज्जई ।
अहं तु अग्गिं सेवामि
इइ भिक्खू न चिन्तए ॥

न मे निवारणमस्ति
छवित्राणं न विद्यते ।
अहं तु अग्निं सेवे
इति भिक्षुर्न चिन्तयेत ॥

७—शीत से प्रताड़ित होने पर मुनि ऐसा न सोचे—मेरे पास शीत-निवारक घर आदि नहीं हैं और छवित्राण (वस्त्र, कम्बल आदि) भी नहीं है, इसलिए मैं अग्नि का सेवन करूँ ।

(४) उसिण-परीसहे

८—उसिण-परियावेणं
परिदाहेण तज्जिए ।
घिंसु वा परियावेणं
सायं नो परिदेवए ॥

(४) उष्ण-परीषहः

उष्ण-परितापेन
परिदाहेन तर्जितः ।
ग्रीष्मे वा परितापेन
सातं नो परिदेवेत ॥

(४) उष्ण-परीषह

८—गरम धूलि आदि के परिताप, स्वेद, मैल या प्यास के दाह अथवा ग्रीष्म-कालीन सूर्य के परिताप से अत्यन्त पीड़ित होने पर भी मुनि सुख के लिए विलाप न करे—आकुल-व्याकुल न बने ।

---

१. लद्धसंजमे (बृ० चू०); लज्जासंजए, लज्जसंजमे (बृ० पा०); लज्जसंजते (चू० पा०) ।
२. छुप्पिवासिए (अ); छुपिवासए (ऋ०) ।
३. ० मुहद्दीणे (अ, सु०); ० मुहोदीणे (ऋ०) ।
४. सव्वतो य परिव्वए (बृ० पा०) ।
५. नाइवेलं विहन्निज्जा, पावदिट्ठी विहन्नइ (चू०, बृ०); नाइवेलं मुणी गच्छे, सोच्चाणं जिणसासणं (चू० पा०, बृ० पा०) ।

९—उण्हाहितत्ते मेहावी
सिणाणं 'नो वि पत्थए'[1]।
गायं नो परिसिंचेज्जा[2]
न वीएज्जा य अप्पयं ॥

उष्णाभितप्तो मेधावी
स्नानं नापि प्रार्थयेत्।
गात्रं नो परिषिञ्चेत्
न वीजयेच्चात्मकम् ॥

९—गर्मी से अभितप्त होने पर भी मेधावी मुनि स्नान की इच्छा न करे। शरीर को गीला न करे। पंखे से शरीर पर हवा न ले।

(५) दंस-मसय-परीसहे

१०—पुट्ठो य दंसमसएहिं
समरेव[3] महामुणी।
नागो संगाम-सीसे वा
सूरो अभिहणे परं ॥

(५) दंश-मशक-परीषहः

स्पृष्टश्च दंश-मशकैः
सम एव महामुनिः।
नागः संग्राम-शीर्षे इव
शूरोऽभिहन्यात् परम् ॥

(५) दंश-मशक-परीषह

१०—डाँस और मच्छरों का उपद्रव होने पर भी महामुनि समभाव में रहे, क्रोध आदि का वैसे ही दमन करे जैसे युद्ध के अग्रभाग में रहा हुआ शूर हाथी बाणों को नहीं गिनता हुआ शत्रुओं का हनन करता है।

११—न संतसे न वारेज्जा
मणं पि न पओसए।
उवेहे[4] न हणे पाणे
भुंजन्ते मंस-सोणियं ॥

न संत्रसेत् न वारयेत्
मनो पि न प्रदूषयेत्।
उपेक्षेत न हन्यात् प्राणान्
भुञ्जानान्मांसशोणितम् ॥

११—भिक्षु उन दंश-मशकों से संत्रस्त न हो, उन्हें हटाए नहीं। मन में भी उनके प्रति द्वेष न लाए। मांस और रक्त खाने-पीने पर भी उनकी उपेक्षा करे, किन्तु उनका हनन न करे।

(६) अचेल-परीसहे

१२—परिजुण्णेहि वत्थेहिं
होक्खामि त्ति अचेलए।
अदुवा सचेलए होक्खं
इइ भिक्खू न चिन्तए ॥

१३—'एगयाऽचेलए होइ'[5]
सचेले यावि एगया।
एयं धम्महियं नच्चा
नाणी नो परिदेवए ॥

(६) अचेल-परीषहः

"परिजीर्णैर्वस्त्रैः
भविष्यामीत्यचेलकः।
अथवा सचेलको भविष्यामि"
इति भिक्षुर्न चिन्तयेत् ॥

एकदाऽचेलको भवति
सचेलश्चापि एकदा।
एतद् धर्म-हितं ज्ञात्वा
ज्ञानी नो परिदेवेत् ॥

(६) अचेल-परीषह

१२—"वस्त्र फट गए हैं इसलिए मैं अचेल हो जाऊँगा अथवा वस्त्र मिलने पर फिर मैं सचेल हो जाऊँगा"—मुनि ऐसा न सोचे। (दीन और हर्ष दोनों प्रकार का भाव न लाए।)

१३—जिनकल्प-दशा में अथवा वस्त्र न मिलने पर मुनि अचेलक भी होता है और स्थविरकल्प-दशा में वह सचेलक भी होता है। अवस्था-भेद के अनुसार इन दोनों (सचेलत्व और अचेलत्व) को यति-धर्म के लिए हितकर जानकर ज्ञानी मुनि वस्त्र न मिलने पर दीन न बने।

---

१. नाभिपत्थए (चू०, बृ०); णोऽवि पत्थए (बृ० पा०)।
२. परिसेविज्जा (उ, ऋ०)।
३. सम एव (अ)।
४. उवेह (उ, चू०, ऋ०)।
५. एगता अचेलगो भवति (चू०); अचेलए सयं होइ (बृ० पा०, चू० पा०)।

(७) अरइ-परीसहे

१४—गामाणुगामं रीयन्तं
अणगारं अकिंचणं ।
अरई अणुप्पविसे
तं तितिक्खे परीसहं ॥

(७) अरति-परीषहः

ग्रामानुग्रामं रीयमाणं
अनगारमकिञ्चनम् ।
अरतिरनुप्रविशेत्
तं तितिक्षेत परीषहम् ॥

(७) अरति-परीषह

१४—एक गाँव से दूसरे गाँव में विहार करते हुए अकिंचन मुनि के चित्त में अरति उत्पन्न हो जाय तो उस परीषह को वह सहन करे ।

१५—अरइं पिट्ठओ किच्चा
विरए आय-रक्खिए ।
धम्मारामे निरारम्भे
उवसन्ते मुणी चरे ॥

अरतिं पृष्ठतः कृत्वा
विरतः आत्मरक्षितः ।
धर्मारामो निरारम्भः
उपशान्तो मुनिश्चरेत् ॥

१५ – हिंसा आदि से विरत रहने वाला, आत्मा की रक्षा करने वाला, धर्म में रमण करने वाला, असत्-प्रवृत्ति से दूर रहने वाला, उपशान्त मुनि अरति को दूर कर विहरण करे ।

(८) इत्थी-परीसहे

१६—संगो एस मणुस्साणं
जाओ लोगंमि इत्थिओ ।
जस्स एया परिन्नाया
सुकडं[1] तस्स सामण्णं ॥

(८) स्त्री-परीषहः

संग एष मनुष्याणां
या लोके स्त्रियः ।
यस्यैताः परिज्ञाताः
सुकृतं तस्य श्रामण्यम् ॥

(८) स्त्री-परीषह

१६—"लोक में जो स्त्रियाँ हैं, वे मनुष्यों के लिए संग हैं—लेप हैं"—जो इस बात को जान लेता है, उसका श्रामण्य सफल है ।

१७—एवमादाय[2] मेहावी
'पंकभूया उ इत्थिओ'[3] ।
नो ताहि विणिहन्नेज्जा[4]
चरेज्जत्तगवेसए ॥

एवमादाय मेधावी
पंकभूताः स्त्रियः ।
नो ताभिर्विनिहन्यात्
चरेदात्मगवेषकः ॥

१७—"स्त्रियाँ ब्रह्मचारी के लिए दल-दल के समान हैं"—यह जानकर मेधावी मुनि उनसे अपने संयम-जीवन की घात न होने दे, किन्तु आत्मा की गवेषणा करता हुआ विचरण करे ।

(९) चरिया-परीसहे

१८—एग एव[5] चरे लाढे
अभिभूय परीसहे ।
गामे वा नगरे वावि
निगमे वा रायहाणिए ॥

(९) चर्या-परीषहः

एक एव चरेद् लाढः
अभिभूय परीषहान् ।
ग्रामे वा नगरे वापि
निगमे वा राजधान्याम् ॥

(९) चर्या-परीषह

१८—संयम के लिए जीवन-निर्वाह करने वाला मुनि परीषहों को जीतकर गाँव में या नगर में, निगम में या राजधानी में अकेला (राग-द्वेष रहित होकर) विचरण करे ।

---

१. सुकरं (बृ० पा०) ।
२. एवमाणाय (चू०, बृ०); एवमादाय (चू० पा०, बृ०पा०) ।
३. जहा एया लहुस्सगा (चू० पा०, बृ०पा०) ।
४. विहन्नेज्जा (अ, सु०) ।
५. एगो (चू० पा०) ; एगे (बृ० पा०) ।

१९—असमाणो चरे भिक्खू
नेव[1] कुज्जा परिग्गहं।
असंसत्तो गिहत्थेहिं
अणिएओ परिव्वए॥

असमानश्चरेद् भिक्षुः
नैव कुर्यात् परिग्रहम्।
असंसक्तो गृहस्थैः
अनिकेतः परिव्रजेत्॥

१९—मुनि असदृश (असाधारण) होकर विहार करे। परिग्रह (ममत्वभाव) न करे। गृहस्थों से निर्लिप्त रहे। अनिकेत (गृह-मुक्त) रहता हुआ परिव्रजन करे।

(१०) निसीहिया-परीसहे

२०—सुसाणे सुन्नगारे वा
रुक्ख-मूले व एगओ।
अकुक्कुओ निसीएज्जा
न य वित्तासए परं॥

(१०) निषीधिका-परीषह

श्मशाने शून्यागारे वा
वृक्ष-मूले वा एककः।
अकुक्कुचः निषीदेत्
न च वित्रासयेत् परम्॥

(१०) निषद्या परीषह

२०—राग-द्वेष रहित मुनि चपलताओं का वर्जन करता हुआ श्मशान, शून्य गृह अथवा वृक्ष के मूल में बैठे। दूसरों को त्रास न दे।

२१—तत्थ से चिट्ठमाणस्स[2]
उवसग्गाभिधारए[3]।
संका-भीओ न गच्छेज्जा
उट्ठित्ता[4] अन्नमासणं॥

तत्र तस्य तिष्ठतः
उपसर्गा अभिधारयेयुः।
शंकाभीतो न गच्छेत्
उत्थायान्यदासनम्॥

२१—वहाँ बैठे हुए उसे उपसर्ग प्राप्त हों तो वह यह चिन्तन करे—"ये मेरा क्या अनिष्ट करेंगे?" किन्तु अपकार की शंका से डरकर वहाँ से उठ दूसरे स्थान पर न जाए।

(११) सेज्जा-परीसहे

२२—उच्चावयाहिं सेज्जाहिं
तवस्सी भिक्खु थामवं।
नाइवेलं विहन्नेज्जा
पावदिट्ठी विहन्नई॥

(११) शय्या-परीषह

उच्चावचाभिः शय्याभिः
तपस्वी भिक्षुः स्थामवान्।
नातिवेलं विहन्यात्
पापदृष्टिर्विहन्ति॥

(११) शय्या-परीषह

२२—तपस्वी और प्राणवान् भिक्षु उत्कृष्ट या निकृष्ट उपाश्रय को पाकर मर्यादा का अतिक्रमण न करे (हर्ष या शोक न लाए)। जो पापदृष्टि होता है, वह मर्यादा का अतिक्रमण कर डालता है।

२३—पइरिक्कुवस्सयं लद्धुं
कल्लाणं अदु पावगं।
'किमेगरायं करिस्सइ'[5]
एवं तत्थऽहियासए॥

प्रतिरिक्तमुपाश्रयं लब्ध्वा
कल्याणं अथवा पापकम्।
किमेकरात्रं करिष्यति
एवं तत्राध्यासीत॥

२३—प्रतिरिक्त (एकान्त) उपाश्रय—भले फिर वह सुन्दर हो या असुन्दर—को पाकर "एक रात में क्या होना जाना है"—ऐसा सोचकर रहे, जो भी सुख-दुःख हो उसे सहन करे।

---

१. नेय (अ)।
२. अच्छमाणस्स (बृ० पा०, चू०)।
३. उवसग्गभयं भवे (बृ० पा०, चू० पा०)।
४. उवट्ठित्ता (उ)।
५. किं मज्झ एग रायाए (चू०)।

(१२) अक्कोस-परीसहे

२४—अक्कोसेज्ज परो भिक्खुं
न तेसिं पडिसंजले ।
सरिसो होइ बालाणं
तम्हा भिक्खू न संजले ॥

(१२) आक्रोश-परीषहः

आक्रोशेत् परो भिक्षुं
न तस्मै प्रतिसंज्वलेत् ।
सदृशो भवति बालानां
तस्माद् भिक्षुर्न संज्वलेत् ॥

(१२) आक्रोश-परीषह

२४—कोई मनुष्य भिक्षु को गाली दे तो वह उसके प्रति क्रोध न करे। क्रोध करने वाला भिक्षु बालकों (अज्ञानियों) के सदृश हो जाता है, इसलिए भिक्षु क्रोध न करे ।

२५—सोच्चाणं फरुसा भासा
दारुणा गाम-कण्टगा ।
तुसिणीओ उवेहेज्जा
न ताओ मणसीकरे ॥

श्रुत्वा परुषाः भाषाः
दारुणाः ग्राम-कण्टकाः ।
तूष्णीक उपेक्षेत
न ताः मनसि कुर्यात् ॥

२५—मुनि परुष, दारुण और ग्राम-कंटक (प्रतिकूल) भाषा को सुनकर मौन रहता हुआ उसकी उपेक्षा करे, उसे मन में न लाए ।

(१३) वह-परीसहे

२६—हओ न संजले भिक्खू
मणं पि न पओसए ।
तितिक्खं परमं नच्चा
भिक्खु-'धम्मं विचिंतए'[1] ॥

(१३) वध-परीषहः

हतो न संज्वलेद् भिक्षुः
मनो पि न प्रदूषयेत ।
तितिक्षां परमां ज्ञात्वा
भिक्षु-धर्मं विचिन्तयेत ॥

(१३) वध-परीषह

२६—पीटे जानेपर भी मुनि क्रोध न करे । मन को भी दूषित न करे । क्षमा को परम साधन जानकर मुनि-धर्म का चिन्तन करे ।

२७—समणं संजयं दन्तं
हणेज्जा कोइ कत्थई ।
नत्थि जीवस्स नासु त्ति
'एवं पेहेज्ज संजए'[2] ॥

श्रमणं संयतं दान्तं
हन्यात् कोऽपि कुत्रचित् ।
"नास्ति जीवस्य नाश इति"
एवं प्रेक्षेत संयतः ॥

२७—संयत और दान्त श्रमण को कोई कहीं पीटे तो वह "आत्मा का नाश नहीं होता"—ऐसा चिन्तन करे, पर प्रतिशोध की भावना न लाए ।

(१४) जायणा-परीसहे

२८—दुक्करं खलु भो निच्चं
अणगारस्स भिक्खुणो ।
सव्वं से जाइयं होइ
नत्थि किंचि अजाइयं ॥

(१४) याचना-परीषहः

दुष्करं खलु भो ! नित्यम्
अनगारस्य भिक्षोः ।
सर्वं तस्य याचितं भवति
नास्ति किंचिदयाचितम् ॥

(१४) याचना-परीषह

२८—अरे ! अनगार भिक्षु की यह चर्या कितनी कठिन है कि उसे सब कुछ याचना से मिलता है । उसके पास अयाचित कुछ भी नहीं होता ।

२९—गोयरग्गपविट्ठस्स
पाणी नो सुप्पसारए ।
सेओ अगार-वासु त्ति
इइ भिक्खू न चिन्तए ॥

गोचराग्रप्रविष्टस्य
पाणिः नो सुप्रसारकः ।
"श्रेयानगारवास इति"
इति भिक्षुर्न चिन्तयेत् ॥

२९—गोचराग्र में प्रविष्ट मुनि के लिए गृहस्थों के सामने हाथ पसारना सरल नहीं है । अतः "गृहवास ही श्रेय है"—मुनि ऐसा चिन्तन न करे ।

---

१. धम्मंमि चिंतए (बृ०); धम्मं व चिंतए (बृ० पा०) ।
२. ण तं पेहे असाहुवं (बृ०); न ता पेहे असाहुवं (चू०); एवं पीहेज्ज संजए (चू० पा०); न य पेहे असाहुवं, पठन्ति च—एवं पेहिज्ज संजतो (बृ० पा०) ।

(१५) अलाभ-परीसहे

३०—परेसु घासमेसेज्जा
भोयणे परिणिट्ठिए।
लद्धे पिण्डे अलद्धे वा
नाणुतप्पेज्ज संजए[1] ॥

(१५) अलाभ-परीषहः

परेषुग्रासमेषयेत्
भोजने परिनिष्ठिते।
लब्धे पिण्डे अलब्धे वा
नानुतप्येत् संयतः ॥

(१५) अलाभ-परीषह

३०—गृहस्थों के घर भोजन तैयार हो जानेपर मुनि उसकी एषणा करे। आहार थोड़ा मिलने या न मिलने पर संयमी मुनि अनुताप न करे।

३१—अज्जेवाहं न लब्भामि
अवि लाभो सुए सिया।
जो एवं पडिसंविक्खे[2]
अलाभो तं न तज्जए ॥

अद्यैवाहं न लभे
अपि लाभः श्वःस्यात्।
य एवं प्रतिसंवीक्षते
अलाभस्तं न तर्जयति ॥

३१—"आज मुझे भिक्षा नहीं मिली, परन्तु संभव है कल मिल जाय"—जो इस प्रकार सोचता है, उसे अलाभ नहीं सताता।

(१६) रोग-परीसहे

३२—नच्चा उप्पइयं दुक्खं
वेयणाए दुहट्टिए।
अदीणो थावए पन्नं
पुट्ठो तत्थहियासए ॥

(१६) रोग-परीषहः

ज्ञात्वोत्पत्तिकं दुःखं
वेदनया दुःखार्त्तितः।
अदीनः स्थापयेत् प्रज्ञां
स्पृष्टस्तत्राऽध्यासीत ॥

(१६) रोग-परीषह

३२—रोग को उत्पन्न हुआ जानकर तथा वेदना से पीड़ित होने पर दीन न बने। व्याधि से विचलित होती हुई प्रज्ञा को स्थिर बनाए और प्राप्त दुःख को समभाव से सहन करे।

३३—तेगिच्छं नाभिनन्देज्जा
संचिक्खत्तगवेसए।
एवं[3] खु तस्स सामण्णं
जं न कुज्जा न कारवे ॥

चिकित्सां नाभिनन्देत
संतिष्ठेदात्मगवेषकः।
एतत् खलु तस्य श्रामण्यं
यन्न कुर्यात् न कारयेत् ॥

३३—आत्म-गवेषक मुनि चिकित्सा का अनुमोदन न करे। रोग हो जानेपर समाधि पूर्वक रहे। उसका श्रामण्य यही है कि वह रोग उत्पन्न होने पर भी चिकित्सा न करे, न कराए।

(१७) तण-फास-परीसहे

३४—अचेलगस्स लूहस्स
संजयस्स तवस्सिणो।
तणेसु सयमाणस्स
हुज्जा गाय-विराहणा ॥

(१७) तृण-स्पर्श-परीषहः

अचेलकस्य रूक्षस्य
संयतस्य तपस्विनः।
तृणेषु शयानस्य
भवेद् गात्र-विराधना ॥

(१७) तृण-स्पर्श-परीषह

३४—अचेलक और रूक्ष शरीर वाले संयत तपस्वी के घास पर सोने से शरीर में चुभन होती है।

---

१. पंडिए (अ)।
२. पडिसंचिक्खे (बृ०)।
३. एयं (अ, उ, ऋ०, बृ०) ; एवं (बृ०पा०)।

३५—आयवस्स निवाएणं
अउला[1] हवइ वेयणा ।
एवं[2] नच्चा न सेवन्ति
तन्तुजं[3] तण-तज्जिया ॥

आतपस्य निपातेन
अतुला भवति वेदना ।
एवं ज्ञात्वा न सेवन्ते
तंतुजं तृणतर्जिताः ॥

३५ गर्मी पड़ने से अतुल वेदना होती है—यह जानकर भी तृण से पीड़ित मुनि वस्त्र का सेवन नहीं करते ।

(१८) जल्ल-परीसहे

३६—किलिन्नगाए[4] मेहावी
पंकेण व रएण वा ।
घिंसु वा परितावेण
सायं नो परिदेवए ॥

(१८) जल्ल-परीषहः

क्लिन्न-गात्रो मेधावी
पंकेन वा रजसा वा ।
ग्रीष्मे वा परितापेन
सातं नो परिदेवेत् ॥

(१८) जल्ल-परीषह

३६—मैल, रज या ग्रीष्म के परिताप से शरीर के क्लिन्न (गीला या पंकिल) हो जाने पर मेधावी मुनि सुख के लिए विलाप न करे ।

३७—वेएज्ज[5] निज्जरा-पेही
'आरियं धम्मऽणुत्तरं'[6] ।
जाव सरीरभेउ त्ति
जल्लं काएण धारए[7] ॥

वेदयेन् निर्जरापेक्षी
आर्यं धर्ममनुत्तरम् ।
यावत् शरीर-भेद इति
'जल्लं' कायेन धारयेत् ॥

३७—निर्जरार्थी मुनि अनुत्तर आर्य-धर्म (श्रुत-चारित्र-धर्म) को पाकर देह-विनाश पर्यन्त काया पर 'जल्ल' (स्वेद-जनित मैल) को धारण करे और तज्जनित परीषह को सहन करे ।

(१९) सक्कारपुरक्कार-परीसहे

३८—अभिवायणमब्भुट्ठाणं
सामी कुज्जा निमन्तणं ।
जे ताइं पडिसेवन्ति
न तेसिं पीहए मुणी ॥

(१९) सत्कार-पुरस्कार-परीषहः

अभिवादनमभ्युत्थानं
स्वामी कुर्यात् निमन्त्रणम् ।
ये तानि प्रतिसेवन्ते
न तेभ्यः स्पृहयेन्मुनिः ॥

(१९) सत्कार-पुरस्कार-परीषह

३८—जो राजा आदि के द्वारा किए गए अभिवादन, सत्कार अथवा निमंत्रण का सेवन करते हैं, उनकी इच्छा न करे—उन्हें धन्य न माने ।

३९—अणुकसाई अप्पिच्छे
अन्नाएसी अलोलुए ।
'रसेसु[8] नाणुगिज्झेज्जा'[9]
'नाणुतप्पेज्ज पन्नवं'[10] ॥

अणु-कषायः अल्पेच्छः
अज्ञातैषी अलोलुपः ।
रसेषु नानुगृध्येत्
नानुतप्येत प्रज्ञावान् ॥

३९—अल्प कषाय वाला, अल्प इच्छा वाला, अज्ञात कुलों से भिक्षा लेने वाला, अलोलुप भिक्षु, रसों में गृद्ध न हो । प्रज्ञावान् मुनि दूसरों को सम्मानित देख अनुताप न करे ।

---

१. तिउला (चू०, बृ०); अतुला, विपुला वा (बृ०पा०) ।
२. एयं (अ, उ, ऋ०, बृ०); एवं (बृ०पा०) ।
३. तन्तयं (चू०पा०, बृ०पा०) ।
४. किलिट्ठगाए (चू०पा०, बृ०पा०) ।
५. वेयज्ज (अ); वेइंतो, वेइज्ज, वेयंतो (बृ०पा०) ।
६. आयरियं धम्ममणुत्तरं (स०), आरियं धम्ममणुत्तरं (अ) ।
७. उव्वटे (चू०, बृ०पा०); धारए (चू०पा०) ।
८. सरसेसु० (बृ०) ।
९. रसिएसु णातिगिज्झेज्ज (चू०); रसेसु नाणु० (बृ०पा०, चू०पा०) ।
१०. न तेसिं पीहए मुणी (चू०, बृ०); नाणुतप्पेज्ज पण्णवं (बृ०पा०, चू०पा०) ।

(२०) पन्ना-परीसहे

४०—से नूणं मए पुव्वं
कम्माणाणफला कडा।
जेणाहं नाभिजाणामि
पुट्ठो केणइ कण्हुई ॥

(२०) प्रज्ञा-परीषहः

"अथ नूनं मया पूर्वं
कर्माण्यज्ञानफलानि कृतानि।
येनाहं नाभिजानामि
पृष्टः केनचित् क्वचित् ॥

(२०) प्रज्ञा-परीषह

४०—"निश्चय ही मैंने पूर्व काल में अज्ञानरूप-फल देनेवाले कर्म किए हैं। उन्हीं के कारण मैं किसी के कुछ पूछे जानेपर भी कुछ नहीं जानता—उत्तर देना नहीं जानता।

४१—अह पच्छा उइज्जन्ति
कम्माणाणफला कडा।
एवमस्सासि अप्पाणं
नच्चा कम्म-विवागयं ॥

"अथपश्चादुदीर्यन्ते
कर्माण्यज्ञानफलानि कृतानि।
एवमाश्वासयात्मानं
ज्ञात्वा कर्म-विपाककम् ॥

४१—"पहले किए हुए अज्ञानरूप-फल देनेवाले कर्म पकने के पश्चात् उदय में आते है"—इस प्रकार कर्म के विपाक को जानकर मुनि आत्मा को आश्वासन दे।

(२१) अन्नाण-परीसहे

४२—निरट्ठगम्मि विरओ
मेहुणाओ सुसंवुडो।
जो सक्खं[1] नाभिजाणामि
धम्मं कल्लाण पावगं ॥

(२१) अज्ञान-परीषहः

"निरर्थके विरतः
मैथुनात्सुसंवृतः।
यः साक्षान्नाभिजानामि
धर्मं कल्याणं पापकम् ॥

(२१) अज्ञान-परीषह

४२—"मैं मैथुन से निवृत्त हुआ, इन्द्रिय और मन का मैंने संवरण किया—यह सब निरर्थक है। क्योंकि धर्म कल्याणकारी है या पापकारी—यह मैं साक्षात् नहीं जानता।

४३—तवोवहाणमादाय
पडिमं पडिवज्जओ[2]।
एवं पि विहरओ मे
छउमं न नियट्टई ॥

"तप-उपधानमादाय
प्रतिमां प्रतिपद्यमानस्य।
एवमपि विहरतो मे
छद्म न निवर्तते ॥"

४३—"तपस्या और उपधान को स्वीकार करता हूँ, प्रतिमा का पालन करता हूँ—इस प्रकार विशेष चर्या से विहरण करनेपर भी मेरा छद्म (ज्ञानावरणादि कर्म) निवर्तित नहीं हो रहा है"—ऐसा चिन्तन न करे।

(२२) दंसण-परीसहे

४४—नत्थि नूणं परे लोए
इड्ढी वावि तवस्सिणो।
अदुवा वंचिओ मि त्ति
इइ भिक्खू न चिन्तए ॥

(२२) दर्शन-परीषहः

"नास्ति नूनं परोलोकः
ऋद्धिर्वापि तपस्विनः।
अथवा वञ्चितोऽस्मि"
इति भिक्षुर्न चिन्तयेत् ॥

(२२) दर्शन-परीषह

४४—"निश्चय ही परलोक नहीं है, तपस्वी की ऋद्धि भी नहीं है, अथवा मैं ठगा गया हूँ"—भिक्षु ऐसा चिन्तन न करे।

१. समक्खं (वृ०)।
२. पडिवज्जिय (वृ०); पडिवज्जओ (वृ०पा०)।

४५—अभू जिणा अत्थि जिणा
अदुवावि भविस्सई ।
मुसं ते एवमाहंसु
इइ भिक्खू न चिन्तए ॥

"अभूवन् जिनाः सन्ति जिनाः
अथवा अपि भविष्यन्ति ।
मृषा ते एवमाहुः"
इति भिक्षुर्न चिन्तयेत् ॥

४५—"जिन हुए थे, जिन हैं और जिन होंगे—ऐसा जो कहते हैं वे झूठ बोलते हैं"—भिक्षु ऐसा चिन्तन न करे ।

४६—एए परीसहा सव्वे
कासवेण पवेइया ।
जे भिक्खू न विहन्नेज्जा
पुट्ठो केणइ कण्हुई ॥
—त्ति बेमि ।

एते परीषहाः सर्वे
काश्यपेन प्रवेदिताः ।
यान् भिक्षुर्न विहन्येत
स्पृष्टः केनापि क्वचित् ॥
—इति ब्रवीमि

४६—इन सभी परीषहों का कश्यप-गोत्रीय भगवान् महावीर ने प्ररूपण किया है । इन्हें जानकर, इनमें से किसी के द्वारा कहीं भी स्पृष्ट होने पर मुनि इनसे पराजित (अभिभूत) न हो ।

—ऐसा मैं कहता हूं ।



१०—अज्ञान—मिथ्या धारणा ।

११—व्याक्षेप—कार्य-बहुलता से उत्पन्न व्याकुलता ।

१२—कुतूहल—इन्द्रजाल, खेल, नाटक आदि देखने की आकुलता ।

१३—रमण—क्रीड़ा-परायणता ।

(३) श्रद्धा—

भगवान् ने कहा—"सद्धा परम-दुल्लहा"—श्रद्धा परम-दुर्लभ है । जीवन-विकास का यह मूल सूत्र है । जिसका दृष्टिकोण मिथ्या होता है वह सद्भाव को सुनकर भी उसमें श्रद्धा नहीं करता और श्रुत या अश्रुत असद्भाव में उसकी श्रद्धा हो जाती है । श्रद्धा मिथ्या-दृष्टि के लिए दुर्लभ है । जिसका दृष्टिकोण सम्यग् होता है वह सद्भाव को सुनकर उसमें श्रद्धा करता है किन्तु अपने अज्ञानवश या गुरु के नियोग से असद्भाव के प्रति भी उसकी श्रद्धा हो जाती है । इस प्रकार सम्यग्-दृष्टि के लिए भी श्रद्धा दुर्लभ है ।

शिष्य ने पूछा—"भंते ! क्या सम्यग्-दृष्टि इतनी ऋजु प्रकृति के होते हैं जो गुरु के कथन मात्र से असद्भाव के प्रति श्रद्धा कर लेते हैं ?"

आचार्य ने कहा—"आयुष्मन् ! ऐसा होता है । जमालि ने जब असद्भाव की प्ररूपणा की और अपने शिष्यों को उससे परिचित किया तो कुछ शिष्य उसमें श्रद्धान्वित हो गए ।"[1]

इसीलिए यह बहुत मार्मिक ढंग से कहा है कि—"श्रद्धा परम दुर्लभ है ।"

(४) तप-संयम में पुरुषार्थ—

निर्युक्तिकार ने संयम के आठ पर्यायवाची नाम बतलाए हैं[2]—(१) दया, (२) संयम, (३) लज्जा, (४) जुगुप्सा, (५) अछलना, (६) तितिक्षा, (७) अहिंसा और (८) ह्री ।

संयम के प्रति श्रद्धा होने पर भी सभी व्यक्ति उसमें पराक्रम नहीं कर पाते । जानना व श्रद्धा रखना एक वस्तु है और उसको क्रियान्वित करना दूसरी । इसमें संकल्प-बल, धृति, संतोष और अनुद्विग्नता की अत्यन्त आवश्यकता होती है । जिनका चित्त व्याक्षिप्त या व्यामूढ़ नहीं है, वे ही व्यक्ति संयम में प्रवृत्त हो सकते हैं ।

निर्युक्तिकार ने दुर्लभ अंगों का कुछ विस्तार किया है । उसके अनुसार मनुष्यता, आर्य क्षेत्र, उत्तम जाति, उत्तम कुल, सर्वांगपरिपूर्णता, नीरोगता, पूर्णायुष्य, परलोक-प्रवण बुद्धि, धर्म-श्रवण, धर्म-स्वीकरण, श्रद्धा और संयम—ये सब दुर्लभ हैं ।[3] मनुष्य-भव की दुर्लभता के दस दृष्टांत निर्युक्ति में उल्लिखित हैं ।[4]

१—बृहद्वृत्ति, पत्र १८२ : ननु किमेवंविधा अपि केचिदत्यन्तमृजवः सम्भवेयुः? ये स्वयमागमानुसारिमतयोऽपि गुरुपदेशतोऽन्यथापि प्रतिपद्येरन्, एवमेतत्, तथाहि—जमालिप्रभृतीनां निह्नवानां शिष्यास्तद्भक्तियुक्तया स्वयमागमानुसारिमतयोऽपि गुरुप्रत्ययाद्विपरीतमर्थं प्रतिपन्नाः ।

२—उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा १५८ : दया य संजमे लज्जा, दुगुंछाऽछलणा इअ ।
तितिक्खा य अहिंसा य, हिरि एगट्ठिया पया ॥

३—वही, गाथा १५९ : माणुस्स खित्त जाई, कुल रूवारोग्ग आउयं बुद्धी ।
सवणुग्गह सद्धा, संजमो अ लोगंमि दुलहाइं ॥

४—वही, गाथा १६० : चुल्लग पासग धन्ने, जूए रयणे अ सुमिण चक्के य ।
चम्म जुगे परमाणू, दस दिट्ठंता मणुअलंभे ॥

तइअं अज्झयण :

चाउरंगिज्जं

तृतीय अध्ययन :

चतुरङ्गीय

श्रद्धा की दुर्लभता बताने के लिए सात निह्नवों की कथाएँ दी गई हैं।[1]

भगवान् ने कहा—"सोही उज्जुयभूयस्स धम्मो सुद्धस्स चिट्ठई"—सरल व्यक्ति की शोधि होती है और धर्म शुद्ध आत्मा में ठहरता है। जहाँ सरलता है वहाँ शुद्धि है और जहाँ शुद्धि है वहाँ धर्म का निवास है। धर्म का फल आत्म-शुद्धि है। परन्तु धर्म की आराधना करने वाले के पुण्य का भी बन्ध होता है। देवयोनि से च्युत हो जब पुनः मनुष्य बनता है तब वह दशांगवाली मनुष्ययोनि में आता है। श्लोक १७ और १८ में ये दस अंग निम्नोक्त कहे गये हैं—

१—कामस्कन्ध।
२—मित्रों की सुलभता।
३—बन्धुजनों का सुसंयोग।
४—उच्चगोत्र की प्राप्ति।
५—रूप की प्राप्ति।
६—नीरोगता की प्राप्ति।
७—महाप्राज्ञता।
८—विनीतता।
९—यशस्विता।
१०—बलवत्ता।

इस अध्ययन के श्लोक १४ और १६ मे आया हुआ 'जक्ख' (सं० यक्ष) शब्द भाषा-विज्ञान की दृष्टि से ध्यान देने योग्य है। इसके अर्थ का अपकर्ष हुआ है। आगम-काल में 'यक्ष' शब्द 'देव' अर्थ में प्रचलित था। कालानुक्रम से इसके अर्थ का ह्रास हुआ और यह आज भूत, पिशाच का-सा अर्थ देने लगा है।

१—उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा १६४-१६६ : बहुरयपएसअव्वत्तसमुच्छ, दुगतिगअबद्धिगा चेव।
एएसिं निग्गमणं, वुच्छामि अहाणुपुव्वीए॥
बहुरय जमालिपभवा, जीवपएसा य तीसगुत्ताओ।
अव्वत्ताऽऽसाढाओ, सामुच्छेयाऽऽसमित्ताओ॥
गंगाए दोकिरिया, छलुगा तेरासिआण उप्पत्ती।
थेरा य गुट्ठमाहिल, पुट्ठमबद्धं परूविंति॥

आमुख

अनुयोगद्वार आगम में नामकरण के दस हेतु बतलाए गए हैं। उनमें एक हेतु 'आदान-पद' है। इस अध्ययन का नाम उसी आदान-पद (प्रथम पद) के कारण 'चतुरङ्गीय' हुआ है।[1] इस अध्ययन में (१) मनुष्यता, (२) धर्म-श्रुति, (३) श्रद्धा और (४) तप-संयम में पुरुषार्थ—इन चार अंगों की दुर्लभता का प्रतिपादन है। जीवन के ये चार प्रशस्त अंग—विभाग हैं। ये अंग प्रत्येक व्यक्ति के द्वारा सहज प्राप्य नहीं हैं। चारों का एकत्र समाहार विरलों में पाया जाता है। जिनमें ये चारों नहीं पाए जाते वे धर्म की पूर्ण आराधना नहीं कर सकते। एक की भी कमी उनके जीवन में लंगड़ापन ला देती है। चारों अंगों की दुर्लभता निम्न विवेचन से प्रकट होगी।

(१) **मनुष्यता—**

आत्मा से परमात्मा बनने का एकमात्र अवसर मनुष्य-जन्म में प्राप्त होता है। तिर्यञ्च जगत् में क्वचित् पूर्व संस्कारों से प्रेरित धर्माराधना होती है, परन्तु वह अधूरी रहती है। देवता धर्म की पूरी आराधना नहीं कर पाते। वे विलास में ही अधिक समय गँवाते हैं। श्रामण्य के लिए वे योग्य नहीं होते। नैरयिक जीव दुःखों से प्रताड़ित होते हैं अतः उनका धार्मिक-विवेक प्रबुद्ध नहीं होता। मनुष्य का विवेक जागृत होता है। वह अति सुखी और अति दुःखी भी नहीं होता अतः वह धर्म की पूर्ण आराधना का उपयुक्त अधिकारी है।

(२) **धर्म-श्रवण—**

धर्म-श्रवण की रुचि प्रत्येक में नहीं होती। जिनका अन्तःकरण धार्मिक भावना से भावित होता है, वे मनुष्य धर्म-श्रवण में तत्पर रहते हैं। बहुत लोग दुर्लभतम मनुष्यत्व को पाकर भी धर्म सुनने का लाभ नहीं ले पाते। निर्युक्तिकार ने धर्म-श्रुति के १३ विघ्न बतलाए हैं[2]—

१—आलस्य—अनुद्यम।

२—मोह—घरेलू धन्धों की व्यस्तता से उत्पन्न मूर्च्छा अथवा हेयोपादेय के विवेक का अभाव।

३—अवज्ञा या अवर्ण—धर्म-कथक के प्रति अवज्ञा या गर्हा का भाव।

४—स्तम्भ—जाति आदि का अहंकार।

५—क्रोध—धर्म-कथक के प्रति अप्रीति।

६—प्रमाद—निद्रा, विकथा आदि।

७—कृपणता—द्रव्य-व्यय का भय।

८—भय।

९—शोक—इष्ट-वियोग से उत्पन्न दुःख।

१—अनुयोगद्वार, सूत्र १२० : से किं तं आयाणपएणं ? ..चाउरंगिज्जं, असंखयं, अहातत्थिज्जं, अद्दइज्जं, जण्णइज्जं..., पुरिसइज्जं...से तं आयाणपएणं।

२—उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा १६० : आलस्स मोहऽवन्ना, थंभा कोहा पमाय किविणत्ता।
भय सोगा अन्नाणा, वक्खेव कुऊहला रमणा॥

तइयं अज्झयणं : तृतीय अध्ययन

चाउरंगिज्जं : चतुरङ्गीयम्

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
१—चत्तारि परमंगाणि दुल्लहाणीह जन्तुणो[1]। माणुसत्तं सुई सद्धा संजमंमि य वीरियं ॥	चत्वारि परमाङ्गानि दुर्लभानीह जन्तोः। मानुषत्वं श्रुतिः श्रद्धा संयमे च वीर्यम् ॥	१—इस संसार में प्राणियों के लिए चार परम-अंग दुर्लभ हैं—मनुष्यत्व, श्रुति, श्रद्धा और संयम में पराक्रम।
२—समावन्नाण संसारे नाणा-गोत्तासु जाइसु। कम्मा नाणा-विहा कट्टु पुढो[2] विस्संभिया पया ॥	समापन्नाः संसारे नानागोत्रासु जातिषु। कर्माणि नानाविधानि कृत्वा पृथग् विश्वभृतः प्रजाः ॥	२—संसारी जीव विविध प्रकार के कर्मों का अर्जन कर विविध नाम वाली जातियों में उत्पन्न हो, पृथक्-पृथक् रूप से समूचे विश्व का स्पर्श कर लेते हैं—सब जगह उत्पन्न हो जाते हैं।
३—एगया देवलोएसु नरएसु वि एगया। एगया आसुरं कायं आहाकम्मेहिं गच्छई ॥	एकदा देवलोकेषु नरकेष्वप्येकदा। एकदा आसुरं कायं यथाकर्मभिर्गच्छति ॥	३—जीव अपने कृत कर्मों के अनुसार कभी देवलोक में, कभी नरक में और कभी असुरों के निकाय में उत्पन्न होता है।
४—एगया खत्तिओ होइ तओ चण्डाल-वोक्कसो। तओ कीड-पयंगो य तओ कुन्थु-पिवीलिया ॥	एकदा क्षत्रियो भवति ततश्चण्डालो 'बोक्कसः'। ततः कीटः पतङ्गश्च ततः कुंथुः पिपीलिका ॥	४—वही जीव कभी क्षत्रिय होता है, कभी चाण्डाल, कभी बोक्कस, कभी कीट, कभी पतंगा, कभी कुंथु और कभी चींटी।

---

१. देहिणो (बृ० पा०, चू० पा०)।

२. पुणो (चू० पा०)।

५—एवमावट्ट-जोणीसु
पाणिणो कम्म-किब्बिसा ।
न निविज्जन्ति संसारे
'सव्वट्ठेसु व'[1,2] खत्तिया ॥

एवमावर्त-योनिषु
प्राणिनः कर्म-किल्बिषाः ।
न निर्विद्यन्ते संसारे
सर्वार्थेष्विव क्षत्रियाः ॥

५—जिस प्रकार क्षत्रिय लोग समस्त अर्थों (काम-भोगों) को भोगते हुए भी निर्वेद को प्राप्त नहीं होते, उसी प्रकार कर्म-किल्विष (कर्म से अधम बने हुए) जीव योनि-चक्र में भ्रमण करते हुए भी संसार में निर्वेद नहीं पाते—उससे मुक्त होने की इच्छा नहीं करते ।

६—कम्म-संगेहिं सम्मूढा
दुक्खिया बहु-वेयणा ।
अमाणुसासु जोणीसु
विणिहम्मन्ति पाणिणो ॥

कर्म-सङ्गः सम्मूढाः
दुःखिता बहु-वेदनाः ।
अमानुषीषु योनिषु
विनिहन्यन्ते प्राणिनः ॥

६—जो जीव कर्मों के संग से सम्मूढ़, दुःखित और अत्यंत वेदना वाले हैं, वे अपने कृत कर्मों के द्वारा मनुष्येतर (नरक-तिर्यञ्च) योनियों में ढकेले जाते हैं ।

७—कम्माणं तु पहाणाए
आणुपुव्वी कयाइ उ ।
जीवा सोहिमणुप्पत्ता
'आययन्ति मणुस्सयं'[3] ॥

कर्मणां तु प्रहाण्या
आनुपूर्व्या कदाचित् तु ।
जीवाः शोधिमनुप्राप्ताः
आददते मनुष्यताम् ॥

७—काल-क्रम के अनुसार कदाचित् मनुष्य-गति को रोकने वाले कर्मों का नाश हो जाता है । उससे शुद्धि प्राप्त होती है । उससे जीव मनुष्यत्व को प्राप्त होते हैं ।

८—माणुस्सं विग्गहं लद्धुं
सुई धम्मस्स दुल्लहा ।
जं सोच्चा पडिवज्जन्ति
तवं खन्तिमहिंसयं ॥

मानुष्यकं विग्रहं लब्ध्वा
श्रुतिर्धर्मस्य दुर्लभा ।
यं श्रुत्वा प्रतिपद्यन्ते
तपःक्षान्तिमहिंस्रताम् ॥

८—मनुष्य-शरीर प्राप्त होने पर भी उस धर्म की श्रुति दुर्लभ है जिसे सुनकर जीव तप, क्षमा और अहिंसा को स्वीकार करते हैं ।

९—आहच्च सवणं लद्धुं
सद्धा परमदुल्लहा ।
सोच्चा नेआउयं मग्गं
बहवे परिभस्सई ॥

'आहत्य' श्रवणं लब्ध्वा
श्रद्धा परम-दुर्लभा ।
श्रुत्वा नैर्यातृकं मार्गं
बहवः परिभ्रश्यन्ति ॥

९—कदाचित् धर्म सुन लेने पर भी उसमें श्रद्धा होना परम दुर्लभ है । बहुत लोग मोक्ष की ओर ले जाने वाले मार्ग को सुनकर भी उससे भ्रष्ट हो जाते हैं ।

---

१. य (अ); वि (वृ०) ।
२. सव्वट्ठ इव (वृ० पा०, चू० पा०) ।
३. जायन्ते मणुसत्तयं (वृ० पा०) ।

१०—सुइं च लद्धुं सद्धं च
वीरियं पुण दुलहं।
बहवे रोयमाणा वि
'नो एणं'[१] पडिवज्जए॥

श्रुतिं च लब्ध्वा श्रद्धां च
वीर्यं पुनर्दुर्लभम्।
बहवो रोचमाना अपि
नो एनं प्रतिपद्यन्ते॥

१०—श्रुति और श्रद्धा प्राप्त होने पर भी संयम में वीर्य (पुरुषार्थ) होना अत्यन्त दुर्लभ है। बहुत लोग संयम में रुचि रखते हुए भी उसे स्वीकार नहीं करते।

११—माणुसत्तंमि आयाओ
जो धम्मं सोच्च सद्दहे।
तवस्सी वीरियं लद्धुं
संवुडे निद्धुणे रयं॥

मानुषत्वे आयातः
यो धर्मं श्रुत्वा श्रद्धत्ते।
तपस्वी वीर्यं लब्ध्वा
संवृतो निर्धुनोति रजः॥

११—मनुष्यत्व को प्राप्त कर जो धर्म को सुनता है, उसमें श्रद्धा करता है, वह तपस्वी संयम में पुरुषार्थ कर, संवृत हो, कर्म-रजों को धुन डालता है।

१२—"सोही उज्जुयभूयस्स
धम्मो सुद्धस्स चिट्ठई।
निव्वाणं परमं जाइ
'घय-सित्त व्व'[२] पावए॥"[३]

शोधिः ऋजुभूतस्य
धर्मः शुद्धस्य तिष्ठति।
निर्वाणं परमं याति
घृत-सिक्तः इव पावकः॥

१२—शुद्धि उसे प्राप्त होती है, जो ऋजुभूत होता है। धर्म उसमें ठहरता है जो शुद्ध होता है। जिसमे धर्म ठहरता है वह घृत से अभिषिक्त अग्नि की भाँति परम निर्वाण (दीप्ति) को प्राप्त होता है।

१३—विगिंच[४] कम्मुणो[५] हेउं
जसं संचिणु खन्तिए।
पाढवं सरीरं हिच्चा
उड्ढं पक्कमई दिसं॥

वेविग्धि कर्मणो हेतुं
यशः सञ्चिनु क्षान्त्या।
पार्थिवं शरीरं हित्वा
ऊर्ध्वां प्रक्रामति दिशम्॥

१३—कर्म के हेतु को दूर कर। क्षमा से यश (संयम) का संचय कर। ऐसा करने वाला पार्थिव शरीर को छोड़कर ऊर्ध्व दिशा (स्वर्ग या मोक्ष) को प्राप्त होता है।

१४—विसालिसेहिं सीलेहिं
जक्खा उत्तर-उत्तरा।
महासुक्का व दिप्पन्ता
मन्नन्ता अपुणच्चवं॥

विसदृशैः शीलैः
यक्षाः उत्तरोत्तराः।
महाशुक्लाः इव दीप्यमानाः
मन्यमाना अपुनश्च्यवम्॥

१४—विविध प्रकार के शीलों की आराधना करके जो देव कल्पों व उसके ऊपर के देवलोको की आयु का भोग करते हैं, वे उत्तरोत्तर महाशुक्ल (चन्द्र-सूर्य) की तरह दीप्तिमान् होते हैं। 'स्वर्ग से पुनः च्यवन नहीं होता' ऐसा मानते हैं।

---

१. नो य णं (स, छ०, बृ०)।
२. घयसत्तिव्व (उ); घयसित्तिव्व (ऋ०, छ०,); घयसित्ते व (बृ०)।
३. चउद्धा संपयं लद्धुं इहेव ताव भायते।
तेयते तेज-संपन्ने घय-सित्ते व पावए॥ (नागार्जुनीयाः)।
४. विकिंचि (अ, आ); विकिंच (बृ०); विगिंच (बृ० पा०)।
५. कम्मणो (उ, ऋ०)।

१५—अप्पिया देवकामाणं
कामरूव-विउव्विणो ।
उड्ढं कप्पेसु चिट्ठन्ति
पुव्वा वाससया बहू ॥

अर्पिता देवकामान्
कामरूपविकरणाः ।
ऊर्ध्वं कल्पेषु तिष्ठन्ति
पूर्वाणि वर्षशतानि बहूनि ॥

१५—वे दैवी भोगों के लिए अपने आपको अर्पित किए हुए रहते हैं। इच्छानुसार रूप बनाने में समर्थ होते हैं तथा सैकड़ों पूर्व-वर्षों तक——असंख्य काल तक वहाँ रहते है।

१६—तत्थ ठिच्चा जहाठाणं
जक्खा आउक्खए चुया ।
उवेन्ति माणुसं जोणिं
से दसंगेऽभिजायई ॥

तत्र स्थित्वा यथास्थानं
यक्षा आयुःक्षयेच्युताः ।
उपयन्ति मानुषीं योनिं
स दशांगोऽभिजायते ॥

१६—वे देव उन कल्पो में अपनी शील-आराधना के अनुरूप स्थानों में रहते हुए आयु-क्षय होनेपर वहाँ से च्युत होते हैं। फिर मनुष्य-योनि को प्राप्त होते हैं। वे वहाँ दस अंगों वाली भोग सामग्री से युक्त होते हैं।

१७—खेत्तं वत्थुं हिरण्णं च
पसवो दास-पोरुसं ।
चत्तारि काम-खन्धाणि
तत्थ से उववज्जई ॥

क्षेत्रं वास्तु हिरण्यञ्च
पशवो दास-पौरुषेयं ।
चत्वारः कामस्कन्धाः
तत्र स उपपद्यते ॥

१७—क्षेत्र, वास्तु, स्वर्ण, पशु और दास-पौरुषेय——जहाँ ये चार काम-स्कन्ध होते हैं, उन कुलों मे वे उत्पन्न होते हैं।

१८—मित्तवं नायवं[1] होइ
उच्चागोए य वण्णवं ।
अप्पायंके महापन्ने
अभिजाए जसोबले ॥

मित्रवान् ज्ञातिमान् भवति,
उच्चैर्गोत्रश्च वर्णवान् ।
अल्पातङ्कः महाप्राज्ञः
अभिजातो यशस्वी बली ॥

१८—वे मित्रवान्, ज्ञातिमान्, उच्चगोत्र वाले, वर्णवान्, नीरोग, महाप्रज्ञ, अभिजात, यशस्वी और बलवान् होते हैं।

१९—भोच्चा माणुस्सए भोए
अप्पडिरूवे अहाउयं ।
पुव्वं विसुद्ध - सद्धम्मे
केवलं बोहि बुज्झिया ॥

भुक्त्वा मानुष्यकान् भोगान्
अप्रतिरूपान् यथायुः ।
पूर्वं विशुद्ध-सद्धर्मा
केवलां बोधिं बुद्ध्वा ॥

१९—जीवन भर अनुपम मानवीय भोगों को भोगकर, पूर्व-जन्म में विशुद्ध-सद्धर्मी (निदान रहित तप करने वाले) होने के कारण वे विशुद्ध बोधि का अनुभव करते हैं।

२०—चउरंगं दुल्लहं मत्ता[2]
संजमं पडिवज्जिया ।
तवसा धुयकम्मंसे
सिद्धे हवइ सासए ॥
—त्ति बेमि ।

चतुरंगं दुर्लभं मत्वा
संयमं प्रतिपद्य ।
तपसा धुत-कर्मांशः
सिद्धो भवति शाश्वतः ॥
—इति ब्रवीमि

२०—वे उक्त चार अंगों को दुर्लभ मानकर संयम को स्वीकार करते हैं। फिर तपस्या से कर्म के सब अंशों को धुनकर शाश्वत सिद्ध हो जाते हैं।

ऐसा मैं—कहता हूँ।

---

१. नाइल्वं (बृ०); नाइवं (उ)।
२. मच्चा (उ)।

चउत्थं अज्झयणं :
असंखयं

चतुर्थ अध्ययन :
असंस्कृत

आमुख

इस अध्ययन का नाम निर्युक्ति के अनुसार 'प्रमादाप्रमाद'[1] और समवायाङ्ग के अनुसार 'असंस्कृत' (प्रा० असंखयं) है।[2] निर्युक्तिकार का नामकरण अध्ययन में वर्णित विषय के आधार पर है और समवायाङ्ग का नामकरण आदानपद (प्रथमपद) के आधार पर है। इसका समर्थन अनुयोगद्वार से भी होता है।[3]

'जीवन असंस्कृत है – उसका संधान नहीं किया जा सकता, इसलिए व्यक्ति को प्रमाद नहीं करना चाहिए'—यही इस अध्ययन का प्रतिपाद्य है। जिन व्यक्तियों का जीवन के प्रति यह दृष्टिकोण नहीं है, वे अन्य मिथ्या-धारणाओं में फँसकर मिथ्याभिनिवेश को प्रश्रय देते हैं। सूत्रकार जीवन के प्रति जागरूक रहने की बलवती प्रेरणा देते हुए तथ्यों का प्रतिपादन करते हैं और मिथ्या-मान्यताओं का खण्डन करते हैं। वे मिथ्या-मान्यताएँ ये हैं--

१—यह माना जाता था कि धर्म बुढ़ापे में करना चाहिए, पहले नहीं।

भगवान् ने कहा—"धर्म करने के लिए सब काल उपयुक्त हैं, बुढ़ापे में कोई त्राण नहीं है।" (श्लो० १)

२—भारतीय जीवन की परिपूर्ण कल्पना में चार पुरुषार्थ माने गए हैं—काम, अर्थ, धर्म और मोक्ष। अर्थ को येनकेन-प्रकारेण अर्जित करने की प्रेरणा दी जाती थी। लोग धन को त्राण मानते थे।

भगवान् ने कहा—"जो व्यक्ति अनुचित साधनों द्वारा धन का अर्जन करते हैं, वे धन को छोड़कर नरकमें जाते हैं। यहाँ या परभव में धन किसी का त्राण नहीं बन सकता। धन का व्यामोह व्यक्ति को सही मार्ग पर जाने नहीं देता।" (श्लो० २,५)

३—कई लोग यह मानते थे कि किए हुए कर्मों का फल परभव में ही मिलता है। कई मानते थे कि कर्मों का फल है ही नहीं।

भगवान् ने कहा—"किए हुए कर्मों को भोगे बिना छुटकारा नहीं मिलता। कर्मों का फल इस जन्म में भी मिलता है और पर-जन्म में भी।" (श्लो० ३)

४—यह मान्यता थी कि एक व्यक्ति बहुतों के लिए कोई कर्म करता है तो उसका परिणाम वे सब भुगतते हैं।

भगवान् ने कहा—"संसारी प्राणी अपने बन्धुजनों के लिए जो साधारण कर्म करते हैं, उस कर्म के फल-भोग के समय वे बन्धुजन बन्धुता नहीं दिखाते, उसका भाग नहीं बँटाते।" (श्लो० ४)

५—यह माना जाता था कि साधना के लिए समूह विघ्न है। व्यक्ति को अकेले में साधना करनी चाहिए।

भगवान् ने कहा—"जो स्वतंत्र वृत्ति का त्याग कर गुरु के आश्रयण में साधना करता है, वह मोक्ष पा लेता है।" (श्लो० ८)

१—उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा १८१ : पंचविहो अ पमाओ इहमज्झयणंमि अप्पमाओ य।
वण्णिएज्ज उ जम्हा तेण पमायप्पमायंति ॥

२—समवायाङ्ग, समवाय ३६ : छत्तीसं उत्तरज्झयणा प० तं०—विणयसुयं... ...असंखयं......।

३—अनुयोगद्वार, सूत्र १३० : पाठ के लिए देखिए पृ० ३९ पा० टि० १।

६—लोग कहते थे कि यदि छन्द के निरोध से मुक्ति मिलती है तो वह अन्त समय में भी किया जा सकता है। भगवान् ने कहा—"धर्म पीछे करेंगे—यह कथन शाश्वतवादी कर सकते हैं। जो अपने आपको अमर मानते हैं, उनका यह कथन हो सकता है, परन्तु जो जीवन को क्षण-भंगुर मानते हैं, वे भला काल—समय की प्रतीक्षा कैसे करेंगे? वे काल का विश्वास कैसे करेंगे? धर्म की उपासना के लिए समय का विभाग अवांछनीय है। व्यक्ति को प्रतिपल अप्रमत्त रहना चाहिए।" (श्लो० ६-१०)

इस प्रकार यह अध्ययन जीवन के प्रति एक सही दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है और मिथ्या-मान्यताओं का निरसन करता है।

चउत्थं अज्झयणं : चतुर्थ अध्ययन

असंखयं : असंस्कृतम्

मूल

१—असंखयं जीविय मा पमायए
जरोवणीयस्स हु नत्थि ताणं।
एवं[1] वियाणाहि जणे पमत्ते
कण्णू विहिंसा अजया गहिन्ति॥

संस्कृत छाया

असंस्कृतं जीवितं मा प्रमादीः
जरोपनीतस्य खलु नास्ति त्राणम्।
एवं विजानीहि जनाः प्रमत्ताः
कन्नु विहिंस्रा अयता ग्रहीष्यन्ति॥

हिन्दी अनुवाद

१—जीवन सांधा नहीं जा सकता, इसलिए प्रमाद मत करो। बुढ़ापा आने पर कोई शरण नहीं होता। प्रमादी, हिंसक और अविरत मनुष्य किसकी शरण लेंगे—यह विचार करो।

मूल

२—जे पावकम्मेहि धणं मणूसा
समाययन्ती अमइं[2] गहाय।
पहाय ते 'पास पयट्टिए'[3] नरे
वेराणुबद्धा नरयं उवेन्ति॥

संस्कृत छाया

ये पाप-कर्मभिः धनं मनुष्याः
समाददते अमतिं गृहीत्वा।
प्रहाय तान् पश्य प्रवृत्तान् नरान्
वैरानुबद्धा नरकमुपयन्ति॥

हिन्दी अनुवाद

२—जो मनुष्य कुमति को स्वीकार कर पापकारी प्रवृत्तियों से धन का उपार्जन करते हैं, उन्हें देख। वे धन को छोड़कर मौत के मुँह में जाने को तैयार हैं। वे वैर (कर्म) से बन्धे हुए मरकर नरक में जाते हैं।

मूल

३—तेणे जहा सन्धि-मुहे गहीए
सकम्मुणा किच्चइ पावकारी।
एवं पया पेच्च[4] इहं च[5] लोए
'कडाण कम्माण न मोक्ख[6] अत्थि'[7]॥

संस्कृत छाया

स्तेनो यथा सन्धि-मुखे गृहीतः
स्वकर्मणा कृत्यते पापकारी।
एवं प्रजा प्रेत्येह च लोके
कृतानां कर्मणां न मोक्षोऽस्ति॥

हिन्दी अनुवाद

३—जैसे सेंध लगाते हुए पकड़ा गया पापी चोर अपने कर्म से ही छेदा जाता है, उसी प्रकार इस लोक और परलोक में प्राणी अपने कृत कर्मों से ही छेदा जाता है। किए हुए कर्मों का फल भोगे बिना छुटकारा नहीं होता।

---

१. एणं (बृ०पा०)।
२. अमयं (बृ० पा०, चू० पा०)।
३. पासपयट्टिए (अ०); पासपइट्टिए (उ)।
४. पेच्छ (बृ०); पेच (बृ० पा०)।
५. पि (चू०, बृ० पा०)।
६. मोक्खो (बृ०, चू०)।
७. ण कम्मुणो पीहाति तो कयाती (बृ० पा०, चू० पा०)।

४—संसारमावन्न परस्स अट्ठा
साहारणं जं च करेइ कम्मं।
कम्मस्स ते तस्स उ वेय-काले
न बन्धवा बन्धवयं उवेन्ति ॥

संसारमापन्नः परस्यार्थात्
साधारणं यच्च करोति कर्म।
कर्मणस्ते तस्य तु वेदकाले
न बान्धवा बान्धवतामुपयन्ति ॥

४—संसारी प्राणी अपने बन्धु-जनों के लिए जो साधारण कर्म (इसका फल मुझे भी मिले और उनको भी—ऐसा कर्म) करता है, उस कर्म के फल-भोग के समय वे बन्धु-जन बन्धुता नहीं दिखाते—उसका भाग नहीं बँटाते।

५—वित्तेण ताणं न लभे पमत्ते
इमंमि लोए अदुवा परत्था।
दीव-प्पणट्ठे व अणन्त-मोहे
नेयाउयं दट्ठुमदट्ठुमेव ॥

वित्तेन त्राणं न लभते प्रमत्तः
अस्मिंल्लोके अथवा परत्र।
प्रणष्टदीप इव अनन्त-मोहः
नैर्यातृकं दृष्ट्वाऽदृष्ट्वैव ॥

५—प्रमत्त मनुष्य इस लोक में अथवा परलोक में धन से त्राण नहीं पाता। अन्धेरी गुफा में जिसका दीप बुझ गया हो उसकी भाँति, अनन्त मोह वाला प्राणी पार ले जाने वाले मार्ग को देखकर भी नहीं देखता।

६—सुत्तेसु यावी पडिबुद्ध-जीवी
न वीससे पण्डिए आसु-पन्ने।
घोरा मुहुत्ता अबलं सरीरं
भारुण्ड-पक्खी व चरप्पमत्तो ॥

सुप्तेषु चापि प्रतिबुद्धजीवी
न विश्वस्यात् पण्डित आशुप्रज्ञः।
घोरा मुहूर्ता अबलं शरीरं
भारण्डपक्षीव चराप्रमत्तः ॥

६—आशुप्रज्ञ पंडित सोए हुए व्यक्तियों के बीच भी जागृत रहे। प्रमाद में विश्वास न करे। मुहूर्त बड़े घोर (निर्दयी) होते हैं। शरीर दुर्बल है। इसलिए भारण्ड पक्षी की भाँति अप्रमत्त होकर विचरण करे।

७—चरे पयाइं परिसंकमाणो
जं किंचि पासं इह मण्णमाणो।
लाभन्तरे जीविय वूहइत्ता
पच्छा परिन्नाय मलावधंसी ॥

चरेत्पदानि परिशङ्कमानः
यत्किञ्चित्पाशमिह मन्यमानः।
लाभान्तरे जीवितं बृंहयित्वा
पश्चात्परिज्ञाय मलापध्वंसी ॥

७—पग-पग पर दोषों से भय खाता हुआ, थोड़े से दोष को भी पाश मानता हुआ चले। नए-नए गुणों की उपलब्धि हो, तब तक जीवन को पोषण दे। जब वह न हो तब विचार-विमर्श पूर्वक इस शरीर का ध्वंस कर डाले।

८—छन्दं निरोहेण उवेइ मोक्खं
आसे जहा सिक्खिय-वम्मधारी।
पुव्वाइं वासाइं चरप्पमत्तो
तम्हा मुणी खिप्पमुवेइ मोक्खं ॥

छन्दोनिरोधेनोपैति मोक्षं
अश्वो यथा शिक्षितवर्मधारी।
पूर्वाणि वर्षाणि चराप्रमत्तः
तस्मान्मुनिः क्षिप्रमुपैति मोक्षम् ॥

८—शिक्षित (शिक्षक के अधीन रहा हुआ) और तनुत्राणधारी अश्व जैसे रण का पार पा जाता है, वैसे ही स्वच्छन्दता का निरोध करने वाला मुनि संसार का पार पा जाता है। पूर्व जीवन में जो अप्रमत्त होकर विचरण करता है, वह उस अप्रमत्त-विहार से शीघ्र ही मोक्ष को प्राप्त होता है।

९—स पुव्वमेवं न लभेज्ज पच्छा
एसोवमा सासय-वाइयाणं ।
विसीयई सिढिले आउयंमि[1]
कालोवणीए सरीरस्स भेए ॥

स पूर्वमेव न लभेत पश्चात्
एषोपमा शाश्वतवादिकानाम् ।
विषीदति शिथिले आयुषि
कालोपनीते शरीरस्य भेदे ॥

९—जो पूर्व जीवन में अप्रमत्त नहीं होता, वह पिछले जीवन में भी अप्रमाद को नहीं पा सकता । "पिछले जीवन में अप्रमत्त हो जाएंगे"—ऐसा निश्चय-वचन शाश्वत-वादियों के लिए ही उचित हो सकता है । पूर्व जीवन में प्रमत्त रहने वाला आयु के शिथिल होने पर, मृत्यु के द्वारा शरीर-भेद के क्षण उपस्थित होने पर विषाद को प्राप्त होता है ।

१०—खिप्पं न सक्केइ विवेगमेउं
तम्हा समुट्ठाय पहाय कामे ।
समिच्च लोयं समया महेसी
अप्पाण-रक्खी चरमप्पमत्तो[2] ॥

क्षिप्रं न शक्नोति विवेकमेतुं
तस्मात्समुत्थाय प्रहाय कामान् ।
समेत्य लोकं समतया महर्षिः
आत्मरक्षी चराप्रमत्तः

१०—कोई भी मनुष्य विवेक को तत्काल प्राप्त नहीं कर सकता । इसलिए हे मोक्ष की एषणा करने वालो ! उठो । "जीवन के अंतिम भाग में अप्रमत्त बनेंगे"— इस आलस्य को त्यागो । काम-भोगों को छोड़ो । लोक को भलीभाँति जानो । समभाव में रमो । आत्म-रक्षक और अप्रमत्त हो कर विचरण करो ।

११—मुहं मुहं मोह-गुणे जयन्तं
अणेग-रूवा समणं चरन्तं ।
फासा फुसन्ती असमंजसं च
न तेसु भिक्खू मणसा पउस्से ॥

मुहुर्मुहुर्मोह-गुणान् जयन्तं
अनेक-रूपाः श्रमणं चरन्तम् ।
स्पर्शाः स्पृशन्त्यसमञ्जसं च
न तेषु भिक्षुर्मनसा प्रदुष्येत् ॥

११—बार-बार मोह-गुणों पर विजय पाने का यत्न करने वाले उग्र-विहारी श्रमण को अनेक प्रकार के प्रतिकूल स्पर्श पीड़ित करते हैं । किन्तु वह उन पर प्रद्वेष न करे ।

१२—'मन्दा य फासा बहु-लोहणिज्जा'[3]
तह-प्पगारेसु मणं न कुज्जा ।
रक्खेज्ज कोहं विणएज्ज माणं
मायं न सेवे पयहेज्ज लोहं ॥

मन्दाश्च स्पर्शा बहु-लोभनीयाः
तथा-प्रकारेषु मनो न कुर्यात् ।
रक्षेत् क्रोधं विनयेद् मानं
मायां न सेवेत प्रजह्याल्लोभम् ॥

१२—अनुकूल स्पर्श विवेक को मन्द करने वाले और बहुत लुभावने होते हैं । वैसे स्पर्शों में मन को न लगाये । क्रोध का निवारण करे । मान को दूर करे । माया का सेवन न करे । लोभ को त्यागे ।

१३—जे संखया तुच्छ परप्पवाई
ते पिज्ज-दोसाणुगया परज्झा ।
एए 'अहम्मे' त्ति दुगुंछमाणो
कंखे गुणे जाव सरीर-भेओ ॥
—त्ति बेमि ।

ये संस्कृताः तुच्छाः परप्रवादिनः
ते प्रेयोदोषानुगताः पराधीनाः ।
एते 'अधर्म' इति जुगुप्समानः
काङ्क्षेद् गुणान् यावच्छरीर-भेदः ॥
—इति ब्रवीमि ।

१३—जो अन्य-तीर्थिक लोग "जीवन सांधा जा सकता है"—ऐसा कहते हैं वे अशिक्षित हैं, प्रेय और द्वेष में फँसे हुए है, पर-तन्त्र हैं । "वे धर्म-रहित हैं"—ऐसा सोच उनसे दूर रहे । अंतिम सांस तक (सम्यक्-दर्शन, ज्ञान, चारित्र आदि) गुणों की आराधना करे ।
—ऐसा मैं कहता हूँ ।

---

१. आउंमि (उ) ।
२. व चरप्पमत्तो (बृ०); चरऽपमत्तो (उ) ।
३. मंदाउ तहा हियस्स बहु-लोभणेज्जा (चू० पा०) ।

पञ्चमं अज्झयणं :
अकाम-मरणिज्जं

पंचम अध्ययन :
अकाम-मरणीय

आमुख

इस अध्ययन का नाम 'अकाममरणिज्जं'—'अकाम-मरणीय' है। निर्युक्ति मे इसका दूसरा नाम 'मरणविभत्तीइ'—'मरण-विभक्ति' भी मिलता है।[1]

जीवन-यात्रा के दो विश्राम हैं—जन्म और मृत्यु। जीवन कला है तो मृत्यु भी उससे कम कला नहीं है। जो जीने की कला जानते हैं और मृत्यु की कला नहीं जानते, वे सदा के लिए अपने पीछे दूषित वातावरण छोड़ जाते हैं। व्यक्ति को कैसा मरण नहीं करना चाहिए, इसका विवेक आवश्यक है। मरण के विविध प्रकारों के उल्लेख इस प्रकार मिलते हैं :—

१—मरण के १४ भेद

भगवती सूत्र में मरण के दो भेद—बाल और पण्डित किए हैं। बाल-मरण के बारह प्रकार हैं और पण्डित-मरण के दो प्रकार—कुल मिलाकर चौदह भेद वहाँ मिलते हैं—

बाल-मरण के बारह भेद हैं:—(१) वलय, (२) वशार्त्त, (३) अन्तःशल्य, (४) तद्भव, (५) गिरि-पतन, (६) तरु-पतन, (७) जल-प्रवेश, (८) अग्नि-प्रवेश, (९) विष-भक्षण, (१०) शस्त्रावपाटन, (११) वैहायस और (१२) गृद्ध्रपृष्ठ।[2]

पण्डित-मरण के दो भेद हैं:—(१) प्रायोपगमन और (२) भक्त-प्रत्याख्यान।[3]

२—मरण के १७ भेद

समवायाङ्ग में मरण के १७ भेद बतलाए हैं। मूलाराधना में भी मरण के सतरह प्रकारों का उल्लेख है और उनका विस्तार विजयोदया वृत्ति मे मिलता है। उक्त परम्पराओं के अनुसार मरण के १७ प्रकार इस तरह हैं:—

समवायाङ्ग	**मूलाराधना (विजयोदया वृत्ति)**
१—आवीचि-मरण	१—आवीचि-मरण
२—अवधि-मरण	२—तद्भव-मरण
३—आत्यन्तिक-मरण	३—अवधि-मरण
४—वलन्मरण	४—आदि-अन्त-मरण
५—वशार्त्त-मरण	५—बाल-मरण
६—अन्तःशल्य-मरण	६—पण्डित-मरण
७—तद्भव-मरण	७—अवसन्न-मरण
८—बाल-मरण	८—बाल-पण्डित-मरण

---

१. उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा २३३ : सव्वे एए दारा मरणविभत्तीइ वण्णिआ कमसो।

२. भगवती २।१, सू० ९० : दुविहे मरणे पण्णत्ते, तं जहा—बालमरणे य पंडियमरणे य, से किं तं बालमरणे ?, २ दुवालसविहे पं०, तं० वलयमरणे, वसट्टमरणे, अन्तोसल्लमरणे, तब्भवमरणे, गिरिपडणे, तरुपडणे, जलप्पवेसे, जलणप्पवेसे, विसभक्खणे, सत्थोवाडणे, वेहाणसे, गिद्धपिट्ठे।

३. वही : से किं तं पंडियमरणे ? २ दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—पाओवगमणे य भत्तपच्चक्खाणे य।

९—पण्डित-मरण	९—सशल्य-मरण
१०—बाल-पण्डित-मरण	१०—वलाय-मरण
११—छद्मस्थ-मरण	११—व्युत्सृष्ट-मरण
१२—केवलि-मरण	१२—विप्रनास-मरण
१३—वैहायस-मरण	१३—गृद्धपृष्ठ-मरण
१४—गृद्धपृष्ठ-मरण	१४—भक्त-प्रत्याख्यान-मरण
१५—भक्त-प्रत्याख्यान-मरण	१५—प्रायोपगमन-मरण
१६—इंगिनी-मरण	१६—इंगिनी-मरण
१७—प्रायोपगमन-मरण[1]	१७—केवली-मरण[2]

समवायाङ्ग के तीसरे, दसवें और पन्द्रहवें मरण के नाम उत्तराध्ययन निर्युक्ति के अनुसार क्रमशः अत्यन्त-मरण, मिश्र-मरण और भक्त-परिज्ञा-मरण हैं। यह केवल शाब्दिक अन्तर है, नामों अथवा क्रम में और कोई अन्तर नहीं है।[3]

विजयोदया में क्रम तथा नामों में भी अन्तर है। 'वैहायस' के स्थान पर 'विप्रनास' तथा 'अन्त:शल्य' और 'आत्यन्तिक' के स्थान पर क्रमश: 'सशल्य' और 'आद्यन्त' नाम उल्लिखित हैं। समवायाङ्ग में वशार्त्त-मरण और छद्मस्थ-मरण हैं जबकि विजयोदया में अवसन्न-मरण और व्युत्सृष्ट-मरण। भगवती के उपर्युक्त पांचवें से लेकर दसवें तक के ६ भेद विजयोदया के 'बाल-मरण' भेद में समाविष्ट होते हैं।

उक्त सतरह प्रकार के मरणों की संक्षिप्त व्याख्या इस प्रकार है:—

१—आवीचि-मरण:—आयु-कर्म के दलिकों की विच्युति अथवा प्रतिक्षण आयु की विच्युति, आवीचि-मरण कहलाता है।[4]

वीचि का अर्थ है—तरंग। समुद्र और नदी में प्रतिक्षण लहरें उठती हैं। वैसे ही आयु-कर्म भी प्रतिसमय उदय में आता है। आयु का अनुभव करना जीवन का लक्षण है। प्रत्येक समय का जीवन प्रतिसमय में नष्ट होता है। यह प्रत्येक समय का मरण आवीचि-मरण कहलाता है।[5]

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव की अपेक्षा से आवीचि-मरण के पांच प्रकार हैं।[6]

---

१. समवायाङ्ग, समवाय १७, पत्र ३३ : सत्तरसविहे मरण प०—आवीईमरणे, ओहिमरणे आयंतियमरणे, वलायमरणे, वसट्टमरणे, अंतोसल्लमरणे, तब्भवमरणे, बालमरणे, पंडितमरणे, बालपंडितमरणे, छउमत्थमरणे, केवलिमरणे, वेहाणसमरणे, गिद्धपिट्ठमरणे, भत्तपच्चक्खाणमरणे, इंगिणिमरणे, पाओवगमणमरणे।

२. (क) मूलाराधना आश्वास १, गाथा २५ : मरणाणि सत्तरस देसिदाणि तित्थंकरेहिं जिणवयणे।
तत्थ वि य पंच इह संगहेण मरणाणि वोच्छामि॥

(ख) विजयोदया वृत्ति, पत्र ८७।

३. उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा २१२, २१३ : आवीचि ओहि अंतिय वलायमरणं वसट्टमरणं च।
अंतोसल्लं तब्भव बालं तह पंडियं मीसं॥
छउमत्थमरण केवलि वेहाणस गिद्धपिट्ठमरणं च।
मरणं भत्तपरिण्णा इंगिणी पाओवगमणं च॥

४. समवायाङ्ग, समवाय १७ वृत्ति, पत्र ३४ : आयुर्दलिकविच्युतिलक्षणावस्था यस्मिंस्तदावीचि अथवा वीचि:—विच्छेदस्तदभावादवीचि ··· एवंभूतं मरणमावीचिमरणं—प्रतिक्षणमायुर्द्रव्यविचटनलक्षणम्।

५. विजयोदया वृत्ति, पत्र ८६।

६. उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गा० २१५ : अणुसमयनिरन्तरमवीइसन्निमं, तं भणन्ति पंचविहं।
दव्वे खित्ते काले भवे य भावे य संसारे॥

२—अवधि-मरण :—जीव एक बार नरक आदि जिस गति में जन्म-मरण करता है, उसी गति मे दूसरी बार जब कभी जन्म-मरण करता है तो उसे अवधि-मरण कहा जाता है।[1]

३—आत्यन्तिक-मरण :—जीव वर्तमान आयु-कर्म के पुद्गलों का अनुभव कर मरण प्राप्त हो, फिर उस भव में उत्पन्न न हो तो उस मरण को आत्यन्तिक-मरण कहा जाता है।[2]

वर्तमान मरण 'आदि' और वैसा मरण आगे न होने से उसका 'अन्त'—इस प्रकार इसे 'आद्यन्त-मरण' भी कहा जाता है।[3]

४—वलन्मरण :—जो संयमी जीवन-पथ से भ्रष्ट होकर मृत्यु पाता है, उसकी मृत्यु को वलन्मरण कहा जाता है।[4] *भूख से तड़पते हुए मरने को भी वलन्मरण कहा जाता है।*[5]

विजयोदया में वलाय-मरण कहा है। इसकी व्याख्या इस प्रकार है—विनय, वैयावृत्त्य आदि को सत्कार न देने वाले, नित्य नैमित्तिक कार्यों में आलसी, व्रत, समिति और गुप्ति के पालन में अपनी शक्ति को छिपाने वाले, धर्म-चिन्तन के समय नींद लेने वाले, ध्यान और नमस्कार आदि से दूर भागने वाले व्यक्ति के मरण को वलाय-मरण कहा जाता है।[6]

५—वशार्त्त-मरण :—दीप-कलिका मे शलभ की तरह जो इन्द्रियों के वशीभूत होकर मृत्यु पाते हैं, उसे 'वशार्त्त-मरण' कहा जाता है।[7]

विजयोदया में भी यह नाम मिलता है। यह मरण आर्त्त और रौद्र ध्यान में प्रवृत्त रहने वालों के होता है। इसके चार भेद हैं—इन्द्रिय-वशार्त्त, वेदना-वशार्त्त, कषाय-वशार्त्त और नो-कषाय-वशार्त्त।[8]

६—अन्तःशल्य-मरण :—भगवती की वृत्ति में इसके दो भेद किए गए हैं—(१) द्रव्य और (२) भाव। शरीर में शस्त्र की नोक आदि रहने से जो मृत्यु होती है वह द्रव्य अन्तःशल्य-मरण कहलाता है। लज्जा और अभिमान आदि के कारण अतिचारों की आलोचना न कर दोषपूर्ण स्थिति में मरने वाले की मृत्यु को भाव अन्तःशल्य-मरण कहा जाता है।[9]

विजयोदया में इसका नाम सशल्य-मरण है। उसके भी दो भेद हैं—द्रव्य शल्य और भाव शल्य।[10] *मिथ्या-दर्शन, माया और निदान—इन तीनों शल्यों की उत्पत्ति के हेतुभूत कर्म को द्रव्य शल्य कहा जाता है। द्रव्य शल्य*

---

१. (क) समवायाङ्ग, समवाय १७ वृत्ति पत्र ३४ : मर्यादा तेन मरणमवधिमरणम्, यानि हि नारकादिभवनिबन्धनतयाऽऽयुःकर्मदलिकान्यनुभूय म्रियते यदि पुनस्तान्येवानुभूय मरिष्यति तदा तदवधिमरणमुच्यते। तद्द्रव्यापेक्षया पुनस्तद्ग्रहणावधि यावज्जीवस्य मृतत्वादिति।
(ख) उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गा० २१६ : एमेव ओहिमरणं जाणि मओ ताणि चेव मरइ पुणो।
(ग) विजयोदया वृत्ति, पत्र ८७।

२. (क) समवायाङ्ग, समवाय १७ वृत्ति पत्र ३४ : यानि नारकाद्यायुष्कतया कर्मदलिकान्यनुभूय म्रियते मृतश्च न पुनस्तान्यनुभूय मरिष्यतीति एवं यन्मरणं तद्द्रव्यापेक्षया अत्यन्तभावित्वादात्यन्तिकमिति।
(ख) उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गा० २१६ : एमेव आइयंतियमरणं नवि मरइ ताइ पुणो।

३. विजयोदया वृत्ति, पत्र ८७।

४. (क) समवायाङ्ग, समवाय १७ वृत्ति, पत्र ३४ : संयमयोगेभ्यो वलतां—भग्नव्रतपरिणतीनां व्रतिनां मरणं वलन्मरणम्।
(ख) उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गा० २१७ : संजमजोगविसन्ना मरंति जे तं वलायमरणं तु।

५. भगवती, २।१ सू० ६० वृत्ति, पृ० २११ : वलतो—बुभुक्षापरिगतत्वेन वलवलायमानस्य संयमाद्वा भ्रश्यतो (यत्) मरणं तद्वलन्मरणम्।

६. विजयोदया वृत्ति, पत्र ८६।

७. समवायाङ्ग, समवाय १७ वृत्ति, पत्र ३४ : इन्द्रियविषयपारतन्त्र्येण ऋता—बाधिता वशार्त्ताः स्निग्धदीपकलिकावलोकनात् शलभवत् तथाऽन्तः।

८. विजयोदया वृत्ति, पत्र ८६, ९०।

९. भगवती, २।१ सू० ९० वृत्ति, पत्र २११ : अन्तःशल्यस्य द्रव्यतोऽनुद्धृततोमरादेः भावतः सातिचारस्य यद्मरणं तद् अन्तःशल्यमरणम्।

१०. विजयोदया वृत्ति, पत्र ८८।

की दशा में होने वाला मरण द्रव्य शल्य-मरण कहलाता है। यह मरण पाँच स्थावर और अमनस्क त्रस जीवों के होता है। उक्त तीन शल्यों के हेतुभूत कर्मों के उदय से जीव में जो माया, निदान और मिथ्यात्व परिणाम होता है, उसे भाव शल्य कहा जाता है। इस दशा में होने वाला मरण भाव शल्य-मरण कहा जाता है।

जहाँ भाव शल्य है वहाँ द्रव्य शल्य अवश्य होता है, किन्तु भाव शल्य केवल समनस्क जीवों को ही होता है। अमनस्क जीवों में संकल्प या चिन्तन नहीं होता, इसलिए उनके केवल द्रव्य शल्य ही होता है। इसीलिए अमनस्क जीवों के मरण को द्रव्य शल्य-मरण और समनस्क जीवों के मरण को भाव शल्य-मरण कहा गया है।[1]

भविष्य में मुझे अमुक वस्तु मिले, आदि-आदि मानसिक संकल्पों को निदान कहते हैं। निदान-शल्य-मरण असंयत सम्यक्-दृष्टि और श्रावक के होता है।

मार्ग (ज्ञान, दर्शन, चारित्र) को दूषित करना, मार्ग का नाश करना, उन्मार्ग की प्ररूपणा करना, मार्ग में स्थित लोगों का बुद्धि-भेद करना—इन सबको एक शब्द में मिथ्यादर्शन-शल्य कहा जाता है।[2]

पार्श्वस्थ, कुशील, संसक्त आदि मुनि धर्म से भ्रष्ट हो कर मरण-समय तक दोषों की आलोचना किए बिना जो मृत्यु पाते हैं, उसे माया-शल्य-मरण कहा जाता है। यह मरण मुनि, श्रावक और असंयत सम्यक्-दृष्टि को प्राप्त होता है।

७—तद्भव-मरण :—वर्तमान भव (जन्म) से मृत्यु होती है, उसे तद्भव-मरण कहा जाता है।[3]

८—बाल-मरण :—मिथ्यात्वी और सम्यक्दृष्टि का मरण बाल-मरण कहलाता है।[4] भगवती में बाल-मरण के १२ भेद प्राप्त हैं।[5] विजयोदया में पाँच भेद किए हैं—(१) अव्यक्त-बाल, (२) व्यवहार-बाल, (३) ज्ञान-बाल, (४) दर्शन-बाल और (५) चारित्र-बाल।[6] इनकी व्याख्या संक्षिप्त मे इस प्रकार है :

(१) अव्यक्त-बाल—छोटा बच्चा। जो धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को नहीं जानता तथा इन चार पुरुषार्थों का आचरण करने में भी समर्थ नहीं होता।

(२) व्यवहार-बाल—लोक-व्यवहार, शास्त्र-ज्ञान आदि को जो नहीं जानता।

(३) ज्ञान-बाल—जो जीव आदि पदार्थों को यथार्थ रूप से नहीं जानता।

(४) दर्शन-बाल—जिसकी तत्त्वों के प्रति श्रद्धा नहीं होती। दर्शन-बाल के दो भेद हैं—इच्छा-प्रवृत्त और अनिच्छा-प्रवृत्त। इच्छा-प्रवृत्त—अग्नि, धूप, शस्त्र, विष, पानी, पर्वत से गिरकर, श्वासोच्छ्वास को रोक कर, अति सर्दी या गर्मी होने से, भूख और प्यास से, जीभ को उखाड़ने से, प्रकृति-विरुद्ध आहार करने से—इन साधनों के द्वारा जो इच्छा से प्राण-त्याग करता है, वह इच्छा-प्रवृत्त

---

१. विजयोदया वृत्ति, पत्र ८८।

२. विजयोदया वृत्ति, पत्र ८८, ८९।

३. (क) समवायाङ्ग, समवाय १७ वृत्ति, पत्र ३४ : यस्मिन् भवे—तिर्यगमनुष्यभवलक्षणं वर्त्तते जन्तुस्तद्भवयोग्यमेवायुर्बद्ध्वा पुनः तत्क्षयेण म्रियमाणस्य यद्भवति तत्तद्भवमरणम्।

(ख) उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा २२१ : मोत्तुं अकम्मभूमगनरतिरिए सुरगणे अ नेरइए।
सेसाणं जीवाणं तब्भवमरणं तु केसिंचि॥

(ग) विजयोदया वृत्ति, पत्र ८७।

४. उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा २२२ : अविरयमरणं बालं मरणं विरयाण पंडियं बिंति।
जाणाहि बालपंडियमरणं पुण देसविरयाणं॥

५. भगवती २।१। सू० ९० वृत्ति, पत्र २११।

६. विजयोदया वृत्ति, पत्र ८७,८८।

दर्शन-बाल-मरण कहलाता है। अनिच्छा-प्रवृत्त—योग्यकाल में या अकाल में मरने की इच्छा के बिना जो मृत्यु होती है, वह अनिच्छा-प्रवृत्त दर्शन-बाल-मरण कहलाता है।

(५) चारित्र-बाल—जो चारित्र से हीन होता है। विषयों में आसक्त, दुर्गति में जाने वाले, अज्ञानान्धकार से आच्छादित, ऋद्धि में आसक्त, रसों में आसक्त और सुख के अभिमानी जीव बाल-मरण से मरते हैं।

९—पण्डित-मरण :—संयति का मरण पण्डित-मरण कहलाता है। विजयोदया में इसके चार भेद किए हैं—(१) व्यवहार-पण्डित, (२) सम्यक्त्व-पण्डित, (३) ज्ञान-पण्डित और (४) चारित्र-पण्डित।[१] इनकी व्याख्या इस प्रकार है :

(१) व्यवहार-पण्डित—जो लोक, वेद और समय के व्यवहार में निपुण, उनके शास्त्रों का ज्ञाता और शुश्रूषा आदि गुणों से युक्त हो।

(२) दर्शन-पण्डित—जो सम्यक्त्व से युक्त हो।

(३) ज्ञान-पण्डित—जो ज्ञान से युक्त हो।

(४) चारित्र-पण्डित—जो चारित्र से युक्त हो।

१०—बाल-पण्डित-मरण :—संयतासंयत का मरण बाल-पण्डित-मरण कहलाता है।[२] स्थूल हिंसा आदि पाँच पापों के त्याग तथा सम्यक्-दर्शन युक्त होने से वह पण्डित है। सूक्ष्म असंयम से निवृत्त न होने के कारण उसमें बालत्व भी है।[३]

११—छद्मस्थ-मरण :—मन:पर्यवज्ञानी, अवधिज्ञानी, श्रुतज्ञानी और मतिज्ञानी श्रमण के मरण को छद्मस्थ-मरण कहा जाता है।[४]

विजयोदया मे इसके स्थान पर 'ओसण्ण-मरण' नाम मिलता है।[५] उसकी व्याख्या इस प्रकार दी है—रत्नत्रय में विहार करने वाले मुनियों के संघ से जो अलग हो गया हो उसे 'अवसन्न' कहते हैं। उसके मरण को अवसन्न-मरण कहा जाता है। पार्श्वस्थ, स्वच्छन्द, कुशील, संसक्त और अवसन्न—ये पाँच भ्रष्ट मुनि 'अवसन्न' कहलाते हैं। ये ऋद्धि मे आसक्त, रसों में आसक्त, दु:ख से भयभीत, कषायो मे परिणत हो आहार आदि संज्ञाओं के वशवर्ती, पाप शास्त्रों के अध्येता, तेरह क्रिया (३ गुप्ति, ५ समिति और ५ महाव्रत) मे आलसी, संक्लिष्ट-परिणामी, भक्तपान और उपकरणों में आसक्त, निमित्त, तंत्र-मंत्र और औषध से आजीविका करने वाले, गृहस्थों का वैयावृत्त्य करने वाले, उत्तर गुणों से हीन, गुप्ति और समिति में अनुद्यत, संसार के दु:खों से भय न करने वाले, क्षमा आदि दश धर्मों में प्रवृत्त न होने वाले तथा चारित्र मे दोष लगाने वाले होते हैं। ये अवसन्न मुनि मर कर हजारों भवों में भ्रमण करते हैं और दु:खों को भोगते हुए जीवन को पूरा करते हैं।

१२—केवलि-मरण :—केवल ज्ञानी का मरण केवलि-मरण कहलाता है।

---

१. विजयोदया वृत्ति, पत्र ८८।

२. उत्तराध्ययन निर्युक्ति गाथा २२० : (देखिए पृ० ६० पा० टि० ४)।

३. विजयोदया वृत्ति, पत्र ८८।

४. उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा २२३ : मणपज्जवोहिनाणी सुअमइनाणी मरंति जे समणा।
छउमत्थमरणमेयं केवलिमरणं तु केवलिणो॥

५. विजयोदया वृत्ति, पत्र ८८।

१३—वैहायस-मरण :—वृक्ष की शाखा पर लटकने, पर्वत से गिरने और झंपा लेने आदि कारण से होने वाला मरण वैहायस-मरण कहलाता है।[1] विजयोदया में इसके स्थान पर 'विप्रणास-मरण' है।[2]

१४—गृद्धपृष्ठ-मरण :—हाथी आदि के कलेवर में प्रविष्ट होने पर उस कलेवर के साथ-साथ उस जीवित शरीर को भी गीध आदि नोंच कर मार डालते हैं, उस स्थिति में जो मरण होता है, वह गृद्धपृष्ठ-मरण कहलाता है।[3]

१५—भक्त-प्रत्याख्यान-मरण :—यावत् जीवन के लिए त्रिविध अथवा चतुर्विध आहार के त्याग पूर्वक जो मरण होता है, उसे भक्त-प्रत्याख्यान-मरण कहा जाता है।[4]

१६—इंगिनी-मरण :—प्रतिनियत स्थान पर अनशन पूर्वक मरण को इङ्गिनी-मरण कहते हैं। जिस मरण में अपने अभिप्राय से स्वयं अपनी शुश्रूषा करे, दूसरे मुनियों से सेवा न ले उसे इङ्गिनी-मरण कहा जाता है। यह मरण चतुर्विध आहार का प्रत्याख्यान करने वाले के ही होता है।

१७—प्रायोपगमन, पादपोपगमन, पादोपगमन-मरण :—अपनी परिचर्या न स्वयं करे और न दूसरों से कराये, ऐसे मरण को प्रायोपगमन अथवा प्रायोग्य-मरण कहते हैं।[5] वृक्ष के नीचे स्थिर अवस्था में चतुर्विध आहार के त्याग पूर्वक जो मरण होता है, उसे पादपोपगमन-मरण कहते हैं।[6] अपने पाँवों के द्वारा संघ से निकल कर और योग्य प्रदेश में जाकर जो मरण किया जाता है उसे पादोपगमन-मरण कहा जाता है। इस मरण को चाहने वाले मुनि अपने शरीर की परिचर्या न स्वयं करते हैं और न दूसरों से करवाते हैं।[7] कहीं 'पाओग्गमण' (प्रायोग्य) पाठ भी आता है।[8] भव के अन्त करने योग्य संहनन और संस्थान को 'प्रायोग्य' कहा जाता है। उसकी प्राप्ति को 'प्रायोग्य-गमन' कहा है। विशिष्ट संहनन और विशिष्ट संस्थान वाले के मरण को प्रायोग्य-गमन-मरण कहा जाता है।[9]

श्वेताम्बर परम्परा में 'पादपोपगमन' शब्द मिलता है और दिगम्बर परम्परा में 'प्रायोपगमन', 'प्रायोग्य' और 'पादोपगमन' पाठ मिलता है।

भगवती में पादपोपगमन के दो भेद किए हैं—निर्हारि और अनिर्हारि।[10] निर्हारि—इसका अर्थ है

१—(क) भगवती २।१ सू० ९० वृत्ति, पत्र २११ : वृक्षशाखाद्युद्बन्धनेन यत्तन्निरुक्तिवशाद्वैहानसम्।

(ख) उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा २२४ : गिद्धाइभक्खणं गिद्धपिट्ठं उब्बंधणाइ वेहासं।

एए दुन्निवि मरणा कारणजाए अणुन्नाया॥

२—विजयोदया वृत्ति, पत्र ९० ।

३—(क) भगवती २।१ सू० ९० वृत्ति, पत्र २११ : पक्षिविशेषगृद्धैर्वा—मांसलुब्धैः शृगालादिभिः स्पृष्टस्य—विदारितस्य करिकरभरासभादि-शरीरान्तर्गतत्वेन यन्मरणं तद्गृध्रस्पृष्टं वा गृद्धस्पृष्टं वा, गृध्रैर्वा भक्षितस्य—स्पृष्टस्य यत्तद्गृध्रस्पृष्टम्।

(ख) उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा २२४ (देखिए पा० टि० १ (ख))।

४—(क) भगवती २।१ सू० ९० वृत्ति, पत्र २११-२१२ : चतुर्विधाहारपरिहारनिष्पन्नमेव भवतीति।

(ख) उत्तराध्ययन निर्युक्ति गाथा २२५ वृत्ति, पत्र २३५ :

५—(क) भगवती २।१ सू० ९० वृत्ति, पत्र २१२ ।

(ख) समवायाङ्ग सम १७ वृत्ति, पत्र ३५ : पादपस्येवोपगमनम्—अवस्थानं यस्मिन् तत्पादपोपगमनं तदेव मरणम्।

(ग) उत्तराध्ययन निर्युक्ति गाथा २२५ वृत्ति, पत्र २३५ ।

६—विजयोदया वृत्ति, पत्र ११३ ।

७—गोम्मटसार (कर्मकाण्ड), गाथा ६१ :

८—विजयोदया वृत्ति, पत्र ११३ ।

९—विजयोदया वृत्ति, पत्र ११३ ।

१०—भगवती २।१ सू० ९० वृत्ति, पत्र २१२ : निर्हारेण निर्वृत्तं यत्तन्निर्हारिमं, प्रतिश्रये यो म्रियते तस्यैतत्, तत्कडेवरस्य निर्हरणात्, अनिर्हारिमं तु योऽटव्यां म्रियते इति।

बाहर निकालना । उपाश्रय में मरण प्राप्त करने वाले साधु के शरीर को वहाँ से बाहर ले जाना होता है, इसलिए उस मरण को निर्हारि कहते हैं । अनिर्हारि—अरण्य में अपने शरीर का त्याग करने वाले साधु के शरीर को बाहर ले जाना नहीं पड़ता, इसलिए उसे अनिर्हारि-मरण कहा जाता है ।

भगवती में इङ्गिनी-मरण को भक्त-प्रत्याख्यान का एक प्रकार स्वीकार कर[1] उसकी स्वतंत्र व्याख्या नहीं की है । मूलाराधना मे भक्त-प्रत्याख्यान, इङ्गिनी और प्रायोपगमन—ये तीनों पण्डित-मरण के भेद माने गये हैं ।[2]

उपर्युक्त १७ मरण विभिन्न विवक्षाओं से प्रतिपादित हैं । आवीचि, अवधि, आत्यन्तिक और तद्भव-मरण भव की दृष्टि से; वलन्, वैहायस, गृद्धपृष्ठ, वशार्त और अन्तः शल्य-मरण आत्म-दोष, कषाय आदि की दृष्टि से; बाल और पण्डित मरण चारित्र की दृष्टि से; छद्मस्थ और केवलि-मरण ज्ञान की दृष्टि से तथा भक्त-प्रत्याख्यान, इङ्गिनी और प्रायोपगमन-मरण अनशन की दृष्टि से किए गए हैं ।

उपर्युक्त १७ मरणों में आवीचि मरण प्रतिपल होता है और सिद्धों को छोड़ सब प्राणियों के होता है । शेष मरण जीव विशेषों के होते हैं ।

एक समय में कितने मरण होते हैं ? इस प्रश्न का उत्तर उत्तराध्ययन की निर्युक्ति में है ।[3] एक समय में दो मरण, तीन मरण, चार मरण और पाँच भी होते हैं : बाल, बाल-पण्डित और पण्डित की अपेक्षा से वे इस प्रकार हैं—

बाल की उपेक्षा :

(१) एक समय में दो मरण—अवधि और आत्यन्तिक में से एक और दूसरा बाल-मरण ।

(२) एक समय में तीन मरण—जहाँ तीन होते हैं वहाँ तद्भव-मरण और बढ़ जाता है ।

(३) एक समय में चार मरण—जहाँ चार होते हैं वहां वशार्त्त-मरण और बढ़ जाता है ।

(४) एक समय में पाँच मरण—जहाँ आत्मघात करते हैं वहाँ वैहायस और गृद्धपृष्ठ में से कोई एक बढ़ जाता है । वलन्मरण और शल्य मरण को बाल-मरण के अन्तर्गत स्वीकार किया है ।

पण्डित की अपेक्षा :

पण्डित-मरण की विवक्षा दो प्रकार से की है—दृढ़ संयमी पण्डित और शिथिल संयमी पण्डित ।

(क) दृढ़ संयमी पण्डित

(१) जहाँ दो मरण एक समय में होते हैं वहां अवधि-मरण और आत्यन्तिक-मरण में से कोई एक होता है क्योंकि दोनों परस्पर विरोधी हैं; दूसरा पण्डित-मरण ।

---

१ भगवती २।१। सू० ४० वृत्ति, पत्र २१२ : इङ्गितमरणमभिधीयते तद्भक्तप्रत्याख्यानस्यैव विशेषः ।

२. मूलाराधना, गाथा २९ : पायोपगमण मरणं भत्तपइण्णा य इंगिणी चेव ।
तिविहं पंडियमरणं साहुस्स जहुत्तचारिस्स ॥

३. उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा २२७-२२९ : दुन्नि व तिन्न व चत्तारि पंच मरणाइ अवीइमरणंमि ।
कइ मरइ एगसमयंसि विभासावित्थरं जाणे ॥
सव्वे भवत्थजीवा मरंति आवीइअं सया मरणं ।
ओहिं च आइअंतिय दुन्निवि एयाइ भयणाए ॥
ओहिं च आइअंतिअ बालं तह पंडिअं च मीसं च ।
छउम केवलिमरणं अन्नुन्नेणं विरुज्झंति ॥

(२) जहाँ तीन मरण एक साथ होते हैं, वहाँ छद्मस्थ-मरण और केवलि-मरण में से एक बढ़ जाता है।

(३) जहाँ चार मरण की विवक्षा है, वहाँ भक्त-प्रत्याख्यान, इंगिनी और पादपोपगमन में से एक बढ़ जाता है।

(४) जहाँ पाँच मरण की विवक्षा है, वहाँ वैहायस और गृद्ध-पृष्ठ में से एक मरण बढ़ जाता है।

(ख) शिथिल संयमी पण्डित

(१) जहाँ दो मरण की एक समय में विवक्षा है, वहाँ अवधि और आत्यन्तिक में से एक और किसी कारणवश वैहायस और गृद्धपृष्ठ में से एक।

(२) कथंचित् शल्य-मरण होने से तीन भी हो जाते हैं।

(३) जहाँ वलन्मरण होता है वहाँ एक साथ चार हो जाते हैं।

(४) छद्मस्थ-मरण की जहाँ विवक्षा होती है, वहाँ एक साथ पाँच मरण हो जाते हैं।

भक्त-प्रत्याख्यान, इंगिनी और प्रायोपगमन-मरण विशुद्ध संयम वाले पण्डितों के ही होता है। दोनों प्रकार के पण्डित-मरण की विवक्षा में तद्भव-मरण नहीं लिया गया है, क्योंकि वे देवगति में ही उत्पन्न होते हैं।

बाल-पण्डित की अपेक्षा :

(१) जहाँ दो मरण की एक समय में विवक्षा है, वहाँ अवधि और आत्यन्तिक में से कोई एक और बाल-पण्डित।

(२) तद्भव-मरण साथ होने से तीन मरण।

(३) वशार्त्त-मरण साथ होने से चार मरण।

(४) कथंचित् आत्मघात करने वाले के वैहायस और गृद्ध-पृष्ठ में से एक साथ होने से पाँच[1]।

३—मरण के दो भेद

गोम्मटसार में मरण के दो भेद किये गये हैं—(१) कदलीघात (अकालमृत्यु) और (२) सन्यास। विष-भक्षण, विषैले जीवों के काटने, रक्तक्षय, धातुक्षय, भयंकर वस्तुदर्शन तथा उससे उत्पन्न भय, वस्त्रघात, संक्लेशक्रिया, श्वासोच्छ्वास के अवरोध और आहार न करने से समय में जो शरीर छूटता है, उसे कदलीघात-मरण कहा जाता है। कदलीघात सहित अथवा कदलीघात के बिना जो सन्यास रूप परिणामों से शरीर-त्याग होता है, उसे त्यक्त-शरीर कहते हैं। त्यक्त-शरीर के तीन भेद हैं—(१) भक्त-प्रतिज्ञा, (२) इंगिनी और (३) प्रायोग्य। इनकी व्याख्या इस प्रकार है :—

(१) भक्त-प्रतिज्ञा—भोजन का त्याग कर जो सन्यास मरण किया जाता है, उसे 'भक्त-परिज्ञा-मरण' कहा जाता है। इसके तीन भेद हैं—जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट। जघन्य का कालमान अन्तर्मुहूर्त है, उत्कृष्ट का १२ वर्ष और शेष का मध्यवर्ती।

(२) इंगिनी—अपने शरीर की परिचर्या स्वयं करे, दूसरों से सेवा न ले, इस विधि से जो सन्यास धारण पूर्वक मरण होता है उसे 'इंगिनी-मरण' कहा जाता है।

(३) प्रायोग्य, प्रायोपगमन—अपने शरीर की परिचर्या न स्वयं करे और न दूसरों से कराए, ऐसे सन्यास पूर्वक मरण को प्रायोग्य या प्रायोपगमन-मरण कहा है।[2]

१—उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा २२७-२२९, बृहद् वृत्ति, पत्र २३७-३८।

२—गोम्मटसार (कर्मकाण्ड), गाथा ५७-६१ :

४—मरण के पांच भेद

मूलाराधना में दूसरे प्रकार से भी मरण-विभाग प्राप्त होता है :

१—पण्डित-पण्डित-मरण,

२—पण्डित-मरण,

३—बाल-पण्डित-मरण,

४—बाल-मरण और

५—बाल-बाल-मरण।[1]

प्रस्तुत अध्ययन में मरण के दो प्रकार बतलाये गये हैं। इस अध्ययन का प्रतिपाद्य है अकाम-मृत्यु का परिहार और सकाम-मृत्यु का स्वीकरण।

१. मूलाराधना आश्वास १, गाथा २६ : पंडिदं पंडिदं मरणं पंडिदयं बालपंडिदं चेव।
बालमरणं चउत्थं पंचमयं बालबालं च॥

५—जे गिद्धे काम-भोगेसु
एगे कूडाय गच्छई।
न मे दिट्ठे परे लोए
चक्खु-दिट्ठा इमा रई॥

यो गृद्धः कामभोगेषु
एकः कूटाय गच्छति।
न मया दृष्टः परो लोकः
चक्षुर्दृष्टेयं रतिः॥

५ जो कोई काम-भोगो में आसक्त होता है, उसकी गति मिथ्या-भाषण की ओर हो जाती है। वह कहता है—परलोक तो मैंने देखा नहीं, यह रति (आनन्द) तो चक्षु-दृष्ट है—आँखो के सामने है।

६—हत्थागया इमे कामा
कालिया जे अणागया।
को जाणइ परे लोए
अत्थि वा नत्थि वा पुणो ?॥

हस्तागता इमे कामाः
कालिका येऽनागताः।
को जानाति परो लोकः
अस्ति वा नास्ति वा पुनः ?॥

६—ये काम-भोग हाथ में आए हुए है। भविष्य मे होनेवाले सदिग्ध हैं। कौन जानता है—परलोक है या नही ?

७—जणेण सद्धिं होक्खामि
इइ बाले पगब्भई।
काम-भोगाणुराएणं
केसं संपडिवज्जई॥

"जनेन सार्धं भविष्यामि"
इति बालः प्रगल्भते।
कामभोगानुरागेण
क्लेशं सम्प्रतिपद्यते॥

७—"मैं लोक-समुदाय के साथ रहूंगा" (जो गति उनकी होगी वही मेरी)—ऐसा मानकर बाल-मनुष्य धृष्ट बन जाता है। वह काम-भोग के अनुराग से क्लेश पाता है।

८—तओ से दण्डं समारभई
तसेसु थावरेसु य।
अट्ठाए य अणट्ठाए
भूयग्गामं विहिंसई॥

ततः स दण्डं समारभते
त्रसेषु स्थावरेषु च।
अर्थाय चानर्थाय
भूत-ग्रामं विहिनस्ति॥

८—फिर वह त्रस तथा स्थावर जीवो के प्रति दण्ड का प्रयोग करता है और प्रयोजनवश अथवा बिना प्रयोजन ही प्राणी-समूह की हिंसा करता है।

९—हिंसे बाले मुसावाई
माइल्ले पिसुणे सढे।
भुंजमाणे सुरं मंसं
सेयमेयं ति मन्नई॥

हिंस्रो बालो मृषावादी
मायी पिशुनः शठः।
भुंजानः सुरां मांसं
श्रेय एतदिति मन्यते॥

९—हिंसा करने वाला, झूठ बोलने वाला, छल-कपट करने वाला, चुगली खाने वाला, वेश परिवर्तन कर अपने आपको दूसरे रूप में प्रकट करने वाला अज्ञानी मनुष्य मद्य और मांस का भोग करता है और 'यह श्रेय है'—ऐसा मानता है।

१०—कायसा वयसा मत्ते
वित्ते गिद्धे य इत्थिसु।
दुहओ मलं संचिणइ
सिसुणागु व्व मट्टियं॥

कायेन वचसा मत्तः
वित्ते गृद्धश्च स्त्रीषु।
द्विधामलं संचिनोति
शिशुनाग इव मृत्तिकाम्॥

१०—वह शरीर और वाणी से मत्त होता है। धन और स्त्रियों में गृद्ध होता है। वह राग और द्वेष—दोनों से उसी प्रकार कर्म-मल का संचय करता है जैसे शिशुनाग (अलस या केंचुआ) मुख और शरीर—दोनों से मिट्टी का

पंचमं अज्झयणं : पंचम अध्ययन

अकाम-मरणिज्जं : अकाम-मरणीय

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
१—अण्णवंसि महोहंसि[1] एगे तिण्णे[2] दुरुत्तरं । तत्थ एगे महापन्ने इमं पट्ठमुदाहरे[3] ॥	अर्णवे महौघे एकस्तीर्णो दुरुत्तरे । तत्रैको महाप्रज्ञः इमं स्पष्टमुदाहरेत् ॥	१—इस महा-प्रवाह वाले दुस्तर संसार-समुद्र से कई तिर गए। उनमें एक महाप्राज्ञ (महावीर) ने स्पष्ट कहा—
२—सन्तिमे य[4] दुवे ठाणा अक्खाया मारणन्तिया । अकाम-मरणं चेव सकाम-मरणं तहा ॥	स्त इमे च द्वे स्थाने आख्याते मारणान्तिके । अकाममरणं चैव सकाममरणं तथा ॥	२—मृत्यु के दो स्थान कथित है—अकाम-मरण और सकाम-मरण।
३—बालाणं[5] अकामं तु मरणं असइं भवे । पण्डियाणं सकामं तु उक्कोसेण सइं भवे ॥	बालानामकामं तु मरणमसकृद् भवेत् । पण्डितानां सकामं तु उत्कर्षेण सकृद् भवेत् ॥	३—बाल जीवों के अकाम-मरण बार-बार होता है। पण्डितों के सकाम-मरण उत्कर्षतः एक बार होता है।
४—तत्थिमं पढमं ठाणं महावीरेण देसियं । काम-गिद्धे जहा बाले भिसं कूराइं कुव्वई ॥	तत्रेदं प्रथमं स्थानं महावीरेण देशितम् । काम-गृद्धो यथा बालो भृशं क्रूराणि करोति ॥	४—महावीर ने उन दो स्थानो मे पहला स्थान यह कहा है, जैसे कामासक्त बाल-जीव बहुत क्रूर-कर्म करता है।

१. महोघंसि (बृ० पा०)।
२. तरइ (बृ०, चू०,); तिण्णे (बृ०पा०)।
३. पण्हमुदाहरे (बृ० पा०, चू० पा०, छ०)।
४. सक्कु (चू०); ए (बृ०)।
५. बालाण य (चू०)।

११—तओ पुट्ठो आयंकेणं
गिलाणो परितप्पई ।
पभीओ परलोगस्स
कम्माणुप्पेहि अप्पणो ॥

ततः स्पृष्टः आतंकेन
ग्लानः परितप्यते ।
प्रभीतः परलोकात्
कर्मानुप्रेक्षी आत्मनः ॥

११—फिर वह रोग से स्पृष्ट होने पर ग्लान बना हुआ परिताप करता है । अपने कर्मों का चिन्तन कर परलोक से भयभीत होता है ।

१२—सुया मे नरए ठाणा
असीलाणं च जा गई ।
बालाणं कूर-कम्माणं
पगाढा जत्थ वेयणा ॥

श्रुतानि मया नरके स्थानानि
अशीलानां च या गतिः ।
बालानां क्रूर-कर्मणां
प्रगाढ़ा यत्र वेदनाः ॥

१२—वह सोचता है—मैंने उन नारकीय स्थानों के विषय में सुना है, जो शील रहित तथा क्रूर-कर्म करने वाले अज्ञानी मनुष्यों की अन्तिम गति है और जहाँ प्रगाढ़ वेदना है ।

१३—तत्थोववाइयं ठाणं
जहा मेयमणुस्सुयं ।
आहाकम्मेहिं गच्छन्तो
सो पच्छा परितप्पई ॥

तत्रौपपातिकं स्थानं,
यथा ममैतदनुश्रुतम् ।
यथाकर्मभिर्गच्छन् ,
सः पश्चात् परितप्यते ॥

१३—उन नरकों में जैसा औपपातिक (उत्पन्न होने का) स्थान है, वैसा मैंने सुना है । वह आयुष्य क्षीण होने पर अपने कृत-कर्मों के अनुसार वहाँ जाता हुआ अनुताप करता है ।

१४—जहा सागडिओ जाणं
समं हिच्चा महापहं ।
विसमं मग्गमोइण्णो[1]
'अक्खे भग्गंमि'[2] सोयई ॥

यथा शाकटिको जानन्,
समं हित्वा महापथम् ।
विषमं मार्गमवतीर्णः,
अक्षे भग्ने शोचति ॥

१४—जैसे कोई गाड़ीवान् समतल राज-मार्ग को जानता हुआ भी उसे छोड़कर विषम मार्ग से चल पड़ता है और गाड़ी की धुरी टूट जाने पर शोक करता है ।

१५—एवं धम्मं विउक्कम्म
अहम्मं पडिवज्जिया ।
बाले मच्चु-मुहं पत्ते
अक्खे भग्गे व सोयई ॥

एवं धर्मं व्युत्क्रम्य,
अधर्मं प्रतिपद्य ।
बालः मृत्यु-मुखं प्राप्तः,
अक्षे भग्ने इव शोचति ॥

१५—इसी प्रकार धर्म का उल्लंघन कर, अधर्म को स्वीकार कर, मृत्यु के मुख में पड़ा हुआ अज्ञानी धुरी टूटे हुए गाड़ीवान् की तरह शोक करता है ।

१६—तओ से मरणन्तंमि
बाले सन्तस्सई[3] भया ।
अकाम-मरणं मरई
धुत्ते व कलिना जिए ॥

ततः स मरणान्ते,
बालः संत्रस्यति भयात् ।
अकाम-मरणेन म्रियते,
धूर्त इव कलिना जितः ॥

१६—फिर मरणान्त के समय वह अज्ञानी मनुष्य परलोक के भय से संत्रस्त होता है और एक ही दाव में हार जाने वाले जुआरी की तरह शोक करता हुआ अकाम-मरण से मरता है ।

१. मग्गमोगाढा (चू०); मग्गमोगाढो (बृ० पा०) ।
२. अक्खमग्गंमि (बृ०); अक्खस्स भग्गे (चू०) ।
३. संतसई (चू०) ।

१७—एयं अकाम-मरणं
बालाणं तु पवेइयं ।
एत्तो सकाम-मरणं
पण्डियाणं सुणेह मे ॥

एतदकाम-मरणं,
बालानां तु प्रवेदितम् ।
इतः सकाम-मरणं,
पण्डितानां शृणुत मे ॥

१७—यह अज्ञानियों के अकाम-मरण का प्रतिपादन किया गया है । अब पण्डितों के सकाम-मरण को मुझ से सुनो ।

१८—मरणं पि सपुण्णाणं[1]
जहा मेयमणुस्सुयं ।
विप्पसण्णमणाघायं[2]
संजयाण वुसीमओ ॥

मरणमपि सपुण्यानां,
यथामभैतदनुश्रुतम् ।
विप्रसन्नमनाघातं,
संयतानां वृषीमताम् ॥

१८—जैसा मैंने सुना भी है—पुण्यशाली, संयमी और जितेन्द्रिय पुरुषों का मरण प्रसन्न और आघात रहित होता है ।

१९—न इमं 'सव्वेसु भिक्खूसु'[3]
न इमं सव्वेसुऽगारिसु ।
नाणा-सीला अगारत्था
विसम-सीला य भिक्खुणो ॥

नेदं सर्वेषां भिक्षूणां,
नेदं सर्वेषां अगारिणाम् ।
नानाशीला अगारस्थाः,
विषमशीलाश्च भिक्षवः ॥

१९—यह सकाम-मरण न सब भिक्षुओं को प्राप्त होता है और न सभी गृहस्थों को । क्योंकि गृहस्थ विविध प्रकार के शील वाले होते हैं और भिक्षु भी विषम-शील वाले होते हैं ।

२०—सन्ति एगेहिं भिक्खूहिं
गारत्था संजमुत्तरा ।
गारत्थेहि य सव्वेहिं
साहवो संजमुत्तरा ॥

सन्त्येकेभ्यो भिक्षुभ्यः,
अगारस्थाः संयमोत्तराः ।
अगारस्थेभ्यश्च सर्वेभ्यः,
साधवः संयमोत्तराः ॥

२०—कुछ भिक्षुओं से गृहस्थों का संयम प्रधान होता है । किन्तु साधुओं का संयम सब गृहस्थों से प्रधान होता है ।

२१—चीराजिणं नगिणिणं[4]
जडी-संघाडि-मुण्डिणं ।
एयाणि वि न तायन्ति
दुस्सीलं परियागयं ॥

चीराजिनं नाग्न्यं,
जटित्वं सङ्घाटीमुण्डित्वम् ।
एतान्यपि न त्रायन्ते,
दुःशीलं पर्यागतम् ॥

२१—चीवर, चर्म, नग्नत्व, जटाधारीपन, संघाटी (उत्तरीय वस्त्र) और सिर मुंडाना—ये सब दुष्टशील वाले साधु की रक्षा नहीं करते ।

२२—पिण्डोलए व[5] दुस्सीले
नरगाओ न मुच्चई ।
भिक्खाए वा गिहत्थे वा
सुव्वए कम्मई दिवं ॥

पिण्डावलगो वा दुःशीलो,
नरकान्न मुच्यते ।
भिक्षादो वा गृहस्थो वा,
सुव्रतः क्रामति दिवम् ॥

२२—भिक्षा से जीवन चलाने वाला भी यदि दुःशील हो तो वह नरक से नहीं छूटता । भिक्षु हो या गृहस्थ, यदि वह सुव्रती है तो स्वर्ग में जाता है ।

१. सपुण्णाणं (अ) ।
२. सुपसन्नेहि अक्खाय (बृ० पा०, चू०); सुप्पसन्नमणक्खायं (बृ०); विप्पसण्णमणाघायं (बृ० पा०) ।
३. सव्वेसिं भिक्खूणं (चू०) ।
४. णिगिणिणं (बृ०); णिगिणं (चू०) ।
५. वि० (अ० चू०) ।

२३—अगारि-सामाइयंगाइं
सड्ढी काएण फासए ।
पोसहं दुहओ पक्खं
एगरायं न हावए ॥

**अगारि-सामायिकाङ्गानि,
श्रद्धी कायेन स्पृशति ।
पौषधं द्वयोः पक्षयोः,
एक रात्रं न हापयति ॥**

२३—श्रद्धालु श्रावक गृहस्थ-सामायिक के अंगों का आचरण करे । दोनों पक्षों में किए जाने वाले पौषध को एक दिन-रात के लिए भी न छोड़े ।

२४—एवं सिक्खा-समावन्ने
गिह-वासे[1] वि सुव्वए ।
मुच्चई छवि-पव्वाओ
गच्छे जक्ख-सलोगयं ॥

**एवं शिक्षा-समापन्नः,
गृह-वासेऽपि सुव्रतः ।
मुच्यते छवि-पर्वणः,
गच्छेद् यक्ष-सलोकताम् ॥**

२४—इस प्रकार शिक्षा से समापन्न सुव्रती मनुष्य गृहवास में रहता हुआ भी औदारिक शरीर से मुक्त होकर देवलोक में जाता है ।

२५—अह जे संवुडे भिक्खू
दोण्हं अन्नयरे[2] सिया ।
सव्वदुक्ख-प्पहीणे वा
देवे वावि महड्ढिए ॥

**अथ यः संवृतो भिक्षुः,
द्वयोरन्यतरः स्यात् ।
सर्व दुःख-प्रहीणो वा,
देवो वाऽपि महर्द्धिकः ॥**

२५—जो संवृत-भिक्षु होता है, वह दोनों में से एक होता है—सब दुःखों से मुक्त या महान् ऋद्धि वाला देव ।

२६—उत्तराइं विमोहाइं
जुइमन्ताणुपुव्वसो ।
समाइण्णाइं जक्खेहिं
आवासाइं जसंसिणो ॥

**उत्तरा विमोहाः,
द्युतिमन्तोऽनुपूर्वशः ।
समाकीर्णा यक्षैः,
आवासा यशस्विनः ॥**

२६—देवताओं के आवास क्रमशः उत्तम, मोह रहित, द्युतिमान् और देवों से आकीर्ण होते हैं । उनमें रहने वाले देव यशस्वी—

२७—दीहाउया इड्ढिमन्ता
समिद्धा काम-रूविणो ।
अहुणोववन्न-संकासा
भुज्जो अच्चिमालि-प्पभा ॥

**दीर्घायुषः ऋद्धिमन्तः,
समृद्धाः काम-रूपिणः ।
अधुनोपपन्नसंकाशा,
भूयोऽर्चिमालिप्रभाः ॥**

२७—दीर्घायु, ऋद्धिमान्, दीप्तिमान्, इच्छानुसार रूप धारण करने वाले, अभी उत्पन्न हुए हों—ऐसी कान्ति वाले और सूर्य के समान अति-तेजस्वी होते हैं ।

२८—ताणि ठाणाणि गच्छन्ति
सिक्खित्ता संजमं तवं ।
भिक्खाए वा गिहत्थे वा
जे सन्ति परिनिव्वुडा ॥

**तानि स्थानानि गच्छन्ति,
शिक्षित्वा संयमं तपः ।
भिक्षादा वा गृहस्था वा,
ये सन्ति परिनिर्वृताः ॥**

२८—जो उपशान्त होते हैं, वे संयम और तप का अभ्यास कर उन देव-आवासों में जाते हैं, भले फिर वे भिक्षु हों या गृहस्थ ।

---

१. गिहि-वासे (उ) ।
२. एगयरे (चू०) ।

२९—तेसिं सोच्चा सपुज्जाणं[1]
संजयाण वुसीमओ ।
न संतसन्ति मरणन्ते
सीलवन्ता बहुस्सुया ॥

तेषां श्रुत्वा सत्पूज्यानां,
संयतानां वृषीमताम् ।
न संत्रस्यन्ति मरणान्ते,
शीलवन्तो बहुश्रुताः ॥

२९—उन सत्-पूजनीय, संयमी और जितेन्द्रिय भिक्षुओं का पूर्वोक्त विवरण सुनकर शीलवान् और बहुश्रुत भिक्षु मरणकाल में भी संत्रस्त नहीं होते ।

३०—तुलिया विसेसमादाय
दया-धम्मस्स खन्तिए ।
विप्पसीएज्ज मेहावी
तहा-भूएण अप्पणा ॥

तोलयित्वा विशेषमादाय,
दया-धर्मस्य क्षान्त्या ।
विप्रसीदेन्मेधावी,
तथाभूतेनात्मना ॥

३०—मेधावी मुनि अपने आपको तोल कर, अकाम और सकाम-मरण के भेद को जानकर यति-धर्मोचित सहिष्णुता और तथा-भूत (उपशान्त मोह) आत्मा के द्वारा प्रसन्न रहे—मरण-काल में उद्‌विग्न न बने ।

३१—तओ काले अभिप्पेए
सड्ढी तालिसमन्तिए ।
विणएज्ज लोम-हरिसं
भेयं देहस्स कंखए ॥

ततः काल अभिप्रेते,
श्रद्धी तादृशमन्तिके ।
विनयेल्लोम-हर्षं,
भेदं देहस्य काङ्क्षेत् ॥

३१—जब मरण अभिप्रेत हो, उस समय जिस श्रद्धा से मुनि-धर्म या संलेखना को स्वीकार किया, वैसी ही श्रद्धा रखने वाला भिक्षु गुरु के समीप कष्ट-जनित रोमांच को दूर करे, शरीर के भेद की इच्छा करे—उसकी सार संभाल न करे ।

३२—अह कालंमि संपत्ते
'आघायाय समुस्सयं ।'[2]
सकाम-मरणं मरई
तिण्हमन्नयरं मुणी ॥
—त्ति बेमि ।

अथकाले संप्राप्ते,
आघातयन् समुच्छ्रयम् ।
सकाम-मरणेन म्रियते,
त्रयाणामन्यतरेण मुनिः ॥
—इति ब्रवीमि ।

३२—वह मरण-काल प्राप्त होने पर संलेखना के द्वारा शरीर का त्याग करता है, भक्त-परिज्ञा, इङ्गिनी या प्रायोपगमन—इन तीनों में से किसी एक को स्वीकार कर सकाम-मरण से मरता है ।

—ऐसा मैं कहता हूं ।

---

१. सुपुज्जाणं (चू०) ।
२. सतक्खात समाहितो (चू०) ; आघायाए समुस्सयं (चू० पा०) ।

छट्ठमज्झयणं :
खुड्डागनियंठिज्जं

षष्ठ अध्ययन :
क्षुल्लक निर्ग्रन्थीय

आमुख

इस अध्ययन का नाम 'खुड्डागनियंठिज्जं'—'क्षुल्लक निर्ग्रन्थीय' है। दशवैकालिक के तीसरे अध्ययन का नाम 'खुड्डियायारकहा'—'क्षुल्लकाचार-कथा' और छठे अध्ययन का नाम 'महायारकहा—'महाचार-कथा' है। इनमें क्रमशः मुनि के आचार का संक्षिप्त और विस्तृत निरूपण हुआ है। इसी प्रकार इस अध्ययन में भी निर्ग्रन्थ के बाह्य और आभ्यन्तर ग्रन्थ-त्याग (परिग्रह-त्याग) का संक्षिप्त निरूपण है।[1]

'निर्ग्रन्थ' शब्द जैन-दर्शन का बहुत प्रचलित और बहुत प्राचीन शब्द है। बौद्ध-साहित्य में स्थान-स्थान पर भगवान् महावीर को 'निगण्ठ' (निर्ग्रन्थ) कहा है। तपागच्छ पट्टावली के अनुसार सुधर्मा स्वामी से आठ आचार्यों तक जैनधर्म 'निर्ग्रन्थ-धर्म' के नाम से प्रचलित था।[2] अशोक के एक स्तम्भ-लेख में भी 'निर्ग्रन्थ' का द्योतक 'निघंठ' शब्द प्रयुक्त हुआ है।[3]

अविद्या और दुःख का गहरा सम्बन्ध है। जहाँ अविद्या है वहाँ दुःख है, जहाँ दुःख है वहाँ अविद्या है। पतंजलि के शब्दों में अविद्या का अर्थ है—अनित्य में नित्य की अनुभूति, अशुचि में शुचि की अनुभूति, दुःख में सुख की अनुभूति और अनात्मा में आत्मा की अनुभूति।[4]

सूत्र की भाषा में विद्या का एक पक्ष है सत्य और दूसरा पक्ष है मैत्री—"अप्पणा सच्चमेसेज्जा मेत्तिं भूएसु कप्पए (श्लोक २)।" जो कोरे विद्यावादी या ज्ञानवादी हैं उनकी मान्यता है कि यथार्थ को जान लेना पर्याप्त है, प्रत्याख्यान की कोई आवश्यकता नहीं। क्रिया का आचरण उनकी दृष्टि में व्यर्थ है। किन्तु भगवान् महावीर इसे वाग्वीर्य मानते थे; इसलिए उन्होंने आचरण-शून्य भाषावाद और विद्यानुशासन को अत्राण बतलाया (श्लोक८-१०)।

ग्रन्थ (परिग्रह) को त्राण मानना भी अविद्या है। इसलिए भगवान् महावीर ने कहा—"परिवार त्राण नहीं है", "धन भी त्राण नहीं है" (श्लोक३-५)। और तो क्या अपनी देह भी त्राण नहीं है। साधु देह-मुक्त नहीं होता फिर भी प्रतिपल उसके मन में यह चिन्तन होना चाहिए कि देह-धारण का प्रयोजन पूर्व-कर्मों को क्षीण करना है। लक्ष्य जो है वह बहुत ऊँचा है, इसलिए साधक को नीचे कहीं भी आसक्त नहीं होना चाहिए। उसकी दृष्टि सदा ऊर्ध्वगामी होनी चाहिये (श्लोक १३)। इस प्रकार इस अध्ययन में अध्यात्म की मौलिक विचारणाएँ उपलब्ध हैं।

इस अध्ययन के अन्तिम श्लोक का एक पाठान्तर है। उसके अनुसार इस अध्ययन के प्रज्ञापक भगवान् पार्श्वनाथ हैं।

मूल—

"एवं से उदाहु अणुत्तरनाणी अणुत्तरदंसी अणुत्तरनाणदंसणधरे।
अरहा नायपुत्ते भगवं वेसालिए वियाहिए ॥"

---

१. उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा २४३ : सावज्जगंथमुक्का, अब्भिन्तरबाहिरेण गंथेण। एसा खलु निज्जुत्ती, खुड्डागनियंठसुत्तस्स ॥

२. तपागच्छपट्टावलि (पं० कल्याणविजय संपादित) भाग १, पृष्ठ २५३ : श्री सुधर्मास्वामिनोऽष्टौ सूरीन् यावत् निर्ग्रन्थाः।

३. दिल्ली-टोपरा का सप्तम स्तम्भ लेख : निघंठेसु पि मे कटे (,) इमे वियापटा होहंति।

४. पातंजल योगसूत्र २।५ : अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या।

पाठान्तर—

एवं से उदाहु अरिहा पासे पुरिसादाणीए ।
भगवं वेसालीए बुद्धे परिणिव्वुए ॥ (बृहद् वृत्ति, पत्र २७०)

यद्यपि चूर्णि और टीकाकार ने इस पाठान्तर का अर्थ भी महावीर से सम्बन्धित किया है । 'पास' का अर्थ—'पश्यतीति पाश:' या 'पश्य:' किया है । किन्तु यह संगत नहीं लगता । पुरुषादानीय—यह भगवान् पार्श्वनाथ का सुप्रसिद्ध विशेषण है । इसलिये उसके परिपार्श्व में 'पास' का अर्थ पार्श्व ही होना चाहिये । यद्यपि 'वेसालीय' विशेषण भगवान् महावीर से अधिक सम्बन्धित है फिर भी इसके जो अर्थ किये गए हैं उनकी मर्यादा से वह भगवान् पार्श्व का भी विशेषण हो सकता है ।[1] भगवान् पार्श्व इक्ष्वाकुवंशी थे । उनके गुण विशाल थे और उनका प्रवचन भी विशाल था, इसलिये उनके 'वैशालिक' होने में कोई आपत्ति नहीं आती । इस पाठान्तर के आधार से यह अनुमान किया जा सकता है कि यह अध्ययन मूलत: पार्श्व की परम्परा का रहा हो और इसे उत्तराध्ययन की श्रृंखला में सम्मिलित करते समय इसे महावीर की उपदेश-धारा का रूप दिया गया हो ।

१. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृष्ठ १५६-५७ : गुणा अस्य विशाला इति वैशालीय:, विशालं शासनं वा, विशाले वा इक्ष्वाकुवंशे भवा वैशालिया । "वैशाली जननी यस्य, विशालं कुलमेव च । विशालं प्रवचनं वा, तेन वैशालिको जिन: ॥"

छट्ठमज्झयणं : षष्ठ अध्ययन
खुड्डागनियंठिज्जं : क्षुल्लक निर्ग्रन्थीय

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
१—जावन्तऽविज्जापुरिसा, 'सव्वे ते दुक्खसंभवा।'[1] लुप्पन्ति बहुसो मूढा संसारंमि अणन्तए॥	यावन्तोऽविद्याः पुरुषाः सर्वे ते दुःख-सम्भवाः। लुप्यन्ते बहुशो मूढाः संसारेऽनन्तके॥	१—जितने अविद्यावान् (मिथ्यात्व से अभिभूत) पुरुष हैं, वे सब दुःख को उत्पन्न करने वाले हैं। वे दिङ्मूढ़ की भाँति मूढ़ बने हुए इस अनन्त संसार में बार-बार लुप्त होते हैं।
२—'समिक्ख पंडिए तम्हा'[2] पासजाईपहे बहू। अप्पणा[3] सच्चमेसेज्जा मेत्तिं भूएसु[4] कप्पए॥	समीक्ष्य पण्डितस्तस्मात् पाश-जातिपथान् बहून्। आत्मना सत्यमेषयेत् मैत्रीं भूतेषु कल्पयेत्॥	२—इसलिए पंडित पुरुष प्रचुर पाशों (बन्धनों) व जाति-पथों (चौरासी लाख योनियों) की समीक्षा कर स्वयं सत्य की गवेषणा करे और सब जीवों के प्रति मैत्री का आचरण करे।
३—माया पिया ण्हुसा भाया भज्जा पुत्ता य ओरसा। नालं ते मम ताणाय लुप्पन्तस्स सकम्मुणा॥	माता पिता स्नुषा भ्राता भार्या पुत्राश्चौरसाः। नालं ते मम त्राणाय लुप्यमानस्य स्वकर्मणा॥	३—जब मैं अपने द्वारा किये गये कर्मों से छेदा जाता हूँ, तब माता, पिता, पुत्र-बधू, भाई, पत्नी और औरस पुत्र—ये सभी मेरी रक्षा करने में समर्थ नहीं होते।
४—एयमट्ठं सपेहाए पासे समियदंसणे। छिन्द गेहिं[5] सिणेहं च न कंखे पुव्वसंथवं॥	एतमर्थं स्वप्रेक्षया पश्येत् समित-दर्शनः। छिन्द्याद् गृद्धिं स्नेहं च न काङ्क्षेत् पूर्व-संस्तवम्॥	४—सम्यक्-दर्शन वाला पुरुष अपनी बुद्धि से यह अर्थ देखे, गृद्धि और स्नेह का छेदन करे, पूर्व परिचय की अभिलाषा न करे।

---

१. ते सव्वे दुक्खमज्जिया (नागार्जुनीयाः)।

२. तम्हा समिक्ख मेहावी (चू०, बृ० पा०); समिक्ख पंडिए तम्हा (चू० पा०)।

३. अत्तट्ठा (बृ० पा०)।

४. भूएहिं (चू०)।

५. गेहं (उ)।

५—गवासं मणिकुंडलं
पसवो दासपोरुसं।
सव्वमेयं चइत्ताणं
कामरूवी भविस्ससि ॥

गवाश्वं मणि-कुण्डलं
पशवो दास-पौरुषेयं।
सर्वमेतत् त्यक्त्वा
कामरूपी भविष्यसि ॥

५—गाय, घोड़ा, मणि, कुण्डल, पशु, दास और पुरुष-समूह—इन सबको छोड़। ऐसा करने पर तू काम-रूपी (इच्छानुकूल रूप बनाने में समर्थ) होगा।

[1] [थावरं जंगमं चेव
धणं धण्णं उवक्खरं।
पच्चमाणस्स कम्मेहिं
नालं दुक्खाउ मोयणे ॥]

(स्थावरं जंगमं चैव
धनं धान्यमुपस्करम्।
पच्यमानस्य कर्मभिः
नालं दुःखान्मोचने ॥)

(चल और अचल संपत्ति, धन, धान्य और गृहोपकरण—ये सभी पदार्थ कर्मों से दुःख पाते हुए प्राणी को दुःख से मुक्त करने में समर्थ नहीं होते हैं।

६—अज्झत्थं सव्वओ सव्वं
दिस्स पाणे पियायए।
'न हणे पाणिणो पाणे'[2]
भयवेराओ उवरए ॥

अध्यात्मं सर्वतः सर्वं
दृष्ट्वा प्राणान्प्रियायुषः।
न हन्यात्प्राणिनः प्राणान्
भय-वैरादुपरतः ॥

६—सब दिशाओं से होने वाला सब प्रकार का अध्यात्म (सुख) जैसे मुझे इष्ट है, वैसे ही दूसरों को इष्ट है और सब प्राणियों को अपना जीवन प्रिय है—यह देखकर भय और वैर से उपरत पुरुष प्राणियों के प्राणों का घात न करे।

७—आयाणं नरयं दिस्स
नायएज्ज तणामवि।
'दोगुंछी[3] अप्पणो पाए'[4]
दिन्नं भुंजेज्ज भोयणं ॥

आदानं नरकं दृष्ट्वा
नाददीत तृणमपि।
जुगुप्सी आत्मनः पात्रे
दत्तं भुंजीत भोजनम् ॥

७—"परिग्रह नरक है"—यह देखकर वह एक तिनके को भी अपना बनाकर न रखे (अथवा "अदत्त का आदान नरक है"—यह देखकर बिना दिया हुआ एक तिनका भी न ले)। असंयम से जुगुप्सा करने वाला मुनि अपने पात्र में गृहस्थ द्वारा प्रदत्त भोजन करे।

८—इहमेगे उ मन्नन्ति
अप्पच्चक्खाय पावगं।
आयरियं[5] विदित्ताणं
सव्वदुक्खा विमुच्चई ॥

इहैके तु मन्यन्ते
अप्रत्याख्याय पापकम्।
आचरितं विदित्वा
सर्व-दुःखाद् विमुच्यते ॥

८—इस संसार में कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि पापों का त्याग किये बिना ही आचार को जानने मात्र से जीव सब दुःखों से मुक्त हो जाता है।

९—भणन्ता अकरेन्ता य
बन्धमोक्खपइण्णिणो।
वायाविरियमेत्तेण
समासासेन्ति अप्पयं ॥

भणन्तोऽकुर्वन्तश्च
बन्धमोक्ष-प्रतिज्ञावन्तः।
वाग्-वीर्य-मात्रेण
समाश्वासयन्त्यात्मानम् ॥

९—"ज्ञान से ही मोक्ष होता है"—जो ऐसा कहते हैं, पर उसके लिए कोई क्रिया नहीं करते, वे केवल बन्ध और मोक्ष के सिद्धान्त की स्थापना करने वाले हैं। वे केवल वाणी की वीरता से अपने आपको आश्वासन देने वाले हैं।

१. यह श्लोक चूर्णि व टीका में व्याख्यात नहीं है।
२. नो हिंसेज पाणिणं पाणे (चू०); नो हणे पाणिणं पाणे (बृ० पा०)।
३. दोगंछी (बृ०)।
४. अप्पणो पाणिपाते (चू० पा०)।
५. आयारियं (बृ० पा०, उ० सु०)।

१०—न चित्ता तायए भासा
कओ विज्जाणुसासणं ?
विसन्ना पावकम्मेहिं[1]
बाला पंडियमाणिणो ॥

न चित्रा त्रायते भाषा
कुतो विद्यानुशासनम् ?
विषण्णाः पाप-कर्मभिः
बालाः पण्डित-मानिनः ॥

१०—विविध भाषाएँ त्राण नहीं होतीं। विद्या का अनुशासन भी कहाँ त्राण देता है ? (जो इनको त्राण मानते हैं वे) अपने आपको पण्डित मानने वाले अज्ञानी मनुष्य विविध प्रकार से पाप-कर्मों में डूबे हुए हैं।

११—जे केई सरीरे सत्ता
वण्णे रूवे य सव्वसो।
'मणसा कायवक्केणं'[2]
सव्वे ते दुक्खसंभवा ॥

ये केचित् शरीरे सक्ताः
वर्णे रूपे च सर्वशः।
मनसा काय-वाक्येन
सर्वे ते दुःखसंभावाः ॥

११—जो कोई मन, वचन और काया से शरीर, वर्ण और रूप में सर्वशः आसक्त होते हैं, वे सभी अपने लिए दुःख उत्पन्न करते हैं।

१२—आवन्ना दीहमद्धाणं
संसारंमि अणंतए।
तम्हा सव्वदिसं पस्स
अप्पमत्तो परिव्वए ॥

आपन्ना दीर्घमध्वानं
संसारेऽनन्तके।
तस्मात् सर्व दिशो दृष्ट्वा
अप्रमत्तः परिव्रजेत् ॥

१२—वे इस अनन्त संसार में जन्म-मरण के लम्बे मार्ग को प्राप्त किए हुए हैं। इसलिए सब दिशाओं (उत्पत्ति स्थानों) को देखकर मुनि अप्रमत्त होकर विचरे।

१३—बहिया उड्ढमादाय
नावकंखे कयाइ वि।
पुव्वकम्मखयट्ठाए
इमं देहं समुद्धरे ॥

बहिरूर्ध्वमादाय
नावकाङ्क्षेत् कदाचिदपि।
पूर्वकर्मक्षयार्थं
इमं देहं समुद्धरेत् ॥

१३—ऊर्ध्वलक्षी होकर कभी भी बाह्य (विषयों) की आकांक्षा न करे। पूर्व कर्मों के क्षय के लिए ही इस शरीर को धारण करे।

१४—विविच्च[3] कम्मुणो हेउं
कालकंखी परिव्वए।
मायं पिंडस्स पाणस्स
कडं लद्धूण भक्खए ॥

विविच्य कर्मणो हेतुं
कालकांक्षी परिव्रजेत्।
मात्रां पिण्डस्य पानस्य
कृतं लब्ध्वा भक्षयेत् ॥

१४—कर्म के हेतुओं को दूर कर मुनि समयज्ञ होकर विचरे। संयम-निर्वाह के लिए आहार और पानी की जितनी मात्रा आवश्यक हो, उतनी गृहस्थ के घर में सहज निष्पन्न प्राप्त कर भोजन करे।

१५—सन्निहिं च न कुव्वेज्जा
लेवमायाए संजए।
पक्खी पत्तं समादाय
निरवेक्खो[4] परिव्वए ॥

सन्निधिं च न कुर्वीत
लेप-मात्रया संयतः।
पक्षी पात्रं समादाय
निरपेक्षः परिव्रजेत् ॥

१५—संयमी मुनि लेप लगे उतना भी संग्रह न करे—बासी न रखे। पक्षी की भाँति कल की अपेक्षा न रखता हुआ पात्र लेकर भिक्षा के लिए पर्यटन करे।

---

१. पावकिच्चेहिं (बृ० पा०)।
२. मणसा वयसा चेव (चू०, बृ); मणसा कायवक्केणं (बृ० पा०)।
३. विगिंच (अ, आ, इ, उ, बृ० पा०)।
४. निरपेक्खी (चू०)।

१६—एसणासमिओ लज्जू
गामे अणियओ चरे ।
अप्पमत्तो पमत्तेहिं
पिंडवायं गवेसए ॥

एषणा-समितो लज्जावान्
ग्रामेऽनियतश्चरेत् ।
अप्रमत्तः प्रमत्तेभ्यः
पिण्डपातं गवेषयेत् ॥

१६—एषणा-समिति से युक्त और लज्जावान् मुनि गाँवों में अनियत विहार करे । वह अप्रमत्त रहकर गृहस्थों से पिण्डपात की गवेषणा करे ।

१७—'एवं से उदाहु अणुत्तरनाणी
अणुत्तरदंसी अणुत्तरनाणदंसणधरे ।
अरहा नायपुत्ते
भगवं वेसालिए वियाहिए ॥'[1]
—त्ति बेमि ।

एवं स उदाहृतवान् अनुत्तरज्ञानी
अनुत्तरदर्शी अनुत्तरज्ञानदर्शनधरः ।
अर्हन् ज्ञातपुत्रः
भगवान् वैशालिको व्याख्याता ॥
—इति ब्रवीमि

१७—अनुत्तर-ज्ञानी, अनुत्तर-दर्शी, अनुत्तर-ज्ञान-दर्शन-धारी, अर्हन्, ज्ञातपुत्र, वैशालिक और व्याख्याता भगवान् ने ऐसा कहा है ।

—ऐसा मैं कहता हूँ ।

---

१. एवं से उदाहु अरहा पासे पुरिसादाणीए ।
भगवंते वेसालिए बुद्धे परिनिव्वुडे ॥ (बृ० पा०, चू० पा०) ।

सत्तमं अज्झयणं :
उरब्भिज्जं

सप्तम अध्ययन :
उरभ्रीय

आमुख

इस अध्ययन का नामकरण इसके प्रारम्भ में प्रतिपादित 'उरभ्र' के दृष्टान्त के आधार पर हुआ है।

समवायांग (समवाय ३६) तथा उत्तराध्ययन निर्युक्ति में[1] इसका नाम 'उरब्भिज्जं' है। किन्तु अनुयोग-द्वार (सूत्र १३०) में इसका नाम 'एलइज्ज' है। मूल पाठ (श्लोक १) में 'एलयं' शब्द का ही प्रयोग हुआ है 'उरभ्र' का नहीं। उरभ्र और एलक—ये दोनों पर्यायवाची शब्द हैं, इसलिए ये दोनों नाम प्रचलित रहे हैं।

श्रामण्य का आधार अनासक्ति है। जो विषय-वासना में आसक्त होता है, वह कभी दुःखों से मुक्त नहीं हो सकता। विषयानुगृद्धि में रसासक्ति का भी प्रमुख स्थान है। जो रसनेन्द्रिय पर विजय पा लेता है, वह अन्यान्य विषयों को भी सहजतया वश में कर लेता है। इस कथन को सूत्रकार ने दृष्टान्त से समझाया है। प्रथम चार श्लोकों में दृष्टान्त के संकेत दिए गए हैं। टीकाकार ने 'सम्प्रदायादवसेयम्' ऐसा उल्लेख कर उसका विस्तार किया है :

एक सेठ था। उसके पास एक गाय, गाय का बछड़ा और एक मेंढा था। वह मेंढे को खूब खिलाता-पिलाता। उसे प्रतिदिन स्नान कराता, शरीर पर हल्दी आदि का लेप करता। सेठ के पुत्र उससे नाना प्रकार की क्रीड़ा करते। कुछ ही दिनों में वह स्थूल हो गया। बछड़ा प्रतिदिन यह देखता और मन ही मन यह सोचता कि मेंढे का इतना लालन-पालन क्यों हो रहा है? सेठ का हम पर इतना प्यार क्यों नहीं है? मेंढे को खाने के लिए जौ देता है और हमें सूखी घास। यह अन्तर क्यों? इन विचारों से उसका मन उदास हो गया। उसने स्तन-पान करना छोड़ दिया। उसकी माँ ने इसका कारण पूछा। उसने कहा—"माँ! यह मेंढा पुत्र की तरह लालित-पालित होता है। उसे बढ़िया भोजन दिया जाता है। विशेष अलंकारों से उसे अलंकृत किया जाता है। और एक मैं हूँ मन्द-भाग्य कि कोई भी मेरी परवाह नहीं करता। सूखी घास चरता हूँ और वह भी भरपेट नहीं मिलती। समय पर पानी भी नहीं मिलता। कोई मेरा लालन-पालन नहीं करता। ऐसा क्यों है माँ?"

माँ ने कहा—

"आउरचिन्नाइं एयाइं, जाइं चरइ नंदिओ।
सुक्कत्तणेहिं लाढाहि, एयं दीहाउलक्खणं॥ (उत्त० नि० गा० २४६)

"वत्स! तू नहीं जानता। मेंढा जो कुछ खा रहा है, वह आतुर-लक्षण है। आतुर (मरणासन्न) प्राणी को पथ्य और अपथ्य जो कुछ वह चाहता है, दिया जाता है। सूखी घास खाकर जीना दीर्घायु का लक्षण है। इस मेंढे का मरण-काल सन्निकट है।"

कुछ दिन बीते। सेठ के घर मेहमान आए। बछड़े के देखते-देखते मोटे-ताजे मेंढे के गले पर छुरी चली और उसका मांस पकाकर मेहमानों को परोसा गया। बछड़े का दिल भय से भर गया। उसने खाना-पीना छोड़ दिया। माँ ने कारण पूछा। बछड़े ने कहा—"माँ! जिस प्रकार मेंढा मारा गया क्या मैं भी मारा जाऊँगा?" माँ ने

---

१. उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा २४६ :
उरभाउणामगोयं, वेयंतो भावओ उ ओरब्भो।
तत्तो समुट्ठियमिणं, उरब्भिज्जम्मि अज्झयणं॥

कहा—"वत्स ! यह भय वृथा है । जो रस-गृद्ध होता है, उसे उसका फल भी भोगना पड़ता है । तू सूखी घास चरता है, अत: तुझे ऐसा कटु विपाक नहीं सहना पड़ेगा ।"[1]

इसी प्रकार हिंसक, अज्ञ, मृषावादी, मार्ग में लूटने वाला, चोर, मायावी, चुराने की कल्पना में व्यस्त, शठ, स्त्री और विषयों में गृद्ध, महाआरम्भ और महापरिग्रह वाला, सुरा और मांस का उपभोग करने वाला, दूसरों का दमन करने वाला, बकरे की तरह कर-कर शब्द करते हुए मांस खाने वाला, तोंद वाला और उपचित रक्त वाला व्यक्ति उसी प्रकार नरक के आयुष्य की आकांक्षा करता है जिस प्रकार मेमना पाहुने की । (श्लोक ५-७)

भगवान् महावीर ने कहा—"अल्प के लिए बहुत को मत खोओ । जो ऐसा करता है, वह पीछे पश्चात्ताप करता है ।" इसी भावना को सूत्रकार ने दो दृष्टान्तों से समझाया है :

(१) एक द्रमक था । उसने भीख मांग-मांग कर एक हजार कार्षापण एकत्रित किए । एक बार वह उन्हें साथ ले एक सार्थवाह के साथ अपने घर की ओर चला । रास्ते में भोजन के लिए उसने एक कार्षापण को काकिणियों में बदलाया और प्रतिदिन कुछ काकिणियों को खर्च कर भोजन लेता रहा । कई दिन बीते । उसके पास एक काकिणी शेष बची । उसे वह एक स्थान पर भूल आया । कुछ दूर जाने पर उसे वह काकिणी याद आ गई । अपने पास के कार्षापणों की नौली को एक स्थान पर गाड़ उसे लाने दौड़ा । परन्तु वह काकिणी किसी दूसरे के हाथों पड़ गई । उसे बिना प्राप्त किए लौटा तब तक एक व्यक्ति उस नौली को लेकर भाग गया । वह लुट गया । ज्यों-त्यों वह घर पहुँचा और पश्चात्ताप में डूब गया ।[2]

(२) एक राजा था । वह आम बहुत खाता था । उसे आम का अजीर्ण हुआ । वैद्य आए । चिकित्सा की । वह स्वस्थ हो गया । वैद्यों ने कहा—"राजन् ! यदि तुम पुनः आम खाओगे तो जीवित नहीं बचोगे ।" उसने अपने राज्य के सारे आम्र के वृक्ष उखड़वा दिए । एक बार वह अपने मन्त्री के साथ अश्व-क्रीड़ा के लिए निकला । अश्व बहुत दूर निकल गया । वह थक कर एक स्थान पर रुका । वहाँ आम के बहुत वृक्ष थे । मंत्री के निषेध करने पर भी राजा एक आम्र वृक्ष के नीचे विश्राम करने के लिए बैठा । वहाँ अनेक फल गिरे पड़े थे । राजा ने उन्हें छुआ

---

१. बृहद् वृत्ति पत्र २७२-७४ :

जहेगो ऊरणगो पाहुणयणिमित्तं पोसिज्जति, सो पीणियसरीरो ण्हातो हलिद्दाविकयंगरागो कयकण्णचूलतो कुमारगा य तं णाणाविहेहिं कीलाविसेसेहिं कीलावेंति, तं च वच्छगो एवं लालिज्जमाणं दट्ठूण माऊए णेहेण य गोवियं दोहएण य तयणुकंपाए मुक्कमवि खीरं ण पिबति रोसेणं, ताए पुच्छिओ भणति—अम्मो ! एस णंदियगो सव्वेहिं एएहिं अम्हसामिसालेहिं अन्नेहिं जवसजोगासणेहिं तदुवओगेहिं य अलंकारविसेसेहिं अलंकारितो पुत्त इव परिपालिज्जति, अहं तु मंदभग्गो छगाणि तणावि काहेवि लभामि, ताणिवि ण पज्जत्तगाणि, एवं पाणियंपि, ण य मं कोऽवि लालेति । ताए भणति—पुत्त ! जहा आउरो मरिउकामो जं मग्गति पत्थं वा अपत्थं वा तं दिज्जति से, एवं सो णंदितो मारिज्जिहिति जदा तदा पेच्छिहिसि । ततो सो वच्छगो तं णंदियगं पाहुणगेसु आगएसु वधिज्जमाणं दट्ठुं तिसिलोऽवि भएणं माऊए थणं णाभिलसति, ताए भणति—किं पुत्त ! भयभीतोऽसि ?, णेहेण पण्हुयंपि मं ण पियसि, तेण भणइ—अम्म ! कतो मे थणा भिलासो ?, णणु सो वरातो णंदितो अज्ज केहिवि पाहुणएहिं आगएहिं ममं अग्गतो विणिग्गयजीहो विलोलनयणो विस्सरं रसंतो अत्ताणो असरणो मारितो, तब्भयातो कतो मे पाउमिच्छा ?, ततो ताए भणति—पुत्त ! णणु तदा चेव ते कहियं, जहा—'आउरचिण्णाइं ··· दीहाउलक्खणं', एस तेसिं विवागो अणुपत्तो ।

२. वही, पत्र २७६ :

एगो दमगो, तेण वित्तिं करेंतेण सहस्सं काहावणाण अज्जियं, सो य तं गहाय सत्थेण समं सगिहं पत्थितो, तेण भत्तणिमित्तं रूवगो कागिणीहिं भिन्नो, ततो दिणे दिणे कागिणीए भुंजति, तस्स य अवसेसा एगा कागणी, सा विस्सारिया, सत्थे पहाविए सो चिंतेति—मा मे रूवगो भिंदियव्वो होहित्ति णउलगं एगत्थ गोवेउं कागिणीणिमित्तं णियत्तो, सावि कागिणी अन्नेण हडा, सोऽवि णउलतो अण्णेण दिट्ठो ठविज्जंतो, सोवि तं घेत्तूण णट्ठो, पच्छा सो घरं गतो सोयति ।

और सूँघा तथा खाने की इच्छा व्यक्त की। मंत्री ने निषेध किया पर राजा नहीं माना। उसने भरपेट आम खाए। उसकी तत्काल मृत्यु हो गई।[1]

इसी प्रकार जो मनुष्य मानवीय काम-भोगों में आसक्त हो, थोड़े से सुख के लिए मनुष्य-जन्म गँवा देता है वह शाश्वत सुखों को हार जाता है। देवताओं के काम-भोगों के समक्ष मनुष्य के काम-भोग तुच्छ और अल्पकालीन हैं। दोनों के काम-भोगों में आकाश-पाताल का अन्तर है। मनुष्य के काम-भोग कुश के अग्रभाग पर टिके जल-बिन्दु के समान हैं और देवताओं के काम-भोग समुद्र के अपरिमेय जल के समान हैं (श्लोक २३)। अत: मानवीय काम-भोगों मे आसक्त नहीं होना चाहिए।

जो मनुष्य है और अगले जन्म में भी मनुष्य हो जाता है, वह मूल पूँजी की सुरक्षा है। जो मनुष्य-जन्म में अध्यात्म का आचरण कर आत्मा को पवित्र बनाता जाता है, वह मूल को बढ़ाता है। जो विषय-वासना में फँसकर मनुष्य जीवन को हार देता है—तिर्यंच या नरक मे चला जाता है—वह मूल को भी गँवा देता है (श्लोक १५)। इस आशय को सूत्रकार ने निम्न व्यावहारिक दृष्टान्त से समझाया है :

एक बनिया था। उसके तीन पुत्र थे। उसने तीनों को एक-एक हजार कार्षापण देते हुए कहा—"इनसे तुम तीनों व्यापार करो और अमुक समय के बाद अपनी-अपनी पूंजी लेकर मेरे पास आओ।" पिता का आदेश पा तीनों पुत्र व्यापार के लिए निकले। वे एक नगर में पहुँचे और तीनों अलग-अलग स्थानों पर ठहरे। एक पुत्र ने व्यापार आरम्भ किया। वह सादगी से रहता और भोजन आदि पर कम खर्च कर धन एकत्रित करता। इससे उसके पास बहुत धन एकत्रित हो गया। दूसरे पुत्र ने भी व्यापार आरम्भ किया। जो लाभ होता उसको वह भोजन, मकान, वस्त्र आदि मे खर्च कर देता। इससे वह धन एकत्रित न कर सका। तीसरे पुत्र ने व्यापार नहीं किया। उसने अपने शरीर-पोषण और व्यसनों में सारा धन गँवा डाला।

तीनों पुत्र यथासमय घर पहुँचे। पिता ने सारा वृत्तान्त पूछा। जिसने अपनी मूल पूँजी गँवा डाली थी, उसे नौकर के स्थान पर नियुक्त किया, जिसने मूल की सुरक्षा की थी, उसे गृह का काम-काज सौंपा और जिसने मूल को बढ़ाया था, उसे गृहस्वामी बना डाला।[2]

मनुष्य-भव मूल पूँजी है। देवगति उसका लाभ है और नरकगति उसका छेदन है।

---

१ बृहद् वृत्ति, पत्र २७७ :
जहा कस्सइ रण्णो अंबाजिण्णेण विसूइया जाया, सा तस्स वेज्जेहि महता जत्तेण तिगिच्छया, भणितो य—जदि पुणो अंबाणि खासि तो विणस्सति, तस्स य अतीव पीयाणि अंबाणि, तेण सदेसे सव्वे अंबा उच्छादिया। अण्णया अस्सवाहणियाए णिग्गतो सह अमच्चेण, अस्सेण अवहरिओ, अस्सो दूरं गंतूण परिस्संतो ठितो, एगंमि वणसंडे चूयच्छायाते अमच्चेण वारिज्जमाणोऽवि णिविट्ठो, तस्स य हेट्ठं अंबाणि पडियाणि, सो ताणि परामुसति, पच्छा अग्घाति, पच्छा चक्खिउं णिद्धुहति, अमच्चो वारेइ, पच्छा भक्खेउं मतो।

२. वही, पत्र २७८-९ : जहा एगस्स वाणियगस्स तिन्नि पुत्ता, तेण तेसिं सहस्सं सहस्सं दिन्नं काहावणाणं भणिया य—एएण ववहरिऊण एत्तिएण कालेण एज्जाह, ते तं मूलं घेत्तूण णिग्गया सणगरातो, पिर्थप्पिथेसु पट्टणेसु ठिया, तत्थेगो भोयणच्छायणवज्जं जूयमज्जमंसवेसावसणविरहितो विहीए ववहरमाणो विपुललाभसमन्नितो जातो, बितितो पुण मूलमवि दव्वंतो लाभगं भोयणच्छायणमल्लालंकारादिसु उवभुंजति, ण य अच्चादरेण ववहरति, ततितो न किंचि संववहरति, केवलं जूयमज्जमंसवेसगंधमल्लतंबोलसरीरकियासु अप्पेणेव कालेण तं दव्वं णिट्ठवियंति, जहावहिकालस्स सपुरमागया। तत्थ जो छिन्नमूलो सो सव्वस्स असामी जातो, पेसए उवचरिज्जति, बितितो घरवावारे णिउत्तो भत्तपाणसंतुट्ठो ण दायव्वभोत्तव्वेसु ववसायति, ततितो घरवित्थरस्स सामी जातो।

इस अध्ययन में पाँच दृष्टान्तों का निरूपण हुआ है।[1] उनका प्रतिपाद्य भिन्न-भिन्न है। प्रथम (उरभ्र) दृष्टान्त विषय-भोगों के कटु-विपाक का दर्शन है (श्लोक १ से लेकर १० तक)। दूसरे और तीसरे (काकिणी और आम्रफल) दृष्टान्तों का विषय देव-भोगों के सामने मानवीय-भोगों की तुच्छता का दर्शन है (श्लोक ११ से लेकर १३ तक)। चौथे (व्यवहार) दृष्टान्त का विषय आय-व्यय के विषय में कुशलता का दर्शन है (श्लोक १४ से २२ तक)। पाँचवे (सागर) दृष्टान्त का विषय आय-व्यय की तुलना का दर्शन है (श्लोक २३ से २४ तक)।

इस प्रकार इस अध्ययन में दृष्टान्त शैली से गहन तत्त्व की बड़ी सरस अभिव्यक्ति हुई है।

१. उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा २४७ : ओरब्भे अ कागिणी, अंबए अ ववहार सागरे चेव।
पंचेए दिट्ठंता, उरब्भिज्जंमि अज्झयणे॥

सत्तमं अज्झयणं : सप्तम अध्ययन

उरब्भिज्जं : उरभ्रीयम्

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
१—जहाएसं समुद्दिस्स कोइ पोसेज्ज एलयं । ओयणं 'जवसं देज्जा'[1] पोसेज्जा 'वि सयंगणे'[2] ॥	यथादेशं समुद्दिश्य कोऽपि पोषयेदेडकम् । ओदनं यवसं दद्यात् पोषयेदपि स्वकाङ्गणे ॥	१—जैसे पाहुने के उद्देश्य से कोई मेमने का पोषण करता है। उसे चावल, मूँग, उड़द आदि खिलाता है और अपने आँगन में ही पालता है।
२—तओ से पुट्ठे परिवूढे जायमेए महोदरे । पीणिए विउले देहे आएसं परिकंखए[3] ॥	ततः स पुष्टः परिवृढः जातमेदाः महोदरः । प्रीणितो विपुले देहे आदेशं परिकाङ्क्षति ॥	२—इस प्रकार वह पुष्ट, बलवान्, मोटा, बड़े पेट वाला, तृप्त और विपुल देह वाला होकर पाहुने की आकाङ्क्षा करता है।
३—जाव न एइ[4] आएसे ताव जीवइ से दुही । अह पत्तंमि आएसे सीसं छेत्तूण भुज्जई ॥	यावन्नेत्यादेशः तावज्जीवति सोऽदुःखी । अथ प्राप्त आदेशे शीर्षं छित्त्वा भुज्यते ॥	३—जब तक पाहुना नहीं आता है तब तक ही वह बेचारा जीता है। पाहुने के आने पर उसका सिर छेदकर उसे खा जाते हैं।
४—जहा खलु से उरब्भे आएसाए समीहिए । एवं बाले अहम्मिट्ठे ईहई नरयाउयं ॥	यथा खलु स उरभ्रः आदेशाय समीहितः । एवं बालोऽधर्मिष्ठः ईहते नरकायुष्कम् ॥	४—जैसे पाहुने के लिए निश्चित किया हुआ वह मेमना यथार्थ में उसकी आकाङ्क्षा करता है, वैसे ही अधर्मिष्ठ अज्ञानी जीव यथार्थ में नरक के आयुष्य की इच्छा करता है।

१. जवसे देति (चू०) ।
२. विसयंगणे (बृ० पा०, चू०) ।
३. पडि० (बृ०); परि० (बृ०पा०) ।
४. एज्जति (चू०) ।

५—हिंसे बाले[1] मुसावाई
अद्धाणंमि विलोवए ।
अन्नदत्तहरे तेणे[2]
माई कण्हुहरे[3] सढे ॥

हिंस्रो बालो मृषावादी
अध्वनि विलोपकः ।
अन्यदत्तहरः स्तेनः
मायीकुतोहरः शठः ॥

५—हिंसक, अज्ञ, मृषावादी, मार्ग में लूटने वाला, दूसरों की दी हुई वस्तु का बीच में ही हरण करने वाला, चोर, मायावी, चुराने की कल्पना मे व्यस्त (किसका धन हरण करूंगा—ऐसे अध्यवसाय वाला), शठ,

६—इत्थीविसयगिद्धे य
महारंभपरिग्गहे ।
भुंजमाणे सुरं मंसं
परिवूढे परंदमे ॥

स्त्री-विषय-गृद्धश्च
महारम्भ-परिग्रहः ।
भुञ्जानः सुरां मांसं
परिवृढः परन्दमः ॥

६—स्त्री और विषयों में गृद्ध, महाआरंभ और महापरिग्रह वाला, सुरा और मांस का उपभोग करने वाला, बलवान्, दूसरों का दमन करने वाला,

७—अयकक्करभोई य
तुंदिल्ले चियलोहिए[4] ।
आउयं नरए कंखे
जहाएसं व एलए ॥

अजकर्कर- भोजी च
तुन्दिलः चित्तलोहितः ।
आयुर्नरके काङ्क्षति
यथाऽऽदेशमिव एडकः ॥

७—बकरे की भाँति कर-कर शब्द करते हुए मांस को खाने वाला, तोंद वाला और उपचित लोही वाला व्यक्ति उसी प्रकार नरक के आयुष्य की आकाङ्क्षा करता है, जिस प्रकार मेमना पाहुने की ।

८—आसणं सयणं जाणं
वित्तं कामे य भुंजिया ।
दुस्साहडं धणं हिच्चा
बहुं संचिणिया रयं ॥

आसनं शयनं यानं
वित्तं कामांश्च भुक्त्वा ।
दुःसंहृतं धनं हित्वा
बहु संचित्य रजः ॥

८—आसन, शय्या, यान, धन और काम-विषयों को भोगकर, दुःख से एकत्रित किये हुए धन को द्यूत आदि के द्वारा गँवाकर, बहुत कर्मों को संचित कर—

९—तओ कम्मगुरू जन्तू
पच्चुप्पन्नपरायणे[5] ।
अय व्व आगयाएसे
मरणन्तंमि सोयई ॥

ततः कर्मगुरुर्जन्तुः
प्रत्युत्पन्नपरायणः ।
अज इव आगते आदेशे
मरणान्ते शोचति ॥

९—कर्मों से भारी बना हुआ, केवल वर्तमान को ही देखने वाला जीव मरणान्त-काल में उसी प्रकार शोक करता है जिस प्रकार पाहुने के आने पर मेमना ।

१०—तओ आउपरिक्खीणे
'चुया देहा'[6] विहिंसगा[7] ।
आसुरियं दिसं बाला[8]
'गच्छन्ति अवसा'[9] तमं ॥

तत आयुषि परिक्षीणे
च्युताः देहाद् विहिंसकाः
आसुरीयां दिशं बालाः
गच्छन्ति अवशाः तमः ॥

१०—फिर आयु क्षीण होने पर वे नाना प्रकार की हिंसा करने वाले कर्मवशवर्ती अज्ञानी जीव देह से च्युत होकर अन्धकारपूर्ण आसुरीय दिशा (नरक) की ओर जाते हैं ।

१. कोही (बृ० पा०) ।
२. बाले (बृ०); तेणे (बृ० पा०) ।
३. किन्नुहरे (चू०); कन्नुहरे (छ०) ।
४. ०सोणिए (उ, ऋ०) ।
५. ०पलज्जणे (चू०) ।
६. चुओदेहा (बृ०); चुयदेहो (बृ० पा०) ।
७. विहिंसगो (बृ०) ।
८. बालो (बृ०) ।
९. गच्छइ अवसो (बृ०) ।

११—जहा कागिणिए हेउं
सहस्सं हारए नरो।
अपत्थं अम्बगं भोच्चा
राया रज्जं तु हारए॥

यथा काकिण्या हेतोः
सहस्रं हारयेन्नरः।
अपथ्यमाम्रकं भुक्त्वा
राजा राज्यं तु हारयेत्॥

११—जैसे कोई मनुष्य काकिणी के लिए हजार (कार्षापण) गँवा देता है, जैसे कोई राजा अपथ्य आम को खाकर राज्य से हाथ धो बैठता है, वैसे ही जो व्यक्ति मानवीय भोगों में आसक्त होता है, वह दैवी भोगों को हार जाता है।

१२—एवं माणुस्सगा कामा
देवकामाण अन्तिए।
सहस्सगुणिया भुज्जो
आउं कामा य[1] दिव्विया॥

एवं मानुष्यकाः कामाः
देवकामानामन्तिके।
सहस्र-गुणिता भूयः
आयुः कामाश्च दिव्यकाः॥

१२—दैवी भोगों की तुलना में मनुष्य के काम-भोग उतने ही नगण्य हैं जितने कि हजार कार्षापणों की तुलना में एक काकिणी और राज्य की तुलना मे एक आम। दिव्य आयु और दिव्य काम-भोग मनुष्य की आयु और काम-भोगों से हजार गुना अधिक हैं।

१३—अणेगवासानउया
जा सा पन्नवओ ठिई।
जाणि जीयन्ति[2] दुम्मेहा
ऊणे वाससयाउए॥

अनेकवर्ष-नयुतानि
या सा प्रज्ञावतः स्थितिः।
यानि जीयन्ते दुर्मेधसः
ऊने वर्षशतायुषि॥

१३—प्रज्ञावान् पुरुष की देवलोक में अनेक वर्ष नयुत (असंख्यकाल) की स्थिति होती है—यह ज्ञात होने पर भी मूर्ख मनुष्य सौ वर्षों से कम जीवन के लिए उन दीर्घकालीन सुखों को हार जाता है।

१४—जहा य तिन्नि वणिया
मूलं घेत्तूण निग्गया।
एगोऽत्थ लहई लाहं
एगो मूलेण आगओ॥

यथा च त्रयो वणिजः
मूलं गृहीत्वा निर्गताः।
एकोऽत्र लभते लाभम्
एको मूलेनागतः॥

१४—जैसे तीन वणिक् मूल पूँजी को लेकर निकले। उनमें से एक लाभ उठाता है, एक मूल लेकर लौटता है।

१५—एगो मूलं पि हारित्ता
आगओ तत्थ वाणिओ।
ववहारे उवमा एसा
एवं धम्मे वियाणह॥

एकोमूलमपि हारयित्वा,
आगतस्तत्र वाणिजः।
व्यवहार उपमैषा
एवं धर्मे विजानीत॥

१५—और एक मूल को भी गँवाकर वापस आता है। यह व्यापार की उपमा है। इसी प्रकार धर्म के विषय में जानना चाहिए।

१६—माणुसत्तं भवे मूलं
लाभो देवगई भवे।
मूलच्छेएण जीवाणं
नरगतिरिक्खत्तणं धुवं॥

मानुषत्वं भवेन्मूलं
लाभो देवगतिर्भवेत्।
मूलच्छेदेन जीवानां
नरक-तिर्यक्त्वं ध्रुवम्॥

१६—मनुष्यत्व मूलधन है। देवगति लाभ रूप है। मूल के नाश से जीव निश्चित ही नरक और तिर्यञ्च गति में जाते हैं।

---
१. उ (बृ०)।
२. हारेन्ति (बृ० पा०)।

१७—दुहओ गई बालस्स
आवई वहमूलिया।
देवत्तं माणुसत्तं च
जं जिए लोलयासढे ॥

**द्विधा गतिर्बालस्य
आपद् वध-मूलिका।
देवत्वं मानुषत्वं च
यज्जितो लोलता-शठः ॥**

१७—अज्ञानी जीव की दो प्रकार की गति होती है—नरक और तिर्यञ्च। वहाँ उसे बध-हेतुक आपदा प्राप्त होती है। वह लोलुप और वंचक पुरुष देवत्व और मनुष्यत्व को पहले ही हार जाता है।

१८—तओ जिए सइं होइ
दुविहं दोग्गइं गए।
दुल्लहा तस्स उम्मज्जा
अद्धाए सुइरादवि ॥

**ततो जितः सदा भवति
द्विविधां दुर्गतिं गतः।
दुर्लभा तस्योन्मज्जा
अद्धायां सुचिरादपि ॥**

१८—द्विविध दुर्गति में गया हुआ जीव सदा हारा हुआ होता है। उसका उनसे बाहर निकलना दीर्घकाल के बाद भी दुर्लभ है।

१९—एवं जियं[1] सपेहाए
तुलिया बालं च पंडियं।
मूलियं ते पवेसन्ति
माणुसं जोणिमेन्ति[2] जे ॥

**एवं जितं सम्प्रेक्ष्य
तोलयित्वा बालं च पण्डितम्।
मौलिकं ते प्रविशन्ति
मानुषीं योनिमायान्ति ये ॥**

१९—इस प्रकार हारे हुए को देखकर तथा बाल और पण्डित की तुलना कर जो मानुषी योनि में आते हैं, वे मूलधन के साथ प्रवेश करते हैं।

२०—वेमायाहिं सिक्खाहिं
जे नरा गिहिसुव्वया।
उवेन्ति माणुसं जोणिं
कम्मसच्चा[3] हु पाणिणो ॥

**विमात्राभिः शिक्षाभिः
ये नराः गृहि-सुव्रताः।
उपयन्ति मानुषीं योनिं
कर्म-सत्याः खलु प्राणिनः ॥**

२०—जो मनुष्य विविध परिमाण वाली शिक्षाओं द्वारा घर में रहते हुए भी सुव्रती है, वे मानुषी योनि में उत्पन्न होते हैं। क्योंकि प्राणी कर्म-सत्य होते है—अपने किये हुए का फल अवश्य पाते है।

२१—जेसिं तु विउला सिक्खा
मूलियं ते अइच्छिया[4]।
सीलवन्ता सवीसेसा
अद्दीणा जन्ति देवयं ॥

**येषां तु विपुला शिक्षा
मौलिकं तेऽतिक्रम्य।
शीलवन्तः सविशेषाः
अदीना यान्ति देवताम् ॥**

२१—जिनके पास विपुल शिक्षा है, वे शील-सम्पन्न और उत्तरोत्तर गुणों को प्राप्त करने वाले पराक्रमी (अदीन) पुरुष मूलधन (मनुष्यत्व) का अतिक्रमण करके देवत्व को प्राप्त होते हैं।

२२—एवमद्दीणवं[5] भिक्खुं
अगारिं[6] च वियाणिया।
कहण्णु जिच्चमेलिक्खं
'जिच्चमाणे न'[7] संविदे ? ॥

**एवमदैन्यवन्तं भिक्षुं
अगारिणं च विज्ञाय।
कथं नु जीयते ईदृक्षं
जीयमानो न संवित्ते ? ॥**

२२—इस प्रकार पराक्रमी भिक्षु और गृहस्थ को (अर्थात् उनके पराक्रम-फल को) जानकर विवेकी पुरुष ऐसे लाभ को कैसे खोएगा ? वह कषायों के द्वारा पराजित होता हुआ क्या यह नहीं जानता कि "मैं पराजित हो रहा हूँ ?" यह जानते हुए उसे पराजित नहीं होना चाहिए।

---

१. जिए (वृ०)।
२. जोणिमिन्ति (उ, चू०)।
३. कम्मसत्ता (वृ० पा०, चू० पा०)।
४. तिउच्छिया (अ); ते उट्टिया (चू०); ते अइच्छिया (चू० पा०); विउट्टिया, अतिट्टिया, अतिच्छिया (वृ०)।
५. एवं अदीणवं (चू०, वृ०)।
६. आगारि (उ, ऋ०)।
७. जिच्चमाणं व (चू०)।

२३—जहा कुसग्गे उदगं
समुद्देण समं मिणे ।
एवं माणुस्सगा कामा
देवकामाण अन्तिए ॥

यथा कुशाग्रे उदकं
समुद्रेण समं मिनुयात् ।
एवं मानुष्यकाः कामाः
देव-कामानामन्तिके ॥

२३—मनुष्य सम्बन्धी काम-भोग, देव सम्बन्धी काम-भोगों की तुलना में वैसे ही हैं, जैसे कोई व्यक्ति कुश की नोक पर टिके हुए जल-बिन्दु की समुद्र से तुलना करता है ।

२४—कुसग्गमेत्ता इमे कामा
सन्निरुद्धंमि आउए ।
कस्स हेउं पुराकाउं[1]
जोगक्खेमं न संविदे ? ॥

कुशाग्र-मात्रा इमे कामाः
सन्निरुद्धे आयुषि ।
कं हेतुं पुरस्कृत्य
योग-क्षेमं न संवित्ते ? ॥

२४—इस अति-संक्षिप्त आयु में ये काम-भोग कुशाग्र पर स्थित जल-बिन्दु जितने हैं । फिर भी किस हेतु को सामने रखकर मनुष्य योग-क्षेम को नहीं समझता ?

२५—इह कामाणियट्टस्स
अत्तट्ठे अवरज्झई ।
सोच्चा[2] नेयाउयं मग्गं
जं भुज्जो परिभस्सई[3] ॥

इह कामाऽनिवृत्तस्य
आत्मार्थोऽपराध्यति ।
श्रुत्वा नैर्यातृकं मार्गं
यद् भूयः परिभ्रश्यति ॥

२५—इस मनुष्य भव में काम-भोगों से निवृत्त न होने वाले पुरुष का आत्म-प्रयोजन नष्ट हो जाता है । वह पार ले जाने वाले मार्ग को सुनकर भी बार-बार भ्रष्ट होता है ।

२६—'इह कामणियट्टस्स
अत्तट्ठे नावरज्झई ।
पूइदेहनिरोहेणं
भवे देवि त्ति मे सुयं ॥'[4]

इह काम-निवृत्तस्य
आत्मार्थो नापराध्यति ।
पूतिदेह-निरोधेन
भवेद् देव इति मयाश्रुतम् ॥

२६—इस मनुष्य भव में काम-भोगों से निवृत्त होने वाले पुरुष का आत्म-प्रयोजन नष्ट नहीं होता । वह पूतिदेह (औदारिक शरीर) का निरोध कर देव होता है—ऐसा मैंने सुना है ।

२७—इड्ढी जुई जसो वण्णो
आउं सुहमणुत्तरं ।
भुज्जो जत्थ मणुस्सेसु
तत्थ से उववज्जई ॥

ऋद्धिर्द्युतिर्यशोवर्णः
आयुः सुखमनुत्तरम् ।
भूयो यत्र मनुष्येषु
तत्र स उपपद्यते ॥

२७—(देवलोक से च्युत होकर) वह जीव विपुल ऋद्धि, द्युति, यश, वर्ण, जीवित और अनुत्तर सुख वाले मनुष्य-कुलों में उत्पन्न होता है ।

२८—बालस्स पस्स बालत्तं
अहम्मं पडिवज्जिया[5] ।
चिच्चा धम्मं अहम्मिट्ठे
नरए[6] उववज्जई ॥

बालस्य पश्यबालत्वम्
अधर्मं प्रतिपद्य ।
त्यक्त्वा धर्ममधर्मिष्ठः
नरके उपपद्यते ॥

२८—तू बाल (अज्ञानी) जीव की मूर्खता को देख । वह अधर्म को ग्रहण कर, धर्म को छोड़, अधर्मिष्ठ बन नरक में उत्पन्न होता है ।

---

१. पुरोकाउं (चू०) ।
२. पत्तो (बृ० पा०, चू० पा०) ।
३. पूइदेह निरोहेणं
भवे देवे त्ति मे सुयं (चू० पा०) ।
४. यह श्लोक चूर्णि में व्याख्यात नहीं है ।
५. पडिवज्जिणो (अ, बृ० पा०) ।
६. नरएसु (अ, उ) ।

२९—धीरस्स पस्स धीरत्तं
सव्वधम्माणुवत्तिणो ।
चिच्चा अधम्मं धम्मिट्ठे[1]
देवेसु उववज्जई ॥

धीरस्य पश्य धीरत्वं
सर्वधर्मानुवर्तिनः ।
त्यक्त्वाऽधर्मं धर्मिष्ठः
देवेषु उपपद्यते ॥

२९—सब धर्मों का पालन करने वाले धीर-पुरुष की धीरता को देख । वह अधर्म को छोड़कर धर्मिष्ट बन देवों में उत्पन्न होता है ।

३०—तुलियाण बालभावं
अबालं चेव पण्डिए ।
चइऊण बालभावं
अबालं सेवए मुणि ॥
—त्ति बेमि ।

तोलयित्वा बाल-भावम्
अबालत्वं चैव पण्डितः ।
त्यक्त्वा बाल-भावम्
अबालत्वं सेवते मुनिः ॥
—इति ब्रवीमि ।

३०—पण्डित मुनि बाल-भाव और अबाल-भाव की तुलनाकर, बाल-भाव को छोड़, अबाल-भाव का सेवन करता है ।

—ऐसा मैं कहता हूँ ।

१. धम्मट्ठे (उ) ।

अट्ठमं अज्झयणं :
काविलीयं

अष्टम अध्ययन :
कापिलीय

आमुख

कपिल ब्राह्मण था। लोभ की बाढ़ ने उसके मन में विरक्ति ला दी। उसे सही स्वरूप ज्ञात हुआ। वह मुनि बन गया। संयोगवश एक बार उसे चोरों ने घेर लिया। तब कपिल मुनि ने उन्हें उपदेश दिया। वह संगीतात्मक था। उसी का यहाँ संग्रह किया गया है। प्रथम मुनि गाते, चोर भी उनके साथ-ही-साथ गाने लग जाते। 'अधुवे असासयंमि, संसारंमि दुक्खपउराए।''''न गच्छेज्जा॥ यह प्रथम श्लोक ध्रुव पद था। मुनि कपिल द्वारा यह—अध्ययन गाया गया था, इसलिए इसे कापिलीय कहा गया है।[1] सूत्रकृताङ्ग चूर्णि में इस अध्ययन को 'गेय' माना गया है।[2]

नाम दो प्रकार से होते हैं :—(१) निर्देश्य (विषय) के आधार पर और (२) निर्देशक (वक्ता) के आधार पर। इस अध्ययन का निर्देशक कपिल है, इसलिए इसका नाम कापिलीय रखा गया है।[3]

इसका मुख्य प्रतिपाद्य है—उस सत्य की शोध जिससे दुर्गति का अन्त हो जाए। सत्य-शोध में जो बाधाएँ हैं उन पर भी बहुत सुन्दर प्रकाश डाला गया है। लोभ कैसे बढ़ता है, इसका स्वयं अनुभूत चित्र प्रस्तुत किया गया है।

व्यक्ति के मन में पहले थोड़ा लोभ उत्पन्न होता है। वह उसकी पूर्ति करता है। मन पुन: लोभ से भर जाता है। उसकी पूर्ति का प्रयत्न होता है। यह क्रम चलता है परन्तु हर बार लोभ का उभार तीव्रता लिए होता है। ज्यों-ज्यों लाभ बढ़ता है त्यों-त्यों लोभ भी बढ़ता है। इसका अन्त तभी होता है जब व्यक्ति निर्लोभता की पूर्ण साधना कर लेता है।

उस काल और उस समय में कौशाम्बी नगरी में जितशत्रु राजा राज्य करता था। उसकी सभा में चौदह विद्याओं का पारगामी काश्यप नाम का ब्राह्मण था। उसकी पत्नी का नाम यशा था। उसके कपिल नाम का एक पुत्र था। राजा काश्यप से प्रभावित था। वह उसका बहुमान करता था। अचानक काश्यप की मृत्यु हो गई। उस समय कपिल की अवस्था छोटी थी। राजा ने काश्यप के स्थान पर दूसरे ब्राह्मण को नियुक्त कर दिया। वह ब्राह्मण जब घर से दरबार में जाता तब घोड़े पर आरूढ़ हो छत्र धारण करता था। काश्यप की पत्नी यशा जब यह देखती तो पति की स्मृति में विह्वल हो रोने लग जाती थी। कुछ काल बीता। कपिल भी बड़ा हो गया था। एक दिन जब उसने अपनी माँ को रोते देखा तो इसका कारण पूछा। यशा ने कहा—"पुत्र! एक समय था जब तुम्हारे पिता इसी प्रकार छत्र लगाकर दरबार में जाया-आया करते थे। वे अनेक विद्याओं के पारगामी थे। राजा उनकी विद्याओं से आकृष्ट था। उनके निधन के बाद राजा ने वह स्थान दूसरे को दे दिया है।" तब कपिल ने कहा—"माँ। मैं भी विद्या पढ़ूँगा।"

---

१. **बृहद् वृत्ति, पत्र २८९ :**
''''''ताहे ताणवि पंचवि चोरसयाणि ताले कुट्टेंति, सोऽवि गायति धुवगं, "अधुवे असासयंमी, संसारंमि दुक्खपउराए। किं णाम तं होज कम्मयं ? जेणाहं दुग्गइं ण गच्छेज्जा॥१॥" एवं सव्वत्थ सिलोगन्तरे धुवगं गायंति 'अधुवेत्यादि', तत्थ केइ पढमसिलोगे संबुद्धा, केइ बीए, एवं जाव पंचवि सया संबुद्धा पव्वतियत्ति। '''स हि भगवान् कपिलनामा'' ध्रुवकं सङ्गीतवान्।

२. **सूत्रकृताङ्ग चूर्णि, पृष्ठ ७ :**
गेयं णाम सरसंचारेण, जधा काविलिज्जे—"अधुवे असासयंमि, संसारम्मि दुक्खपउराए।'' न गच्छेज्जा॥"

३. **आवश्यक निर्युक्ति, गाथा १४१, वृत्ति :**
निर्देशकवशाज्जिनवचनं कापिलीयम्।

यशा ने कहा—" पुत्र ! यहाँ सारे ब्राह्मण ईर्ष्यालु हैं । यहाँ कोई भी तुझे विद्या नहीं देगा । यदि तू विद्या प्राप्त करना चाहता है तो श्रावस्ती नगरी में चला जा । वहाँ तुम्हारे पिता के परम मित्र इन्द्रदत्त नाम के ब्राह्मण हैं । वे तुम्हें विद्या पढ़ायेंगे ।"

कपिल ने माँ का आशीर्वाद ले श्रावस्ती की ओर प्रस्थान किया । पूछते-पूछते वह इन्द्रदत्त ब्राह्मण के यहाँ जा खड़ा हुआ । अपने समक्ष एक अपरिचित युवक को देखकर इन्द्रदत्त ने पूछा—"तुम कौन हो ? कहाँ से आये हो ? यहाँ आने का क्या प्रयोजन है ?"

कपिल ने सारा वृत्तान्त सुनाया । इन्द्रदत्त कपिल के उत्तर से बहुत प्रभावित हुआ और उसके भोजन की व्यवस्था एक शालिभद्र नामक धनाढ्य वणिक् के यहाँ करके अध्यापन शुरू कर दिया । कपिल भोजन करने प्रतिदिन सेठ के यहाँ जाता और इन्द्रदत्त से अध्ययन करता । उसे एक दासी की पुत्री भोजन परोसा करती थी । वह हँसमुख स्वभाव की थी । कपिल कभी-कभी उससे मजाक कर लेता था । दिन बीते, उनका सम्बन्ध गाढ़ हो गया । एक बार दासी ने कपिल से कहा—"तू मेरा सर्वस्व है । तेरे पास कुछ भी नहीं है । मैं निर्वाह के लिए दूसरों के यहाँ रह रही हूँ अन्यथा तो मैं तेरी आज्ञा में रहती ।"

इसी प्रकार कई दिन बीते । दासी-महोत्सव का समय निकट आया । दासी का मन बहुत उदास हो गया । रात्रि में उसे नींद नहीं आई । कपिल ने इसका कारण पूछा । उसने कहा—"दासी-महोत्सव आ गया है । मेरे पास फूटी कौड़ी भी नहीं है । मैं कैसे महोत्सव को मनाऊँ ? मेरी सखियाँ मेरी निर्धनता पर हँसती हैं और मुझे तिरस्कार की दृष्टि से देखती हैं ।" कपिल का मन खिन्न हो गया । उसे अपने अपौरुष पर रोष आया । दासी ने कहा "तुम इतना धैर्य मत खोओ । समस्या का एक समाधान भी है । इसी नगर में धन नाम का एक सेठ रहता है । जो व्यक्ति प्रातःकाल उसे सबसे पहले बधाई देता है उसे वह दो माशा सोना देता है । तुम वहाँ जाओ । उसे बधाई देकर दो माशा सोना ले आओ । इससे मैं पूर्णता से महोत्सव मना लूँगी ।"

कपिल ने बात मान ली । कोई व्यक्ति उससे पहले न पहुँच जाए, यह सोच वह तुरंत घर से रवाना हो गया । रात्रि का समय था । नगर-आरक्षक इधर-उधर घूम रहे थे । उन्होंने इसे चोर समझ पकड़ कर बाँध लिया और प्रभात में उसे प्रसेनजित् राजा के सामने प्रस्तुत किया । राजा ने उससे रात्रि मे अकेले घूमने का कारण पूछा । कपिल ने सहज व सरल भाव से सारा वृत्तान्त सुना दिया । राजा उसकी स्पष्टवादिता पर बहुत प्रसन्न हुआ और बोला—"ब्राह्मण ! आज मैं तुझ पर बहुत प्रसन्न हूँ । तू जो कुछ माँगेगा वह मिलेगा ।" कपिल ने कहा "राजन् ! मुझे कुछ सोचने का समय दिया जाए ।" राजा ने कहा—"यथा इच्छा ।"

कपिल राजा की आज्ञा ले अशोक वनिका में चला गया । वहाँ उसने सोचा—"दो माशा सोने से क्या होगा ? क्यों न मैं १०० मोहरें माँग लूँ ?" चिन्तन आगे बढ़ा । उसे १०० मोहरें भी तुच्छ लगने लगीं । हजार, लाख, करोड़ तक उसने चिन्तन किया । परन्तु मन नहीं भरा । सन्तोष के बिना शान्ति कहाँ ? उसका मन आन्दोलित हो उठा । तत्क्षण उसे समाधान मिल गया । मन वैराग्य से भर उठा । चिन्तन का प्रवाह मुड़ा । उसे जाति-स्मृति-ज्ञान प्राप्त हो गया । वह स्वयं-बुद्ध हो गया । वह स्वयं अपना लुंचन कर, प्रफुल्ल वदन हो राजा के पास आया । राजा ने पूछा—"क्या सोचा है, जल्दी कहो ।" कपिल ने कहा—"राजन् ! समय बीत चुका है । मुझे जो कुछ पाना था पा लिया है । तुम्हारी सारी वस्तुएँ मुझे तृप्त नहीं कर सकीं । किन्तु उनकी अनाकांक्षा ने मेरा मार्ग प्रशस्त कर दिया है । जहाँ लाभ है वहाँ लोभ है । ज्यों-ज्यों लाभ बढ़ता है त्यों-त्यों लोभ भी बढ़ता जाता है । दो माशे सोने की प्राप्ति के लिए मैं घर से निकला था किन्तु मेरी तृप्ति करोड़ में भी नहीं हुई । तृष्णा अनन्त है । इसकी पूर्ति वस्तुओं की उपलब्धियों से नहीं होती, वह होती है त्याग से, अनाकांक्षा से ।"

राजा ने कहा—"ब्राह्मण ! मेरा वचन पूरा करने का मुझे अवसर दे। मैं करोड़ मोहरें भी देने के लिए तैयार हूँ।" कपिल ने कहा—"राजन् ! तृष्णा की अग्नि अब शान्त हो गई है। मेरे भीतर करोड़ से भी अधिक मूल्यवान् वस्तु पैदा हो गई है। मैं अब करोड़ का क्या करूँ ?" मुनि कपिल राजा के सान्निध्य से दूर चला गया। साधना चलती रही। वे मुनि छह मास तक छद्मस्थ अवस्था में रहे।

राजगृही और कौशाम्बी के बीच १८ योजन का एक महा अरण्य था। वहाँ बलभद्र प्रमुख इक्कडदास जाति के पाँच सौ चोर रहते थे। कपिल मुनि ने एक दिन ज्ञान-बल से जान लिया कि सभी चोर एक दिन अपनी पापकारी वृत्ति को छोड़कर संबुद्ध हो जायेंगे। उन सबको प्रतिबोध देने के लिए कपिल मुनि श्रावस्ती से चलकर उस महा अटवी में आये। चोरों के सन्देशवाहक ने उन्हें देख लिया। वह उन्हें पकड़ अपने सेनापति के पास ले गया। सेनापति ने इन्हें श्रमण समझ कर छोड़ते हुए कहा—"श्रमण ! कुछ संगान करो।" श्रमण कपिल ने हावभाव से संगान शुरू किया। "अधुवे असासयंमि, संसारंमि दुक्खपउराए······"—यह ध्रुवपद था। प्रत्येक श्लोक के साथ यह गाया जाता था। कई चोर प्रथम श्लोक सुनते ही संबुद्ध हो गये, कई दूसरे, कई तीसरे, कई चौथे श्लोक आदि सुनकर। इस प्रकार पाँच सौ चोर प्रतिबुद्ध हो गये। मुनि कपिल ने उन्हें दीक्षा दी और वे सभी मुनि हो गये।

प्रसगवश इस अध्ययन में ग्रंथित्याग, संसार की असारता, कुतीर्थिकों की अज्ञता, अहिंसा-विवेक, स्त्री-संगम का त्याग आदि-आदि विषय भी प्रतिपादित हुए हैं।

यह अध्ययन 'ध्रुवक' छन्द मे प्रतिबद्ध है। जो छन्द सर्व प्रथम श्लोक मे तथा प्रत्येक श्लोक के अन्त में गाया जाता है, उसे 'ध्रुवक' कहते हैं। वह तीन प्रकार का होता है—छह पदों वाला, चार पदो वाला और दो पदों वाला :—

जं गिज्जइ पुव्वं चिय, पुण पुणो सव्वकव्वबंधेसु।
धुवयंति तमिह तिविहं, छप्पायं चउपयं दुपयं ॥ (बृहद् वृत्ति, पत्र २८९)

इस अध्ययन में चार पदों वाले ध्रुवक का प्रयोग हुआ है।

अट्ठमं अज्झयणं : अष्टम अध्ययन

काविलीयं : कापिलीयम्

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
१—'अधुवे असासयंमि'[1] संसारंमि दुक्खपउराए । किं नाम होज्ज तं कम्मयं 'जेणाहं दोग्गइं न गच्छेज्जा'[2]॥	अध्रुवेऽशाश्वते संसारे दुःख-प्रचुरके । किं नाम तद् भवेत्कर्मकं येनाहं दुर्गतिं न गच्छेयम् ॥	१—अध्रुव, अशाश्वत और दुःख-बहुल संसार में ऐसा कौन-सा कर्म है, जिससे मैं दुर्गति में न जाऊँ ?
२—विजहित्तु पुव्वसंजोगं न सिणेहं कहिंचि कुव्वेज्जा । असिणेह सिणेहकरेहिं दोसपओसेहिं[3] मुच्चए भिक्खू ॥	विहाय पूर्व-संयोगं न स्नेहं क्वचित् कुर्वीत । अस्नेहः स्नेहकरेषु दोष-प्रदोषैः मुच्यते भिक्षुः ॥	२—पूर्व सम्बन्धों का त्याग कर, किसी भी वस्तु में स्नेह न करे । स्नेह करने वालों के साथ भी स्नेह न करने वाला भिक्षु दोषों और प्रदोषों से मुक्त हो जाता है ।
३—तो नाणदंसणसमग्गो हियनिस्सेसाए[4] सव्वजीवाणं । तेसिं विमोक्खणट्ठाए भासई मुणिवरो विगयमोहो ॥	ततो ज्ञान-दर्शन-समग्रः हित-निःश्रेयसाय सर्वजीवानाम् । तेषां विमोक्षणार्थं भाषते मुनिवरो विगत-मोहः ॥	३—केवल ज्ञान और दर्शन से युक्त तथा विगतमोह मुनिवर ने सब जीवों के हित और कल्याण के लिए तथा उन पाँच सौ चोरों की मुक्ति के लिए कहा ।
४—सव्वं गन्थं कलहं च विप्पजहे तहाविहं[5] भिक्खू । 'सव्वेसु कामजाएसु'[6] पासमाणो न लिप्पई ताई ॥	सर्वं ग्रन्थं कलहं च विप्रजह्यात् तथाविधं भिक्षुः । सर्वेषु काम-जातेषु पश्यन् न लिप्यते त्रायी ॥	४—भिक्षु कर्म-बन्ध की हेतुभूत सभी ग्रन्थियों और कलह का त्याग करे । काम-भोगों के सब प्रकारों में दोष देखता हुआ आत्म-रक्षक मुनि उनमें लिप्त न बने ।

---

१. अधुवंमि मोहगहणए (नागार्जुनीयाः) ।
२. जेणाहं (घं) दुग्गइतो मुच्चेज्जा (चू०, बृ० पा०) ।
३. दोसपएहि (बृ०) ; दोसपउसेहिं (बृ० पा०) ।
४. हियनिस्सेसाय (चू०, बृ०) ।
५. तहाविहो (बृ० पा०, चू० पा०) ।
६. सव्वेहिं कामजाएहिं (चू०) ।

५—भोगामिसदोसविसण्णे
हियनिस्सेयसबुद्धिवोच्चत्थे ।
बाले य मन्दिए मूढे
बज्झई मच्छिया व खेलंमि ॥

भोगामिष-दोष-विषण्णः
व्यत्यस्त-हित-निःश्रेयस-बुद्धिः ।
बालश्च मन्दो मूढः
बध्यते मक्षिकेव श्लेष्मणि ॥

५—आत्मा को दूषित करने वाले भोगामिष (आसक्ति-जनक भोग) में निमग्न, हित और श्रेयस् में विपरीत बुद्धि वाला, अज्ञानी, मन्द और मूढ़ जीव उसी तरह (कर्मों से) बंध जाता है जैसे श्लेष्म में मक्खी।

६—दुपरिच्चया इमे कामा
नो सुजहा अधीरपुरिसेहिं ।
अह सन्ति सुव्वया साहू[1]
जे तरन्ति 'अतरं वणिया व'[2]॥

दुष्परित्यजा इमे कामाः
नो सुहानाः अधीर-पुरुषैः ।
अथ सन्ति सुव्रताः साधवः
ये तरन्त्यतरं वणिज इव ॥

६—ये काम-भोग दुस्त्यज हैं, अधीर पुरुषों द्वारा ये सुत्यज नहीं हैं। जो सुव्रती साधु हैं, वे दुस्तर काम-भोगों को उसी प्रकार तर जाते हैं, जैसे वणिक् समुद्र को।

७—समणा मु एगे वयमाणा
पाणवहं मिया अयाणन्ता ।
मन्दा निरयं[3] गच्छन्ति
बाला पावियाहिं दिट्ठीहिं ॥

श्रमणाः स्मः एके वदन्तः
प्राण-वधं मृगा अजानन्तः ।
मन्दा नरकं गच्छन्ति
बालाः पापिकाभिर्दृष्टिभिः ॥

७—कुछ पशु की भाँति अज्ञानी पुरुष 'हम श्रमण हैं' ऐसा कहते हुए भी प्राण-वध को नहीं जानते। वे मन्द और बाल-पुरुष अपनी पापमयी दृष्टियों से नरक में जाते हैं।

८—न हु पाणवहं अणुजाणे
मुच्चेज्ज कयाइ सव्वदुक्खाणं ।
एवारिएहिं[4] अक्खायं
जेहिं इमो साहुधम्मो पन्नत्तो ॥

न खलु प्राण-वध मनुजानन्
मुच्येत कदाचित्सर्व-दुःखैः ।
एवमार्यैराख्यातं
यैरयं साधु-धर्मः प्रज्ञप्तः ॥

८—प्राण-वध का अनुमोदन करने वाला पुरुष कभी भी सर्व दुःखों से मुक्त नहीं हो सकता। उन आर्य तीर्थङ्करों ने ऐसा कहा है, जिन्होंने इस साधु-धर्म की प्रज्ञापना की।

९—पाणे य नाइवाएज्जा
से 'समिए त्ति'[5] वुच्चई ताई ।
तओ से पावयं कम्मं
निज्जाइ[6] उदगं व थलाओ ॥

प्राणांश्च नातिपातयेत्
स समित इत्युच्यते त्रायी ।
ततः अथ पापकं कर्म
निर्याति उदकमिव स्थलात् ॥

९—जो जीवों की हिंसा नहीं करता, उस त्रायी मुनि को 'समित' (सम्यक् प्रवृत्त) कहा जाता है। उससे पाप-कर्म वैसे ही दूर हो जाते हैं, जैसे उन्नत प्रदेश से पानी।

१०—'जगनिस्सिएहिं भूएहिं
तसनामेहिं थावरेहिं च ।'[7]
नो तेसिमारभे दंडं
मणसा वयसा कायसा चेव ॥

जगन्निश्रितेषु भूतेषु
त्रसनामसुस्थावरेषु च ।
न तेषु दण्डमारभेत
मनसा वचसाकायेन चैव ॥

१०—जगत् के आश्रित जो त्रस और स्थावर प्राणी हैं, उनके प्रति मन, वचन और काया—किसी भी प्रकार से दण्ड का प्रयोग न करे।

१. सव्वे (चू०)।
२. वणिया व समुद्दं (बृ० पा०, चू०) ; अतरं वणिया व (चू० पा०)।
३. नरयं (बृ० पा०, चू०)।
४. एवायरिएहिं (अ, ऋ०) ; एवमारिएहिं (आ, इ०)।
५. समिय त्ति (चू०) ; समीए त्ति (अ) ; समीइ त्ति (उ, ऋ०)।
६. णिग्गणाइ (बृ० पा०)।
७. जगनिस्सियाण भूयाणं तसाणं थावराण य । (बृ० पा०) ; जगणिसित भूताणं तसणामाणं च थावराणं च । (चू०) ;
जगनिस्सितेसु थावरणामेसु भूतेसु तसणामेसु वा । (चू० पा०) ; जगनिस्सिएहिं भूएहिं तसनामेहिं थावरेहिं वा । (चू०)।

११—सुद्धेसणाओ नच्चाणं
तत्थ ठवेज्ज भिक्खू अप्पाणं।
जायाए घासमेसेज्जा
रसगिद्धे न सिया भिक्खाए॥

शुद्धैषणां ज्ञात्वा
तत्रस्थापयेद् भिक्षुरात्मानम्।
यात्रायै ग्रासमेषयेद्
रस-गृद्धो न स्याद् भिक्षादः॥

११—भिक्षु शुद्ध एषणाओं को जानकर उनमें अपनी आत्मा को स्थापित करे। यात्रा (संयम-निर्वाह) के लिए ग्रास की एषणा करे। भिक्षा-जीवी रसों में गृद्ध न हो।

१२—पन्ताणि चेव सेवेज्जा
सीयपिंडं पुराणकुम्मासं।
अदु वुक्कसं पुलागं वा
'जवणट्ठाए निसेवए'[1] मंथुं॥

प्रान्तानि चैव सेवेत
शीत-पिण्ड पुराण-कुल्माषम्।
अथ 'बुक्कसं' पुलाकं वा
यापनार्थं निषेवेत मन्थुम्॥

१२—भिक्षु प्रान्त (नीरस) अन्न-पान, शीत-पिण्ड, पुराने उड़द, बुक्कस (सारहीन), पुलाक (रूखा) या मंथु (बेर या सत्तू का चूर्ण) का जीवन-यापन के लिए सेवन करे।

१३—जे लक्खणं च सुविणं च
अंगविज्जं च जे पउंजन्ति।
न हु ते समणा वुच्चन्ति
एवं आयरिएहिं[2] अक्खायं॥

ये लक्षणं च स्वप्नं च
अङ्ग-विद्यां च ये प्रयुञ्जन्ति।
न खलु ते श्रमणा उच्यन्ते
एवमाचार्यैराख्यातम्॥

१३—जो लक्षण-शास्त्र, स्वप्न-शास्त्र और अङ्ग-विद्या का प्रयोग करते हैं, उन्हे साधु नहीं कहा जाता—ऐसा आचार्यों ने कहा है।

१४—इहजीवियं अणियमेत्ता
पब्भट्ठा समाहिजोएहिं।
ते कामभोगरसगिद्धा
उववज्जन्ति आसुरे काए॥

इह जीवितं अनियम्य
प्रभ्रष्टाः समाधि-योगेभ्यः।
ते कामभोग-रस-गृद्धाः
उपपद्यन्ते आसुरे काये॥

१४—जो इस जन्म में जीवन को अनियंत्रित रखकर समाधि-योग से परिभ्रष्ट होते हैं, वे काम-भोग और रसों में आसक्त बने हुए पुरुष असुर-काय में उत्पन्न होते है।

१५—तत्तो वि य उवट्टित्ता
संसारं बहुं अणुपरियडन्ति[3]।
बहुकम्मलेवलित्ताणं
बोही होइ[4] सुदुल्लहा तेसिं॥

ततोऽपि च उद्वृत्य
संसारं बहुमनुपर्यटन्ति।
बहुकर्म-लेप-लिप्तानां
बोधिर्भवति सुदुर्लभातेषाम्॥

१५—वहाँ से निकल कर भी वे संसार में बहुत पर्यटन करते है। वे प्रचुर कर्मों के लेप से लिप्त होते हैं। इसलिए उन्हें बोधि प्राप्त होना अत्यन्त दुर्लभ है।

१६—कसिणं पि जो इमं लोयं
पडिपुण्णं दलेज्ज इक्कस्स।
तेणावि से न संतुस्से[5]
इइ दुप्पूरए इमे आया॥

कृत्स्नमपि य इमं लोकं
प्रतिपूर्णं दद्यादेकस्मै।
तेनापि स न सन्तुष्येत्
इति दुष्पूरकोऽयमात्मा॥

१६—धन-धान्य से परिपूर्ण यह समूचा लोक भी यदि कोई किसी को दे दे—उससे भी वह सन्तुष्ट नहीं होता—तृप्त नहीं होता, इतना दुष्पूर है यह आत्मा।

---

१. जवणट्ठा वा सेवए (बृ०); जवणट्ठाए णिसेवए (बृ० पा०)।
२. आरिएहिं (अ, बृ०)।
३. अनुपरियट्टंति (ऋ०); अनुपरियंति (अ, बृ०); अनुचरंति (बृ० पा०)।
४. जत्थ (बृ० पा०)।
५. संतुसिज्जा (ऋ०); तुसिज्ज (उ); तुसिज्जा (अ); (सं) तुस्से (बृ०)।

१७—जहा लाहो तहा लोहो
लाहा लोहो पवड्ढई ।
दोमासकयं कज्जं
कोडीए वि न निट्ठियं ॥

यथा लाभस्तथा लोभः
लाभाल्लोभः प्रवर्धते ।
द्विमाष-कृतं कार्यं
कोट्याऽपि न निष्ठितम् ॥

१७—जैसे लाभ होता है वैसे ही लोभ होता है। लाभ से लोभ बढ़ता है। दो माशे सोने से पूरा होने वाला कार्य करोड़ से भी पूरा नहीं हुआ।

१८—नो रक्खसीसु गिज्झेज्जा
गंडवच्छासु ऽणेगचित्तासु ।
जाओ पुरिसं पलोभित्ता
खेल्लन्ति जहा व दासेहिं ॥

न राक्षसीषु गृध्येत्
गण्डवक्षास्स्वनेक-चित्तासु ।
या पुरुषं प्रलोभ्य
खेलन्ति यथे व दासैः ॥

१८—वक्ष में ग्रन्थि (स्तनों) वाली, अनेक चित्त वाली तथा राक्षसी की भाँति भयावह स्त्रियों में आसक्त न हो, जो पुरुष को प्रलोभन मे डालकर उसे दास की भाँति नचाती हैं।

१९—नारीसु नोपगिज्झेज्जा
इत्थीविप्पजहे अणगारे ।
धम्मं च पेसलं नच्चा
तत्थ ठवेज्ज भिक्खू अप्पाणं ॥

नारीषु नोपगृध्येत्
स्त्री-विप्रजहोऽनगारः ।
धर्मं च पेशलं ज्ञात्वा
तत्र स्थापयेद् भिक्षुरात्मानम् ॥

१९—स्त्रियों को त्यागने वाला अनगार उनमे गृद्ध न बने। भिक्षु धर्म को अति मनोज्ञ जानकर उसमें अपनी आत्मा को स्थापित करे।

२०—इइ एस धम्मे अक्खाए
कविलेणं च विसुद्धपन्नेणं ।
तरिहिन्ति जे उ काहिन्ति
तेहिं आराहिया दुवे लोग ॥
—त्ति बेमि ।

इत्येष धर्म आख्यातः
कपिलेन च विशुद्ध-प्रज्ञेन ।
तरिष्यन्ति ये तु करिष्यन्ति
तैराराधितौ द्वौ लोकौ ॥
—इति ब्रवीमि ।

२०—इस प्रकार विशुद्ध प्रज्ञा वाले कपिल ने यह धर्म कहा। जो इसका आचरण करेंगे वे तरेंगे और उन्होंने दोनों लोको को आराध लिया।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

नवमं अज्झयणं :

नमिपव्वज्जा

नवम अध्ययन :

नमि-प्रव्रज्या

आमुख

मुनि वही बनता है जिसे बोधि प्राप्त है। वे तीन प्रकार के होते हैं—स्वयं-बुद्ध, प्रत्येक-बुद्ध और बुद्ध-बोधित। (१) जो स्वयं बोधि प्राप्त करते हैं, उन्हें स्वयं-बुद्ध कहा जाता है, (२) जो किसी एक घटना के निमित्त से बोधि प्राप्त करते हैं, उन्हें प्रत्येक-बुद्ध कहा जाता है और (३) जो बोधि-प्राप्त व्यक्तियों के उपदेश से बोधि-लाभ करते हैं, उन्हें बुद्ध-बोधित कहा जाता है।[1]

इस सूत्र में तीनों प्रकार के मुनियों का वर्णन है— (१) स्वयं-बुद्ध कपिल का आठवें अध्ययन मे, (२)—प्रत्येक-बुद्ध नमि का नौवें अध्ययन मे और (३) बुद्ध-बोधित—संजय का अठारहवें अध्ययन में।

इस अध्ययन का सम्बन्ध प्रत्येक-बुद्ध मुनि से है। करकण्डु, द्विमुख, नमि और नग्गति—ये चारों समकालीन प्रत्येक-बुद्ध हैं। इन चारों प्रत्येक-बुद्धों के जीव पुष्पोत्तर नाम के विमान से एक साथ च्युत हुए थे। चारों ने एक साथ प्रव्रज्या ली, एक ही समय में प्रत्येक-बुद्ध हुए, एक ही समय मे केवली बने और एक ही समय में सिद्ध हुए।[3]

करकण्डु कलिंग का राजा था, द्विमुख पंचाल का, नमि विदेह का और नग्गति गंधार का।

बूढ़ा बैल, इन्द्रध्वज, एक कंकण की नीरवता और मंजरी-विहीन आम्र वृक्ष—ये चारों घटनाएँ क्रमशः चारों की बोधि-प्राप्ति की हेतु बनीं।

एक बार चारों प्रत्येक-बुद्ध विहार करते हुए क्षितिप्रतिष्ठित नगर में आए। वहाँ व्यन्तरदेव का एक मन्दिर था। उसके चार द्वार थे। करकण्डु पूर्व दिशा के द्वार से प्रविष्ट हुआ, द्विमुख दक्षिण द्वार से, नमि पश्चिम द्वार से और नग्गति उत्तर द्वार से। व्यन्तरदेव ने यह सोच कर कि मैं साधुओं को पीठ देकर कैसे बैठूँ, अपना मुंह चारों ओर कर लिया।

करकण्डु खुजली से पीड़ित था। उसने एक कोमल कण्डूयन लिया और कान को खुजलाया। खुजला लेने के बाद उसने कण्डूयन को एक ओर छिपा लिया। द्विमुख ने यह देख लिया। उसने कहा—"मुने! अपना राज्य, राष्ट्र, पुर, अंतःपुर—आदि सब कुछ छोड़कर तुम इस (कण्डूयन) का संचय क्यों करते हो?" यह सुनते ही करकण्डु के उत्तर देने से पूर्व ही नमि ने कहा—"मुने! आपके राज्य में आपके अनेक कृत्यकर—आज्ञा पालने वाले थे। उनका

१—नंदी, सूत्र ३०।

२—(क) सुखबोधा, पत्र १४४ : नग्गति का मूल नाम सिंहरथ था। वह कनकमाला (वैताढ्य पर्वत पर तोरणपुर नगर के राजा दृढ़शक्ति की पुत्री) से मिलने पर्वत पर आया करता था। प्रायः वहीं पर रहने के कारण उसका नाम 'नग्गति' पड़ा।

(ख) कुम्भकार जातक में उसे तक्षशिला का राजा बताया गया है और नाम नग्गजी (नग्गजित्) दिया है।

३—उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा २७० :

पुप्फुत्तराउ चवणं पव्वज्जा होइ एगसमएणं।
पत्तेयबुद्धकेवलि सिद्धि गया एगसमएणं॥

कार्य था दण्ड देना और दूसरों का पराभव करना। इस कार्य को छोड़ आप मुनि बने। आज आप दूसरों के दोष क्यों देख रहे हैं?" यह सुन नग्गति ने कहा—"जो मोक्षार्थी हैं, जो आत्म-मुक्ति के लिए प्रयत्न करते हैं, जिन्होंने सब कुछ छोड़ दिया है, वे दूसरों की गर्हा कैसे करेंगे?" तब करकण्डु ने कहा—"मोक्ष मार्ग में प्रवृत्त साधु और ब्रह्मचारी यदि अहित का निवारण करते हैं तो वह दोष नहीं है। नमि, द्विमुख और नग्गति ने जो कुछ कहा है, वह अहित-निवारण के लिए हो अत: वह दोष नहीं है।"[१]

ऋषिभाषित प्रकीर्णक में ४५ प्रत्येक-बुद्ध मुनियों का जीवन निबद्ध है। उनमें से २० प्रत्येक-बुद्ध अरिष्टनेमि के तीर्थ में, १५ पार्श्वनाथ के तीर्थ में और १० महावीर के तीर्थ में हुए हैं।[२]

(१) अरिष्टनेमि के तीर्थ में होने वाले प्रत्येक-बुद्ध—

१—नारद
२—वज्जिय पुत्र
३—असित दविल
४—भारद्वाज अंगिरस
५—पुष्पसाल पुत्र
६—वल्कलचीरि
७—कुर्मा पुत्र
८—केतली पुत्र
६—महाकाश्यप
१०—तेतलि पुत्र
११—मंखली पुत्र
१२—याज्ञवल्क्य
१३—मैत्रय भयाली
१४—बाहुक
१५—मधुरायण
१६—सोरियायण
१७—विदु
१८—वर्षप कृष्ण
१६—आरियायण
२०—उत्कलवादी

(२) पार्श्वनाथ के तीर्थ में होने वाले प्रत्येक-बुद्ध—

१—गाहावती-पुत्र तरुण
२—दगभाल
३—राम पुत्र
४—हरिगिरि
५—अम्बड़
६—मातंग
७—वारत्तक
८—आर्द्रक
६—वर्द्धमान
१०—वायु
११—पार्श्व
१२—पिंग
१३—महाशाल-पुत्र अरुण
१४—ऋषिगिरि
१५—उद्दालक

१—उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा २७६-२७८ :
जया रज्जं च रट्ठं च, पुरं अंतउरं तहा।
सव्वमेअं परिच्चज्ज, संचयं किं करेसिमं ? ॥
जया ते पेइए रज्जे, कया किच्चकरा बहू।
तेसिं किच्चं परिच्चज्ज, अज्ज किच्चकरो भवं ॥
जया सव्वं परिच्चज्ज, मुक्खाय घडसी भवं।
परं गरहसी कीस ?, अत्तनीसेसकारए ॥
मुक्खमग्गं पवन्नेसु, साहूसु बंभयारिसु।
अहिअत्थं निवारिंतो, न दोसं वत्तुमरिहसि ॥

२—इसिभासिय, पढमा संगहिणी, गाथा १ :
पत्तेय बुद्धमिसिणो, वीसं तित्थे अरिट्ठणेमिस्स।
पासस्स य पण्णरस, वीरस्स विलीणमोहस्स ॥

(३) महावीर के तीर्थ में होने वाले प्रत्येक-बुद्ध—

१—वित्त तारायण	६—इन्द्रनाग
२—श्रीगिरि	७—सोम
३—साति-पुत्र बुद्ध	८—यम
४—संजय	६—वरुण
५—द्वीपायन	१०—वैश्रमण

करकण्डु आदि चार प्रत्येक-बुद्धों का उल्लेख इस तालिका में नहीं है।

विदेह राज्य में दो नमि हुए हैं। दोनों अपने-अपने राज्य का त्यागकर अनगार बने। एक तीर्थङ्कर हुए, दूसरे प्रत्येक-बुद्ध।[१] इस अध्ययन में दूसरे नमि (प्रत्येक-बुद्ध) की प्रव्रज्या का विवरण है, इसलिए इसका नाम नमि-प्रव्रज्या रखा गया है।

मालव देश के सुदर्शनपुर नगर में मणिरथ राजा राज्य करता था। उसका कनिष्ठ भ्राता युगबाहु था। मदनरेखा युगबाहु की पत्नी थी। मणिरथ ने कपट पूर्वक युगबाहु को मार डाला। मदनरेखा उस समय गर्भवती थी। उसने जंगल में एक पुत्र को जन्म दिया। उस शिशु को मिथिला-नरेश पद्मरथ ले गया। उसका नाम 'नमि' रखा।

पद्मरथ के श्रमण बन जाने पर 'नमि' मिथिला का राजा बना। एक बार वह दाह-ज्वर से आक्रान्त हुआ। छह मास तक घोर वेदना रही। उपचार चला। दाह-ज्वर को शान्त करने के लिए रानियाँ स्वयं चन्दन घिसतीं। एक बार सभी रानियाँ चन्दन घिस रही थीं। उनके हाथों में पहिने हुए कंकण बज रहे थे। उनकी आवाज से 'नमि' खिन्न हो उठा। उसने कंकण उतार लेने को कहा। सभी रानियों ने सौभाग्य-चिह्न स्वरूप एक-एक कंकण को छोड़कर शेष सभी उतार दिए।

कुछ देर बाद राजा ने अपने मन्त्री से पूछा—"कंकण का शब्द सुनाई क्यों नहीं दे रहा है ?" मंत्री ने कहा—"स्वामिन् ! कंकणों के घर्षण का शब्द आपको अप्रिय लगा था इसलिए सभी रानियों ने एक-एक कंकण रखकर शेष सभी उतार दिए। एक कंकण से घर्षण नहीं होता और घर्षण के बिना शब्द कहाँ से उठे ?"

राजा नमि प्रबुद्ध हो गया। उसने सोचा सुख अकेलेपन में है—जहाँ द्वन्द्व है—दो हैं—वहाँ दुःख है। विरक्त भाव से वह आगे बढ़ा। उसने प्रव्रजित होने का दृढ़ संकल्प किया।

अकस्मात् ही नमि को राज्य छोड़ प्रव्रजित होते देख उसकी परीक्षा के लिए इन्द्र ब्राह्मण का वेश बनाकर आता है, प्रणाम कर नमि को लुभाने के लिए अनेक प्रयत्न करता है और कर्त्तव्य-बोध देता है। राजा नमि ब्राह्मण को अध्यात्म की गहरी बात बताता है और संसार की असारता का बोध देता है।

इन्द्र ने कहा—"राजन् ! हस्तगत रमणीय भोगों को छोड़कर अपरोक्ष काम-भोगों की वांछा करना क्या उचित कहा जा सकता है (श्लोक ५१) ?" राजा ने कहा—"ब्राह्मण ! काम त्याज्य हैं, वे शल्य हैं, विष के समान हैं, आशीविष सर्प के तुल्य हैं। काम-भोगों की इच्छा करने वाले उनका सेवन न करते हुए भी दुर्गति को प्राप्त होते हैं (श्लोक ५३)।"

'आत्म-विजय ही परम विजय है'—इस तथ्य को स्पष्ट अभिव्यक्ति मिली है। इन्द्र ने कहा—"राजन् ! जो कई राजा तुम्हारे सामने नहीं झुकते, पहले उन्हें वश में करो, फिर मुनि बनना (श्लोक ३२)।" नमि ने कहा—

१—उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा २६७ :

दुन्निवि नमी विदेहा, रज्जाइं पयहिऊण पव्वइया।

एगो नमितित्थयरो, एगो पत्तेयबुद्धो अ॥

"जो मनुष्य दुर्जेय संग्राम में दस लाख योद्धाओं को जीतता है, उसकी अपेक्षा जो व्यक्ति एक आत्मा को जीतता है, वह उसकी परम विजय है। आत्मा के साथ युद्ध करना ही श्रेयस्कर है। दूसरों के साथ युद्ध करने से क्या लाभ? आत्मा को आत्मा के द्वारा ही जीत कर मनुष्य सुख पाता है। पाँच इन्द्रियाँ तथा क्रोध, मान, माया, लोभ और मन—ये दुर्जेय हैं। एक आत्मा को जीत लेने पर ये सब जीत लिए जाते हैं (श्लोक ३४-३६)।"

'संसार में न्याय-अन्याय का विवेक नहीं है'—इसकी स्पष्ट अभिव्यक्ति यहाँ हुई है। इन्द्र ने कहा—"राजन्! अभी तुम चोरों, लुटेरों, गिरहकटों का निग्रह कर नगर में शान्ति स्थापित करो, फिर मुनि बनना (श्लोक २८)।" नमि ने कहा—"ब्राह्मण! मनुष्यों द्वारा अनेक बार मिथ्या-दण्ड का प्रयोग किया जाता है। अपराध नहीं करने वाले पकड़े जाते हैं और अपराध करने वाले छूट जाते हैं (श्लोक ३०)।"

इस प्रकार इस अध्ययन में जीवन के समग्र दृष्टिकोण को उपस्थित किया है। अन्यान्य आश्रमों से संन्यास आश्रम श्रेष्ठ है (श्लोक ४४), दान से संयम श्रेष्ठ है (श्लोक ४०), सन्तोष त्याग में है, भोग में नहीं (श्लोक ४८-४६) आदि-आदि भावनाओं का स्फुट निर्देश है। जब इन्द्र ने देखा कि राजा नमि अपने संकल्प पर अडिग है, तब उसने अपना मूल रूप प्रकट किया और नमि की स्तुति कर चला गया।

नवमं अज्झयणं : नवम अध्ययन
नमिपव्वज्जा : नमि-प्रव्रज्या

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
१—चइऊण देवलोगाओ उववन्नो माणुसंमि लोगंमि । उवसन्तमोहणिज्जो सरई पोराणियं जाइं ॥	च्युत्वा देवलोकात् उपपन्नो मानुषे लोके । उपशान्त-मोहनीयः स्मरति पौराणिकीं जातिम् ॥	१—नमिराज का जीव देवलोक से च्युत होकर मनुष्य-लोक में उत्पन्न हुआ। उसका मोह उपशान्त था जिससे उसे पूर्व-जन्म की स्मृति हुई।
२—जाइं सरित्तु भयवं सहसंबुद्धो अणुत्तरे धम्मे । पुत्तं ठवेत्तु रज्जे अभिणिक्खमई नमी राया ॥	जातिं स्मृत्वा भगवान् स्वयं-संबुद्धोऽनुत्तरे धर्मे । पुत्रं स्थापयित्वा राज्ये अभिनिष्क्रामति नमीराजा ॥	२—भगवान् नमिराज पूर्व-जन्म की स्मृति पाकर अनुत्तर धर्म की आराधना के लिए स्वयं-संबुद्ध हुआ और राज्य का भार पुत्र के कंधों पर डालकर अभिनिष्क्रमण किया—प्रव्रज्या के लिए चल पड़ा।
३—से देवलोगसरिसे अन्तेउरवरगओ वरे भोए । भुंजित्तु नमी राया बुद्धो भोगे परिच्चयई ॥	स देवलोक-सदृशान् वरान्तःपुर-गतो वरान् भोगान् । भुक्त्वा नमीराजा बुद्धो भोगान् परित्यजति ॥	३—उस नमिराज ने प्रवर अन्तःपुर में रहकर देवलोक के भोगों के समान प्रधान भोगों का भोग किया और संबुद्ध होने के पश्चात् उन भोगों को छोड़ दिया।
४—मिहिलं सपुरजणवयं बलमोरोहं च परियणं सव्वं । चिच्चा अभिनिक्खन्तो एगन्तमहिट्ठिओ भयवं ॥	मिथिलां सपुरजनपदां बलमवरोधं च परिजनं सर्वम् । त्यक्त्वाऽभिनिष्क्रान्तः एकान्तमधिष्ठितो भगवान् ॥	४—भगवान् नमिराज ने नगर और जन-पद सहित मिथिला नगरी, सेना, रनिवास और सब परिजनों को छोड़ कर अभिनिष्क्रमण किया और एकान्तवासी बन गया।
५—कोलाहलगभूयं आसी मिहिलाए पव्वयन्तंमि । तइया रायरिसिंमि नमिंमि अभिणिक्खमन्तंमि ॥	कोलाहलकभूतम् आसीन्मिथिलायां प्रव्रजति । तदा राजर्षौ नमौ अभिनिष्क्रामति ॥	५—जब राजर्षि नमि अभिनिष्क्रमण कर रहा था, प्रव्रजित हो रहा था, उस समय मिथिला में सब जगह कोलाहल होने लगा।

६—अब्भुट्ठियं रायरिसिं
पव्वज्जाठाणमुत्तमं ।
सक्को माहणरूवेण
इमं वयणमब्बवी ॥

अभ्युत्थितं राजर्षिं
प्रव्रज्या-स्थानमुत्तमम् ।
शक्रो ब्राह्मण-रूपेण
इदं वचनमब्रवीत् ॥

६—उत्तम प्रव्रज्या-स्थान के लिए उद्यत हुए राजर्षि से देवेन्द्र ने ब्राह्मण के रूप में आकर इस प्रकार कहा—

७—किण्णु भो ! अज्ज मिहिलाए
कोलाहलगसंकुला ।
सुव्वन्ति दारुणा सद्दा
पासाएसु गिहेसु य ? ॥

किन्नु भो ! अद्य मिथिलायां
कोलाहलक-संकुलाः ।
श्रूयन्ते दारुणाः शब्दाः
प्रासादेषु गृहेषु च ? ॥

७—हे राजर्षि ! आज मिथिला के प्रासादों और गृहों में कोलाहल से परिपूर्ण दारुण शब्द क्यों सुनाई दे रहे हैं ?

८—एयमट्ठं निसामित्ता
हेऊकारणचोइओ ।
तओ नमी रायरिसी
देविन्दं इणमब्बवी ॥

एतमर्थं निशम्य
हेतु-कारण-चोदितः ।
ततो नमी राजर्षिः
देवेन्द्रमिदमब्रवीत् ॥

८—यह अर्थ सुन कर हेतु और कारण से प्रेरित हुए नमि राजर्षि ने देवेन्द्र से इस प्रकार कहा—

९—मिहिलाए चेइए वच्छे
सीयच्छाए मणोरमे ।
पत्तपुप्फफलोवेए
बहूणं बहुगुणे सया ॥

मिथिलायां चैत्यो वृक्षः
शीतच्छायो मनोरमः ।
पत्र-पुष्प-फलोपेतः
बहूनां बहु-गुणः सदा ॥

९—मिथिला में एक चैत्य-वृक्ष था, शीतल छाया वाला, मनोरम, पत्र, पुष्प और फलों से लदा हुआ और बहुत पक्षियों के लिए सदा उपकारी।

१०—वाएण हीरमाणंमि
चेइयंमि मणोरमे ।
दुहिया असरणा अत्ता
एए कन्दन्ति भो ! खगा ॥

वातेन ह्रियमाणे
चैत्ये मनोरमे ।
दुःखिता अशरणा आर्ताः
एते क्रन्दन्ति भोः ! खगाः ॥

१०—एक दिन हवा चली और उस चैत्य-वृक्ष को उखाड़ कर फेंक दिया। हे ब्राह्मण ! उसके आश्रित रहने वाले ये पक्षी दुःखी, अशरण और पीड़ित होकर आक्रन्द कर रहे हैं।

११—एयमट्ठं निसामित्ता
हेऊकारणचोइओ ।
तओ नमिं रायरिसिं
देविन्दो इणमब्बवी ॥

एतमर्थं निशम्य
हेतु-कारण-चोदितः ।
ततो नमिं राजर्षिं
देवेन्द्र इदमब्रवीत् ॥

११—इस अर्थ को सुनकर हेतु और कारण से प्रेरित हुए देवेन्द्र ने नमि राजर्षि से इस प्रकार कहा—

१२—एस अग्गी य वाऊ य
एयं डज्झइ मन्दिरं ।
भयवं ! अन्तेउरं तेणं
कीस णं नावपेक्खसि[1] ? ॥

एषोऽग्निश्च वायुश्च
एतद् दह्यते मन्दिरम् ।
भगवन् ! अन्तःपुरं तेन
कस्मान्नावप्रेक्षसे ? ॥

१२—यह अग्नि है और यह वायु है। यह आपका मन्दिर जल रहा है। भगवन् ! आप अपने रनिवास की ओर क्यों नहीं देखते ?

---

१. नावपिक्खह (अ)।

१३—एयमट्ठं निसामित्ता
हेऊकारणचोइओ ।
तओ नमी रायरिसी
देविन्दं इणमब्बवी ॥

एतमर्थं निशम्य
हेतु-कारण-चोदितः ।
ततो नमी राजर्षिः
देवेन्द्रमिदमब्रवीत् ॥

१३—यह अर्थ सुनकर हेतु और कारण से प्रेरित हुए नमि राजर्षि ने देवेन्द्र से इस प्रकार कहा—

१४—सुहं वसामो जीवामो
जेसिं मो नत्थि किंचण ।
मिहिलाए डज्झमाणीए
न मे डज्झइ किंचण ॥

सुखं वसामो जीवामः
येषां नो नास्ति किंचन ।
मिथिलायां दह्यमानायां
न मे दह्यते किंचन ॥

१४—वे हम लोग, जिनके पास अपना कुछ भी नहीं है, सुख पूर्वक रहते और सुख से जीते है । मिथिला जल रही है उसमे मेरा कुछ भी नहीं जल रहा है ।

१५—चत्तपुत्तकलत्तस्स
निव्वावारस्स भिक्खुणो ।
पियं न विज्जई किंचि
अप्पियं पि न विज्जए ॥

त्यक्त-पुत्र-कलत्रस्य
निर्व्यापारस्य भिक्षोः ।
प्रियं न विद्यते किंचित्
अप्रियमपि न विद्यते ॥

१५—पुत्र और स्त्रियों से मुक्त तथा व्यवसाय से निवृत्त भिक्षु के लिए कोई वस्तु प्रिय भी नहीं होता और अप्रिय भी नहीं होती ।

१६—बहुं खु मुणिणो भद्दं
अणगारस्स भिक्खुणो ।
सव्वओ विप्पमुक्कस्स
एगन्तमणुपस्सओ ॥

बहु खलु मुनेर्भद्रं
अनगारस्य भिक्षोः ।
सर्वतो विप्रमुक्तस्य
एकान्तमनुपश्यतः ॥

१६—सब बन्धनों से मुक्त, 'मैं अकेला हूँ, मेरा कोई नहीं'—इस प्रकार एकत्व-दर्शी, गृह-त्यागी एवं तपस्वी भिक्षु को विपुल सुख होता है ।

१७—एयमट्ठं निसामित्ता
हेऊकारणचोइओ ।
तओ नमिं रायरिसिं
देविन्दो इणमब्बवी ॥

एतमर्थं निशम्य
हेतु-कारण-चोदितः ।
ततो नमिं राजर्षिं
देवेन्द्र इदमब्रवीत् ॥

१७—इस अर्थ को सुनकर हेतु और कारण से प्रेरित हुए देवेन्द्र ने नमि राजर्षि से इस प्रकार कहा—

१८—पागारं कारइत्ताणं
गोपुरट्टालगाणि च ।
उस्सूलगसयग्घीओ[1]
तओ गच्छसि खत्तिया ! ॥

प्राकारं कारयित्वा
गोपुराट्टालकानि च ।
अवचूलक-शतघ्नीः
ततो गच्छ क्षत्रिय ! ॥

१८—हे क्षत्रिय ! अभी तुम परकोटा, बुर्ज वाले नगर-द्वार, खाई और शतघ्नी (एक बार में सौ व्यक्तियों का संहार करने वाला यंत्र) बनवाओ, फिर मुनि बन जाना ।

१९—एयमट्ठं निसामित्ता
हेऊकारणचोइओ ।
तओ नमी रायरिसी
देविन्दं इणमब्बवी ॥

एतमर्थं निशम्य
हेतु-कारण-चोदितः ।
ततो नमी राजर्षिः
देवेन्द्रमिदमब्रवीत् ॥

१९—यह अर्थ सुन कर हेतु और कारण से प्रेरित हुए देवेन्द्र ने नमि राजर्षि से इस प्रकार कहा—

---

१. उच्चूलग० (स) ।

२०—सद्धं नगरं[1] किच्चा
तवसंवरमग्गलं ।
'खन्ति निउणपागारं
तिगुत्तं दुप्पधंसयं'[2] ॥

श्रद्धां नगरं कृत्वा
तपःसंवरमर्गलाम् ।
क्षान्तिं निपुण-प्राकारं
त्रिगुप्तं दुष्प्रधर्षकम् ॥

२०—श्रद्धा को नगर, तप और संयम को अर्गला, क्षमा को (बुर्ज, खाई और शतघ्नी स्थानीय) मन, वचन और काय-गुप्ति से सुरक्षित, दुर्जेय और सुरक्षा-निपुण परकोटा बना,

२१—धणुं परक्कमं किच्चा
जीवं च इरियं सया ।
धिइं च केयणं किच्चा
सच्चेण पलिमन्थए[3] ॥

धनुः पराक्रमं कृत्वा
जीवांचेर्यां सदा ।
धृतिं च केतनं कृत्वा
सत्येन परिमथनीयात् ॥

२१—पराक्रम को धनुष, ईर्या-समिति को उसकी डोर और धृति को उसकी मूठ बना, उसे सत्य से बाँधे ।

२२—तवनारायजुत्तेण
भेत्तूणं कम्मकंचुयं ।
मुणी विगयसंगामो
भवाओ परिमुच्चए ॥

तपो-नाराच-युक्तेन
भित्त्वा कर्म-कंचुकम् ।
मुनिर्विगत-सङ्ग्रामः
भवात्परिमुच्यते ॥

२२—तप-रूपी लोह-बाण से युक्त धनुष के द्वारा कर्म-रूपी कवच को भेद डाले । इस प्रकार संग्राम का अन्त कर मुनि संसार से मुक्त हो जाता है ।

२३—एयमट्ठं निसामित्ता
हेऊकारणचोइओ ।
तओ नमिं रायरिसिं
देविन्दो इणमब्बवी ॥

एतमर्थं निशम्य
हेतु-कारण-चोदितः ।
ततो नमिं राजर्षिं
देवेन्द्र इदमब्रवीत् ॥

२३—इस अर्थ को सुनकर हेतु और कारण से प्रेरित हुए देवेन्द्र ने नमि राजर्षि से इस प्रकार कहा—

२४—पासाए[4] कारइत्ताणं
वद्धमाणगिहाणि य ।
बालग्गपोइयाओ य
तओ गच्छसि खत्तिया ! ॥

प्रासादान्कारयित्वा
वर्धमान-गृहाणि च ।
'बालग्गपोइयाओ' च
ततोगच्छ क्षत्रिय ! ॥

२४—हे क्षत्रिय ! अभी तुम प्रासाद, वर्धमान-गृह और चन्द्रशाला बनवाओ, फिर मुनि बन जाना ।

२५—एयमट्ठं निसामित्ता
हेऊकारणचोइओ ।
तओ नमी रायरिसी
देविन्दं इणमब्बवी ॥

एतमर्थं निशम्य
हेतु-कारण-चोदितः ।
ततो नमी राजर्षिः
देवेन्द्रमिदमब्रवीत् ॥

२५—यह अर्थ सुनकर हेतु और कारण से प्रेरित हुए नमि राजर्षि ने देवेन्द्र से इस प्रकार कहा—

---

१. नगरीं (वृ०) ।
२. खन्ति निउणं पागारं तिगुत्ति दुप्पधंसयं (बृ० पा०) ।
३. पलिकंथए (वृ०) ।
४. पासायं (बृ०) ।

२६—संसयं खलु सो कुणई
जो मग्गे कुणई घरं ।
जत्थेव गन्तुमिच्छेज्जा
तत्थ कुव्वेज्ज सासयं ॥

संशयं खलु स कुरुते
यो मार्गे कुरुते गृहम् ।
यत्रैव गन्तुमिच्छेत्
तत्र कुर्वीत स्वाश्रयम् ॥

२६—वह संदिग्ध ही बना रहता है जो मार्ग में घर बनाता है । (न जाने कब उसे छोड़ कर जाना पड़े) । अपना घर वहीं बनाना चाहिए जहाँ जाने की इच्छा हो—जहाँ जाने पर फिर कहीं जाना न हो ।

२७—एयमट्ठं निसामित्ता
हेऊकारणचोइओ ।
तओ नमिं रायरिसिं
देविन्दो इणमब्बवी ॥

एतमर्थं निशम्य
हेतु-कारण-चोदितः ।
ततो नमिं राजर्षिं
देवेन्द्र इदमब्रवीत् ॥

२७—इस अर्थ को सुन कर हेतु और कारण से प्रेरित हुए देवेन्द्र ने नमि राजर्षि से इस प्रकार कहा—

२८—आमोसे लोमहारे य
गंठिभेए य तक्करे ।
नगरस्स खेमं काऊणं
तओ गच्छसि खत्तिया ! ॥

आमोषान् लोम-हारान्
ग्रन्थि-भेदांश्च तस्करान् ।
नगरस्य क्षेमं कृत्वा
ततो गच्छ क्षत्रिय ! ॥

२८—हे क्षत्रिय ! अभी तुम बटमारों, प्राण हरण करने वाले लुटेरों, गिरहकटों और चोरों का निग्रह कर नगर में शान्ति स्थापित करो, फिर मुनि बन जाना ।

२९—एयमट्ठं निसामित्ता
हेऊकारणचोइओ ।
तओ नमी रायरिसी
देविन्दं इणमब्बवी ॥

एतमर्थं निशम्य
हेतु-कारण-चोदितः ।
ततो नमी राजर्षिः
देवेन्द्रमिदमब्रवीत् ॥

२९—यह अर्थ सुन कर हेतु और कारण से प्रेरित हुए नमि राजर्षि ने देवेन्द्र से इस प्रकार कहा—

३०—असइं तु मणुस्सेहिं
मिच्छा दण्डो पजुंजई ।
अकारिणोऽत्थ बज्झन्ति
मुच्चई कारओ जणो ॥

असकृत्तु मनुष्यैः
मिथ्या-दण्डः प्रयुज्यते ।
अकारिणोऽत्र बध्यन्ते
मुच्यते कारको जनः ॥

३०—मनुष्यों द्वारा अनेक बार मिथ्या-दण्ड का प्रयोग किया जाता है । अपराध नहीं करने वाले यहाँ पकड़े जाते हैं और अपराध करने वाला छूट जाता है ।

३१—एयमट्ठं निसामित्ता
हेऊकारणचोइओ ।
तओ नमिं रायरिसिं
देविन्दो इणमब्बवी ॥

एतमर्थं निशम्य
हेतु-कारण-चोदितः ।
ततो नमिं राजर्षिं
देवेन्द्र इदमब्रवीत् ॥

३१—इस अर्थ को सुन कर हेतु और कारण से प्रेरित हुए देवेन्द्र ने नमि राजर्षि से इस प्रकार कहा—

३२—जे केइ पत्थिवा तुब्भं[1]
नानमन्ति नराहिवा ! ।
वसे ते ठावइत्ताणं
तओ गच्छसि खत्तिया ! ॥

ये केचित् पार्थिवास्तुभ्यं
नानमन्ति नराधिप ! ।
वशे तान्स्थापयित्वा
ततो गच्छ क्षत्रिय ! ॥

३२—हे नराधिप क्षत्रिय ! जो कई राजा तुम्हारे सामने नहीं झुकते उन्हें वश में करो, फिर मुनि बन जाना ।

१. तुज्झं (बृ० पा०) ।

३३—एयमट्ठं निसामित्ता हेऊकारणचोइओ । तओ नमी रायरिसी देविन्दं इणमब्बवी ॥	एतमर्थं निशम्य हेतु-कारण-चोदितः । ततो नमी राजर्षिः देवेन्द्रमिदमब्रवीत् ॥	३३—यह अर्थ सुन कर हेतु और कारण से प्रेरित हुए नमि राजर्षि ने देवेन्द्र से इस प्रकार कहा—
३४—जो सहस्सं सहस्साणं संगामे दुज्जए जिणे । एगं जिणेज्ज अप्पाणं एस से परमो जओ ॥	यः सहस्रं सहस्राणां सङ्ग्रामे दुर्जये जयेत् । एकं जयेदात्मानं एष तस्य परमो जयः ॥	३४—जो पुरुष दुर्जेय संग्राम में दस लाख योद्धाओं को जीतता है, उसकी अपेक्षा वह एक अपने आपको जीतता है, यह उसकी परम विजय है।
३५—अप्पाणमेव जुज्झाहि किं ते जुज्झेण बज्झओ ? । अप्पाणमेव[1] अप्पाणं जइत्ता सुहमेहए ॥	आत्मनैव युद्ध्यस्व किं ते युद्धेन बाह्यतः । आत्मनैव आत्मानं जित्वा सुखमेधते ॥	३५—आत्मा के साथ ही युद्ध कर, बाहरी युद्ध से तुझे क्या लाभ ? आत्मा को आत्मा के द्वारा ही जीत कर, मनुष्य सुख पाता है।
३६—पंचिन्दियाणि कोहं माणं मायं तहेव लोहं च । दुज्जयं चेव अप्पाणं सव्वं अप्पे जिए जियं ॥	पञ्चेन्द्रियाणि क्रोधः मानो माया तथैव लोभश्च । दुर्जयश्चैव आत्मा सर्वमात्मनि जितेजितम् ॥	३६—पाँच इन्द्रियाँ, क्रोध, मान, माया, लोभ और मन ये दुर्जेय हैं। एक आत्मा को जीत लेने पर ये सब जीत लिए जाते हैं।
३७—एयमट्ठं निसामित्ता हेऊकारणचोइओ । तओ नमिं रायरिसिं देविन्दो इणमब्बवी ॥	एतमर्थं निशम्य हेतु-कारण-चोदितः । ततो नमिं राजर्षिं देवेन्द्र इदमब्रवीत् ॥	३७—इस अर्थ को सुन कर हेतु और कारण से प्रेरित हुए देवेन्द्र ने नमि राजर्षि से इस प्रकार कहा—
३८—जइत्ता विउले जन्ने भोइत्ता समणमाहणे । दच्चा भोच्चा य जट्ठा य तओ गच्छसि खत्तिया ! ॥	याजयित्वा विपुलान् यज्ञान् भोजयित्वा श्रमण-ब्राह्मणान् । दत्त्वा भुक्त्वा च इष्ट्वा च ततो गच्छ क्षत्रिय ! ॥	३८—हे क्षत्रिय ! अभी तुम प्रचुर यज्ञ करो, श्रमण-ब्राह्मणों को भोजन कराओ, दान दो, भोग भोगो और यज्ञ करो, फिर मुनि बन जाना।
३९—एयमट्ठं निसामित्ता हेऊकारणचोइओ । तओ नमी रायरिसी देविन्दं इणमब्बवी ॥	एतमर्थं निशम्य हेतु-कारण-चोदितः । ततो नमी राजर्षिः देवेन्द्रमिदमब्रवीत् ॥	३९—यह अर्थ सुन कर हेतु और कारण से प्रेरित हुए नमि राजर्षि ने देवेन्द्र से इस प्रकार कहा—

१. अप्पणा चेव (अ) ।

४०—जो सहस्सं सहस्साणं[1]
मासे मासे गवं दए।
तस्सावि संजमो सेओ
अदिन्तस्स वि किंचण ॥

यः सहस्रं सहस्राणां
मासे मासे गवां दद्यात्।
तस्यापि संयमः श्रेयान्
अददतोऽपि किंचन ॥

४०—जो मनुष्य प्रतिमास दस लाख गायों का दान देता है उसके लिए भी संयम ही श्रेय है, भले फिर वह कुछ भी न दे।

४१—एयमट्ठं निसामित्ता
हेऊकारणचोइओ।
तओ नमिं रायरिसिं
देविन्दो इणमब्बवी ॥

एतमर्थं निशम्य
हेतु-कारण-चोदितः।
ततो नमिं राजर्षिं
देवेन्द्र इदमब्रवीत् ॥

४१—इस अर्थ को सुन कर हेतु और कारण से प्रेरित हुए देवेन्द्र ने नमि राजर्षि से इस प्रकार कहा—

४२—घोरासमं चइत्ताणं
अन्नं पत्थेसि आसमं।
इहेव पोसहरओ
भवाहि मणुयाहिवा ! ॥

घोराश्रमं त्यक्त्वा
अन्यं प्रार्थयसे आश्रमम्।
इहैव पौषध-रतः
भव मनुजाधिप ! ॥

४२—हे मनुजाधिप ! तुम घोराश्रम (गार्हस्थ्य) को छोड़ कर दूसरे आश्रम (संन्यास) की इच्छा करते हो, यह उचित नहीं। तुम यहीं रह कर पौषध में रत होओ—अणुव्रत, तप आदि का पालन करो।

४३—एयमट्ठं निसामित्ता
हेऊकारणचोइओ।
तओ नमी रायरिसी
देविन्दं इणमब्बवी ॥

एतमर्थं निशम्य
हेतु-कारण-चोदितः।
ततो नमी राजर्षिः
देवेन्द्रमिदमब्रवीत् ॥

४३—यह अर्थ सुन कर हेतु और कारण से प्रेरित हुए नमि राजर्षि ने देवेन्द्र से इस प्रकार कहा—

४४—मासे मासे तु जो बालो
कुसग्गेण तु[2] भुंजए।
न सो सुयक्खायधम्मस्स
कलं अग्घइ सोलसिं ॥

मासे मासे तु यो बालः
कुशाग्रेण तु भुङ्क्ते।
न स स्वाख्यात-धर्मणः
कलामर्हति षोडशीम् ॥

४४—कोई बाल (अविवेकी) मास-मास की तपस्या के अनन्तर कुश की नोक पर टिके उतना-सा आहार करे तो भी वह सु-आख्यात धर्म (सम्यक्-चारित्र सम्पन्न मुनि) की सोलहवीं कला को भी प्राप्त नहीं होता।

४५—एयमट्ठं निसामित्ता
हेऊकारणचोइओ।
तओ नमिं रायरिसिं
देविन्दो इणमब्बवी ॥

एतमर्थं निशम्य
हेतु-कारण-चोदितः।
ततो नमिं राजर्षिं
देवेन्द्र इदमब्रवीत् ॥

४५—इस अर्थ को सुन कर हेतु और कारण से प्रेरित हुए देवेन्द्र ने नमि राजर्षि से इस प्रकार कहा—

---

१. जहिसाणं (बृ० पा०)।
२. व (अ)।

४६—हिरण्णं सुवण्णं मणिमुत्तं
कंसं दूसं 'च वाहणं'[1] ।
कोसं वड्ढावइत्ताणं
तओ गच्छसि खत्तिया ! ॥

हिरण्यं सुवर्णं मणि-मुक्तां
कांस्यं दूष्यं च वाहनम् ।
कोशं वर्धयित्वा
ततो गच्छ क्षत्रिय ! ॥

४६—हे क्षत्रिय ! अभी तुम चाँदी, सोना, मणि, मोती, काँसे के बर्तन, वस्त्र, वाहन और भण्डार की वृद्धि करो, फिर मुनि बन जाना ।

४७—एयमट्ठं निसामित्ता
हेऊकारणचोइओ ।
तओ नमी रायरिसी
देविन्दं इणमब्बवी ॥

एतमर्थं निशम्य
हेतु-कारण-चोदितः ।
ततो नमी राजर्षिः
देवेन्द्रमिदमब्रवीत् ॥

४७—यह अर्थ सुन कर हेतु और कारण से प्रेरित हुए नमि राजर्षि ने देवेन्द्र से इस प्रकार कहा—

४८—सुवण्णरुप्पस्स उ[2] पव्वया भवे
सिया हु केलाससमा असंखया ।
नरस्स लुद्धस्स न तेहिं[3] किंचि
इच्छा उ आगाससमा अणन्तिया ॥

सुवर्ण-रूप्यस्य च पर्वता भवेयुः
स्यात् खलु कैलास-समा असंख्यकाः ।
नरस्य लुब्धस्य न तैः किंचित्
इच्छा खलु आकाश-समा अनन्तिका ॥

४८—कदाचित् सोने और चाँदी के कैलास के समान असंख्य पर्वत हो जाएँ, तो भी लोभी पुरुष को उनसे कुछ भी नहीं होता, क्योंकि इच्छा आकाश के समान अनन्त है ।

४९—पुढवी साली जवा चेव
हिरण्णं पसुभिस्सह ।
पडिपुण्णं[4] नालमेगस्स
इइ विज्जा तवं चरे ॥

पृथिवी शालिर्यवाश्चैव
हिरण्यं पशुभिः सह ।
प्रतिपूर्णं नालमेकस्मै
इति विदित्वा तपश्चरेत् ॥

४९—पृथ्वी, चावल, जौ, सोना और पशु—ये सब एक की इच्छापूर्ति के लिए पर्याप्त नहीं हैं, यह जान कर तप का आचरण करे ।

५०—एयमट्ठं निसामित्ता
हेऊकारणचोइओ ।
तओ नमिं रायरिसिं
देविन्दो इणमब्बवी ॥

एतमर्थं निशम्य
हेतु-कारण-चोदितः ।
ततो नमिं राजर्षिं
देवेन्द्र इदमब्रवीत् ॥

५०—यह अर्थ सुन कर हेतु और कारण से प्रेरित हुए देवेन्द्र ने नमि राजर्षि से इस प्रकार कहा—

५१—अच्छेरगमब्भुदए
भोए चयसि[5] पत्थिवा ![6] ।
असन्ते कामे पत्थेसि
संकप्पेण विहन्नसि ॥

आश्चर्यमभ्युदये
भोगांस्त्यजसि पार्थिव ! ।
असतः कामान्प्रार्थयसे
संकल्पेन विहन्यसे ॥

५१—हे पार्थिव ! आश्चर्य है कि तुम इस अभ्युदय-काल में सहज प्राप्त भोगों को त्याग रहे हो और अप्राप्त काम-भोगों की इच्छा कर रहे हो—इस प्रकार तुम अपने संकल्प से ही प्रताड़ित हो रहे हो ।

१. सवाहणं (बृ० पा०, चू०) ।
२. य (अ) ।
३. तेणं (बृ० पा०) ।
४. सव्वंतं (बृ० पा०) ।
५. जहासि (बृ०); चयसि (बृ० पा०) ।
६. खत्तिया ! (बृ० पा०) ।

५२—एयमट्ठं निसामित्ता
हेऊकारणचोइओ ।
तओ नमी रायरिसी
देविन्दं इणमब्ववी ॥

एतमर्थं निशम्य
हेतु-कारण-चोदितः ।
ततो नमी राजर्षिः
देवेन्द्रमिदमब्रवीत् ॥

५२—यह अर्थ सुन कर हेतु और कारण से प्रेरित हुए नमि राजर्षि ने देवेन्द्र से इस प्रकार कहा—

५३—सल्लं कामा विसं कामा
कामा आसीविसोवमा ।
कामे पत्थेमाणा
अकामा जन्ति दोग्गइं ॥

शल्यं कामा विषं कामाः
कामा आशीविषोपमाः ।
कामान्प्रार्थयमाना
अकामा यान्ति दुर्गतिम् ॥

५३—काम-भोग शल्य हैं, विष हैं और आशीविष सर्प के तुल्य हैं। काम-भोग की इच्छा करने वाले, उनका सेवन न करते हुए भी दुर्गति को प्राप्त होते हैं।

५४—अहे वयइ कोहेणं
माणेणं अहमा गई ।
माया गईपडिग्घाओ
लोभाओ दुहओ भयं ॥

अधो व्रजति क्रोधेन,
मानेनाधमा गतिः ।
मायया गति-प्रतिघातः
लोभाद् द्विधा भयम् ॥

५४—मनुष्य क्रोध से अधोगति में जाता है। मान से अधम गति होती है। माया से सुगति का विनाश होता है। लोभ से दोनों प्रकार का—ऐहिक और पारलौकिक—भय होता है।

५५—अवउज्झिऊण माहणरूवं
विउव्विऊण इन्दत्तं ।
वन्दइ अभित्थुणन्तो
इमाहि महुराहिं वग्गूहिं ॥

अपोज्झ्य ब्राह्मण-रूपं
विकृत्येन्द्रत्वम् ।
वन्दतेऽभिष्टुवन्
आभिर्मधुराभिर्वाग्भिः ॥

५५—देवेन्द्र ने ब्राह्मण का रूप छोड़, इन्द्र रूप में प्रकट हो नमि राजर्षि की वन्दना की और इन मधुर शब्दों में स्तुति करने लगा।

५६—अहो ! ते निज्जिओ कोहो
अहो ! ते माणो पराजिओ ।
अहो ! ते निरक्किया माया
अहो ! ते लोभो वसीकओ ॥

अहो ! त्वया निर्जितः क्रोधः
अहो ! त्वया मानः पराजितः ।
अहो ! त्वया निराकृता माया
अहो ! त्वया लोभो वशीकृतः ॥

५६—हे राजर्षि ! आश्चर्य है तुमने क्रोध को जीता है ! आश्चर्य है तुमने मान को पराजित किया है ! आश्चर्य है तुमने माया को दूर किया है ! आश्चर्य है तुमने लोभ को वश में किया है !

५७—अहो ! ते अज्जवं साहु
अहो ! ते साहु मद्दवं ।
अहो ! ते उत्तमा खन्ती
अहो ! ते मुत्ति उत्तमा ॥

अहो ! ते आर्जवं साधु
अहो ! ते साधु मार्दवम् ।
अहो ! ते उत्तमा क्षान्तिः
अहो ! ते मुक्तिरुत्तमा ॥

५७—अहो ! उत्तम है तुम्हारा आर्जव ! अहो ! उत्तम है तुम्हारा मार्दव ! अहो ! उत्तम है तुम्हारी क्षमा ! अहो ! उत्तम है तुम्हारी निर्लोभता !

५८—इहं सि उत्तमो भन्ते !
पेच्चा होहिसि उत्तमो ।
लोगुत्तमुत्तमं[1] ठाणं
सिद्धिं गच्छसि नीरओ ॥

इहास्युत्तमो भदन्त !
प्रेत्य भविष्यस्युत्तमः ।
लोकोत्तमोत्तमं स्थानं
सिद्धिं गच्छसि नीरजाः ॥

५८—भगवन् ! तुम इस लोक में भी उत्तम हो और परलोक में भी उत्तम होओगे। तुम कर्म-रज से मुक्त होकर लोक के सर्वोत्तम स्थान (मोक्ष) को प्राप्त करोगे।

५९—एवं अभित्थुणन्तो
रायरिसिं उत्तमाए सद्धाए ।
पयाहिणं[2] करेन्तो
पुणो पुणो वन्दई सक्को ॥

एवमभिष्टुवन्
राजर्षिमुत्तमया श्रद्धया ।
प्रदक्षिणां कुर्वन्
पुनः पुनर्वन्दते शक्रः ॥

५९—इस प्रकार इन्द्र ने उत्तम श्रद्धा से राजर्षि की स्तुति की और प्रदक्षिणा करते हुए बार-बार वन्दना की।

६०—तो[3] वन्दिऊण पाए
चक्कंकुसलक्खणे मुणिवरस्स ।
आगासेणुप्पइओ
ललियचवलकुंडलतिरीडी ॥

ततो वन्दित्वा पादौ
चक्रांकुश-लक्षणौ मुनिवरस्य ।
आकाशेनोत्पतितः
ललित-चपल-कुण्डल-किरीटी ॥

६०—इसके पश्चात् मुनिवर नमि के चक्र और अंकुश से चिन्हित चरणों में वन्दना कर ललित और चपल कुण्डल एवं मुकुट को धारण करने वाला इन्द्र आकाश मार्ग से चला गया।

६१—नमी नमेइ अप्पाणं
सक्खं[4] सक्केण चोइओ ।
चइऊण गेहं वइदेही
सामण्णे पज्जुवट्ठिओ ॥

नमिर्नमयत्यात्मान
साक्षाच्छक्रेण चोदितः ।
त्यक्त्वा गृहं वैदेही
श्रामण्ये पर्युपस्थितः ॥

६१—नमि राजर्षि ने अपनी आत्मा को नमा लिया—संयम के प्रति समर्पित कर दिया। वे साक्षात् देवेन्द्र के द्वारा प्रेरित होने पर भी धर्म से विचलित नहीं हुए और गृह और वैदेही (मिथिला) को त्याग कर श्रामण्य में उपस्थित हो गये।

६२—एवं करेन्ति संबुद्धा[5]
पंडिया पवियक्खणा ।
विणियट्टन्ति भोगेसु
जहा से नमी रायरिसि ॥
—त्ति बेमि ।

एवं कुर्वन्ति संबुद्धाः
पण्डिताः प्रविचक्षणाः ।
विनिवर्तन्ते भोगेभ्यः
यथा स नमी राजर्षिः ॥
इति ब्रवीमि ।

६२—संबुद्ध, पण्डित और प्रविचक्षण पुरुष इसी प्रकार करते हैं—वे भोगों से निवृत्त होते हैं जैसे कि नमि राजर्षि हुए।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

---

१. लोगुत्तम मुत्तमं (बृ० पा०)।
२. पायाहिणं (बृ०)।
३. स (बृ० पा०)।
४. सक्कं (बृ०)।
५. संपन्ना (चू०)।

दसमं अज्झयणं :
दुमपत्तयं

दशम अध्ययन :
द्रुम-पत्रक

आमुख

इस अध्ययन का नाम आद्य-पद (आदान-पद) 'दुम पत्तए' के आधार पर 'द्रुम-पत्रक' रखा गया है।[1]

कई कारणों से गौतम गणधर के मन में विचिकित्सा हुई। भगवान् महावीर ने उसका निवारण करने के लिए इस अध्ययन का प्रतिपादन किया।

उस काल और उस समय पृष्ठचम्पा नाम की नगरी थी। वहाँ शाल नाम का राजा था और युवराज का नाम था महाशाल। उसके यशस्वती नाम की बहिन थी। उसके पति का नाम पिठर था। उसके एक पुत्र हुआ। उसका नाम गागली रखा गया। एक बार भगवान् महावीर राजगृह से विहार कर पृष्ठचम्पा पधारे। सुभूमि-भाग उद्यान में ठहरे। राजा शाल भगवान् की वन्दना करने गया। भगवान् से धर्म सुना और विरक्त हो गया। उसने भगवान् से प्रार्थना की—"भन्ते! मैं महाशाल का राज्याभिषेक कर दीक्षित होने के लिए अभी वापस आ रहा हूँ।" वह नगर में गया। महाशाल से सारी बात कही। उसने भी दीक्षा लेने की भावना व्यक्त की। वह बोला—"मैं आपके साथ ही प्रव्रजित होऊँगा।" राजा ने अपने भानजे गागली को काम्पिल्यपुर से बुलाया और उसे राज्य का भार सौंप दिया। गागली अब राजा हो गया। उसने अपने माता-पिता को भी वहीं बुला लिया। इधर शाल और महाशाल भगवान् के पास दीक्षित हो गए। यशस्वती भी श्रमणोपासिका हुई। उन दोनों श्रमणों ने ग्यारह अंगों का अध्ययन किया।

भगवान् महावीर पृष्ठचम्पा से विहार कर राजगृह गए। वहाँ से विहार कर चम्पा पधारे। शाल और महाशाल भगवान् के पास आए और प्रार्थना की—"यदि आपकी अनुज्ञा हो तो हम पृष्ठचम्पा जाना चाहते हैं। सम्भव है किसी को प्रतिबोध मिले और कोई सम्यग्दर्शी बने।" भगवान् ने अनुज्ञा दी और गौतम के साथ उन्हें वहाँ भेजा। वे पृष्ठचम्पा गए। वहाँ के राजा गागली और उसके माता-पिता को दीक्षित कर वे पुनः भगवान् महावीर के पास आ रहे थे। मार्ग मे चलते-चलते मुनि शाल और महाशाल के अध्यवसायों की पवित्रता बढ़ी और वे केवली हो गए। गागली और उसके माता-पिता—तीनों को केवलज्ञान हुआ। सभी भगवान् के पास पहुँचे। गौतम ने भगवान् की वन्दना की और उन सबको वन्दना करने के लिए कहा। भगवान् ने गौतम को सम्बोधित कर कहा—"गौतम! केवलियों की आशातना मत करो।" गौतम ने उनसे क्षमा-याचना की, पर मन शंकाओं से भर गया। उन्होंने सोचा—"मैं सिद्ध नहीं होऊँगा।"

एक बार गौतम अष्टापद पर्वत पर गये। वहाँ पहले से ही तीन तापस अपने-अपने पाँच-पाँच सौ शिष्यों के परिवार से तप कर रहे थे। उनका नाम था कौडिन्य, दत्त और शैवाल।

दत्त बेले-बेले की तपस्या करता। वह नीचे पड़े पीले पत्ते खा कर रहता था। वह अष्टापद की दूसरी मेखला तक ही चढ़ पाया।

कौडिन्य उपवास-उपवास की तपस्या करता और पारण मे मूल, कन्द आदि सचित आहार करता था। वह अष्टापद पर्वत पर चढ़ा किन्तु एक मेखला से आगे नहीं जा सका।

१—उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा २८२ :

दुमपत्तणोवम्मं अहाठिइए उवक्कमेणं च।
इत्थ कयं आइंमी तो तं दुमपत्तमज्झयणं॥

६—आउकायमइगओ
उक्कोसं जीवो उ संवसे ॥
कालं संखाईयं
समयं गोयम! मा पमायए ॥

अप्-कायमतिगतः
उत्कर्ष जीवस्तु संवसेत् ।
कालं संख्यातीतं
समयं गौतम! मा प्रमादीः ॥

६—अप्-काय में उत्पन्न हुआ जीव अधिक से अधिक असंख्य-काल तक वहाँ रह जाता है, इसलिए हे गौतम! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

७—तेउकायमइगओ
उक्कोसं जीवो उ संवसे ।
कालं संखाईयं
समयं गोयम! मा पमायए ॥

तेजस्कायमतिगतः
उत्कर्ष जीवस्तु संवसेत् ।
कालं संख्यातीतं
समयं गौतम! मा प्रमादीः ॥

७—तेजस्-काय में उत्पन्न हुआ जीव अधिक से अधिक असंख्य काल तक वहाँ रह जाता है, इसलिए हे गौतम! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

८—वाउक्कायमइगओ
उक्कोसं जीवो उ संवसे ।
कालं संखाईयं
समयं गोयम! मा पमायए ॥

वायु-कायमतिगतः
उत्कर्ष जीवस्तु संवसेत् ।
कालं संख्यातीतं
समयं गौतम! मा प्रमादीः ॥

८—वायु-काय में उत्पन्न हुआ जीव अधिक से अधिक असंख्य-काल तक वहाँ रह जाता है, इसलिए हे गौतम! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

९—वणस्सइकायमइगओ
उक्कोसं जीवो उ संवसे ।
कालमणन्तदुरन्तं
समयं गोयम! मा पमायए ॥

वनस्पति-कायमतिगतः
उत्कर्ष जीवस्तु संवसेत् ।
कालमनन्तं दुरन्तं
समयं गौतम! मा प्रमादीः ॥

९—वनस्पति-काय में उत्पन्न हुआ जीव अधिक से अधिक दुरन्त अनन्त-काल तक वहाँ रह जाता है, इसलिए हे गौतम! तू क्षण भी प्रमाद मत कर।

१०—बेइन्दियकायमइगओ
उक्कोसं जीवो उ संवसे ।
कालं संखिज्जसन्नियं
समयं गोयम! मा पमायए ॥

द्वीन्द्रिय-कायमतिगतः
उत्कर्ष जीवस्तु संवसेत् ।
कालं संख्येय-संज्ञितं
समयं गौतम! मा प्रमादीः ॥

१०—द्वीन्द्रिय-काय में उत्पन्न हुआ जीव अधिक से अधिक असंख्य-काल तक वहाँ रह जाता है, इसलिए हे गौतम! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

११—तेइन्दियकायमइगओ
उक्कोसं जीवो उ संवसे ।
कालं संखिज्जसन्नियं
समयं गोयम! मा पमायए ॥

त्रीन्द्रिय-कायमतिगतः
उत्कर्ष जीवस्तु संवसेत् ।
कालं संख्येय-संज्ञितं
समयं गौतम! मा प्रमादीः ॥

११—त्रीन्द्रिय-काय में उत्पन्न हुआ जीव अधिक से अधिक संख्येय-काल तक वहाँ रह जाता है, इसलिए हे गौतम! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

१२—चउरिन्दियकायमइगओ
उक्कोसं जीवो उ संवसे ।
कालं संखिज्जसन्नियं
समयं गोयम! मा पमायए ॥

चतुरिन्द्रिय-कायमतिगतः
उत्कर्ष जीवस्तु संवसेत्
कालं संख्येय-संज्ञितं
समयं गौतम! मा प्रमादीः ॥

१२—चतुरिन्द्रिय-काय में उत्पन्न हुआ जीव अधिक से अधिक संख्येय काल तक वहाँ रह जाता है, इसलिए हे गौतम! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

१३—पंचिन्दियकायमइगओ
उक्कोसं जीवो उ संवसे।
सत्तट्ठभवग्गहणे
समयं गोयम! मा पमायए॥

पंचेन्द्रिय-कायमतिगतः
उत्कर्षं जीवस्तु संवसेत्।
सप्ताष्ट भवग्रहणानि
समयं गौतम! मा प्रमादीः॥

१३—पंचेन्द्रिय-काय में उत्पन्न हुआ जीव अधिक से अधिक सात-आठ जन्म-ग्रहण तक वहाँ रह जाता है, इसलिए हे गौतम! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

१४—देवे नेरइए य अइगओ
उक्कोसं जीवो उ संवसे।
इक्किक्कभवग्गहणे
समयं गोयम! मा पमायए॥

देवान्नैरयिकांश्चातिगतः
उत्कर्षं जीवस्तु संवसेत्।
एकैकभवग्रहणं
समयं गौतम! मा प्रमादीः॥

१४—देव और नरक-योनि में उत्पन्न हुआ जीव अधिक से अधिक एक-एक जन्म-ग्रहण तक वहाँ रह जाता है, इसलिए हे गौतम! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

१५—एवं भवसंसारे
संसरइ सुहासुहेहिं कम्मेहिं।
जीवो पमायबहुलो
समयं गोयम! मा पमायए॥

एवं भव संसारे
संसरति शुभाशुभैः कर्मभिः।
जीवः प्रमाद-बहुलः
समयं गौतम! मा प्रमादीः॥

१५—इस प्रकार प्रमाद-बहुल जीव शुभ-अशुभ कर्मों द्वारा जन्म-मृत्युमय संसार में परिभ्रमण करता है, इसलिए हे गौतम! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

१६—लद्धूण वि माणुसत्तणं
आरिअत्तं पुणरावि दुल्लहं।
बहवे दसुया मिलेक्खुया
समयं गोयम! मा पमायए॥

लब्ध्वापि मानुषत्वं
आर्यत्वं पुनरपि दुर्लभम्।
बहवो दस्यवो म्लेच्छाः
समयं गौतम! मा प्रमादीः॥

१६—मनुष्य-जन्म दुर्लभ है, उसके मिलने पर भी आर्य देश में जन्म पाना और भी दुर्लभ है। बहुत सारे लोग मनुष्य होकर भी दस्यु और म्लेच्छ होते हैं, इसलिए हे गौतम! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

१७—लद्धूण वि आरियत्तणं
अहीणपंचिन्दियया हु दुल्लहा।
विगलिन्दियया हु दीसई
समयं गोयम! मा पमायए॥

लब्ध्वाप्यार्यत्वं
अहीन-पंचेन्द्रियता खलु दुर्लभा।
विकलेन्द्रियता खलु दृश्यते
समयं गौतम! मा प्रमादीः॥

१७—आर्य देश में जन्म मिलने पर भी पाँचों इन्द्रियों से पूर्ण स्वस्थ होना दुर्लभ है। बहुत सारे लोग इन्द्रियहीन दीख रहे हैं, इसलिए हे गौतम! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

१८—अहीणपंचिन्दियत्तं पि से लहे
उत्तमधम्मसुई हु दुल्लहा।
कुतित्थिनिसेवए[1] जणे
समयं गोयम! मा पमायए॥

अहीन-पंचेन्द्रियत्वमपि स लभेत
उत्तम-धर्म-श्रुतिः खलु दुर्लभा।
कुतीर्थि-निषेवको जनो
समयं गौतम! मा प्रमादीः॥

१८—पाँचों इन्द्रियाँ पूर्ण स्वस्थ होने पर भी उत्तम धर्म की श्रुति दुर्लभ है। बहुत सारे लोग कुतीर्थिकों की सेवा करने वाले होते हैं, इसलिए हे गौतम! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

१९—लद्धूण वि उत्तमं सुइं
सद्दहणा पुणरावि दुल्लहा।
मिच्छत्तनिसेवए जणे
समयं गोयम! मा पमायए॥

लब्ध्वाप्युत्तमां श्रुतिं
श्रद्धानं पुनरपि दुर्लभम्।
मिथ्यात्व-निषेवको जनो
समयं गौतम! मा प्रमादीः॥

१९—उत्तम धर्म की श्रुति मिलने पर भी श्रद्धा होना और अधिक दुर्लभ है। बहुत सारे लोग मिथ्यात्व का सेवन करने वाले होते हैं, इसलिए हे गौतम! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

१. कुतित्थं (बृ० पा०, चू०)।

२०—धम्मं पि हु सद्दहन्तया
दुल्लहया[1] काएण फासया।
इह कामगुणेहि[2] मुच्छिया
समयं गोयम! मा पमायए॥

धर्ममपि खलु श्रद्दधतः
दुर्लभकाः कायेन स्पर्शकाः।
इह काम-गुणेषु मूर्च्छिताः
समयं गौतम ! मा प्रमादीः॥

२०—उत्तम धर्म में श्रद्धा होने पर भी उसका आचरण करने वाले दुर्लभ हैं। इस लोक में बहुत सारे लोग काम-गुणों में मूर्च्छित होते हैं, इसलिए हे गौतम ! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

२१—परिजूरइ ते सरीरयं
केसा पण्डुरया हवन्ति ते।
से सोयबले य हायई
समयं गोयम! मा पमायए॥

परिजीर्यति ते शरीरकं
केशाः पाण्डुरका भवन्ति ते।
तच्छ्रोत्र-बलं च हीयते
समयं गौतम ! मा प्रमादीः॥

२१—तेरा शरीर जीर्ण हो रहा है, केश सफेद हो रहे हैं और श्रोत्र का पूर्ववर्ती बल क्षीण हो रहा है, इसलिए हे गौतम ! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

२२—परिजूरइ ते सरीरयं
केसा पण्डुरया हवन्ति ते।
से चक्खुबले य हायई
समयं गोयम! मा पमायए॥

परिजीर्यति ते शरीरकं
केशाः पाण्डुरका भवन्ति ते।
तच्चक्षु-बलं च हीयते
समयं गौतम ! मा प्रमादीः॥

२२—तेरा शरीर जीर्ण हो रहा है, केश सफेद हो रहे हैं और चक्षु का पूर्ववर्ती बल क्षीण हो रहा है, इसलिए हे गौतम ! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

२३—परिजूरइ ते सरीरयं
केसा पण्डुरया हवन्ति ते।
से घाणबले य हायई
समयं गोयम! मा पमायए॥

परिजीर्यति ते शरीरकं
केशाः पाण्डुरका भवन्ति ते।
तद्घ्राण-बलं च हीयते
समयं गौतम ! मा प्रमादीः॥

२३—तेरा शरीर जीर्ण हो रहा है, केश सफेद हो रहे हैं और घ्राण का पूर्ववर्ती बल क्षीण हो रहा है, इसलिए हे गौतम ! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

२४—परिजूरइ ते सरीरयं
केसा पण्डुरया हवन्ति ते।
से जिब्भबले य हायई
समयं गोयम! मा पमायए॥

परिजीर्यति ते शरीरकं
केशाः पाण्डुरका भवन्ति ते।
तज्जिह्वा-बलं च हीयते
समयं गौतम ! मा प्रमादीः॥

२४—तेरा शरीर जीर्ण हो रहा है, केश सफेद हो रहे हैं और जिह्वा का पूर्ववर्ती बल क्षीण हो रहा है, इसलिए हे गौतम ! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

२५—परिजूरइ ते सरीरयं
केसा पण्डुरया हवन्ति ते।
से फासबले य हायई
समयं गोयम! मा पमायए॥

परिजीर्यति ते शरीरकं
केशाः पाण्डुरका भवन्ति ते।
तत् स्पर्श-बलं च हीयते
समयं गौतम ! मा प्रमादीः॥

२५—तेरा शरीर जीर्ण हो रहा है, केश सफेद हो रहे हैं और स्पर्श का पूर्ववर्ती बल क्षीण हो रहा है, इसलिए हे गौतम ! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

---

१. दुल्लहा (उ)।
२. कामगुणेसु (उ, म, बृ०); कामगुणेहि (बृ० पा०)।

२६—परिजूरइ ते सरीरयं
केसा पण्डुरया हवन्ति ते।
से सव्वबले य हायई
समयं गोयम ! मा पमायए ॥

परिजीर्यति ते शरीरकं
केशाः पाण्डुरका भवन्ति ते।
तत् सर्व-बलं च हीयते
समयं गौतम ! मा प्रमादीः ॥

२६—तेरा शरीर जीर्ण हो रहा है, केश सफेद हो रहे हैं और सब प्रकार का पूर्ववर्ती बल क्षीण हो रहा है, इसलिए हे गौतम ! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

२७—अरई गण्डं विसूइया
आयंका विविहा फुसन्ति ते।
विवडइ विद्धंसइ ते सरीरयं
समयं गोयम ! मा पमायए ॥

अरतिर्गण्डं विसूचिका
आतङ्का विविधाः स्पृशन्ति ते।
विपतति विध्वस्यते ते शरीरकं
समयं गौतम ! मा प्रमादीः ॥

२७—पित्त-रोग, फोड़ा-फुन्सी, हैजा और विविध प्रकार के शीघ्र-घाती रोग शरीर का स्पर्श करते हैं, जिनसे यह शरीर शक्तिहीन और विनष्ट होता है, इसलिए हे गौतम ! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

२८—वोछिन्द सिणेहमप्पणो
कुमुयं सारइयं व[1] पाणियं।
से सव्वसिणेहवज्जिए
समयं गोयम ! मा पमायए ॥

व्युच्छिन्धि स्नेहमात्मनः
कुमुदं शारद-मिव पानीयम्।
तत्सर्वस्नेह-वर्जितः
समयं गौतम ! मा प्रमादीः ॥

२८—जिस प्रकार शरद्-ऋतु का कुमुद (रक्त-कमल) जल में लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार तू अपने स्नेह का विच्छेद कर निर्लिप्त बन। हे गौतम ! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

२९—चिच्चाण धणं च भारियं
पव्वइओ हि सि अणगारियं।
मा वन्तं पुणो वि आइए
समयं गोयम ! मा पमायए ॥

त्यक्त्वा धनं च भार्यां
प्रव्रजितोह्यस्यनगारिताम्।
मा वान्तं पुनरप्यापिब
समयं गौतम ! मा प्रमादीः ॥

२९—गाय आदि धन और पत्नी का त्याग कर तू अनगार-वृत्ति के लिए घर से निकला है। वमन किए हुए काम-भोगों को फिर से मत पी। हे गौतम ! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

३०—अवउज्झियं मित्तबन्धवं
विउलं चेव धणोहसंचयं।
मा तं बिइयं गवेसए
समयं गोयम ! मा पमायए ॥

अपोज्झ्य मित्र-बान्धवं
विपुलं चैव धनौघ-संचयम्।
मा तद् द्वितीयं गवेषय
समयं गौतम ! मा प्रमादीः ॥

३०—मित्र, बान्धव और विपुल धन-राशि को छोड़कर फिर से उनकी गवेषणा मत कर। हे गौतम ! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

३१—न हु जिणे अज्ज दिस्सई
बहुमए दिस्सई मग्गदेसिए।
संपइ नेयाउए पहे
समयं गोयम ! मा पमायए ॥

न खलु जिनोऽद्य दृश्यते
बहुमतो दृश्यते मार्ग-देशिकः।
सम्प्रति नैर्यातृके पथि
समयं गौतम ! मा प्रमादीः ॥

३१—"आज जिन नहीं दीख रहे हैं, जो मार्ग-दर्शक हैं वे एक मत नहीं हैं"—अगली पीढ़ियों को इस कठिनाई का अनुभव होगा, किन्तु अभी मेरी उपस्थिति में तुझे पार ले जाने वाला (न्यायपूर्ण) पथ प्राप्त है, इसलिए हे गौतम ! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

---

१. च (अ, उ)।

३२—अवसोहिय कण्टगापहं
ओइण्णो सि पहं महालयं।
गच्छसि मग्गं विसोहिया
समयं गोयम! मा पमायए॥

अवशोध्य कंटक-पथं
अवतीर्णोऽसि पन्थानं महालयं।
गच्छसि मार्गं विशोध्य
समयं गौतम! मा प्रमादीः॥

३२—काँटों से भरे मार्ग को छोड़ कर तू विशाल-पथ पर चला आया है। दृढ़ निश्चय के साथ उसी मार्ग पर चल। हे गौतम! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

३३—अबले जह भारवाहए
मा मग्गे विसमे वगाहिया।
पच्छा पच्छाणुतावए
समयं गोयम! मा पमायए॥

अबलो यथा भार-वाहकः
मा मार्गं विषममवगाह्य।
पश्चात्पश्चादनुतापकः
समयं गौतम! मा प्रमादीः॥

३३—बलहीन भार-वाहक की भाँति तू विषम मार्ग में मत चले जाना। विषम-मार्ग में जाने वाले को पछतावा होता है, इसलिए हे गौतम! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

३४—तिण्णो हु सि अण्णवं महं
किं पुण चिट्ठसि तीरमागओ।
अभितुर पारं गमित्तए
समयं गोयम! मा पमायए॥

तीर्णः खलु असि अर्णवं महान्तं
किं पुनस्तिष्ठसि तीरमागतः।
अभित्वरस्व पारं गन्तुं
समयं गौतम! मा प्रमादीः॥

३४—तू महान् समुद्र को तैर गया, अब तीर के निकट पहुँच कर क्यों खड़ा है? उसके पार जाने के लिए जल्दी कर। हे गौतम! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

३५—अकलेवरसेणिमुस्सिया
सिद्धिं गोयम लोयं गच्छसि।
खेमं च सिवं अणुत्तरं
समयं गोयम! मा पमायए॥

अकलेवर-श्रेणिमुच्छ्रित्य
सिद्धिं गौतम! लोकं गच्छसि।
क्षेमं च शिवमनुत्तरं
समयं गौतम! मा प्रमादीः॥

३५—हे गौतम! तू क्षपक-श्रेणी पर आरूढ़ होकर उस सिद्धि-लोक को प्राप्त होगा, जो क्षेम, शिव और अनुत्तर है, इसलिए हे गौतम! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

३६—बुद्धे परिनिव्वुडे चरे
गामगए नगरे व संजए।
सन्तिमग्गं च बूहए
समयं गोयम! मा पमायए॥

बुद्धः परिनिर्वृतश्चरेः
ग्रामे गतो नगरे वा संयतः।
शान्तिमार्गं बृंहयेः
समयं गौतम! मा प्रमादीः॥

३६—तू गाँव में या नगर में संयत, बुद्ध और उपशान्त होकर विचरण कर, शान्ति-मार्ग को बढ़ा। हे गौतम! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

३७—बुद्धस्स निसम्म भासियं
सुकहियमट्ठपओवसोहियं।
रागं दोसं च छिन्दिया
सिद्धिगइं गए गोयमे॥
—त्ति बेमि।

बुद्धस्य निशम्य भाषितं
सुकथितमर्थपदोपशोभितम्।
रागं द्वेषं च छित्त्वा
सिद्धिगतिं गतो गौतमः॥
इति ब्रवीमि।

३७—अर्थ और पद से उपशोभित एवं सुकथित भगवान् की वाणी को सुन कर राग और द्वेष का छेदन कर गौतम सिद्धि-गति को प्राप्त हुए।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

इक्कारसमं अज्झयणं :
बहुस्सुयपुज्जा

एकादशम अध्ययन :
बहुश्रुत-पूजा

आमुख

इस अध्ययन मे बहुश्रुत की भाव-पूजा का निरूपण है, इसलिए इसका नाम 'बहुस्सुयपुज्जा'—'बहुश्रुत-पूजा' रखा गया है। यहाँ बहुश्रुत का मुख्य अर्थ चतुर्दश-पूर्वी है। यह सारा प्रतिपादन उन्हीं से सम्बन्धित है। उपलक्षण से शेष सभी बहुश्रुत मुनियों की पूजनीयता भी प्राप्त होती है[1]।

निशीथ-भाष्य-चूर्णि के अनुसार बहुश्रुत तीन प्रकार के होते है[2]—

१—जघन्य बहुश्रुत—जो निशीथ का ज्ञाता हो।

२—मध्यम बहुश्रुत—जो निशीथ और चौदह-पूर्वों का मध्यवर्ती ज्ञाता हो।

३—उत्कृष्ट बहुश्रुत—जो चतुर्दश-पूर्वी हो।

सूत्रकार ने बहुश्रुत को अनेक उपमाओं से उपमित किया है। सारी उपमाएँ बहुश्रुत की आन्तरिक शक्ति और तेजस्विता को प्रकट करती हैं—

१—बहुश्रुत कम्बोज के घोड़ों की तरह शील से श्रेष्ठ होता है।

२—बहुश्रुत दृढ़ पराक्रमी योद्धा की तरह अजेय होता है।

३—बहुश्रुत ६० वर्ष के बलवान हाथी की तरह अपराजेय होता है।

४—बहुश्रुत यूथाधिपति वृषभ की तरह अपने गण का प्रमुख होता है।

५—बहुश्रुत दुष्पराजेय सिंह की तरह अन्य तीर्थिकों में श्रेष्ठ होता है।

६—बहुश्रुत वासुदेव की भाँति अबाधित पराक्रम वाला होता है।

७—बहुश्रुत चतुर्दश रत्नाधिपति चक्रवर्ती की भाँति चतुर्दश-पूर्वधर होता है।

८—बहुश्रुत देवाधिपति शक्र की भाँति संपदा का अधिपति होता है।

९—बहुश्रुत उगते हुए सूर्य की भाँति तप के तेज से प्रज्वलित होता है।

१०—बहुश्रुत पूर्णिमा के चन्द्रमा की भाँति सकल कलाओं से परिपूर्ण होता है।

११—बहुश्रुत धान से भरे कोठों की भाँति श्रुत से परिपूर्ण होता है।

१२—बहुश्रुत जम्बू वृक्ष की भाँति श्रेष्ठ होता है।

१३—बहुश्रुत सीता नदी की भाँति श्रेष्ठ होता है।

१४—बहुश्रुत मन्दर पर्वत की भाँति श्रेष्ठ होता है।

१५—बहुश्रुत नाना रत्नों से परिपूर्ण स्वयम्भूरमण समुद्र की भाँति अक्षय ज्ञान से परिपूर्ण होता है।

१—उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा ३१७ :

ते किर चउदसपुव्वी, सव्वक्खरसन्निवाइणो निउणा।
जा तेसि पूया खलु, सा भावे ताइ अहिगारो॥

२—निशीथ पीठिका भाष्य चूर्णि, पृष्ठ ४६५ :

बहुस्सुयं जस्स सो बहुस्सुतो, सो तिविहो—जहण्णो, मज्झिमो, उक्कोसो। जहण्णो जेणपकप्पज्झयणं अधीतं, उक्कोसो चोद्दस पुव्वधरो, तम्मज्झे मज्झिमो।

बहुश्रुतता का प्रमुख कारण है विनय। जो व्यक्ति विनीत होता है उसका श्रुत फलवान् होता है। जो विनीत नहीं होता उसका श्रुत फलवान् नहीं होता। स्तब्धता, क्रोध, प्रमाद, रोग और आलस्य—ये पाँच शिक्षा के विघ्न हैं।[1] इनकी तुलना योगमार्ग के नौ विघ्नों से होती है।[2]

आठ लक्षण युक्त व्यक्ति को शिक्षा प्राप्त होती है (श्लोक ४, ५)—

१—जो हास्य नहीं करता।

२—जो इन्द्रिय और मन का दमन करता है।

३—जो मर्म प्रकाशित नहीं करता।

४—जो चरित्रवान् होता है।

५—जो दुःशील नहीं होता।

६—जो रसों में अतिगृद्ध नहीं होता।

७—जो क्रोध नहीं करता।

८—जो सत्य में रत रहता है।

सूत्रकार ने अविनीत के १४ लक्षण और विनीत के १५ गुणों का प्रतिपादन कर अविनीत और विनीत की सुन्दर समीक्षा की है (श्लोक ६-१३)।

इस अध्ययन में श्रुत-अध्ययन के दो कारण बताए हैं (श्लोक ३२)—

१—स्व की मुक्ति के लिए।

२—पर की मुक्ति के लिए।

दशवैकालिक में श्रुत-अध्ययन के चार कारण दिए हैं—

१—मुझे श्रुत प्राप्त होगा, इसलिए अध्ययन करना चाहिए।

२—मैं एकाग्र चित्त होऊँगा, इसलिए अध्ययन करना चाहिए।

३—मैं आत्मा को धर्म में स्थापित करूँगा, इसलिए अध्ययन करना चाहिए।

४—मैं धर्म में स्थित होकर दूसरे को उसमें स्थापित करूँगा, इसलिए अध्ययन करना चाहिए।

१—उत्तराध्ययन ११।३ :

अह पंचहि ठाणेहिं, जेहिं सिक्खा न लब्भई।

थम्भा कोहा पमाएणं, रोगेणाऽलस्सएण य॥

२—पातंजल योगदर्शन १।३० :

व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः।

३—दशवैकालिक ६।४ सू० ५ :

सुयं मे भविस्सइ त्ति अज्झाइयव्वं भवइ। एगग्गचित्तो भविस्सामि त्ति अज्झाइयव्वं भवइ। अप्पाणं ठावइस्सामि त्ति अज्झाइयव्वं भवइ। ठिओ परं ठावइस्सामि त्ति अज्झाइयव्वं भवइ।

इक्कारसमं अज्झयणं : एकादश अध्ययन

बहुस्सुयपुज्जा : बहुश्रुत-पूजा

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
१—संजोगा विप्पमुक्कस्स अणगारस्स भिक्खुणो । आयारं पाउकरिस्सामि आणुपुव्वि सुणेह मे ॥	संयोगाद् विप्रमुक्तस्य अनगारस्य भिक्षोः । आचारं प्रादुष्करिष्यामि आनुपूर्व्या शृणुत मे ॥	१ जो संयोग से मुक्त है, जो अनगार है, जो भिक्षु है, उसका मैं क्रमशः आचार कहूँगा । मुझे सुनो ।
२—जे यावि होइ निव्विज्जे थद्धे लुद्धे अणिग्गहे । अभिक्खणं उल्लवई अविणीए अबहुस्सुए ॥	यश्चापि भवति निर्विद्यः स्तब्धो लुब्धोऽनिग्रहः । अभीक्ष्णमुल्लपति अविनीतोऽबहुश्रुतः ॥	२—जो विद्याहीन है, विद्यावान् होते हुए भी जो अभिमानी है, जो सरस आहार में लुब्ध है, जो अजितेन्द्रिय है, जो बार-बार असम्बद्ध बोलता है, जो अविनीत है, वह अबहुश्रुत कहलाता है ।
३—अह पंचहिं ठाणेहिं जेहिं सिक्खा न लब्भई । थम्भा कोहा पमाएणं रोगेणाऽलस्सएण य ॥	अथ पञ्चभिः स्थानैः यैः शिक्षा न लभ्यते । स्तम्भात् क्रोधात् प्रमादेन रोगेणालस्येन च ॥	३—मान, क्रोध, प्रमाद, रोग और आलस्य—इन पाँच स्थानों (हेतुओं) से शिक्षा प्राप्त नहीं होती ।
४—अह अट्ठहिं ठाणेहिं सिक्खासीले त्ति वुच्चई । अहस्सिरे सया दन्ते न य मम्ममुदाहरे ॥	अथाष्टभिः स्थानैः शिक्षा-शील इत्युच्यते । अहसिता सदा दान्तः न च मर्म उदाहरेत् ॥	४—आठ स्थानों (हेतुओं) से व्यक्ति को शिक्षा-शील कहा जाता है । (१) जो हास्य न करे, (२) जो सदा इन्द्रिय और मन का दमन करे, (३) जो मर्म-प्रकाशन न करे,
५—नासीले न विसीले न सिया अइलोलुए । अकोहणे सच्चरए सिक्खासीले त्ति वुच्चई ॥	नाशीलो न विशीलः न स्यादतिलोलुपः । अक्रोधनः सत्य-रतः शिक्षा-शील इत्युच्यते ॥	५—(४) जो चरित्र से हीन न हो, (५) जिसका चरित्र दोषों से कलुषित न हो, (६) जो रसों में अति लोलुप न हो, (७) जो क्रोध न करे, और (८) जो सत्य में रत हो—उसे शिक्षा-शील कहा जाता है ।

६—अह चउदसहिं ठाणेहिं
वट्टमाणे उ संजए।
अविणीए वुच्चई सो उ
निव्वाणं च न गच्छइ ॥

अथ चतुर्दशसु स्थानेषु
वर्तमानस्तु संयतः।
अविनीत उच्यते स तु
निर्वाणं च न गच्छति ॥

६—चौदह स्थानों (हेतुओं) में वर्तन करने वाला संयमी अविनीत कहा जाता है। वह निर्वाण को प्राप्त नहीं होता।

७—अभिक्खणं कोही हवइ
पबन्धं च पकुव्वई।
मेत्तिज्जमाणो वमइ
सुयं लद्धूण मज्जई ॥

अभीक्ष्णं क्रोधी भवति
प्रबन्धं च प्रकरोति।
मित्रीय्यमाणो वमति
श्रुतं लब्ध्वा माद्यति ॥

७—(१) जो बार-बार क्रोध करता है, (२) जो क्रोध को टिका कर रखता है, (३) जो मित्रभाव रखने वाले को भी ठुकराता है, (४) जो श्रुत प्राप्त कर मद करता है,

८—अवि पावपरिक्खेवी
अवि मित्तेसु कुप्पई।
सुप्पियस्सावि मित्तस्स
रहे भासइ पावगं ॥

अपि पाप-परिक्षेपी
अपि मित्रेभ्यः कुप्यति।
सुप्रियस्यापि मित्रस्य
रहसि भाषते पापकम् ॥

८—(५) जो किसी की स्खलना होने पर उसका तिरस्कार करता है, (६) जो मित्रों पर कुपित होता है, (७) जो अत्यन्त प्रिय मित्र की भी एकान्त में बुराई करता है,

९—पइण्णवाई दुहिले
थद्धे लुद्धे अणिग्गहे।
असंविभागी अचियत्ते
अविणीए त्ति वुच्चई ॥

प्रकीर्ण-वादी द्रोग्धा
स्तब्धो लुब्धोऽनिग्रहः।
असंविभागी 'अचियत्त'
अविनीत इत्युच्यते ॥

९—(८) जो असंबद्ध-भाषी है, (९) जो द्रोही है, (१०) जो अभिमानी है, (११) जो सरस आहार आदि में लुब्ध है, (१२) जो अजितेन्द्रिय है, (१३) जो असंविभागी है, और (१४) जो अप्रीतिकर है—वह अविनीत कहलाता है।

१०—अह पन्नरसहिं ठाणेहिं
सुविणीए त्ति वुच्चई।
नीयावत्ती अचवले
अमाई अकुऊहले ॥

अथ पंचदशभिः स्थानैः
सुविनीत इत्युच्यते।
नीचवर्त्यचपलः
अमाय्यकुतूहलः ॥

१०—पन्द्रह स्थानों (हेतुओं) से सुविनीत कहलाता है। (१) जो नम्र व्यवहार करता है, (२) जो चपल नहीं होता, (३) जो मायावी नहीं होता, (४) जो कुतूहल नहीं करता,

११—अप्पं चाऽहिक्खिवई[1]
पबन्धं च न कुव्वई।
मेत्तिज्जमाणो भयई
सुयं लद्धुं न मज्जई ॥

अल्पं चाधिक्षिपति
प्रबन्धं च न करोति।
मित्रीय्यमाणो भजति
श्रुतं लब्ध्वा न माद्यति ॥

११—(५) जो किसी का तिरस्कार नहीं करता, (६) जो क्रोध को टिका कर नहीं रखता, (७) जो मित्रभाव रखने वाले के प्रति कृतज्ञ होता है, (८) जो श्रुत प्राप्त कर मद नहीं करता,

---

१. वाऽहिक्खिवइ (अ); चऽहिक्खिवइ (उ)।

१२—न य पावपरिक्खेवी
न य मित्तेसु कुप्पई।
अप्पियस्सावि मित्तस्स
रहे कल्लाण भासई॥

न च पाप-परिक्षेपी
न च मित्रेभ्यः कुप्यति।
अप्रियस्यापि मित्रस्य
रहसि कल्याणं भाषते॥

१२—(९) जो स्खलना होने पर किसी का तिरस्कार नहीं करता, (१०) जो मित्रों पर क्रोध नहीं करता, (११) जो अप्रिय मित्र की भी एकान्त में प्रसंशा करता है,

१३—कलहडमरवज्जए
बुद्धे अभिजाइए।
हिरिमं पडिसंलीणे
सुविणीए त्ति वुच्चई॥

कलह-डमर-वर्जकः
बुद्धोऽभिजातिगः।
ह्रीमान् प्रतिसंलीनः
विनीत इत्युच्यते॥

१३—(१२) जो कलह और हाथापाई का वर्जन करता है, (१३) जो कुलीन होता है, (१४) जो लज्जावान् होता है और (१५) जो प्रतिसंलीन (इन्द्रिय और मन का संगोपन करने वाला) होता है—वह बुद्धिमान् मुनि विनीत कहलाता है।

१४—वसे गुरुकुले निच्चं
जोगवं उवहाणवं।
पियंकरे पियंवाई
से सिक्खं लद्धुमरिहई॥

वसेद् गुरु-कुले नित्यं
योगवानुपधानवान्।
प्रियङ्करः प्रियवादी
स शिक्षां लब्धुमर्हति॥

१४—जो सदा गुरु-कुल में वास करता है, जो समाधियुक्त होता है, जो उपधान (श्रुत-अध्ययन के समय तप) करता है, जो प्रिय करता है, जो प्रिय बोलता है—वह शिक्षा प्राप्त कर सकता है।

१५—जहा संखम्मि पयं
'निहियं दुहओ वि'[1] विरायइ।
एवं बहुस्सुए भिक्खू
धम्मो कित्ती तहा सुयं॥

यथाशङ्खे पयो
निहितं द्विधापि विराजते।
एवं बहुश्रुते भिक्षौ
धर्मः कीर्तिस्तथा श्रुतम्॥

१५—जिस प्रकार शङ्ख में रखा हुआ दूध दोनों ओर (अपने और अपने आधार के गुणों) से सुशोभित होता है, उसी प्रकार बहुश्रुत भिक्षु में धर्म, कीर्ति और श्रुत दोनों ओर (अपने और अपने आधार के गुणों) से सुशोभित होते हैं।

१६—जहा से कम्बोयाणं
आइण्णे कन्थए सिया।
आसे जवेण पवरे
एवं हवइ बहुस्सुए॥

यथा स काम्बोजानां
आकीर्णः कन्थकः स्यात्।
अश्वो जवेन प्रवरः
एवं भवति बहुश्रुतः॥

१६—जिस प्रकार कम्बोज के घोड़ों में से कन्थक घोड़ा शील आदि गुणों से आकीर्ण और वेग से श्रेष्ठ होता है, उसी प्रकार भिक्षुओं में बहुश्रुत श्रेष्ठ होता है।

१७—जहाइण्णसमारूढे
सूरे दढपरक्कमे।
उभओ नन्दिघोसेणं
एवं हवइ बहुस्सुए॥

यथाऽऽकीर्ण-समारूढः
शूरो दृढ-पराक्रमः।
उभयतो नन्दि-घोषेण
एवं भवति बहुश्रुतः॥

१७—जिस प्रकार आकीर्ण (जातिमान्) अश्व पर चढ़ा हुआ दृढ़ पराक्रम वाला योद्धा दोनों ओर बजने वाले वाद्यों के घोष से अजेय होता है, उसी प्रकार बहुश्रुत अपने आसपास होने वाले स्वाध्याय-घोष से अजेय होता है।

---

१. **निसितं उभयतो (बृ०)।**

१८—जहा करेणुपरिकिण्णे
कुंजरे सट्ठिहायणे ।
बलवन्ते अप्पडिहए
एवं हवइ बहुस्सुए ॥

यथा करेणुपरिकीर्णः
कुञ्जरः षष्ठिहायनः ।
बलवानप्रतिहतः
एवं भवति बहुश्रुतः ॥

१८—जिस प्रकार हथिनियों से परिवृत साठ वर्ष का बलवान् हाथी किसी से पराजित नहीं होता, उसी प्रकार बहुश्रुत दूसरों से पराजित नहीं होता ।

१९—जहा से तिक्खसिंगे
जायखन्धे विरायई ।
वसहे जूहाहिवई
एवं हवइ बहुस्सुए ॥

यथा स तीक्ष्ण-शृंगः
जात-स्कन्धो विराजते ।
वृषभो यूथाधिपतिः
एवं भवति बहुश्रुतः ॥

१९—जिस प्रकार तीक्ष्ण सींग और अत्यन्त पुष्ट स्कन्ध वाला बैल यूथ का अधिपति बन सुशोभित होता है, उसी प्रकार बहुश्रुत आचार्य बनकर सुशोभित होता है ।

२०—जहा से तिक्खदाढे
उदग्गे दुप्पहंसए ।
सीहे मियाण पवरे
एवं हवइ बहुस्सुए ॥

यथा स तीक्ष्ण-दंष्ट्रः
उदग्रो दुष्प्रधर्षकः ।
सिंहो मृगाणां प्रवरः
एवं भवति बहुश्रुतः ॥

२०—जिस प्रकार तीक्ष्ण दाढों वाला पूर्ण युवा और दुष्पराजेय सिंह आरण्य-पशुओं में श्रेष्ठ होता है, उसी प्रकार बहुश्रुत अन्य तीर्थिकों में श्रेष्ठ होता है ।

२१—जहा से वासुदेवे
संखचक्कगयाधरे ।
अप्पडिहयबले जोहे
एवं हवइ बहुस्सुए ॥

यथा स वासुदेवः
शङ्ख-चक्र-गदा-धरः ।
अप्रतिहत-बलो योधः
एवं भवति बहुश्रुतः ॥

२१—जिस प्रकार शङ्ख, चक्र और गदा को धारण करने वाला वासुदेव अबाधित बल वाला योद्धा होता है, उसी प्रकार बहुश्रुत अबाधित बल वाला होता है ।

२२—जहा से चाउरन्ते
चक्कवट्टी महिड्ढिए ।
चउदसरयणाहिवई
एवं हवइ बहुस्सुए ॥

यथा स चतुरन्तः
चक्रवर्ती महर्द्धिकः ।
चतुर्दशरत्नाधिपतिः
एवं भवति बहुश्रुतः ॥

२२—जिस प्रकार महान् ऋद्धिशाली, चतुरन्त चक्रवर्ती चौदह रत्नों का अधिपति होता है, उसी प्रकार बहुश्रुत चतुर्दश पूर्वधर होता है ।

२३—जहा से सहस्सक्खे
वज्जपाणी पुरन्दरे ।
सक्के देवाहिवई
एवं हवइ बहुस्सुए ॥

यथा स सहस्राक्षः
वज्रपाणिः पुरन्दरः ।
शक्रो देवाधिपतिः
एवं भवति बहुश्रुतः ॥

२३—जिस प्रकार सहस्रचक्षु, वज्रपाणि और पुरों का विदारण करने वाला शक्र देवों का अधिपति होता है, उसी प्रकार बहुश्रुत दैवी सम्पदा का अधिपति होता है ।

२४—जहा से तिमिरविद्धंसे
उत्तिट्ठन्ते दिवायरे।
जलन्ते इव तेएण
एवं हवइ बहुस्सुए॥

यथा स तिमिर-विध्वंसः
उत्तिष्ठन्दिवाकरः।
ज्वलन्निव तेजसा
एवं भवति बहुश्रुतः॥

२४—जिस प्रकार अन्धकार का नाश करने वाला उगता हुआ सूर्य तेज से जलता हुआ प्रतीत होता है, उसी प्रकार बहुश्रुत तप के तेज से जलता हुआ प्रतीत होता है।

२५—जहा से उडुवई चन्दे
नक्खत्तपरिवारिए।
पडिपुण्णे पुण्णमासीए
एवं हवइ बहुस्सुए॥

यथा स उडुपतिश्चन्द्रः
नक्षत्र-परिवारितः।
प्रतिपूर्णः पौर्णमास्यां
एवं भवति बहुश्रुतः॥

२५—जिस प्रकार नक्षत्र-परिवार से परिवृत ग्रहपति चन्द्रमा पूर्णिमा को प्रतिपूर्ण होता है, उसी प्रकार साधुओं के परिवार से परिवृत बहुश्रुत सकल कलाओं से परिपूर्ण होता है।

२६—जहा से सामाइयाणं[1]
कोट्ठागारे सुरक्खिए।
नाणाधन्नपडिपुण्णे
एवं हवइ बहुस्सुए॥

यथा स सामाजिकानां
कोष्ठागारः सुरक्षितः।
नानाधान्य-प्रतिपूर्णः
एवं भवति बहुश्रुतः॥

२६—जिस प्रकार सामाजिकों (समुदाय वृत्ति वालों) का कोष्ठागार सुरक्षित और अनेक प्रकार के धान्यों से परिपूर्ण होता है, उसी प्रकार बहुश्रुत नाना प्रकार के श्रुत से परिपूर्ण होता है।

२७—जहा सा दुमाण पवरा
जम्बू नाम सुदंसणा।
अणाढियस्स देवस्स
एवं हवइ बहुस्सुए॥

यथा सा द्रुमाणां प्रवरा
जम्बूर्नाम्ना सुदर्शना।
अनादृतस्य देवस्य
एवं भवति बहुश्रुतः॥

२७—जिस प्रकार अनादृत देव का आश्रय सुदर्शना नाम का जम्बू वृक्ष सब वृक्षों में श्रेष्ठ होता है, उसी प्रकार बहुश्रुत सब साधुओं में श्रेष्ठ होता है।

२८—जहा सा नईण पवरा
सलिला सागरंगमा।
सीया नीलवन्तपवहा[2]
एवं हवइ बहुस्सुए॥

यथा सा नदीनां प्रवरा
सलिला सागरङ्गमा।
शीतानीलवत्प्रवहा
एवं भवति बहुश्रुतः॥

२८—जिस प्रकार नीलवान् पर्वत से निकल कर समुद्र में मिलने वाली शीता नदी शेष नदियों में श्रेष्ठ है, उसी प्रकार बहुश्रुत सब साधुओं में श्रेष्ठ होता है।

२९—जहा से नगाण पवरे
सुमहं मन्दरे गिरी।
नाणोसहिपज्जलिए
एवं हवइ बहुस्सुए॥

यथा स नगानां प्रवरः
सुमहान्मन्दरो गिरिः।
नानौषधि-प्रज्वलितः
एवं भवति बहुश्रुतः॥

२९—जिस प्रकार अतिशय महान् और अनेक प्रकार की औषधियों से दीप्त मंदर पर्वत सब पर्वतों में श्रेष्ठ है, उसी प्रकार बहुश्रुत सब साधुओं में श्रेष्ठ होता है।

---

१. सामाइयंगाणं (बृ० पा०)।
२. °पभवा (बृ०); °पवहा (बृ० पा०)।

३०—जहा से सयंभूरमणे
उदही अक्खओदए ।
नाणारयणपडिपुण्णे[1]
एवं हवइ बहुस्सुए ॥

यथा स स्वयम्भूरमणः
उदधिरक्षयोदकः ।
नानारत्न-प्रतिपूर्णः
एवं भवति बहुश्रुतः ॥

३०—जिस प्रकार अक्षय जल वाला स्वयंभूरमण समुद्र अनेक प्रकार के रत्नों से भरा हुआ होता है, उसी प्रकार बहुश्रुत अक्षय ज्ञान से परिपूर्ण होता है ।

३१—समुद्दगम्भीरसमा दुरासया
अचक्किया केणइ दुप्पहंसया[2] ।
सुयस्स पुण्णा विउलस्स ताइणो
खवित्तु कम्मं गइमुत्तमं गया ॥

समुद्रगाम्भीर्यसमा दुरासदाः
अचकिताः केनापि दुष्प्रधर्षकाः ।
श्रुतेन पूर्णा विपुलेन त्रायिणः
क्षपयित्वा कर्मगतिमुत्तमां गताः ॥

३१—समुद्र के समान गम्भीर, दुरासद (कष्टों से अबाधित), अभय, किसी प्रतिवादी के द्वारा अपराजेय, विपुलश्रुत से पूर्ण और त्राता बहुश्रुत मुनि कर्मों का क्षय करके उत्तम गति (मोक्ष) में गये ।

३२—तम्हा सुयमहिट्ठेज्जा
उत्तमट्ठगवेसए[3] ।
जेणऽप्पाणं परं चेव
सिद्धिं संपाउणेज्जासि ॥
—त्ति बेमि ।

तस्माच्छ्रुतमधितिष्ठेत्
उत्तमार्थ-गवेषकः ।
येनात्मानं परं चैव
सिद्धिं संप्रापयेत् ॥
—इति ब्रवीमि ।

३२—इसलिए उत्तम-अर्थ (मोक्ष) की गवेषणा करने वाला मुनि श्रुत का आश्रयण करे, जिससे वह अपने आपको और दूसरों को सिद्धि (मुक्ति) की प्राप्ति करा सके ।
—ऐसा मैं कहता हूँ ।

---

१. °संपुण्णे (अ) ।
२. दुप्पहंसिया (चू०) ।
३. उत्तमिट्ठ° (अ) ।

बारसमं अज्झयणं :
हरिएसिज्जं

द्वादश अध्ययन :
हरिकेशीय

आमुख

यह अध्ययन मुनि हरिकेशबल से सम्बन्धित है, इसलिए इसका नाम 'हरिएसिज्जं'—'हरिकेशीय' है।

मथुरा नगरी के राजा 'शंख' विरक्त हो मुनि बन गए। ग्रामानुग्राम घूमते हुए एक बार वे हस्तिनागपुर (हस्तिनापुर) आए और भिक्षा के लिए नगर की ओर चले। ग्राम-प्रवेश के दो मार्ग थे। मुनि ने एक ब्राह्मण से मार्ग पूछा। एक मार्ग का नाम 'हुताशन' था और वह अत्यन्त निकट था। वह अग्नि की तरह प्रज्वलित रहता था। ब्राह्मण ने कुतूहलवश उस उष्ण मार्ग की ओर संकेत कर दिया। मुनि निश्छल भाव से उसी मार्ग पर चल पड़े। वे लब्धि-सम्पन्न थे। अतः उनके पाद-स्पर्श से मार्ग ठण्डा हो गया। मुनि को अविचल भाव से आगे बढ़ते देख ब्राह्मण भी उसी मार्ग पर चल पड़ा। मार्ग को बर्फ जैसा ठण्डा देख उसने सोचा—"यह मुनि का ही प्रभाव है।" उसे अपने अनुचित कृत्य पर पश्चाताप हुआ। वह दौड़ा-दौड़ा मुनि के पास आया और उसने अपना पाप प्रकट कर क्षमा-याचना की। मुनि ने धर्म का उपदेश दिया। ब्राह्मण के मन में विरक्ति के भाव उत्पन्न हुए। वह मुनि के पास प्रव्रजित हो गया। उसका नाम सोमदेव था। उसमें जाति का अवलेप था। 'मैं ब्राह्मण हूँ, उत्तम जातीय हूँ'—यह मद उसमें बना रहा। कालक्रम से मर कर वह देव बना। देव-आयुष्य को पूरा कर जाति-मद के परिपाक से गङ्गा नदी के तट पर हरिकेश के अधिप 'बलकोट्ट' नामक चाण्डाल की पत्नी 'गौरी' के गर्भ से पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ। उसका नाम बल रखा गया। यही बालक हरिकेशबल के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

एक दिन वह अपने साथियों के साथ खेल रहा था। खेलते-खेलते वह लड़ने लगा। लोगों ने जब यह देखा तो उसको दूर ढकेल दिया। दूसरे बालक पूर्ववत् खेलने लगे किन्तु वह दर्शक मात्र ही रहा। इतने में ही एक भयंकर सर्प निकला। लोगों ने उसे पत्थरों से मार डाला। कुछ ही क्षणों बाद एक अलसिया निकला। लोगों ने उसे छोड़ दिया। दूर बैठे बालक हरिकेश ने यह सब देखा। उसने सोचा—"प्राणी अपने दोषों से ही दुःख पाता है। यदि मैं सर्प के समान विषैला होता हूँ तो यह स्वाभाविक ही है कि लोग मुझे मारेंगे और यदि मैं अलसिए की तरह निर्विष होता हूँ तो कोई दूसरा मुझे क्यों सताएगा?" चिन्तन आगे बढ़ा। जाति-स्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ। जाति-मद के विपाक का चित्र सामने आ गया। निर्वेद को प्राप्त हो उसने दीक्षा ग्रहण कर ली। मुनि हरिकेशबल श्रामण्य का विशुद्ध रूप से पालन करते हुए तपस्या में लीन रहने लगे। तपः प्रभाव से अनेक यक्ष उनकी सेवा करने लगे। मुनि यक्ष-मन्दिर में कायोत्सर्ग, ध्यान आदि करते। एक बार वे ध्यानलीन खड़े थे। उस समय वाराणसी के राजा कौशलिक की लड़की भद्रा यक्ष की पूजा करने वहाँ आई। पूजा कर वह प्रदक्षिणा करने लगी। उसकी दृष्टि ध्यानलीन मुनि पर जा टिकी। उनके मैले कपड़े देख उसे घृणा हो आई। आवेश में आ उसने मुनि पर थूक दिया। यक्ष ने यह देखा। उसने सोचा—"इस कुमारी ने मुनि की आशातना की है। इसका फल इसे मिलना ही चाहिए।" यक्ष कुमारी के शरीर में प्रविष्ट हो गया। कुमारी पागल हो गयी। वह अनर्गल बातें कहने लगी। दासियाँ उसे राजमहल में ले गयीं। उपचार किया गया पर सब व्यर्थ। यक्ष ने कहा—"इस कुमारी ने एक तपस्वी मुनि का तिरस्कार किया है। यदि यह उस तपस्वी के साथ पाणिग्रहण करना स्वीकार कर लेती है तो मैं इसके शरीर से बाहर निकल सकता हूँ, अन्यथा नहीं।" राजा ने बात स्वीकार कर ली।

राजा अपनी कन्या को साथ ले यक्ष-मन्दिर में आया और मुनि को नमस्कार कर अपनी कन्या को स्वीकार करने की प्रार्थना की। मुनि ने ध्यान पारा और कहा—"राजन्! मैं मुमुक्षु हूँ। स्त्री मोक्ष-मार्ग में बाधक है, इसलिए मैं इसका स्पर्श भी नहीं कर सकता।" इतना कह मुनि पुनः ध्यानलीन हो गए।

कन्या को मुनि के चरणों में छोड़ राजा अपने स्थान पर आ गया। यक्ष ने मुनि का रूप बनाया और राजकन्या का पाणिग्रहण किया। रात भर कन्या वहीं रही। प्रभात में यक्ष दूर हुआ। मुनि ने सही-सही बात कन्या से कही। वह दौड़ी-दौड़ी राजा के पास गई और यक्ष द्वारा ठगे जाने की बात बताई। राजा के पास बैठे रुद्रदेव पुरोहित ने कहा—"राजन्! यह ऋषि-पत्नी है। मुनि ने इसे त्याग दिया है, अतः इसे किसी ब्राह्मण को दे देना चाहिए।" राजा ने उसी पुरोहित को कन्या सौंप दी। वह उसके साथ आनन्दपूर्वक रहने लगा। कुछ काल बीता। पुरोहित ने यज्ञ किया। दूर-दूर से विद्वान्-ब्राह्मण बुलाए गए। उन सबके आतिथ्य के लिए प्रचुर भोजन-सामग्री एकत्रित की गई।

उस समय मुनि हरिकेशबल एक-एक मास का तप कर रहे थे। पारणा के दिन वे भिक्षा के लिए घर-घर घूमते हुए उसी यज्ञ-मण्डप में जा पहुँचे।

उसके बाद मुनि और वहाँ के वरिष्ठ ब्राह्मणों के बीच जो वार्ता-प्रसंग चला उसका संकलन सूत्रकार ने किया है। वार्ता के माध्यम से ब्राह्मण-धर्म और निर्ग्रन्थ-प्रवचन का सार प्रतिपादित हुआ है। सर्वप्रथम ब्राह्मण-कुमार मुनि की अवहेलना करते हैं परन्तु अन्त में वे उनसे मार्ग-दर्शन लेते हैं।

इस अध्ययन में निम्न विषयों पर चर्चा हुई है—

१—दान का अधिकारी — श्लोक १२ से १८।
२—जातिवाद — श्लोक ३६।
३—यज्ञ — श्लोक ३८ से ४४।
४—जल-स्नान — श्लोक ३८, ४५, ४६, ४७।

बौद्ध-साहित्य में मातंग जातक (४९७) में यह कथा प्रकारान्तर से मिलती है।

बारसमं अज्झयणं : द्वादश अध्ययन

हरिएसिज्जं : हरिकेशीय

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
१—सोवागकुलसंभूओ गुणुत्तरधरो[1] मुणी । हरिएसबलो नाम आसि भिक्खू जिइन्दिओ ॥	श्वपाककुल-संभूतः उत्तर-गुण-धरो मुनिः । हरिकेशबलो नाम आसीद् भिक्षुर्जितेन्द्रियः ॥	१—चाण्डाल-कुल में उत्पन्न, ज्ञान आदि उत्तम गुणों को धारण करने वाला, धर्म-अधर्म का मनन करने वाला हरिकेशबल नामक जितेन्द्रिय भिक्षु था ।
२—इरिएसणभासाए उच्चारसमिईसु य । जओ आयाणनिक्खेवे संजओ सुसमाहिओ ॥	ईर्यैषणाभाषायां उच्चारसमितौ च । यत आदान-निक्षेपे संयतः सुसमाहितः ॥	२—वह ईर्या, एषणा, भाषा, उच्चार, आदान-निक्षेप—इन समितियों में सावधान था, संयमी और समाधिस्थ था ।
३—मणगुत्तो वयगुत्तो कायगुत्तो जिइन्दिओ । भिक्खट्ठा बम्भइज्जम्मि जन्नवाडं उवट्ठिओ ॥	मनो-गुप्तो वचो-गुप्तः काय-गुप्तो जितेन्द्रियः । भिक्षार्थं ब्रह्मेज्ये यज्ञवाटे उपस्थितः ॥	३—वह मन, वचन और काया से गुप्त और जितेन्द्रिय था । वह भिक्षा लेने के लिए यज्ञ-मण्डप में गया, जहाँ ब्राह्मण यज्ञ कर रहे थे ।
४—तं पासिऊणमेज्जन्तं तवेण परिसोसियं । पन्तोवहिउवगरणं उवहसन्ति अणारिया ॥	तं दृष्ट्वाऽऽयान्त तपसा परिशोषितम् । प्रान्तोपध्युपकरणं उपहसन्त्यनार्याः ॥	४—वह तप से कृश हो गया था । उसके उपधि और उपकरण प्रान्त (जीर्ण और मलिन) थे । उसे आते देख, वे अनार्य (ब्राह्मण) हँसे ।
५—जाईमयपडिथद्धा[2] हिंसगा अजिइन्दिया । अबम्भचारिणो बाला इमं वयणमब्बवी ॥	जातिमद-प्रतिस्तब्धाः हिंसका अजितेन्द्रियाः । अब्रह्मचारिणो बालाः इदं वचनमब्रुवन् ॥	५—जाति-मद से मत्त, हिंसक, अजितेन्द्रिय, अब्रह्मचारी और अज्ञानी ब्राह्मणों ने परस्पर इस प्रकार कहा—

१. अणुत्तरधरो (अ, बृ० पा०, चू०) ।
२. °पडिबद्धा (उ, बृ० पा०) ।

६—'कयरे आगच्छइ'[1] दित्तरूवे
काले विगराले फोक्कनासे।
ओमचेलए पंसुपिसायभूए
संकरदूसं परिहरिय कण्ठे ॥

कतर आगच्छति दीप्तरूपः
कालो विकरालः 'फोक्क' नासः।
अवम-चेलकः पांशुपिशाचभूतः
संकर-दूष्यं परिधाय कण्ठे ? ॥

६—बीभत्स रूप वाला, काला, विकराल और बड़ी नाक वाला, अधनङ्गा, पांशु-पिशाच (चुड़ैल) सा, गले में संकर-दूष्य (उकुरडी से उठाया हुआ चिथड़ा) डाले हुए वह कौन आ रहा है ?

७—कयरे[2] तुमं इय अदंसणिज्जे
काए व आसा इहमागओ सि।
ओमचेलगा पंसुपिसायभूया
गच्छ क्खलाहि किमिहं ठिओसि ? ॥

कतरस्त्वमित्यदर्शनीयः
कया वाऽऽशयेहागतोऽसि ?।
अवम-चेलकः पांशु-पिशाचभूतः
गच्छ अपसर किमिह स्थितोसि ? ॥

७—ओ अदर्शनीय मूर्ति ! तुम कौन हो ? किस आशा से यहाँ आए हो ? अधनंगे तुम पांशु पिशाच (चुड़ैल) से लग रहे हो। जाओ, आँखों से परे चले जाओ ! यहाँ क्यों खड़े हो ?

८—जक्खो तहिं तिन्दुयरुक्खवासी
अणुकम्पओ तस्स महामुणिस्स।
पच्छायइत्ता नियगं सरीरं
इमाइं वयणाइमुदाहरित्था ॥

यक्षस्तस्मिन् तिन्दुकवृक्ष-वासी
अनुकम्पकस्तस्य महामुनेः।
प्रच्छाद्य निजकं शरीरं
इमानि वचनानि उदाहार्षीत् ॥

८—उस समय महामुनि हरिकेशबल की अनुकम्पा करने वाला तिन्दुक (आबनूस) वृक्ष का वासी यक्ष अपने शरीर का गोपन कर मुनि के शरीर में प्रवेश कर इस प्रकार बोला—

९—समणो अहं संजओ बम्भयारी
विरओ धणपयणपरिग्गहाओ।
परप्पवित्तस्स उ भिक्खकाले
अन्नस्स अट्ठा इहमागओ मि ॥

श्रमणोऽहं संयतो ब्रह्मचारी
विरतो धन-पचन-परिग्रहात्।
पर-प्रवृत्तस्य तु भिक्षाकाले
अन्नस्यार्थं इहाऽऽगतोस्मि ॥

९—"मैं श्रमण हूं, संयमी हूं, ब्रह्मचारी हूं, धन व पचन-पाचन और परिग्रह से विरत हूं। यह भिक्षा का काल है। मैं सहज निष्पन्न भोजन पाने के लिए यहां आया हूं।"

१०—वियरिज्जइ खज्जइ भुज्जई य
अन्नं पभूयं भवयाणमेयं।
जाणाहि मे 'जायणजीविणु त्ति'[3]
सेसावसेसं लभऊ तवस्सी ॥

वितीर्यते खाद्यते भुज्यते च
अन्नं प्रभूतं भवतामेतत्।
जानीत मां याचना-जीविनमिति
शेषावशेषं लभतां तपस्वी ॥

१०—"आपके यहाँ पर यह बहुत सारा भोजन दिया जा रहा है, खाया जा रहा है और भोगा जा रहा है। मैं भिक्षा-जीवी हूं, यह आपको ज्ञात होना चाहिए। अच्छा ही है कुछ बचा भोजन इस तपस्वी को मिल जाए।"

११—उवक्खडं भोयण माहणाणं
अत्तट्ठियं सिद्धमिहेगपक्खं।
न ऊ वयं एरिसमन्नपाणं
दाहामु तुज्झं किमिहं ठिओ सि? ॥

उपस्कृतं भोजनं ब्राह्मणानां
आत्मार्थिकं सिद्धमिहैक-पक्षम्।
न तु वयमीदृशमन्न-पानं
दास्यामः तुभ्यं किमिह स्थितोऽसि ? ॥

११—(सोमदेव—) यहाँ जो भोजन बना है, वह केवल ब्राह्मणों के लिए ही बना है। वह एक-पाक्षिक है— अब्राह्मण को अदेय है। ऐसा अन्न-पान हम तुम्हे नहीं देंगे, फिर यहाँ क्यों खड़े हो ?

---

१. कयरे तुमं एसिध (चू०); कयरे आगच्छति (बृ० पा०); को रे आगच्छइ (बृ०पा०)।
२. को रे (सु० पा०, बृ० पा०)।
३. "जीवणो त्ति (बृ० पा०)।

१२—थलेसु बीयाइ ववन्ति कासगा
तहेव निन्नेसु य आससाए।
एयाए सद्धाए दलाह मज्झं
'आराहए पुण्णमिणं खु खेत्तं'[1]॥

स्थलेषु बीजानि वपन्ति कर्षकाः
तथैव निम्नेषु चाऽऽशंसया।
एतया श्रद्धया दद्ध्वं मह्यं
आराधयत पुण्यमिदं खलु क्षेत्रम्॥

१२—(यक्ष—) "अच्छी उपज की आशा से किसान जैसे स्थल (ऊँची भूमि) में बीज बोते हैं, वैसे ही नीची भूमि में बोते हैं। इसी श्रद्धा से (अपने आपको निम्न भूमि और मुझे स्थल तुल्य मानते हुए भी तुम) मुझे दान दो, पुण्य की आराधना करो। यह क्षेत्र है, बीज खाली नहीं जाएगा।"

१३—खेत्ताणि अम्हं विइयाणि लोए
जहिं पकिण्णा विरुहन्ति पुण्णा।
जे माहणा जाइविज्जोववेया
ताइं तु खेत्ताइं सुपेसलाइं॥

क्षेत्राण्यस्माकं विदितानि लोके
येषु प्रकीर्णानि विरोहन्ति पूर्णानि।
ये ब्राह्मणा जातिविद्योपेताः
तानि तु क्षेत्राणि सुपेशलानि॥

१३—(सोमदेव—) "जहाँ बोए हुए सारे के सारे बीज उग जाते हैं, वे क्षेत्र इस लोक में हमें ज्ञात हैं। जो ब्राह्मण जाति और विद्या से युक्त हैं, वे ही पुण्य-क्षेत्र हैं।"

१४—कोहो य माणो य वहो य जेसिं
मोसं अदत्तं च परिग्गहं च।
ते माहणा जाइविज्जाविहूणा
ताइं तु खेत्ताइं सुपावयाइं॥

क्रोधश्च मानश्च वधश्च येषां
मृषा अदत्तं च परिग्रहश्च।
ते ब्राह्मणा जाति-विद्या-विहीनाः
तानि तु क्षेत्राणि सुपापकानि॥

१४—(यक्ष) "जिनमें क्रोध है, मान है, हिंसा है, झूठ है, चोरी है और परिग्रह है—वे ब्राह्मण जाति-विहीन, विद्या-विहीन और पाप-क्षेत्र हैं।

१५—तुब्भेत्थ भो! भारधरा[2] गिराणं
अट्ठं न जाणाह अहिज्ज वेए।
उच्चावयाइं मुणिणो चरन्ति
ताइं तु खेत्ताइं सुपेसलाइं॥

यूयमत्र भो! भारधरा गिरां
अर्थं न जानीथाधीत्य वेदान्।
उच्चावचानि चरन्ति मुनयः
तानि तु क्षेत्राणि सुपेशलानि॥

१५—"हे ब्राह्मणो! इस संसार में तुम केवल वाणीका भार ढो रहे हो। वेदों को पढ कर भी उनका अर्थ नहीं जानते। जो मुनि उच्च और नीच घरों में भिक्षा के लिए जाते हैं, वे ही पुण्य-क्षेत्र हैं।"

१६—अज्झावयाणं पडिकूलभासी
पभाससे किं तु सगासि अम्हं।
अवि एयं विणस्सउ अन्नपाणं[3]
न य णं दहामु तुमं नियण्ठा!॥

अध्यापकानां प्रतिकूलभाषी
प्रभाषसे किं तु सकाशेऽस्माकम्।
अप्येतद् विनश्यतु अन्न-पानं
न च दास्यामः तुभ्यं निर्ग्रन्थ!॥

१६—(सोमदेव—) "ओ! अध्यापकों के प्रतिकूल बोलने वाले साधु! हमारे समक्ष तू क्या बढ़-बढ़ कर बोल रहा है? हे निर्ग्रन्थ! यह अन्न-पान भले ही सड़ कर नष्ट हो जाए किन्तु तुझे नहीं देंगे।"

१७—समिईहि मज्झं सुसमाहियस्स
गुत्तीहि गुत्तस्स जिइन्दियस्स।
जइ मे न दाहित्थ अहेसणिज्जं
किमज्ज जन्नाण लहित्थ लाहं?॥

समितिभिर्मह्यं सुसमाहिताय
गुप्तिभिर्गुप्ताय जितेन्द्रियाय।
यदि मह्यं न दास्यथाऽथैषणीयं
किमद्य यज्ञानां लप्स्यध्वे लाभम्?॥

१७—(यक्ष—) "मैं समितियों से समाहित, गुप्तियों से गुप्त और जितेन्द्रिय हूँ। यह एषणीय (विशुद्ध) आहार यदि तुम मुझे नहीं दोगे, तो इन यज्ञों का आज तुम्हें क्या लाभ होगा?"

---

१. आराहगा होहिम पुण्ण खेत्तं (वृ० पा०)।
२. भारवहा (वृ० पा०)।
३. भत्तपाणं (वृ०)।

१८—के एत्थ खत्ता उवजोइया वा
अज्झावया वा सह खण्डिएहिं।
एयं[1] दण्डेण फलेण हन्ता
कण्ठम्मि घेत्तूण खलेज्ज जो णं ?॥

केऽत्र क्षत्रा उपज्योतिषा वा
अध्यापका वा सह खण्डिकैः।
एनं खलु दण्डेन फलेन हत्वा
कण्ठे गृहीत्वा स्खलयेयुः ये ?॥

१८—(सोमदेव—) "यहाँ कौन है क्षत्रिय, रसोइया, अध्यापक या छात्र, जो डण्डे और फल से पीट, गलहत्था दे इस निर्ग्रन्थ को यहाँ से बाहर निकाले ?"

१९—अज्झावयाणं वयणं सुणेत्ता
उद्धाइया तत्थ बहू कुमारा।
दण्डेहि वित्तेहि कसेहि चेव
समागया तं 'इसि तालयन्ति'[2] ॥

अध्यापकानां वचनं श्रुत्वा
उद्धावितास्तत्र बहवः कुमाराः।
दण्डैर्वेत्रैः कशैश्चैव
समागतास्तमृषिं ताडयन्ति ॥

१९—अध्यापकों का वचन सुनकर बहुत से कुमार उधर दौड़े। वहाँ आ डण्डों, बेंतों और चाबुकों से उस ऋषि को पीटने लगे।

२०—रन्नो तहिं कोसलियस्स धूया
भद्द त्ति नामेण अणिन्दियंगी।
तं पासिया संजय हम्ममाणं
कुद्धे कुमारे परिनिव्ववेइ ॥

राज्ञस्तत्र कौशलिकस्य दुहिता
भद्रेति नाम्ना अनिन्दिताङ्गी।
तं दृष्ट्वा संयतं हन्यमानं
क्रुद्धान्कुमारान्परिनिर्वापयति ॥

२०—राजा कौशलिक की सुन्दर पुत्री भद्रा यज्ञ-मण्डप में मुनि को प्रताड़ित होते देख क्रुद्ध कुमारों को शान्त करने लगी।

२१—देवाभिओगेण निओइएणं
दिन्ना मु रन्ना मणसा न झाया।
नरिन्ददेविन्दऽभिवन्दिएणं
जेणम्हि वन्ता इसिणा स एसो ॥

देवाभियोगेन नियोजितेन
दत्ताऽस्मि राज्ञा मनसा न ध्याता।
नरेन्द्रदेवेन्द्राभिवन्दितेन
येनास्मि वान्ता ऋषिणा स एषः ॥

२१—(भद्रा—) "राजाओं और इन्द्रों से पूजित यह वह ऋषि है, जिसने मेरा त्याग किया। देवता के अभियोग से प्रेरित हो कर राजा द्वारा मैं दी गई, किन्तु जिसने मुझे मन से भी नहीं चाहा।

२२—एसो हु सो उग्गतवो महप्पा
जिइन्दिओ संजओ बम्भयारी।
'जो मे'[3] तया नेच्छइ दिज्जमाणिं
पिउणा सयं कोसलिएण रन्ना॥

एष खलु स उग्र-तपा महात्मा
जितेन्द्रियः संयतो ब्रह्मचारी।
यो मां तदा नेच्छति दीयमानां
पित्रा स्वयं कौशलिकेन राज्ञा ॥

२२—"यह वही उग्र तपस्वी, महात्मा, जितेन्द्रिय, संयमी और ब्रह्मचारी है, जिसने मुझे मेरे पिता राजा कौशलिक द्वारा दिये जाने पर भी नहीं चाहा।

२३—महाजसो एस महाणुभागो[4]
घोरव्वओ घोरपरक्कमो य।
मा एयं हीलह अहीलणिज्जं
मा सव्वे तेएण भे निद्दहेज्जा ॥

महायशा एष महानुभागः
घोर-व्रतो घोर-पराक्रमश्च।
मैनं हीलयताहीलनीयं
मा सर्वान् तेजसा भवतो निर्धाक्षीत्॥

२३—"यह महान् यशस्वी है। महान् अनुभाग (अचिन्त्य-शक्ति) से सम्पन्न है। घोर व्रती है। घोर पराक्रमी है। इसकी अवहेलना मत करो, यह अवहेलनीय नहीं है। कहीं यह अपने तेज से तुम लोगों को भस्मसात् न कर डाले ?"

---

१. एयं खु (अ, उ); एयं तु (आ)।
२. इसि तावयंति (उ, ऋ०)।
३. जो मं (अ, आ)।
४. महानुभावो (बृ० पा०, चू०)।

२४—एयाइं तीसे वयणाइ सोच्चा
पत्तीइ भद्दाइ सुहासियाइं।
इसिस्स वेयावडियट्ठयाए
जक्खा कुमारे विणिवाडयन्ति[1]॥

एतानि तस्या वचनानि श्रुत्वा
पत्न्या भद्रायाः सुभाषितानि।
ऋषेर्वैयापृत्यार्थं
यक्षाः कुमारान् विनिवारयन्ति॥

२४—सोमदेव पुरोहित की पत्नी भद्रा के सुभाषित वचनों को सुन कर यक्षों ने ऋषि का वैयापृत्य (परिचर्या) करने के लिए कुमारों को भूमि पर गिरा दिया।

२५—ते घोररूवा ठिय अन्तलिक्खे
असुरा तहिं तं जणं तालयन्ति।
ते भिन्नदेहे रुहिरं वमन्ते
पासित्तु भद्दा इणमाहु भुज्जो॥

ते घोर-रूपाः स्थिता अन्तरिक्षे
असुरास्तत्र तं जनं ताडयन्ति।
तान् भिन्न-देहान् रुधिरं वमतः
दृष्ट्वा भद्रेदमाह भूयः॥

२५—घोर रूप वाले यक्ष आकाश में स्थिर हो कर उन छात्रों को मारने लगे। उनके शरीरों को क्षत-विक्षत और उन्हें रुधिर का वमन करते देख भद्रा फिर कहने लगी—

२६—गिरिं नहेहिं खणह
अयं दन्तेहिं खायह।
जायतेयं पाएहिं हणह
जे भिक्खुं अवमन्नह॥

गिरिं नखैः खनथ
अयो दन्तैः खादथ।
जाततेजसं पादैर्हथ
ये भिक्षुमवमन्यध्वे॥

२६—"जो इस भिक्षु का अपमान कर रहे हैं, वे नखों से पर्वत खोद रहे हैं, दाँतों से लोहे को चबा रहे हैं और पैरों से अग्नि को प्रताड़ित कर रहे हैं।

२७—आसीविसो उग्गतवो महेसी
घोरव्वओ घोरपक्कमो य।
अगणिं व पक्खन्द पयंगसेणा
जे भिक्खुयं भत्तकाले वहेह[2]॥

आशीविष उग्र-तपा महर्षिः
घोर-व्रतो घोर-पराक्रमश्च।
अग्निमिव प्रस्कन्दथ पतङ्गसेना
ये भिक्षुकं भक्त-काले विध्यथ॥

२७—"यह महर्षि आशीविष-लब्धि से सम्पन्न है। उग्र तपस्वी है। घोर व्रती और घोर पराक्रमी है। भिक्षा के समय जो भिक्षु का वध कर रहे हैं, वे पतंग-सेना की भाँति अग्नि में झंपापात कर रहे हैं।

२८—सीसेण एयं सरणं उवेह
समागया सव्वजणेण तुब्भे।
जइ इच्छह जीवियं वा धणं वा
लोगं पि एसो कुविओ डहेज्जा॥

शीर्षेणैनं शरणमुपेत
समागताः सर्वजनेन यूयम्।
यदीच्छथ जीवितं वा धनं वा
लोकमप्येष कुपितो दहेत्॥

२८—"यदि तुम जीवन और धन चाहते हो तो सब मिलकर, शिर झुका कर इस मुनि की शरण में आओ। कुपित होने पर यह समूचे संसार को भस्म कर सकता है।"

२९—अवहेडिय[3] पिट्ठसउत्तमंगे
पसारियाबाहु अकम्मचेट्ठे।
निब्भेरियच्छे रुहिरं वमन्ते
उड्ढंमुहे निग्गयजीहनेत्ते॥

अवहेठित-पृष्ठ-सदुत्तमाङ्गान्
प्रसारित बाहुकर्मचेष्टान्।
प्रसारिताक्षान् रुधिरं वमतः
ऊर्ध्व-मुखान्निर्गत-जिह्वा-नेत्रान्॥

२९—उन छात्रों के सिर पीठ की ओर झुक गए। उनकी भुजाएं फैल गईं। वे निष्क्रिय हो गए। उनकी आँखें खुली की खुली रह गईं। उनके मुँह से रुधिर निकलने लगा। उनके मुँह ऊपर को हो गए। उनकी जीभें और नेत्र बाहर निकल आए।

१. विणिवारयंति (बृ० पा०)।
२. हणेह (बृ०)।
३. आवडिय (बृ० पा०)।

३०—ते पासिया खण्डिय कट्ठभूए
विमणो विसण्णो अह माहणो सो।
इसिं पसाएइ सभारियाओ
हीलं च निन्दं च खमाह भन्ते!॥

तान् दृष्ट्वा खण्डिकान्काष्ठभूतान्
विमना विषण्णोऽथ ब्राह्मणः सः।
ऋषिं प्रसादयति सभार्याकः
हीलां च निन्दां च क्षमस्व भदन्त!॥

३०—उन छात्रों को काठ की तरह निश्चेष्ट देख कर वह सोमदेव ब्राह्मण उदास और, घबराया हुआ अपनी पत्नी सहित मुनि के पास आ उन्हें प्रसन्न करने लगा—"भन्ते! हमने जो अवहेलना और निन्दा की उसे क्षमा करें।

३१—बालेहि मूढेहि अयाणएहिं
जं हीलिया तस्स खमाह भन्ते!।
महप्पसाया इसिणो हवन्ति
न हु मुणी कोवपरा हवन्ति॥

बालैर्मूढैरज्ञैः
यद् हीलितास्तत्क्षमस्व भदन्त!।
महाप्रसादा ऋषयो भवन्ति
न खलु मुनयः कोपपरा भवन्ति॥

३१—"भन्ते! मूढ़ बालकों ने अज्ञानवश जो आपकी अवहेलना की, उसे आप क्षमा करें। ऋषि महान् प्रसन्नचित्त होते हैं। मुनि कोप नहीं किया करते।"

३२—'पुव्विं च इण्हिं च अणागयं च'[1]
मणप्पदोसो न मे अत्थि कोइ।
जक्खा हु वेयावडियं करेन्ति
तम्हा हु एए निहया कुमारा॥

पूर्वं चेदानीं चानागतं च
मनः-प्रदोषो न मेऽस्तिकोऽपि।
यक्षाः खलु वैयापृत्यं कुर्वन्ति
तस्मात् खलु एतेनिहताः कुमाराः॥

३२—(मुनि—) "मेरे मन में कोई प्रद्वेष न पहले था, न अभी है और न आगे भी होगा। किन्तु यक्ष मेरा वैयापृत्य कर रहे हैं। इसी-लिए ये कुमार प्रताडित हुए।"

३३—अत्थं च धम्मं च वियाणमाणा
तुब्भे न वि कुप्पह भूइपन्ना।
तुब्भं तु पाए सरणं उवेमो
समागया सव्वजणेण अम्हे॥

अर्थं च धर्मं च विजानन्तः
यूयं नापि कुप्यथ भूति-प्रज्ञाः।
युष्माकं तु पादौ शरणमुपेमः
समागताः सर्वजनेन वयम्॥

३३—(सोमदेव—) "अर्थ और धर्म को जानने वाले भूति-प्रज्ञ (मंगल-प्रज्ञा युक्त) आप कोप नहीं करते। इसलिए हम सब मिल कर आपके चरणों की शरण ले रहे है।

३४—अच्चेमु ते महाभाग![2]
न ते किंचि न अच्चिमो।
भुंजाहि सालिमं कूरं
नाणावंजणसंजुयं॥

अर्चयामस्ते महाभाग!
न ते किंचिन्नार्चयामः।
भुङ्क्ष्व शालिमत् कूरं
नानाव्यञ्जन-संयुतम्॥

३४—"महाभाग! हम आपकी अर्चा करते हैं। आपका कुछ भी ऐसा नहीं है, जिसकी हम अर्चा न करें। आप नाना व्यंजनों से युक्त चावल-निष्पन्न भोजन ले कर खाइए।

३५—इमं च मे अत्थि पभूयमन्नं
तं भुंजसू अम्ह अणुग्गहट्ठा।
बाढं ति पडिच्छइ भत्तपाणं
मासस्स ऊ पारणए महप्पा॥

इदं च मेऽस्ति प्रभूतमन्नं
तद्भुङ्क्ष्वास्माकमनुग्रहार्थम्।
बाढमिति प्रतीच्छति भक्त-पानं
मासस्य तु पारणके महात्मा॥

३५—"मेरे यहाँ यह प्रचुर भोजन पड़ा है। हमें अनुगृहीत करने के लिए आप कुछ खाएँ।" महात्मा हरिकेशबल ने हाँ भर ली और एक मास की तपस्या का पारणा करने के लिए भक्त-पान लिया।

१. पुव्विं च पच्छा व तहेव मज्झे (बृ० पा०); पुव्विं च पच्छा व अणागयं च (चू०)।
२. महाभागा! (अ, उ, ऋ०)।

३६—तहियं गन्धोदयपुप्फवासं
दिव्वा तहिं वसुहारा य वुट्ठा।
पहयाओ[1] दुन्दुहीओ सुरेहिं
आगासे अहो दाणं च घुट्ठं॥

तस्मिन् गन्धोदक-पुष्पवर्षः
दिव्या तस्मिन् वसु-धारा च वृष्टा।
प्रहता दुन्दुभयः सुरैः
आकाशेऽहो दानं च घुष्टम्॥

३६—देवों ने वहाँ सुगन्धित जल, पुष्प और दिव्य-धन की वर्षा की। आकाश में दुन्दुभि बजाई और 'अहो दानम्' (आश्चर्यकारी दान)—इस प्रकार का घोष किया।

३७—सक्खं खु दीसइ तवोविसेसो
न दीसई जाइविसेस कोई।
'सोवागपुत्ते हरिएससाहू'[2]
जस्सेरिसा इड्ढि महाणुभागा॥

साक्षात् खलु दृश्यते तपो-विशेषः
न दृश्यते जाति-विशेषः कोऽपि।
श्वपाक-पुत्रं हरिकेश-साधुं
यस्येदृशी ऋद्धिर्महानुभागा॥

३७—यह प्रत्यक्ष ही तप की महिमा दीख रही है, जाति की कोई महिमा नहीं है। जिसकी ऋद्धि ऐसी महान् (अचिन्त्य शक्ति सम्पन्न) है, वह हरिकेश मुनि चाण्डाल का पुत्र है।

३८—किं माहणा! जोइसमारभन्ता
उदएण सोहिं बहिया विमग्गहा?।
जं मग्गहा बाहिरियं विसोहिं
न तं सुदिट्ठं कुसला वयन्ति॥

किं ब्राह्मणा! ज्योतिः समारभमाणाः
उदकेन शुद्धिं बाह्यां विमार्गयथ।
यद् मार्गयथ बाह्यां विशुद्धिं
न तत् सुदृष्टं कुशला वदन्ति॥

३८—(मुनि—) "ब्राह्मणो! अग्नि का समारम्भ (यज्ञ) करते हुए तुम बाहर से (जल से) शुद्धि की क्या माँग कर रहे हो? जिस शुद्धि की बाहर से माँग कर रहे हो, उसे कुशल लोग सुदृष्ट (सम्यग्दर्शन) नहीं कहते।

३९—कुसं च जूवं तणकट्ठमग्गिं
सायं च पायं उदगं फुसन्ता।
पाणाइ भूयाइ विहेडयन्ता
भुज्जो वि मन्दा! पगरेह पावं॥

कुशं च यूपं तृण-काष्ठमग्निं
सायं च प्रातरुदकं स्पृशन्तः।
प्राणान् भूतान् विहेठयन्तः
भूयोऽपि मन्दाः प्रकुरुथ पापम्॥

३९—"दर्भ, यूप (यज्ञ-स्तम्भ), तृण, काष्ठ और अग्नि का उपयोग करते हुए, संध्या और प्रातःकाल में जल का स्पर्श करते हुए, प्राणों और भूतों की हिंसा करते हुए, मन्दबुद्धि वाले तुम बार-बार पाप करते हो।"

४०—कहं चरे? भिक्खु! वयं जयामो?
पावाइ कम्माइ पणोल्लयामो?।
अक्खाहि णे संजय! जक्खपूइया!
कहं सुजट्ठं कुसला वयन्ति?॥

कथं चरामो? भिक्षो! वयं यजामः?
पापानि कर्माणि प्रणुदामः?।
आख्याहि नः संयत! यक्षपूजित!
कथं स्विष्टं कुशला वदन्ति?॥

४०—(सोमदेव—) "हे भिक्षो! हम कैसे प्रवृत्त हों? यज्ञ कैसे करें? जिससे पाप-कर्मों का नाश कर सकें। यक्ष-पूजित संयत! आप हमें बताएँ—कुशल पुरुषों ने सुइष्ट (श्रेष्ठ-यज्ञ) का विधान किस प्रकार किया है?"

---

१. पहया (उ, ऋ०)।
२. सोवागपुत्तं हरिएससाहुं (बृ० पा०)।

४१—छज्जीवकाए असमारभन्ता
मोसं अदत्तं च असेवमाणा।
परिग्गहं इत्थिओ माणमायं
एयं परिन्नाय चरन्ति[1] दन्ता॥

षड्जीवकायानसमारभमाणाः
मृषाअदत्तं चासेवमानाः।
परिग्रहं स्त्रियो मानं मायां
एतत्परिज्ञाय चरन्ति दान्ताः॥

४१—(मुनि—) "मन और इन्द्रियों का दमन करने वाले छह जीव-निकाय की हिंसा नहीं करते; असत्य और चौर्य का सेवन नहीं करते; परिग्रह, स्त्री, मान और माया का परित्याग कर के विचरण करते हैं।

४२—सुसंवुडो[2] पंचहिं संवरेहिं
इह जीवियं अणवकंखमाणो[3]।
वोसट्टकाओ[4] सुइचत्तदेहो[5]
महाजयं जयई जन्नसिट्ठं॥

सुसंवृताः पञ्चभिः संवरैः
इह जीवितमनवकांक्षन्तः।
व्युत्सृष्ट-कायः शुचि-त्यक्तदेहः
महाजयं यजते यज्ञ-श्रेष्ठम्॥

४२—"जो पाँच संवरों से सुसंवृत्त होता है, जो असंयम-जीवन की इच्छा नहीं करता, जो काय का व्युत्सर्ग करता है, जो शुचि है और जो देह का त्याग करता है, वह महाजयी श्रेष्ठ यज्ञ करता है।"

४३—के ते जोई? के व ते जोइठाणे?
का ते सुया? किं व[6] ते कारिसंगं?।
एहा य ते कयरा सन्ति? भिक्खू!
कयरेण होमेण हुणासि जोइं?॥

किं ते ज्योतिः? किं वा ते ज्योतिः-स्थानं?
कास्ते स्रुवः? किं वा ते करीषाङ्गम्?।
एधाश्च ते कतराः? शान्तिः? भिक्षो!
कतरेण होमेन जुहोषि ज्योतिः?॥

४३—(सोमदेव—) "भिक्षो! तुम्हारी ज्योति कौन-सी है? तुम्हारा ज्योति-स्थान (अग्नि-स्थान) कौन-सा है? तुम्हारे घी डालने की करछियाँ कौन-सी हैं? तुम्हारे अग्नि को जलाने के कण्डे कौन-से हैं? तुम्हारे ईंधन और शान्ति-पाठ कौन-से हैं? और किस होम से तुम ज्योति को हुत (प्रीणित) करते हो?"

४४—तवो जोई जीवो जोइठाणं
जोगा सुया सरीरं कारिसंगं।
कम्म एहा संजमजोगसन्ती
होमं हुणामी इसिणं पसत्थं॥

तपोज्योतिर्जीवो ज्योतिः-स्थानं
योगाः स्रुवः शरीरं करीषाङ्गम्।
कर्मैधाः संयम-योगाः शान्तिः
होमं जुहोमि ऋषीणां प्रशस्तम्॥

४४—(मुनि—) "तप ज्योति है। जीव ज्योति-स्थान है। योग (मन, वचन और काया की सत् प्रवृत्ति) घी डालने की करछियाँ हैं। शरीर अग्नि जलाने के कण्डे हैं। कर्म ईंधन है। संयम की प्रवृत्ति शान्ति-पाठ है। इस प्रकार मैं ऋषि प्रशस्त (अहिंसक) होम करता हूँ।"

४५—के ते हरए? के य ते सन्तितित्थे?
कहिंसि ण्हाओ व रयं जहासि?।
आइक्ख णे संजय! जक्खपूइया!
इच्छामो नाउं भवओ सगासे॥

कस्ते ह्रदः? किञ्च ते शान्ति-तीर्थं?
कस्मिन् स्नातो वा रजो जहासि?।
आचक्ष्व नः संयत! यक्षपूजित!
इच्छामो ज्ञातुं भवतः सकाशे॥

४५—(सोमदेव—) "आपका नद (जलाशय) कौन-सा है? आपका शान्ति-तीर्थ कौन-सा है? आप कहाँ नहा कर कर्मरज धोते है? हे यक्ष-पूजित संयत! हम आपसे जानना चाहते हैं—आप बताइए।"

---

१. चरेज्ज (बृ०); चरन्ति (बृ० पा०)।
२. सुसंवुडा (उ, ऋ)।
३. अणवकंखमाणा (उ, ऋ)।
४. वोसट्टकाया (उ, ऋ)।
५. सुइचत्तदेहा (उ, ऋ)।
६. च (उ, ऋ०)।

४६—धम्मे हरए बम्भे सन्तितित्थे
अणाविले अत्तपसन्नलेसे ।
जहिंसि ण्हाओ विमलो विसुद्धो
सुसीइभूओ[1] पजहामि दोसं ॥

धर्मो ह्रदः ब्रह्म शान्ति-तीर्थं
अनाविले आत्मप्रसन्न-लेश्ये ।
यस्मिन् स्नातो विमलो विशुद्धः
सुशीतीभूतः प्रजहामि दोषम् ॥

४६—(मुनि—) "अकलुषित एवं आत्मा का प्रसन्न-लेश्या वाला धर्म मेरा नद (जलाशय) है। ब्रह्मचर्य मेरा शान्ति-तीर्थ है। जहाँ नहा कर मैं विमल, विशुद्ध और सुशीतल होकर कर्म-रज का त्याग करता हूँ।"

४७—एयं सिणाणं कुसलेहि दिट्ठं
महासिणाणं इसिणं पसत्थं ।
'जहिंसि ण्हाया'[2] विमला विसुद्धा
महारिसी उत्तम ठाण पत्त ॥
—त्ति बेमि ।

एतत्स्नानं कुशलैर्दृष्टं
महास्नानमृषीणां प्रशस्तम् ।
यस्मिन्स्नाता विमला विशुद्धाः
महर्षय उत्तमं स्थानं प्राप्ताः ॥
—इति ब्रवीमि ।

४७—"यह स्नान, कुशल पुरुषों द्वारा दृष्ट है। यह महास्नान है। अतः ऋषियों के लिए यही प्रशस्त है। इस धर्म-नद में नहाए हुए महर्षि विमल और विशुद्ध होकर उत्तम-स्थान (मुक्ति) को प्राप्त हुए।"

—ऐसा मैं कहता हूँ।

---

१. सुसीकभूओ (बृ० पा०)।
२. जहिं सिणाया (अ, उ, ऋ)।

तेरसमं अज्झयणं :
चित्तसम्भूइज्जं

त्रयोदश अध्ययन :
चित्र-सम्भूतीय

आमुख

इस अध्ययन में चित्र और संभूत के पारस्परिक सम्बन्ध और विसम्बन्ध का निरूपण है, इसलिए इसका नाम 'चित्तसम्भूइज्जं' 'चित्र-सम्भूतीय' है।[1]

उस काल और उस समय साकेत नगर मे चन्द्रावतंसक राजा का पुत्र मुनिचन्द्र राज्य करता था। राज्य का उपभोग करते-करते उसका मन काम-भोगों से विरक्त हो गया। उसने मुनि सागरचन्द के पास दीक्षा ग्रहण की। वह अपने गुरु के साथ-साथ देशान्तर जा रहा था। एक बार वह भिक्षा लेने गाँव में गया, पर सार्थ से बिछुड़ गया और एक भयानक अटवी में जा पहुँचा। वह भूख और प्यास से व्याकुल हो रहा था। वहाँ चार ग्वाल-पुत्र गाएँ चरा रहे थे। उन्होंने मुनि की अवस्था देखी। उनका मन करुणा से भर गया। उन्होंने मुनि की परिचर्या की। मुनि स्वस्थ हुए। चारों ग्वाल-बालकों को धर्म का उपदेश दिया। चारों बालक प्रतिबुद्ध हुए और मुनि के पास दीक्षित हो गए। वे सभी आनन्द से दीक्षा-पर्याय का पालन करने लगे। किन्तु उनमे से दो मुनियों के मन में मैले कपड़ों के विषय मे जुगुप्सा रहने लगी। चारों मर कर देव-गति मे गए। जुगुप्सा करने वाले दोनों देवलोक से च्युत हो दशपुर नगर में शांडिल्य ब्राह्मण की दासी यशोमती की कुक्षी से युगल रूप में जन्मे। वे युवा हुए। एक बार वे जंगल मे अपने खेत की रक्षा के लिए गए। रात हो गई। वे एक वट वृक्ष के नीचे सो गए। अचानक ही वृक्ष की कोटर से एक सर्प निकला और एक को डँस कर चला गया। दूसरा जागा। उसे यह बात मालूम हुई। तत्काल ही वह सर्प की खोज मे निकला। वही सर्प उसे भी डँस गया। दोनों मर कर कालिंजर पर्वत पर एक मृगी के उदर से युगल रूप से उत्पन्न हुए। एक बार दोनों आसपास चर रहे थे। एक व्याध ने एक ही बाण से दोनों को मार डाला। वहाँ से मर कर वे गंगा नदी के तीर पर एक राजहँसिनी के गर्भ में आए। युगल रूप में जन्मे। वे युवा बने। वे दोनों साथ-साथ घूम रहे थे। एक बार एक मछुआ ने उन्हें पकड़ा और गर्दन मरोड़ कर मार डाला।

उस समय वाराणसी नगरी मे चाण्डालों का एक अधिपति रहता था। उसका नाम था भूतदत्त। वह बहुत समृद्ध था। वे दोनो हँस मर कर उसके पुत्र हुए। उनका नाम चित्र और सम्भूत रखा गया। दोनों भाइयों में अपार स्नेह था।

उस समय वाराणसी नगरी मे शङ्ख राजा राज्य करता था। नमुचि उसका मंत्री था। एक बार उसके किसी अपराध पर राजा क्रुद्ध हो गया और वध की आज्ञा दे दी। चाण्डाल भूतदत्त को यह कार्य सौंपा गया। उसने नमुचि को अपने घर में छिपा लिया और कहा—"मंत्रिन्! यदि आप मेरे तल-घर में रहकर मेरे दोनों पुत्रों को अध्यापन कराना स्वीकार करें तो मैं आपका वध नहीं करूँगा।" जीवन की आशा से मंत्री ने बात मान ली। अब वह चाण्डाल के पुत्रों—चित्र और संभूत को पढ़ाने लगा। चाण्डाल-पत्नी नमुचि की परिचर्या करने लगी। कुछ काल बीता। नमुचि चाण्डाल-स्त्री में आसक्त हो गया। भूतदत्त ने यह बात जान ली। उसने नमुचि को मारने का विचार किया। चित्र और संभूत दोनों ने अपने पिता के विचार जान लिए। गुरु के प्रति कृतज्ञता से प्रेरित हो उन्होंने नमुचि को कहीं

१—उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा ३३२ :

चित्तसंभूआउं वेअंतो, भावओ अ नायव्वो।
तत्तो समुट्ठिअमिणं, अज्झयणं चित्तसंभूयं॥

भाग जाने की सलाह दी। नमुचि वहाँ से भागा-भागा हस्तिनापुर में आया और चक्रवर्ती सनत्कुमार का मन्त्री बन गया।

चित्र और संभूत बड़े हुए। उनका रूप और लावण्य आकर्षक था। नृत्य और संगीत में वे प्रवीण हुए। वाराणसी के लोग उनकी कलाओं पर मुग्ध थे।

एक बार मदन-महोत्सव आया। अनेक गायक-टोलियाँ मधुर राग में अलाप रही थीं और तरुण-तरुणियों के अनेक गण नृत्य कर रहे थे। उस समय चित्र-संभूत की नृत्य-मण्डली भी वहाँ आ गई। उनका गाना और नृत्य सबसे अधिक मनोरम था। उसे सुन और देख कर सारे लोग उनकी मण्डली की ओर चले आए। युवतियाँ मंत्र-मुग्ध सी हो गयीं। सभी तन्मय थे। ब्राह्मणों ने यह देखा। मन में ईर्ष्या उभर आई। जातिवाद की आड़ ले वे राजा के पास गए और सारा वृत्तान्त कह सुनाया। राजा ने दोनों मातंग-पुत्रों को नगर से निकाल दिया। वे अन्यत्र चले गए।

कुछ समय बीता। एक बार कौमुदी-महोत्सव के अवसर पर वे दोनों मातंग-पुत्र पुनः नगर में आए। वे मुँह पर कपड़ा डाले महोत्सव का आनन्द ले रहे थे। चलते-चलते उनके मुँह से संगीत के स्वर निकल पड़े। लोग अवाक् रह गए। वे उन दोनों के पास आए। आवरण हटाते ही उन्हें पहचान गए। उनका रक्त ईर्ष्या से उबल गया। "ये चाण्डाल-पुत्र हैं"—ऐसा कहकर उन्हें लातों और चाटों से मारा और नगर से बाहर निकाल दिया। वे बाहर एक उद्यान में ठहरे। उन्होंने सोचा—"धिक्कार है हमारे रूप, यौवन, सौभाग्य और कला-कौशल को! आज हम चाण्डाल होने के कारण प्रत्येक वर्ग से तिरस्कृत हो रहे हैं। हमारा सारा गुण-समूह दूषित हो रहा है। ऐसा जीवन जीने से लाभ ही क्या?" उनका मन जीने से ऊब गया। वे आत्म-हत्या का दृढ़ सङ्कल्प ले वहाँ से चले। एक पहाड़ पर इसी विचार से चढ़े। ऊपर चढ़कर उन्होंने देखा कि एक श्रमण ध्यान-लीन है। वे साधु के पास आए और बैठ गए। ध्यान पूर्ण होने पर साधु ने उनका नाम-धाम पूछा। दोनों ने अपना पूर्व वृत्तान्त कह सुनाया। मुनि ने कहा—"तुम अनेक कला-शास्त्रों के पारगामी हो। आत्म-हत्या करना नीच व्यक्तियों का काम है। तुम्हारे जैसे विमल-बुद्धि वाले व्यक्तियों के लिए वह उचित नहीं। तुम इस विचार को छोड़ो और जिन-धर्म की शरण में आओ। इससे तुम्हारे शारीरिक और मानसिक सभी दुःख उच्छिन्न हो जायेंगे।" उन्होंने मुनि के वचन को शिरोधार्य किया और हाथ जोड़कर कहा—"भगवन्! आप हमें दीक्षित करें।" मुनि ने उन्हें योग्य समझ दीक्षा दी। गुरु-चरणों की उपासना करते हुए वे अध्ययन करने लगे। कुछ समय बाद वे गीतार्थ हुए। विचित्र तपस्याओं से आत्मा को भावित करते हुए वे ग्रामानुग्राम विहार करने लगे। एक बार वे हस्तिनापुर आए। नगर के बाहर एक उद्यान में ठहरे। एक दिन मास-क्षमण का पारणा करने के लिए मुनि संभूत नगर में गए। भिक्षा के लिए वे घर-घर घूम रहे थे। मंत्री नमुचि ने उन्हें देख कर पहचान लिया। उसकी सारी स्मृतियाँ सद्यस्क हो गईं। उसने सोचा—यह मुनि मेरा सारा वृत्तान्त जानता है। यहाँ के लोगों के समक्ष यदि इसने कुछ कह डाला तो मेरी महत्ता नष्ट हो जायगी। ऐसा विचार कर उसने लाठी और मुक्कों से मार कर मुनि को नगर से बाहर निकालना चाहा। कई लोग मुनि को पीटने लगे। मुनि शान्त रहे। परन्तु लोग जब अत्यन्त उग्र हो गए, तब मुनि का चित्त अशान्त हो गया। उनके मुँह से धुंआ निकला और सारा नगर अन्धकारमय हो गया। लोग घबड़ाए। अब वे मुनि को शान्त करने लगे। चक्रवर्ती सनत्कुमार भी वहाँ आ पहुँचा। उसने मुनि से प्रार्थना की—"भंते! यदि हम से कोई त्रुटि हुई हो तो आप क्षमा करें। आगे हम ऐसा अपराध नहीं करेंगे। आप महान् हैं। नगर-निवासियों को जीवन-दान दें।" इतने से मुनि का क्रोध शान्त नहीं हुआ। उद्यान में बैठे मुनि चित्र ने यह सम्वाद सुना और आकाश को धूम्र से आच्छादित देखा। वे तत्काल वहाँ आये और उन्होंने मुनि संभूत से कहा—"मुने! क्रोधानल को उपशान्त करो, उपशान्त करो! महर्षि उपशम-प्रधान होते हैं। वे अपराधी पर भी क्रोध नहीं करते। तुम अपनी शक्ति का संवरण करो।" मुनि संभूत का मन शान्त हुआ। उन्होंने तेजोलेश्या का संवरण किया। अंधकार मिट गया। लोग प्रसन्न हुए। दोनों मुनि उद्यान में

लौट गए। उन्होंने सोचा—"हम काय-संलेखना कर चुके हैं, इसलिए अब अनशन करना चाहिए।" दोनों ने बड़े धैर्य के साथ अनशन ग्रहण किया।

चक्रवर्ती सनत्कुमार ने जब यह जाना कि मन्त्री नमुचि के कारण ही सभी लोगों को संत्रास सहना पड़ा है तो उसने मन्त्री को बाँधने का आदेश दिया। मन्त्री को रस्सों से बाँध कर मुनियों के पास लाए। मुनियों ने राजा को समझाया और उसने मन्त्री को मुक्त कर दिया। चक्रवर्ती दोनों मुनियों के पैरों पर गिर पड़ा। रानी सुनन्दा भी साथ थी। उसने भी वन्दना की। अकस्मात् ही उसके केश मुनि सम्भूत के पैरों को छू गए। मुनि सम्भूत को अपूर्व आनन्द का अनुभव हुआ। उसने निदान करने का विचार किया। मुनि चित्र ने ज्ञान-शक्ति से यह जान लिया और निदान न करने की शिक्षा दी, पर सब व्यर्थ। मुनि सम्भूत ने निदान किया—"यदि मेरी तपस्या का फल है तो मैं चक्रवर्ती बनूँ।"

दोनों मुनियों का अनशन चालू था। वे मर कर सौधर्म देवलोक में देव बने। वहाँ का आयुष्य पूरा कर चित्र का जीव पुरिमताल नगर में एक इभ्य सेठ का पुत्र बना और सम्भूत का जीव काँपिल्यपुर में ब्रह्म राजा की रानी चुलनी के गर्भ में आया। रानी ने चौदह महा स्वप्न देखे। बालक का जन्म हुआ। उसका नाम ब्रह्मदत्त रखा गया।

राजा ब्रह्म के चार मित्र थे—(१) काशी देश का अधिपति कटक, (२) गजपुर का राजा कणेरदत्त, (३) कोशल देश का राजा दीर्घ और (४) चम्पा का अधिपति पुष्पचूल। राजा ब्रह्म का इनके साथ अगाध प्रेम था। वे सभी एक-एक वर्ष एक-एक के राज्य में रहते थे। एक बार वे सब राजा ब्रह्म के राज्य में समुदित हो रहे थे। उन्हीं दिनों की बात है, एक दिन राजा ब्रह्म को असह्य मस्तक-वेदना उत्पन्न हुई। स्थिति चिन्ताजनक बन गई। राजा ब्रह्म ने अपने पुत्र ब्रह्मदत्त को चारों मित्रों को सौंपते हुए कहा—"इसका राज्य तुम्हें चलाना है।" मित्रों ने स्वीकार किया।

कुछ काल बाद राजा ब्रह्म की मृत्यु हो गई। मित्रों ने उसका अन्त्येष्टि-कर्म किया। उस समय कुमार ब्रह्मदत्त छोटी अवस्था में था। चारों मित्रों ने विचार-विमर्श कर कोशल देश के राजा दीर्घ को राज्य का सारा भार सौंपा और बाद में सब अपने-अपने राज्य की ओर चले गए। राजा दीर्घ राज्य की व्यवस्था करने लगा। सर्वत्र उसका प्रवेश होने लगा। रानी चुलनी के साथ उसका प्रेम-बन्धन गाढ़ होता गया। दोनों निःसंकोच विषय-वासना का सेवन करने लगे।

रानी के इस दुश्चरण को जानकर राजा ब्रह्म का विश्वस्त मन्त्री धनु चिन्ताग्रस्त हो गया। उसने सोचा—"जो व्यक्ति अधम आचरण में फँसा हुआ है, वह भला कुमार ब्रह्मदत्त का क्या हित साध सकेगा?"

उसने रानी चुलनी और राजा दीर्घ के अवैध-सम्बन्ध की बात अपने पुत्र वरधनु के द्वारा कुमार तक पहुँचाई। कुमार को यह बात बहुत बुरी लगी। उसने एक उपाय ढूँढ़ा। एक कौवे और एक कोकिल को पिंजरे में बन्द कर अन्तःपुर में ले गया और रानी चुलनी को सुनाते हुए कहा—"जो कोई भी अनुचित सम्बन्ध जोड़ेगा, उसे मैं इसी प्रकार पिंजरे में डाल दूँगा।" राजा दीर्घ ने यह बात सुनी। उसने चुलनी से कहा—"कुमार ने हमारा सम्बन्ध जान लिया है। मुझे कौवा और तुम्हें कोयल मान संकेत दिया है। अब हमें सावधान हो जाना चाहिए।" चुलनी ने कहा—"वह अभी बच्चा है। जो कुछ मन में आता है कह देता है।" राजा दीर्घ ने कहा—"नहीं, ऐसा नहीं है। वह हमारे प्रेम में बाधा डालने वाला है। उसको मारे बिना अपना सम्बन्ध नहीं निभ सकता।" चुलनी ने कहा—"जो आप कहते हैं, वह सही है किन्तु उसे कैसे मारा जाय? लोकापवाद से भी तो हमें डरना चाहिए।" राजा दीर्घ ने कहा—"जनापवाद से बचने के लिए पहले हम इसका विवाह कर दें, फिर ज्यों-त्यों इसे मार देंगे।" रानी ने बात मान ली।

एक शुभ-वेला में कुमार का विवाह सम्पन्न हुआ। उसके शयन के लिए राजा दीर्घ ने हजार स्तम्भ वाला एक लाक्षा-गृह बनवाया।

इधर मन्त्री धनु ने राजा दीर्घ से प्रार्थना की—"स्वामिन्! मेरा पुत्र वरधनु मन्त्री-पद का कार्यभार संभालने के योग्य हो गया है। मैं अब कार्य से निवृत्त होना चाहता हूँ।" राजा ने उसकी प्रार्थना स्वीकार कर ली और छलपूर्वक कहा—"तुम और कहीं जा कर क्या करोगे? यहीं रहो और दान आदि धर्मों का पालन करो।" मन्त्री ने राजा की बात मान ली। उसने नगर के बाहर गङ्गा नदी के तट पर एक विशाल प्याऊ बनाई। वहाँ वह पथिकों और परिव्राजकों को प्रचुर अन्न-पान देने लगा। दान और सम्मान के वशीभूत हुए पथिकों और परिव्राजकों द्वारा उसने लाक्षा-गृह से प्याऊ तक एक सुरंग खुदवाई। राजा-रानी को इस सुरंग की बात ज्ञात नहीं हुई।

रानी चुलनी ने कुमार ब्रह्मदत्त को अपनी नववधू के साथ उस लाक्षा-गृह में भेजा। दोनों वहाँ गए। रानी ने शेष सभी ज्ञाति-जनों को अपने-अपने घर भेज दिया। मन्त्री का पुत्र वरधनु वहीं रहा। रात्रि के दो पहर बीते। कुमार ब्रह्मदत्त गाढ़ निद्रा में लीन था। वरधनु जाग रहा था। अचानक लाक्षा-गृह एक ही क्षण में प्रदीप्त हो उठा। हाहाकार मचा। कुमार जागा और दिङ्मूढ़ बना हुआ वरधनु के पास आ बोला—"यह क्या हुआ? अब क्या करें?" वरधनु ने कहा—"यह राज-कन्या नहीं है, जिसके साथ आपका पाणि-ग्रहण हुआ है। इसमें प्रतिबन्ध करना उचित नहीं है। चलो हम चलें।" उसने कुमार ब्रह्मदत्त को एक संकेतित स्थान पर लात मारने को कहा। कुमार ने लात मारी। सुरंग का द्वार खुल गया। वे उसमें घुसे। मन्त्री ने पहले ही अपने दो विश्वासी पुरुष सुरंग के द्वार पर नियुक्त कर रखे थे। वे घोड़ों पर चढ़े हुए थे। ज्यों ही कुमार ब्रह्मदत्त और वरधनु सुरंग से बाहर निकले त्यों ही उन्हें घोड़ों पर चढ़ा दिया। वे दोनों वहाँ से चले। पचास योजन दूर जा कर ठहरे। लम्बी यात्रा के कारण घोड़े खिन्न हो कर गिर पड़े। अब वे दोनों वहाँ से पैदल चले। वे चलते-चलते वाराणसी पहुँचे। राजा कटक ने जब यह संवाद सुना तब वह बहुत ही प्रसन्न हुआ और पूर्ण सम्मान से कुमार ब्रह्मदत्त का नगर में प्रवेश करवाया। अपनी पुत्री कटकावती से उसका विवाह किया। राजा कटक ने दूत भेजकर सेना सहित पुष्पचूल को बुला लिया। मन्त्री धनु और राजा कणेरुदत्त भी वहाँ आ पहुँचे। और भी अनेक राजा मिल गए। उन सबने वरधनु को सेनापति के पद पर नियुक्त कर काँपिल्यपुर पर चढ़ाई कर दी। घमासान युद्ध हुआ। राजा दीर्घ मारा गया। "चक्रवर्ती की विजय हुई"—यह घोष चारों ओर फैल गया। देवों ने आकाश से फूल बरसाए। "बारहवाँ चक्रवर्ती उत्पन्न हुआ है"—यह नाद हुआ। सामन्तों ने कुमार ब्रह्मदत्त का चक्रवर्ती के रूप में अभिषेक किया।

राज्य का परिपालन करता हुआ ब्रह्मदत्त सुखपूर्वक रहने लगा। एक बार एक नट आया। उसने राजा से प्रार्थना की—"मैं आज मधुकरी गीत नामक नाट्य-विधि का प्रदर्शन करना चाहता हूँ।" चक्रवर्ती ने स्वीकृति दे दी। अपराह्न में नाटक होने लगा। उस समय एक कर्मकरी ने फूल-मालाएँ ला कर राजा के सामने रखीं। राजा ने उन्हें देखा और मधुकरी गीत सुना। तब चक्रवर्ती के मन में एक विकल्प उत्पन्न हुआ—"ऐसा नाटक उसके पहले भी कहीं देखा है।" वह इस चिन्तन में लीन हुआ और उसे पूर्व-जन्म की स्मृति हो आई। उसने जान लिया कि ऐसा नाटक मैंने सौधर्म देवलोक के पद्मगुल्म नामक विमान में देखा था।

इसकी स्मृति मात्र से वह मूर्च्छित हो कर भूमि पर गिर पड़ा। पास में बैठे हुए सामन्त उठे, चन्दन का लेप किया। राजा की चेतना लौट आई। सम्राट् आश्वस्त हुआ। पूर्वजन्म के भाई की याद सताने लगी। उसकी खोज करने के लिए उसने एक मार्ग ढूँढा। रहस्य को छिपाते हुए सम्राट् ने महामात्य वरधनु से कहा—"आस्वदासौ, मृगौ हंसौ, मातंगावमरौ तथा"—इस श्लोकार्द्ध को सब जगह प्रचारित करो और यह घोषणा करो कि इस श्लोक की पूर्ति करने वाले को सम्राट् अपना आधा राज्य देगा। प्रतिदिन यह घोषणा होने लगी। यह अर्द्ध श्लोक दूर-दूर तक प्रसारित हो गया और व्यक्ति-व्यक्ति को कण्ठस्थ हो गया।

इधर चित्र का जीव देवलोक से च्युत हो कर पुरिमताल नगर में एक इभ्य सेठ के घर जन्मा। युवा हुआ। एक दिन पूर्व-जन्म की स्मृति हुई और वह मुनि बन गया। एक बार ग्रामानुग्राम विहार करते-करते वहीं कांपिल्यपुर में आया और मनोरम नाम के कानन में ठहरा। एक दिन वह कायोत्सर्ग कर रहा था। उसी समय रहँट को चलाने वाला एक व्यक्ति वहाँ बोल उठा—

"आस्वदासौ मृगौ हंसौ, मातंगावमरौ तथा।"

मुनि ने यह सुना और उसके आगे के दो चरण पूरा करते हुए कहा—

"एषा नौः षष्ठिका जातिः, अनन्योन्याभ्यां वियुक्तयोः॥"

रहँट चलाने वाले उस व्यक्ति ने उन दोनों चरणों को एक पत्र में लिखा और आधा राज्य पाने की खुशी में वह दौड़ा-दौड़ा राज-दरबार में पहुँचा। सम्राट् की अनुमति प्राप्त कर वह राज्यसभा में गया और एक ही साँस में पूरा श्लोक सम्राट् को सुना डाला। उसे सुनते ही सम्राट् स्नेहवश मूर्च्छित हो गए। सारी सभा क्षुब्ध हो गई। सभासद क्रुद्ध हुए और उसे पीटने लगे। उन्होंने कहा—"तू ने सम्राट् को मूर्च्छित कर दिया। यह कैसी तेरी श्लोक-पूर्ति?" मार पड़ी तब वह बोला—"मुझे मत मारो। श्लोक की पूर्ति मैंने नहीं की है।" "तो किसने की है?"—सभासदों ने पूछा। वह बोला—"मेरे रहँट के पास खड़े एक मुनि ने की है।" अनुकूल उपचार पा कर सम्राट् सचेतन हुआ। सारी बात की जानकारी प्राप्त की और वह मुनि के दर्शन के लिए सपरिवार चल पड़ा। कानन में पहुँचा। मुनि को देखा। वन्दना कर विनयपूर्वक उनके पास बैठ गया। बिछुड़ा हुआ योग पुनः मिल गया। अब वे दोनों भाई सुख-दुःख के फल-विपाक की चर्चा करने लगे। वही चर्चा इस अध्ययन में प्रतिपादित है। बौद्ध ग्रंथों मे भी इस कथा का प्रकारान्तर से उल्लेख मिलता है[१]।

१—मिलाइए—चित्र-संभूत जातक संख्या ४९८;

६—दासा दसण्णे आसी
मिया कालिंजरे नगे।
हंसा मयंगतीरे[1]
सोवागा[2] कासिभूमिए ॥

दासौ दशार्णेषु आस्व
मृगौ कालिंजरे नगे।
हंसौ मृत-गङ्गातीरे
श्वपाकौ काशीभूम्याम् ॥

६—"हम दोनों दशार्ण देश में दास, कालिजर पर्वत पर हरिण, मृत-गङ्गा के किनारे हंस और काशी देश में चाण्डाल थे।

७—देवा य[3] देवलोगम्मि
आसि अम्हे महिड्ढिया।
'इमा नो'[4] छट्ठिया जाई
अन्नमन्नेण जा विणा ॥

देवौ च देवलोके
आस्वाऽऽवां महर्द्धिकौ।
इयं नौ षष्ठिका जातिः
अन्योऽन्येन या विना ॥

७—"हम दोनों सौधर्म देवलोक में महान् ऋद्धि वाले देव थे। यह हमारा छठवाँ जन्म है, जिसमें हम एक दूसरे से बिछुड़ गये।"

८—कम्मा नियाणप्पगडा
तुमे राय विचिन्तिया।
तेसिं फलविवागेण
विप्पओगमुवागया ॥

कर्माणि निदान-प्रकृतानि
त्वया राजन्! विचिन्तितानि।
तेषां फल-विपाकेन
विप्रयोगमुपागतौ ॥

८—(मुनि—) "राजन्! तू ने निदान-कृत (भोग-प्रार्थना से बद्ध्यमान) कर्मों का चिन्तन किया। उनके फल-विपाक से हम बिछुड़ गये।"

९—सच्चसोयप्पगडा
कम्मा मए पुरा कडा।
ते अज्ज परिभुंजामो
किं नु चित्ते वि से तहा? ॥

सत्य-शौच-प्रकटानि
कर्माणि मया पुराकृतानि।
तान्यद्य परिभुंजे
किन्नु चित्रोऽपि तानि तथा? ॥

९—(चक्री—) "चित्र! मैंने पूर्व-जन्म में सत्य और शौचमय शुभ अनुष्ठान किये थे। आज मैं उनका फल भोग रहा हूँ। क्या तू भी वैसा ही भोग रहा है?"

१०—सव्वं सुचिण्णं सफलं नराणं
कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि।
अत्थेहि कामेहि य उत्तमेहिं
आया ममं पुण्णफलोववेए ॥

सर्वं सुचीर्णं सफलं नराणां
कृतेभ्यः कर्मभ्यो न मोक्षोऽस्ति।
अर्थैः कामैश्चोत्तमैः
आत्मा मम पुण्य-फलोपेतः ॥

१०—(मुनि—) "मनुष्यों का सब सुचीर्ण (सुकृत) सफल होता है। किए हुए कर्मों का फल भोगे बिना मुक्ति नहीं होती। मेरी आत्मा उत्तम अर्थ और कामों के द्वारा पुण्य-फल से युक्त है।"

११—जाणासि संभूय! महाणुभागं
महिड्ढियं पुण्णफलोववेयं।
चित्तं पि जाणाहि तहेव रायं!
इड्ढी जुई तस्स वि य प्पभूया ॥

जानासि सम्भूत! महानुभागं
महर्द्धिकं पुण्य-फलोपेतम्।
चित्रमपि जानीहि तथैव राजन्!
ऋद्धिर्द्युतिस्तस्यापि च प्रभूता ॥

११—"सम्भूत! जिस प्रकार तू अपने को महान् अनुभाग (अचिन्त्य-शक्ति) सम्पन्न, महान् ऋद्धिमान् और पुण्य-फल से युक्त मानता है, उसी प्रकार चित्र को भी जान। राजन्! उसको भी प्रचुर ऋद्धि और द्युति थी।

---

१. मयंगतीराए (अ, उ, ऋ०)।
२. चंडाला (उ, ऋ०)।
३. वि (उ)।
४. इमामे (बृ०); इमाणो (बृ० पा०)।

तेरसमं अज्झयणं : त्रयोदश अध्ययन
चित्तसम्भूइज्जं : चित्र-सम्भूतीयम्

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
१—जाईपराजिओ खलु कासि नियाणं तु हत्थिणपुरम्मि। चुलणीए बम्भदत्तो उववन्नो पउमगुम्माओ ॥	जाति-पराजितः खलु अकार्षीत् निदानं तु हस्तिनापुरे। चुलन्यां ब्रह्मदत्तः उपपन्नः पद्मगुल्मात् ॥	१—जाति से पराजित हुए सम्भूत ने हस्तिनापुर में निदान (चक्रवर्ती होऊँ—ऐसा सङ्कल्प) किया। वह पद्म-गुल्म नामक विमान में देव बना। वहाँ से च्युत होकर चुलनी की कोख में ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती के रूप में उत्पन्न हुआ।
२—कम्पिल्ले संभूओ चित्तो पुण जाओ पुरिमतालम्मि। सेट्ठिकुलम्मि विसाले धम्मं सोऊण पव्वइओ ॥	काम्पिल्ये सम्भूतः चित्रः पुनर्जातः पुरिमताले। श्रेष्ठि-कुले विशाले धर्म-श्रुत्वा प्रव्रजितः ॥	२—सम्भूत काम्पिल्य नगर में उत्पन्न हुआ। चित्र पुरिमताल में एक विशाल श्रेष्ठि-कुल में उत्पन्न हुआ। वह धर्म सुन प्रव्रजित हो गया।
३—कम्पिल्लम्मि य नयरे समागया दो वि चित्तसम्भूया। सुहदुक्खफलविवागं कहेन्ति ते एक्कमेक्कस्स ॥	काम्पिल्ये च नगरे समागतौ द्वावपि चित्र-सम्भूतौ। सुख-दुःख-फल-विपाकं कथयतस्तावेकैकस्य ॥	३—काम्पिल्य नगर में चित्र और सम्भूत दोनों मिले। दोनों ने परस्पर एक दूसरे के सुख-दुःख के विपाक की बात की।
४—चक्कवट्टी महिड्ढीओ बम्भदत्तो महायसो। भायरं बहुमाणेणं इमं वयणमब्बवी ॥	चक्रवर्ती महर्द्धिकः ब्रह्मदत्तो महायशाः। भ्रातरं बहु-मानेन इदं वचनमब्रवीत् ॥	४—महान् ऋद्धि-सम्पन्न और महान् यशस्वी चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त ने बहुमान-पूर्वक अपने भाई से इस प्रकार कहा—
५—आसिमो भायरा दो वि अन्नमन्नवसाणुगा। अन्नमन्नमणूरत्ता अन्नमन्नहिएसिणो ॥	आस्व भ्रातरौ द्वावपि अन्योऽन्यवशानुगौ। अन्योऽन्यमनुरक्तौ अन्योऽन्यं हितैषिणौ ॥	५—"हम दोनों भाई थे—एक दूसरे के वशवर्ती, परस्पर अनुरक्त और परस्पर हितैषी।

१२—महत्थरूवा वयणप्पभूया
गाहाणुगीया नरसंघमज्झे।
जं भिक्खुणो सीलगुणोववेया
'इहऽज्जयन्ते समणो'[1] म्हि जाओ॥

महार्थरूपा वचनाऽल्पभूता
गाथाऽनुगीता नर-संघ-मध्ये।
यां भिक्षवः शील-गुणोपेताः
इहार्जयन्ति श्रमणोऽस्मि जातः॥

१२—"स्थविरों ने जन-समुदाय के बीच अल्पाक्षर और महान् अर्थ वाली जो गाथा गाई, जिसे शील और श्रुत से सम्पन्न भिक्षु बड़े यत्न से अर्जित करते हैं, उसे सुनकर मैं श्रमण हो गया।"

१३—उच्चोयए महु कक्के य बम्भे
पवेइया आवसहा 'य रम्मा'[2]।
इमं गिहं चित्तधणप्पभूयं[3]
पसाहि पंचालगुणोववेयं॥

उच्चोदयो मधुः कर्कश्च ब्रह्मा
प्रवेदिता आवसथाश्च रम्याः।
इदं गृहं प्रभूत-चित्र-धनं
प्रशाधि पञ्चालगुणोपेतम्॥

१३—(चक्री—) "उच्चोदय, मधु, कर्क, मध्य और ब्रह्मा—ये प्रधान प्रासाद तथा दूसरे अनेक रम्य प्रासाद हैं। पंचाल देश की विशिष्ट वस्तुओं से युक्त और प्रचुर एवं विचित्र हिरण्य आदि से पूर्ण यह घर है—इसका तू उपभोग कर।

१४—नट्टेहि गीएहि य वाइएहि
नारीजणाइं परिवारयन्तो[4]।
भुंजाहि भोगाइ इमाइ भिक्खू!
मम रोयई पव्वज्जा हु दुक्खं॥

नाट्यैर्गीतैश्च वादित्रैः
नारी-जनान् परिवारयन्।
भुङ्क्ष्व भोगानिमान् भिक्षो!
मह्यं रोचते प्रव्रज्या खलु दुःखम्॥

१४—"हे भिक्षु! तू नाट्य, गीत और वाद्यों के साथ नारी-जनों को परिवृत्त करता हुआ इन भोगों को भोग। यह मुझे रुचता है। प्रव्रज्या वास्तव में ही कष्टकर है।"

१५—तं पुव्वनेहेण कयाणुरागं
नराहिवं कामगुणेसु गिद्धं।
धम्मस्सिओ तस्स हियाणुपेही
चित्तो इमं वयणमुदाहरित्था[5]॥

तं पूर्व-स्नेहेन कृतानुरागं
नराधिपं काम-गुणेषु गृद्धम्।
धर्माश्रितस्तस्य हितानुप्रेक्षी
चित्र इदं वचनमुदाहार्षीत्॥

१५—धर्म में स्थित और उस (राजा) का हित चाहने वाले चित्र मुनि ने पूर्व-भव के स्नेह-वश अपने प्रति अनुराग रखने वाले काम-गुणों में आसक्त राजा से यह वचन कहा—

१६—सव्वं विलवियं गीयं
सव्वं नट्टं विडम्बियं[6]।
सव्वे आभरणा भारा
सव्वे कामा दुहावहा॥

सर्वं विलपितं गीतं
सर्वं नाट्यं विडम्बितम्।
सर्वाण्याभरणानि भाराः
सर्वे कामा दुःखावहाः॥

१६—"सब गीत विलाप हैं, सब नाट्य विडम्बना हैं, सब आभरण भार हैं और सब काम-भोग दुःखकर हैं।

---

१. इहऽज्जवंतं समणो (चू० पा०); इहऽज्जयन्ते समणो (बृ० पा०)।
२. ऽतिरम्मा, सुरम्मा वा (बृ० पा०)।
३. वित्तधणोववेयं (बृ०); धणवित्तोववेयं (चू०); चित्तधणप्पभूयं (बृ० पा०)।
४. परियारियंतो (बृ० पा०); परिवारयंतो (अ, उ, ऋ०)।
५. वक्क' (बृ०); वयण० (बृ० पा०)।
६. विडंबणा (उ, चू०)।

१७—'बालाभिरामेसु दुहावहेसु
न तं सुहं कामगुणेसु रायं ! ।
विरत्तकामाण तवोधणाणं
जं भिक्खुणं सीलगुणे रयाणं ॥'[1]

बालाभिरामेषु दुःखावहेषु
न तत्सुखं काम-गुणेषु राजन् ! ।
विरक्त-कामानां तपोधनानां
यद् भिक्षूणां शील-गुणे रतानाम् ॥

१७—"राजन् ! अज्ञानियों के लिए रमणीय और दुःखकर काम-गुणों में वह सुख नहीं है, जो सुख कामों से विरक्त, शील और गुण में रत तपोधन भिक्षु को प्राप्त होता है।

१८—नरिंद ! जाई अहमा नराणं
सोवागजाई दुहओ गयाणं ।
जहिं वयं सव्वजणस्स वेस्सा
वसीय सोवागनिवेसणेसु ॥

नरेन्द्र ! जातिरधमा नराणां
श्वपाक-जातिर्द्वयोः गतयोः ।
यस्यामावां सर्वजनस्य द्वेष्यौ
अवसाव श्वपाक-निवेशनेषु ॥

१८—"नरेन्द्र ! मनुष्यों में चाण्डाल-जाति अधम है। उसमें हम दोनों उत्पन्न हो चुके हैं। वहाँ हम चाण्डालों की बस्ती में रहते थे और सब लोग हम से द्वेष करते थे।

१९—तीसे य जाईइ उ पावियाए
वुच्छामु सोवागनिवेसणेसु ।
सव्वस्स लोगस्स दुगंछणिज्जा
इहं तु कम्माइं पुरेकडाइं ॥

तस्यां च जातौ तु पापिकायाम्
उषितौ आवां श्वपाक-निवेशनेषु ।
सर्वस्य लोकस्य जुगुप्सनीयौ
इह तु कर्माणि पुराकृतानि ॥

१९—"दोनों ने कुत्सित चाण्डाल-जाति में जन्म लिया और चाण्डालों की बस्ती में निवास किया। सब लोग हमसे घृणा करते थे। इस जन्म में जो उच्चता प्राप्त हुई है, वह पूर्व-कृत शुभ कर्मों का फल है।

२०—सो दाणि सि राय ! महाणुभागो
महिड्ढिओ पुण्णफलोववेओ ।
चइत्तु भोगाइं असासयाइं
'आयाणहेउं अभिणिक्खमाहि'[2] ॥

स इदानीं राजा महानुभागः
महर्द्धिकः पुण्य-फलोपेतः ।
त्यक्त्वा भोगानशाश्वतान्
आदान-हेतोरभिनिष्क्राम ॥

२०—"उसी के कारण वह तू महान् अनुभाव (अचिन्त्य-शक्ति) सम्पन्न, महान् ऋद्धिमान् और पुण्य-फल युक्त राजा बना है। इसीलिए तू अशाश्वत भोगों को छोड़ कर चारित्र-धर्म की आराधना के लिए अभिनिष्क्रमण कर।

२१—इह जीविए राय ! असासयम्मि
धणियं तु पुण्णाइं अकुव्वमाणो ।
से सोयई मच्चुमुहोवणीए
धम्मं अकाऊण परंसि लोए ॥

इह जीविते राजन् ! अशाश्वते
अत्यर्थं तु पुण्यान्यकुर्वाणः ।
स शोचति मृत्युमुखोपनीतः
धर्ममकृत्वा परस्मिँल्लोके ॥

२१—"राजन् ! जो इस अशाश्वत जीवन में प्रचुर शुभ अनुष्ठान नहीं करता, वह मृत्यु के मुँह में जाने पर पश्चात्ताप करता है और धर्म की आराधना नहीं होने के कारण परलोक में भी पश्चात्ताप करता है।

२२—जहेह सीहो व मियं गहाय
मच्चू नरं नेइ हु अन्तकाले ।
न तस्स माया 'व पिया व भाया'[3]
कालम्मि तम्मिसहरा[4] भवंति ॥

यथेह सिंहो वा मृगं गृहीत्वा
मृत्युर्नरं नयति खलु अन्तकाले ।
न तस्य माता वा पिता वा भ्राता
काले तस्यांशधरा भवन्ति ॥

२२—"जिस प्रकार सिंह हरिण को पकड़ कर ले जाता है, उसी प्रकार अन्तकाल में मृत्यु मनुष्य को ले जाती है। काल आने पर उसके माता-पिता या भाई अंशधर नहीं होते—अपने जीवन का भाग दे कर बचा नहीं पाते।

---

१. यह श्लोक चूर्णि में व्याख्यात नहीं है।

२. आदाणमेवं अणुचिंतयाहि (चू०) ; आदाण हेउं अभिणिक्खमाहि (चू० पा०) ; आयाणमेवा अणुचिंतयाहि (बृ० पा०)।

३. न पिया न भाया (उ)।

४. तम्मंसहरा (उ)।

२३—न तस्स दुक्खं विभयन्ति नाइओ
न मित्तवग्गा न सुया न बन्धवा।
एक्को सयं पच्चणुहोइ दुक्खं
कत्तारमेवं अणुजाइ कम्मं ॥

न तस्य दुःखं विभजन्ति ज्ञातयः
न मित्र-वर्गा न सुता न बान्धवाः।
एकः स्वयं प्रत्यनुभवति दुःखं
कर्तारमेवानुयाति कर्म ॥

२३—"ज्ञाति, मित्र-वर्ग, पुत्र और बान्धव उसका दुःख नहीं बँटा सकते। वह स्वयं अकेला दुःख का अनुभव करता है। क्योंकि कर्म कर्त्ता का अनुगमन करता है।

२४—चेच्चा दुपयं च चउप्पयं च
खेत्तं गिहं धणधन्नं च सव्वं।
कम्मप्पबीओ[1] अवसो पयाइ
परं भवं सुंदर पावगं वा ॥

त्यक्त्वा द्विपदं च चतुष्पदं च
क्षेत्रं गृहं धन-धान्यं च सर्वम्।
कर्मात्म-द्वितीयोऽवशः प्रयाति
परं भवं सुन्दरं पापकं वा ॥

२४—"यह पराधीन आत्मा द्विपद, चतुष्पद, खेत, घर, धन, धान्य, वस्त्र आदि सब कुछ छोड़ कर केवल अपने किये कर्मों को साथ लेकर सुखद या दुःखद पर-भव में जाता है।

२५—तं इक्कगं तुच्छसरीरगं से
चिईगयं डहिय उ पावगेणं।
भज्जा य पुत्ता[2] वि य नायओ य
दायारमन्नं अणुसंकमन्ति ॥

तदेककं तुच्छ-शरीरकं तस्य
चिति-गतं दग्ध्वा तु पावकेन।
भार्या च पुत्रोपि च ज्ञातयश्च
दातारमन्यमनुसङ्क्रामन्ति ॥

२५—"उस अकेले और असार शरीर को अग्नि से चिता में जलाकर स्त्री, पुत्र और ज्ञाति किसी दूसरे दाता (जीविका देने वाले) के पीछे चले जाते हैं।

२६—उवणिज्जई जीवियमप्पमायं
वण्णं जरा हरइ नरस्स रायं!।
पंचालराया! वयणं सुणाहि
मा कासि कम्माइं महालयाइं ॥

उपनीयते जीवितमप्रमादं
वर्णं जरा हरति नरस्य राजन्!।
पञ्चाल-राज! वचनं शृणु
मा कार्षीः कर्माणि महालयानि ॥

२६—"राजन्! कर्म बिना भूल किए (निरन्तर) जीवन को मृत्यु के समीप ले जा रहे हैं। बुढ़ापा मनुष्य के वर्ण (सुस्निग्ध कांति) का हरण कर रहा है। पंचाल-राज! मेरा वचन सुन। प्रचुर कर्म मत कर।"

२७—अहं पि जाणामि 'जहेह साहू!'[3]
जं मे तुमं साहसि वक्कमेयं।
भोगा इमे संगकरा हवन्ति
जे दुज्जया अज्जो! अम्हारिसेहिं ॥

अहमपि जानामि यथेह साधो!
यन्मम त्वं साधयसि वाक्यमेतत्।
भोगा इमे सङ्गकरा भवन्ति
ये दुर्जया आर्य! अस्मादृशैः ॥

२७—(चक्री—) "साधो! तू जो मुझे यह वचन जैसे कह रहा है, वैसे मैं भी जानता हूँ कि ये भोग आसक्तिजनक होते हैं। किन्तु हे आर्य! हमारे जैसे व्यक्तियों के लिए वे दुर्जय हैं।

२८—हत्थिणपुरम्मि चित्ता!
दट्ठूणं नरवइं महिड्ढियं।
कामभोगेसु गिद्धेणं
नियाणमसुहं कडं ॥

हस्तिनापुरे चित्र!
दृष्ट्वा नरपतिं महर्द्धिकम्।
काम-भोगेषु गृद्धेन
निदानमशुभं कृतम् ॥

२८—"चित्र मुने! हस्तिनापुर में महान् ऋद्धि वाले चक्रवर्ती (सनतकुमार) को देख भोगों में आसक्त होकर मैंने अशुभ निदान (भोग-सङ्कल्प) कर डाला।

१. सकम्मप्पबीओ (उ); सकम्मबीओ (बृ०); कम्मप्पविइओ (अ)।
२. पुत्तो (बृ०)।
३. जो एत्थ सारो (बृ० पा०, चू०)।

२९—तस्स मे अपडिकन्तस्स
इमं एयारिसं फलं।
जाणमाणो वि जं धम्मं
कामभोगेसु मुच्छिओ॥

तस्मान्मेऽप्रतिक्रान्तस्य
इदमेतादृशं फलम्।
जानन्नपि यद् धर्मं
काम-भोगेषु मूर्च्छितः॥

२९—"उसका मैंने प्रतिक्रमण (प्रायश्चित्त) नहीं किया। उसी का यह ऐसा फल है कि मैं धर्म को जानता हुआ भी काम-भोगों में मूर्च्छित हो रहा हूँ।

३०—नागो जहा पंकजलावसन्नो
दट्ठुं थलं नाभिसमेइ तीरं।
एवं वयं कामगुणेसु गिद्धा
न भिक्खुणो मग्गमणुव्वयामो॥

नागो यथा पङ्क-जलावसन्न
दृष्ट्वा स्थलं नाभिसमेति तीरम्।
एवं वयं काम-गुणेषु गृद्धाः
न भिक्षोर्मार्गमनुव्रजामः॥

३०—"जैसे पंक-जल (दलदल) में फँसा हुआ हाथी स्थल को देखता हुआ भी किनारे पर नहीं पहुँच पाता, वैसे ही काम-गुणों में आसक्त बने हुए हम श्रमण-धर्म को जानते हुए भी उसका अनुसरण नहीं कर पाते।"

३१—अच्चेइ कालो तूरन्ति राइओ
न यावि भोगा पुरिसाण निच्चा।
उविच्च भोगा पुरिसं चयन्ति[1]
दुमं जहा खीणफलं व पक्खी॥

अत्येति कालस्त्वरन्ते रात्रयः
न चापि भोगाः पुरुषाणां नित्याः।
उपेत्य भोगाः पुरुषं त्यजन्ति
द्रुमं यथा क्षीणफलमिव पक्षी॥

३१—(मुनि—) "जीवन बीत रहा है। रात्रियाँ दौड़ी जा रही हैं। मनुष्यों के भोग भी नित्य नहीं हैं। वे मनुष्य को प्राप्त कर उसे छोड़ देते हैं, जैसे क्षीण फल वाले वृक्ष को पक्षी।

३२—'जइ ता सि'[2] भोगे चइउं असत्तो
अज्जाइं कम्माइं करेहि रायं!।
धम्मे ठिओ सव्वपयाणुकम्पी
तो होहिसि देवो इओ विउव्वी॥

यदि तावदसि भोगान् त्यक्तुमशक्तः
आर्याणि कर्माणि कुरु राजन्!।
धर्मे स्थितः सर्वप्रजानुकम्पी
तस्माद् भविष्यसि देव इतो वैक्रियी॥

३२—"राजन्! यदि तू भोगों का त्याग करने में असमर्थ है तो आर्य-कर्म कर। धर्म में स्थित होकर सब जीवों पर अनुकम्पा करने वाला बन, जिससे तू जन्मान्तर में वैक्रिय शरीर वाला देव होगा।

३३—न तुज्झ भोगे चइऊण बुद्धी
गिद्धो सि आरम्भपरिग्गहेसु।
मोहं कओ एत्तिउ विप्पलावो
गच्छामि रायं! आमन्तिओ सि॥

न तव भोगान् त्यक्तुं बुद्धिः
गृद्धोसि आरम्भ-परिग्रहेषु।
मोघं कृत एतावान् विप्रलापः
गच्छामि राजन्! आमन्त्रितोऽसि॥

३३—"तुझ में भोगों को त्यागने की बुद्धि नहीं है। तू आरम्भ और परिग्रह में आसक्त है। मैंने व्यर्थ ही इतना प्रलाप किया। तुझे आमन्त्रित (सम्बोधित) किया। राजन्! अब मैं जा रहा हूँ।"

३४—पंचालराया वि य बम्भदत्तो
साहुस्स तस्स[3] वयणं अकाउं।
अणुत्तरे भुंजिय कामभोगे
अणुत्तरे सो नरए पविट्ठो॥

पञ्चाल-राजोपि च ब्रह्मदत्तः
साधोस्तस्य वचनमकृत्वा।
अनुत्तरान् भुक्त्वा काम-भोगान्
अनुत्तरे स नरके प्रविष्टः॥

३४—पंचाल जनपद के राजा ब्रह्मदत्त ने मुनि के वचन का पालन नहीं किया। वह अनन्तर काम-भोगों को भोग कर अनुत्तर नरक में गया।

---

१. जहंति (चू०)।
२. जइ तंसि (उ, बृ० पा०, ऋ०); जईऽसि (चू०)।
३. तस्सा (अ, आ, इ, स)।

३५—चित्तो वि कामेहि विरत्तकामो
उदग्गचारित्ततवो[1] महेसी ।
अणुत्तरं संजम पालइत्ता
अणुत्तरं सिद्धिगइं गओ ॥
—त्ति बेमि ।

चित्रोपि कामेभ्यो विरक्त-कामः
उदग्र-चारित्र-तपा महर्षिः ।
अनुत्तरं संयमं पालयित्वा
अनुत्तरां सिद्धि-गतिं गतः ॥
—इति ब्रवीमि ।

३५—कामना से विरक्त और प्रधान चारित्र-तप वाला महर्षि चित्र अनुत्तर संयम का पालन कर अनुत्तर सिद्धि-गति को प्राप्त हुआ ।

—ऐसा मैं कहता हूँ ।

---

१. उदत्त° (चू०, बृ०, वृ०) ।

निर्युक्तिकार ने ग्यारह गाथाओं में कथावस्तु को प्रस्तुत किया है। उसमें सभी पात्रों के पूर्व-भव, वर्तमान-भव में उनकी उत्पत्ति तथा निर्वाण का संक्षिप्त चित्रण है।[1]

पूर्व अध्ययन में वर्णित चित्र और सम्भूत के पूर्व-जन्म में दो ग्वाले मित्र थे। उन्हें साधु के अनुग्रह से सम्यक्त्व की प्राप्ति हुई। वे वहाँ से मर कर देवलोक में गए। वहाँ से च्युत हो कर उन्होंने क्षितिप्रतिष्ठित नगर के एक इभ्य-कुल में जन्म लिया। वे बड़े हुए। चार इभ्य-पुत्र उनके मित्र बने। उन सबने युवावस्था में काम-भोगों का उपभोग किया, फिर स्थविरों से धर्म सुन प्रव्रजित हुए। चिरकाल तक संयम का अनुपालन किया। अन्त में अनशन कर सौधर्म देवलोक के पद्मगुल्म नामक विमान में चार पल्य की स्थिति वाले देव बने। दोनों ग्वाल-पुत्रों को छोड़ कर शेष चारों मित्र वहाँ से च्युत हुए। उनमें एक कुरु जनपद के इषुकार नगर में इषुकार नाम का राजा हुआ और दूसरा उसी राजा की रानी कमलावती। तीसरा भृगु नाम का पुरोहित हुआ और चौथा भृगु पुरोहित की पत्नी यशा। बहुत काल बीता। भृगु पुरोहित के कोई पुत्र नहीं हुआ। पति-पत्नी चिन्तित रहने लगे।

एक बार उन दोनों ग्वाल-पुत्रों ने, जो अभी देव-भव में थे, अवधिज्ञान से जाना कि वे भृगु पुरोहित के पुत्र होंगे। वे वहाँ से चले। श्रमण का रूप बना भृगु पुरोहित के पास आए। भृगु और यशा दोनों ने वन्दना की। मुनियों ने धर्म का उपदेश दिया। भृगु-दम्पति ने श्रावक के व्रत स्वीकार किए। पुरोहित ने पूछा—"भगवन्! हमको कोई

---

१ - उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा ३६२-३७२ :

पुव्वभवे संघडिआ संपीआ अन्नमन्नमणुरत्ता।
भुत्तूण भोगभोए निग्गंथा पव्वए समणा॥
काऊण य सामन्नं पउमगुम्मे विमाणि उववन्ना।
पलिओवमाइं चउरो ठिई उक्कोसिआ तेसिं॥
तत्तो य चुआ संता कुरुजणवयपुरवरंमि उसुआरे।
छावि जणा उववन्ना चरिमसरीरा विगयमोहा॥
राया उसुयारो या कमलावइ देवि अग्गमहिसी से।
भिगुनामे य पुरोहिय वासिट्ठा भारिआ तस्स॥
उसुआरपुरे नयरे उसुआरपुरोहिओ अ अणवच्चो।
पुत्तस्स कए बहुसो परितप्पंती दुअग्गावि॥
काऊण समणरूवं तहिअं देवो पुरोहिअं भणइ।
होहिंति तुज्झ पुत्ता दुन्नि जणा देवलोगचुआ॥
तेहि अ पव्वइअव्वं जहा य न करेह अंतरायं ण्हे।
ते पव्वइआ संता बोहेहिंती जणं बहुअं॥
तं वयणं सोऊणं नगराओ निंति तं वयग्गामे।
वड्ढंति अ ते तहिअं गाहिंति अ णं असब्भावं॥
एए समणा धुत्ता पेयपिसाया य पोरुसादा य।
मा तेसिं अल्लिअहा मा भे पुत्ता! विणासिज्जा॥
दट्ठूण तहि समणे जाइं पोराणिअं च सरिऊणं।
बोहितऽम्मापिअरं उसुआरं रायपुत्तं च॥
सीमंधरो य राया भिगू अ वासिट्ठ रायपत्ती य।
बंभणी दारगा चेव छप्पेए परिनिव्वुआ॥

चउदसमं अज्झयणं :
उसुयारिज्जं

चतुर्दश अध्ययन :
इषुकारीय

पुत्र होगा या नहीं ?" श्रमण युगल ने कहा—"तुम्हें दो पुत्र होंगे किन्तु वे बाल्यावस्था में ही दीक्षित हो जायेंगे। उनकी प्रव्रज्या में तुम्हें कोई व्याघात उपस्थित नहीं करना होगा। वे दीक्षित होकर धर्म-शासन की प्रभावना करेंगे।" इतना कह दोनों श्रमण वहाँ से चले गए। पुरोहित पति-पत्नी को प्रसन्नता हुई। कालान्तर में वे दोनों देव पुरोहित पत्नी के गर्भ में आए। दीक्षा के भय से पुरोहित नगर को छोड़ व्रज गाँव में जा बसा। वहाँ पुरोहित की पत्नी यशा ने दो पुत्रों को जन्म दिया। वे कुछ बड़े हुए। माता-पिता ने सोचा ये कहीं दीक्षित न हो जाएँ अत: एक बार उनसे कहा—"पुत्रो ! ये श्रमण सुन्दर-सुन्दर बालकों को उठा ले जाते हैं और मार कर उनका मांस खाते हैं। उनके पास तुम दोनों कभी मत जाना।"

एक बार दोनों बालक खेलते-खेलते गाँव से बहुत दूर निकल गए। उन्होंने देखा कि कई साधु उसी मार्ग से आ रहे हैं। भयभीत हो वे एक वृक्ष पर चढ़ गए। संयोगवश साधु भी उसी वृक्ष की सघन छाया में आ बैठे। बालकों का भय बढ़ा। माता-पिता की शिक्षा स्मृति-पटल पर नाचने लगी। साधुओं ने कुछ विश्राम किया। झोली से पात्र निकाले और सभी एक मण्डली में भोजन करने लगे। बालकों ने देखा कि मुनि के पात्रों में मांस जैसी कोई वस्तु है ही नहीं। साधुओं को सामान्य भोजन करते देख बालकों का भय कम हुआ। बालकों ने सोचा—"अहो ! हमने ऐसे साधु अन्यत्र भी कहीं देखे हैं।" चिन्तन चला। उन्हें जातिस्मृति-ज्ञान उत्पन्न हुआ। वे नीचे उतरे, मुनियों को वन्दना की और सीधे अपने माता-पिता के पास आए।

उन्होंने माता-पिता से कहा—"हमने देख लिया है कि मनुष्य-जीवन अनित्य है, विघ्न-बहुल है और आयु थोड़ी है इसलिए घर में हमें कोई आनन्द नहीं है। हम मुनि-चर्या को स्वीकार करने के लिए आपकी अनुमति चाहते हैं।" (श्लोक ७)

पिता ने कहा—"पुत्रो ! वेदों को जानने वाले इस प्रकार कहते हैं कि जिनके पुत्र नहीं होता उनकी गति नहीं होती। इसलिए वेदों को पढ़ो। ब्राह्मणों को भोजन कराओ। स्त्रियों के साथ भोग करो। पुत्रोत्पन्न करो। पुत्रों का विवाह कर, उन्हें घर सौंप फिर अरण्यवासी प्रशस्त मुनि हो जाना।" (श्लोक ८,९)

पुत्रों ने कहा—"वेद पढ़ने पर भी वे त्राण नहीं होते। ब्राह्मणों को भोजन कराने पर वे नरक में ले जाते हैं। औरस पुत्र भी त्राण नहीं होते। ये काम-भोग क्षण भर सुख और चिरकाल दु:ख देने वाले, बहुत दु:ख और थोड़ा सुख देने वाले, संसार-मुक्ति के विरोधी और अनर्थों की खान हैं। काल सदा तैयार खड़ा है। ऐसी स्थिति में प्रमाद कैसे किया जाए ?" (श्लोक १२,१३,१५)

पिता ने कहा—"पुत्रो ! जिसके लिए सामान्यतया लोग तप किया करते हैं वह सब कुछ—प्रचुर धन, स्त्रियाँ, स्वजन और इन्द्रियों के विषय तुम्हें यहीं प्राप्त हैं फिर तुम किसलिए श्रमण होना चाहते हो ?" (श्लोक १६)

पुत्रों ने कहा—"जहाँ धर्म की धुरा को वहन करने का अधिकार है वहाँ धन, स्वजन और इन्द्रियों के विषय का क्या प्रयोजन ? हम सभी प्रतिबन्धों से मुक्त होकर भिक्षा से निर्वाह करने वाले श्रमण होंगे।" (श्लोक १७)

नास्तिक मान्यता का यह घोष था कि शरीर से भिन्न कोई चैतन्य नहीं है। पाँच भूतों के समवाय से उसकी उत्पत्ति होती है और जब वे भूत विलग हो जाते हैं तब चैतन्य भी नष्ट हो जाता है। "अरणि में अग्नि, दूध में घृत और तिल में तेल अविद्यमान होने पर भी उचित प्रक्रिया के द्वारा उत्पन्न हो जाते हैं। उसी प्रकार भूतों से चैतन्य की उत्पत्ति माननी चाहिए।" (श्लोक १८)

आस्तिक मान्यता को स्पष्ट करते हुए पुत्रों ने कहा—"आत्मा अमूर्त है इसलिए यह इन्द्रियों द्वारा गम्य नहीं है। यह अमूर्त है इसलिए नित्य है। आत्मा के आन्तरिक दोष ही उसके बन्धन के हेतु हैं और बन्धन ही संसार का हेतु है।" (श्लोक १९)

आमुख

इस अध्ययन के छह पात्र हैं—(१) महाराज इषुकार, (२) रानी कमलावती, (३) पुरोहित भृगु, (४) पुरोहित की पत्नी यशा और (५-६) पुरोहित के दो पुत्र ।

इनमें भृगु पुरोहित का कुटुम्ब ही इस अध्ययन का प्रधान पात्र है । किन्तु राजा की लौकिक प्रधानता के कारण इस अध्ययन का नाम 'इषुकारीय' रखा गया है ।[१]

इस अध्ययन का प्रतिपाद्य है 'अन्यत्व भावना' का उपदेश । आगम-काल में कई मतावलम्बियों की यह मान्यता थी कि पुत्र के बिना गति नहीं होती, स्वर्ग नहीं मिलता । जो व्यक्ति गृहस्थ-धर्म का पालन करता है वह स्वर्ग प्राप्त कर लेता है । जिसके कोई सन्तान नहीं है उसका कोई लोक नहीं होता । पुत्र से ही परभव होता है—सुधरता है । इसी के फलस्वरूप —

१—"अपुत्रस्य गतिर्नास्ति, स्वर्गो नैव च नैव च ।
गृहिधर्ममनुष्ठाय, तेन स्वर्गं गमिष्यति ॥"

२—"अनपत्यस्य लोका न सन्ति ।"

३—"पुत्रेण जायते लोकः, इत्येषा वैदिकी श्रुतिः ।
अथ पुत्रस्य पुत्रेण, स्वर्गलोके महीयते ॥"

आदि-आदि सूक्त प्रचलित हो रहे थे और लोगों का अधिक भाग इसमें विश्वास करने लगा था । पुत्र-प्राप्ति के लिए सभी संभावित प्रयत्न किए जाते थे । पुत्रोत्पत्ति से जीवन की महान् सफलता मानी जाती थी । इस विचार-धारा ने दाम्पत्य-जीवन का उद्देश्य स्पष्ट कर दिया था, परन्तु अध्यात्म के प्रति उदासीन भाव प्रतिदिन बढ़ते जा रहे थे । उस समय यह भी मान्यता प्रचलित थी कि यदि पुत्र से ही स्वर्ग-प्राप्ति हो जाती है तो दान आदि धर्म व्यर्थ हैं ।

भगवान् महावीर स्वर्ग और नरक की प्राप्ति में व्यक्ति-व्यक्ति की प्रवृत्ति को महत्त्व देते थे । उन्होंने कहा—"पुण्य-पाप व्यक्ति-व्यक्ति का अपना होता है । माता-पिता, भाई-बन्धु, पुत्र-स्त्री आदि कोई भी प्राणी त्राण नहीं होता । सबको स्वतंत्र रूप से अपने-अपने कर्मों का फल-विपाक भोगना पड़ता है ।" इस अध्ययन में इस भावना का स्फुट चित्रण है ।

१—उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा ३६२ :
उसुआरनामगोए वेयंतो भावओ अ उसुआरो ।
तत्तो समुट्ठियमिणं उसुआरिज्जंति अज्झयणं ॥

चउदसमं अज्झयणं : चतुर्दश अध्ययन
उसुयारिज्जं : इषुकारीयम्

मूल | **संस्कृत छाया** | **हिन्दी अनुवाद**

१—देवा भवित्ताण पुरे भवम्मी
केई चुया एगविमाणवासी।
पुरे पुराणे उसुयारनामे
खाए समिद्धे सुरलोगरम्मे ॥

देवा भूत्वा पुरा भवे
केचिच्च्युता एकविमान-वासिनः।
पुरे पुराणे इषुकारनाम्नि
ख्याते समृद्धे सुरलोक-रम्ये ॥

१—पूर्व-जन्म में, देवता हो कर एक ही विमान में रहने वाले कुछ जीव देवलोक से च्युत हुए। उस समय इषुकार नाम का एक नगर था—प्राचीन, प्रसिद्ध, समृद्धिशाली और देवलोक के समान।

२—सकम्मसेसेण पुराकएणं
कुलेसु दग्गेसु[1] य ते पसूया।
निव्विणसंसारभया जहाय
जिणिन्दमग्गं सरणं पवन्ना ॥

स्वकर्म-शेषेण पुराकृतेन
कुलेषूदग्रेषु च ते प्रसूताः।
निर्विण्णाः संसार-भयाद् हित्वा
जिनेन्द्र-मार्गं शरणं प्रपन्नाः ॥

२—उन जीवों के अपने पूर्वकृत पुण्य-कर्म बाकी थे। फलस्वरूप वे इषुकार नगर के उत्तम कुलों में उत्पन्न हुए। संसार के भय से खिन्न होकर उन्होंने भोगों को छोड़ा और जिनेन्द्र-मार्ग की शरण में चले गए।

३—पुमत्तमागम्म कुमार दो वी
पुरोहिओ तस्स जसा य पत्ती।
विसालकित्ती य तहोसुयारो
रायत्थ देवी कमलावई य ॥

पुंस्त्वमाऽऽगम्य कुमारौ द्वावपि
पुरोहितः तस्य यशा च पत्नी।
विशालकीर्तिश्च तथेषुकारः
राजात्र देवी कमलावती च ॥

३—दोनों पुरोहित कुमार, पुरोहित, उसकी पत्नी यशा, विशाल कीर्ति वाला इषुकार राजा और उसकी रानी कमलावती—ये छहों व्यक्ति मनुष्य-जीवन प्राप्त कर जिनेन्द्र-मार्ग की शरण में चले गए।

४—जाईजरामच्चुभयाभिभूया[2]
बहिंविहाराभिनिविट्ठचित्ता।
संसारचक्कस्स विमोक्खणट्ठा
दट्ठूण ते कामगुणे विरत्ता ॥

जाति-जरा-मृत्यु-भयाभिभूतौ
बहिर्विहाराभिनिविष्टचित्तौ।
संसार-चक्रस्य विमोक्षणार्थं
दृष्ट्वा तौ काम-गुणेभ्यो विरक्तौ ॥

५—पियपुत्तगा दोन्नि वि माहणस्स
सकम्मसीलस्स पुरोहियस्स।
सरित्तु पोराणिय तत्थ जाइं
तहा सुचिण्णं तवसंजमं च ॥

प्रिय पुत्रकौ द्वावपि ब्राह्मणस्य
स्वकर्म-शीलस्य पुरोहितस्य।
स्मृत्वा पौराणिकीं तत्र जातिं
तथा सुचीर्णं तपः-संयमं च ॥

४-५—ब्राह्मण के योग्य यज्ञ आदि करने वाले पुरोहित के दोनों प्रिय पुत्रों ने एक बार निर्ग्रन्थ को देखा। उन्हें पूर्व-जन्म की स्मृति हुई और भली-भाँति आचरित तप और संयम की स्मृति जाग उठी। वे जन्म, जरा और मृत्यु के भय से अभिभूत हुए। उनका चित्त मोक्ष की ओर खिंच गया। संसार-चक्र से मुक्ति पाने के लिए वे काम-गुणों से विरक्त हो गए।

---

१. दसेसु (बृ०, बृ०); उग्गेसु (उ)।
२. °भयाभिभूए (बृ० पा०)।

पिता-पुत्र का यह वार्तालाप आगे चलता है। पिता ब्राह्मण-संस्कृति का प्रतिनिधित्व कर बातें करते हैं और दोनों पुत्र श्रमण-संस्कृति की भित्ति पर चर्चा करते हैं। अन्त में पुरोहित को संसार की असारता और क्षणभंगुरता पर विश्वास पैदा हो जाता है और उसका मन संवेग से भर जाता है। वह अपनी पत्नी को समझाता है। पूर्ण विचार-विमर्श कर चारों (माता-पिता तथा दोनों पुत्र) प्रव्रजित हो जाते हैं।

यहाँ एक सामाजिक तथ्य का उद्घाटन हुआ है। उस समय यह राज्य का विधान था कि जिसके कोई उत्तराधिकारी नहीं होता उसकी सम्पत्ति राजा की मानी जाती थी। भृगु पुरोहित का सारा परिवार दीक्षित हो गया। राजा ने यह बात सुनी। उसने सारी सम्पत्ति पर अधिकार करना चाहा। रानी कमलावती को यह मालूम हुआ और उसने राजा से कहा—"राजन्! वमन को खाने वाले पुरुष की प्रशंसा नहीं होती। आप ब्राह्मण के द्वारा परित्यक्त धन को लेना चाहते हैं यह वमन पीने जैसा है।" (श्लोक ३७,३८)

रानी ने भोगों की असारता पर पूर्ण प्रकाश डाला। राजा के मन में विराग जाग उठा। राजा-रानी दोनों प्रव्रजित हो गए।

इस प्रकार यह अध्ययन ब्राह्मण-परम्परा तथा श्रमण-परम्परा की मौलिक मान्यताओं की चर्चा प्रस्तुत करता है। निर्युक्तिकार ने राजा के लिए 'सीमंधर' नाम का भी प्रयोग किया है।[1] वृत्तिकार ने 'इषुकार' को राज्य-कालीन नाम और 'सीमंधर' को राजा का मौलिक नाम होने की कल्पना की है।[2]

बौद्ध-साहित्य के हस्तिपाल जातक (५०९) में कुछ परिवर्तन के साथ इस कथा का निरूपण हुआ है।

१—उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा ३७३ :

सीमंधरो य राया……।

२—बृहद् वृत्ति, पत्र ३९४ :

अत्र चेषुकारमिति राज्यकालनाम्ना सीमन्धरश्चेति मौलिकनाम्नेति सम्भावयामः।

६—ते कामभोगेसु असज्जमाणा
माणुस्सएसुं जे यावि दिव्वा ।
मोक्खाभिकंखी अभिजायसड्ढा
तायं उवागम्म इमं उदाहु ॥

तौ काम-भोगेष्वसजन्तौ
मानुष्यकेषु ये चापि दिव्याः ।
मोक्षाभिकाङ्क्षिणावभिजात-श्रद्धौ
तातमुपागम्येदमुदाहरताम् ॥

६—उनकी मनुष्य और देवता सम्बन्धी काम-भोगों में आसक्ति जाती रही । मोक्ष की अभिलाषा और धर्म की श्रद्धा से प्रेरित होकर पिता के पास आए और इस प्रकार कहने लगे—

७—असासयं दट्ठु इमं विहारं
बहुअन्तरायं न य दीहमाउं ।
तम्हा गिहंसि न रइं लहामो
आमन्तयामो चरिस्सामु मोणं ॥

अशाश्वतं दृष्ट्वेमं विहारं
बह्वन्तरायं न च दीर्घमायुः ।
तस्माद् गृहे न रतिं लभावहे
आमंत्रयावहे चरिष्यावो मौनम् ॥

७—"हमने देखा है कि यह मनुष्य-जीवन अनित्य है, उसमें भी विघ्न बहुत हैं और आयु थोड़ी है । इसलिए घर में हमें कोई आनन्द नही है । हम मुनि-चर्या को स्वीकार करने के लिए आपकी अनुमति चाहते हैं ।"

८—अह तायगो तत्थ मुणीण तेसिं
तवस्स वाघायकरं वयासी ।
इमं वयं वेयविओ वयन्ति
जहा न होई असुयाण लोगो ॥

अथ तातकस्तत्र मुन्योस्तयोः
तपसो व्याघातकरमवादीत् ।
इमां वाचं वेद-विदो वदन्ति
यथा न भवत्यसुतानां लोकः ॥

८—उनके पिता ने उन कुमार मुनियों की तपस्या में बाधा उत्पन्न करने वाली बात कही—"पुत्रो ! वेदों को जानने वाले इस प्रकार कहते हैं कि जिनको पुत्र नहीं होता उनकी गति नहीं होती ।

९—अहिज्ज वेए परिविस्स विप्पे
पुत्ते पडिट्ठप्प[1] गिहंसि जाया ! ।
भोच्चाण भोए सह इत्थियाहिं
'आरण्णगा होह मुणी पसत्था'[2] ॥

अधीत्य वेदान् परिवेष्य विप्रान्
पुत्रान् प्रतिष्ठाप्य गृहे जातौ ! ।
भुक्त्वा भोगान् सह स्त्रीभिः
आरण्यकौ भवतं मुनी प्रशस्तौ ॥

९—"पुत्रो ! इसलिए वेदों को पढ़ो । ब्राह्मणों को भोजन कराओ । स्त्रियों के साथ भोग करो । पुत्रों को उत्पन्न करो । उनका विवाह कर, घर का भार सौंप फिर अरण्यवासी प्रशस्त मुनि हो जाना ।"

१०—सोयग्गिणा आयगुणिन्धणेणं
मोहाणिला पज्जलणाहिएणं ।
संतत्तभावं परितप्पमाणं
लोलुप्पमाणं बहुहा बहुं च ॥

शोकाग्निना आत्म-गुणेन्धनेन
मोहानिलात् प्रज्वलनाधिकेन ।
संतप्त-भावं परितप्यमानं
लोलुप्यमानं बहुधा बहु च ॥

१०-११—दोनों कुमारों ने सोच-विचार पूर्वक उस पुरोहित को—जिसका मन और शरीर, आत्म-गुण रूपी इन्धन और मोह रूपी पवन से अत्यन्त प्रज्वलित शोकाग्नि से, संतप्त और परितप्त हो रहा था, जिसका हृदय वियोग की आशंका से अतिशय छिन्न हो रहा था, जो एक-एक कर अपना अभिप्राय अपने पुत्रों को समझा रहा था और उन्हें धन और क्रम-प्राप्त काम-भोगों का निमंत्रण दे रहा था—ये वाक्य कहे—

११—पुरोहियं तं कमसोऽणुणन्तं[3]
निमंतयन्तं च सुए धणेणं ।
जहक्कमं कामगुणेहि[4] चेव
कुमारगा ते पसमिक्ख वक्कं ॥

पुरोहितं तं क्रमशोऽनुनयन्तं
निमंत्रयन्तं च सुतौ धनेन ।
यथाक्रमं काम-गुणैश्चैव
कुमारकौ तौ प्रसमीक्ष्य वाक्यम् ॥

---

१. परिट्ठप्प (बृ० पा०) ।
२. पच्छा वणप्पवेसं पसत्थं (चू०) ।
३. °णिणतं (उ) ।
४. कामगुणेसु (बृ० पा०) ।

१२—वेया अहीया न भवन्ति ताणं
भुत्ता दिया निन्ति तमं तमेणं।
जाया य पुत्ता न हवन्ति ताणं
को णाम ते अणुमन्नेज्ज[1] एयं ॥

वेदा अधीता न भवन्ति त्राणं
भोजिता द्विजा नयन्ति तमस्तमसि।
जाताश्च पुत्रा न भवन्ति त्राणं
को नाम तवानुमन्येतैतत् ॥

१२—"वेद पढ़ने पर भी वे त्राण नहीं होते। ब्राह्मणों को भोजन कराने पर वे नरक में ले जाते हैं। औरस पुत्र भी त्राण नहीं होते। इसलिए आपने जो कहा उसका अनुमोदन कौन कर सकता है ?

१३—खणमेत्तसोक्खा बहुकालदुक्खा
पगामदुक्खा अणिगामसोक्खा।
संसारमोक्खस्स विपक्खभूया
खाणी अणत्थाण उ कामभोगा॥

क्षणमात्र-सौख्या बहुकाल-दुःखाः
प्रकाम-दुःखा अनिकाम-सौख्याः।
संसार-मोक्षस्य विपक्ष-भूताः
खानिरनर्थानां तु काम-भोगाः ॥

१३—"ये काम-भोग क्षण भर सुख और चिरकाल दुःख देने वाले हैं, बहुत दुःख और थोड़ा सुख देने वाले हैं, संसार-मुक्ति के विरोधी हैं और अनर्थों की खान हैं।

१४—परिव्वयन्ते अणियत्तकामे
अहो य राओ परितप्पमाणे।
अन्नप्पमत्ते धणमेसमाणे
पप्पोति मच्चुं पुरिसे जरं च॥

परिव्रजन्ननिवृत्त-कामः
अह्नि च रात्रौ परितप्यमानः।
अन्य-प्रमत्तो धनमेषयन्
प्राप्नोति मृत्युं पुरुषो जरां च ॥

१४—"जिसे कामनाओं से मुक्ति नहीं मिली वह पुरुष अतृप्ति की अग्नि से संतप्त होकर दिन-रात परिभ्रमण करता है। दूसरों के लिए प्रमत्त होकर धन की खोज में लगा हुआ वह जरा और मृत्यु को प्राप्त होता है।

१५—इमं च मे अत्थि इमं च नत्थि
इमं च मे किच्च इमं अकिच्चं।
तं एवमेवं लालप्पमाणं
हरा हरंति त्ति कहं पमाए ? ॥

इदं च मेऽस्ति इदं च नास्ति
इदं च मे कृत्यमिदमकृत्यम्।
तमेवमेवं लालप्यमानं
हरा हरन्तीति कथं प्रमादः ? ॥

१५—"यह मेरे पास है और यह नहीं है, यह मुझे करना है और यह नहीं करना है—इस प्रकार वृथा बकवास करते हुए पुरुष को उठाने वाला (काल) उठा लेता है। इस स्थिति में प्रमाद कैसे किया जाय ?"

१६—धणं पभूयं सह इत्थियाहिं
सयणा तहा कामगुणा पगामा।
तवं कए तप्पइ जस्स लोगो
तं सव्व साहीणमिहेव तुब्भं ॥

धनं प्रभूतं सह स्त्रीभिः
स्वजनास्तथा काम-गुणाः प्रकामाः।
तपः कृते तप्यते यस्य लोकः
तत् सर्वं स्वाधीनमिहैव युवयोः ॥

१६—"जिसके लिए लोग तप किया करते हैं वह सब कुछ—प्रचुर धन, स्त्रियाँ, स्वजन और इन्द्रियों के विषय तुम्हें यहीं प्राप्त हैं फिर किसलिए तुम श्रमण होना चाहते हो ?"—पिता ने कहा।

१७—धणेण किं धम्मधुराहिगारे
सयणेण वा कामगुणेहि चेव।
समणा भविस्सामु गुणोहधारी
बहिंविहारा अभिगम्म भिक्खं ॥

धनेन किं धर्म-धुराधिकारे
स्वजनेन वा कामगुणैश्चैव।
श्रमणौ भविष्यावो गुणौघधारिणौ
बहिर्विहारावभिगम्य भिक्षाम् ॥

१७—पुत्र बोले—"पिता ! जहाँ धर्म की धुरा को वहन करने का अधिकार है वहाँ धन, स्वजन और इन्द्रिय-विषय का क्या प्रयोजन है ? कुछ भी नहीं। हम गुण-समूह से सम्पन्न श्रमण होंगे, प्रतिबन्ध-मुक्त होकर गाँवों और नगरों में विहार करने वाले और भिक्षा लेकर जीवन चलाने वाले।"

१. अणुमोदेज्ज (अ)।

१८—जहा य अग्गी अरणीउऽसन्तो
खीरे घयं तेल्ल महातिलेसु ।
एमेव जाया ! सरीरंसि सत्ता
संमुच्छई नासइ नावचिट्ठे ॥

यथा चाग्निररणितोऽसन्
क्षीरे घृतं तैलं महातिलेषु ।
एवमेव जातौ ! शरीरे सत्त्वाः
संमूर्च्छन्ति नश्यन्ति नावतिष्ठन्ते ॥

१८—"पुत्रो ! जिस प्रकार अरणी में अविद्यमान अग्नि उत्पन्न होती है, दूध में घी और तिल में तैल पैदा होता है, उसी प्रकार शरीर में जीव उत्पन्न होते हैं और नष्ट हो जाते हैं । शरीर का नाश हो जाने पर उनका अस्तित्व नहीं रहता"—पिता ने कहा ।

१९—नो इन्दियग्गेज्झ अमुत्तभावा
अमुत्तभावा वि य होइ निच्चो ।
अज्झत्थहेउं निययऽस्स बन्धो
संसारहेउं च वयन्ति बन्धं ॥

नो इन्द्रिय-ग्राह्योऽमूर्त-भावात्
अमूर्त-भावादपि च भवति नित्यः ।
आध्यात्म-हेतुर्नियतोऽस्य बन्धः
संसार-हेतुं च वदन्ति बन्धम् ॥

१९—कुमार बोले—"पिता ! आत्मा अमूर्त है इसलिए यह इन्द्रियों के द्वारा नहीं जाना जा सकता । यह अमूर्त है इसलिए नित्य है । यह निश्चय है कि आत्मा के आन्तरिक दोष ही उसके बन्धन के हेतु हैं और बन्धन ही संसार का हेतु है—ऐसा कहा है ।

२०—जहा वयं धम्ममजाणमाणा
पावं पुरा कम्ममकासि मोहा ।
ओरुज्झमाणा परिरक्खियन्ता
तं नेव भुज्जो वि समायरामो ॥

यथाऽऽवां धर्ममजानानौ
पापं पुरा कर्माकार्ष्व मोहात् ।
अवरुध्यमानौ परिरक्ष्यमाणौ
तन्नैव भूयोऽपि समाचरावः ॥

२०—"हम धर्म को नहीं जानते थे तब घर में रहे, हमारा पालन होता रहा और मोह-वश हमने पाप-कर्म का आचरण किया । किन्तु अब फिर पाप-कर्म का आचरण नहीं करेंगे ।

२१—अब्भाहयंमि लोगंमि
सव्वओ परिवारिए ।
'अमोहाहिं पडन्तीहिं'[1]
गिहंसि न रइं लभे ॥

अभ्याहते लोके
सर्वतः परिवारिते ।
अमोघाभिः पतन्तीभिः
गृहे न रतिं लभावहे ॥

२१—"यह लोक पीड़ित हो रहा है, चारों ओर से घिरा हुआ है, अमोघा आ रही है । इस स्थिति में हमें सुख नहीं मिल रहा है ।"

२२—केण अब्भाहओ लोगो ?
केण वा परिवारिओ ? ।
का वा अमोहा वुत्ता ?
जाया ! चिंतावरो हुमि ॥

केनाभ्याहतो लोकः ?
केन वा परिवारितः ? ।
का वाऽमोघा उक्ता ?
जातौ ! चिन्तापरो भवामि ॥

२२—"पुत्रो ! यह लोक किससे पीड़ित है ? किससे घिरा हुआ है ? अमोघा किसे कहा जाता है ? मैं जानने के लिए चिन्तित हूँ"—पिता ने कहा ।

२३—मच्चुणाऽब्भाहओ लोगो
जराए परिवारिओ ।
अमोहा रयणी वुत्ता
एवं ताय ! वियाणह ॥

मृत्युनाऽभ्याहतो लोकः
जरया परिवारितः ।
अमोघा रात्रय उक्ताः
एवं तात ! विजानीहि ॥

२३—कुमार बोले—"पिता ! आप जानें कि यह लोक मृत्यु से पीड़ित है, जरा से घिरा हुआ है और रात्रि को अमोघा कहा जाता है ।

१. अमोहायए पंतीहि (उ) ।

२४—जा जा वच्चइ रयणी
न सा पडिनियत्तई।
अहम्मं कुणमाणस्स
अफला जन्ति राइओ॥

या या व्रजति रजनी
न सा प्रतिनिवर्तते।
अधर्मं कुर्वाणस्य
अफला यान्ति रात्रयः॥

२४—"जो-जो रात बीत रही है, वह लौट कर नहीं आती। अधर्म करने वाले की रात्रियाँ निष्फल चली जाती हैं।

२५—जा जा वच्चइ रयणी
न सा पडिनियत्तई।
धम्मं च कुणमाणस्स
सफला जन्ति राइओ॥

या या व्रजति रजनी
न सा प्रतिनिवर्तते।
धर्मं च कुर्वाणस्य
सफला यान्ति रात्रयः॥

२५—"जो-जो रात बीत रही है वह लौट कर नहीं आती। धर्म करने वाले की रात्रियाँ सफल होती हैं।"

२६—एगओ संवसित्ताणं
दुहओ सम्मत्तसंजुया।
पच्छा जाया! गमिस्सामो
भिक्खमाणा कुले कुले॥

एकतः समुष्य
द्वये सम्यक्त्व-संयुताः।
पश्चाज्जातौ! गमिष्यामः
भिक्षमाणाः कुले कुले॥

२६—"पुत्रो! पहले हम सब एक साथ रह कर सम्यक्त्व और व्रतों का पालन करें फिर तुम्हारा यौवन बीत जाने के बाद घर-घर से भिक्षा लेते हुए विहार करेंगे"—पिता ने कहा।

२७—जस्सत्थि मच्चुणा सक्खं
जस्स वऽत्थि[1] पलायणं।
जो जाणे न मरिस्सामि
सो हु कंखे सुए सिया॥

यस्यास्ति मृत्युना सख्यं
यस्य वास्ति पलायनम्।
यो जानीते न मरिष्यामि
स खलु काङ्क्षति श्वः स्यात्॥

२७—पुत्र बोले—"पिता! कल की इच्छा वही कर सकता है, जिसकी मृत्यु के साथ मैत्री हो, जो मौत के मुँह से बच कर पलायन कर सके और जो जानता हो—मैं नहीं मरूँगा।

२८—अज्जेव धम्मं पडिवज्जयामो
जहिं पवन्ना न पुणब्भवामो।
अणागयं नेव य अत्थि किंचि
सद्धाखमं णे विणइत्तु रागं॥

अद्यैव धर्मं प्रतिपद्यामहे
यं प्रपन्ना न पुनर्भविष्यामः।
अनागतं नैव चास्ति किंचित्
श्रद्धाक्षमं नो विनीय रागम्॥

२८—"हम आज ही उस मुनि-धर्म को स्वीकार कर रहे हैं, जहाँ पहुँच कर फिर जन्म लेना न पड़े। भोग हमारे लिए अप्राप्त नहीं है—हम उन्हें अनेक बार प्राप्त कर चुके हैं। राग-भाव को दूर कर श्रद्धा पूर्वक श्रेय की प्राप्ति के लिए हमारा प्रयत्न युक्त है।"

२९—पहीणपुत्तस्स हु नत्थि वासो
वासिट्ठि! भिक्खायरियाइ कालो।
साहाहि रुक्खो लहए समाहिं
छिन्नाहि साहाहि तमेव खाणुं॥

प्रहीण पुत्रस्य खलु नास्ति वासः
वासिष्ठि! भिक्षाचर्यायाः कालः।
शाखाभिर्वृक्षो लभते समाधिं
छिन्नाभिः शाखाभिस्तमेव स्थाणुम्॥

२९—"पुत्रों के चले जाने के बाद मैं घर में नहीं रह सकता। हे वाशिष्ठि! अब मेरे भिक्षाचर्या का काल आ चुका है। वृक्ष शाखाओं से समाधि को प्राप्त होता है। उनके कट जाने पर लोग उसे ठूंठ कहते हैं।

---

१. वऽत्थि (बृ०)।

३०—पंखाविहूणो व्व[1] जहेह[2] पक्खी
भिच्चाविहूणो[3] व्व[4] रणे नरिन्दो।
विवन्नसारो वणिओ व्व पोए
पहीणपुत्तो मि तहा अहं पि ॥

पक्ष-विहीन इव यथेह पक्षी
भृत्य-विहीन इव रणे नरेन्द्रः ।
विपन्न-सारो वणिगिव पोते
प्रहीण-पुत्रोऽस्मि तथाऽहमपि ॥

३०—"बिना पंख का पक्षी, रण-भूमि में सेना रहित राजा और जल-पोत पर धन-रहित व्यापारी जैसा असहाय होता है, पुत्रों के चले जाने पर मैं भी वैसा ही हो जाता हूँ।"

३१—सुसंभिया कामगुणा इमे ते
संपिण्डिया अग्गरसापभूया[5]।
भुंजामु ता कामगुणे पगामं
पच्छा गमिस्सामु पहाणमग्गं ॥

सुसंभृताः काम-गुणा इमे ते
सम्पिण्डिता अग्र्य-रस-प्रभूताः ।
भुंजीवहि तावत् काम-गुणान् प्रकामं
पश्चात् गमिष्यावः प्रधान-मार्गम् ॥

३१—वाशिष्ठी ने कहा—"ये सुसंस्कृत और प्रचुर शृंगार-रस से परिपूर्ण इन्द्रिय-विषय, जो तुम्हें प्राप्त हैं, उन्हें अभी हम खूब भोगें। उसके बाद हम मोक्ष-मार्ग को स्वीकार करेंगे।"

३२—भुत्ता रसा भोइ[6]! जहाइ णे वओ
न जीवियट्ठा पजहामि भोए।
लाभं अलाभं च सुहं च दुक्खं
संचिक्खमाणो[7] चरिस्सामि[8] मोणं ॥

भुक्ता रसा भवति! जहाति नो वयः
न जीवितार्थं प्रजहामि भोगान्।
लाभमलाभं च सुखं च दुःखं
संवीक्षमाणश्चरिष्यामि मौनम् ॥

३२—पुरोहित ने कहा—"हे भवति! हम रसों को भोग चुके हैं, वय हमें छोड़ते चला जा रहा है। मैं असंयम-जीवन के लिए भोगों को नहीं छोड़ रहा हूँ। लाभ-अलाभ और सुख-दुःख को समदृष्टि से देखता हुआ मुनि-धर्म का आचरण करूंगा।"

३३—मा हू तुमं सोयरियाण सम्भरे
जुण्णो व हंसो पडिसोत्तगामी।
भुंजाहि भोगाइ मए समाणं
दुक्खं खु भिक्खायरियाविहारो ॥

मा खलु त्वं सोदर्याणां स्मार्षीः
जीर्ण इव हंसः प्रतिस्रोतोगामी ।
भुंक्ष्व भोगान् मया समं
दुःखं खलु भिक्षाचर्या-विहारः ॥

३३—वाशिष्ठी ने कहा—"प्रतिस्रोत में बहने वाले बूढ़े हँस की तरह तुम्हें पीछे अपने बन्धुओं को याद करना न पड़े, इसलिए मेरे साथ भोगों का सेवन करो। यह भिक्षाचर्या और ग्रामानुग्राम विहार सचमुच दुःखदायी है।"

३४—जहा य भोई[9]! तणुयं भुयंगो[10]
निम्मोयणिं हिच्च पलेइ मुत्तो।
एमेए[11] जाया पयहन्ति भोए
'ते हं'[12] कहं नाणुगमिस्समेक्को ?॥

यथा च भवति! तनुजां भुजंगः
निर्मोचनीं हित्वा पर्येति मुक्तः ।
एवमेतौ जातौ प्रजहीतो भोगान्
तौ अहं कथं नानुगमिष्याम्येकः ? ॥

३४—"हे भवति! जैसे सांप अपने शरीर की केंचुली को छोड़ मुक्त-भाव से चलता है वैसे ही पुत्र भोगों को छोड़ कर चले जा रहे हैं। पीछे मैं अकेला क्यों रहूँ, उनका अनुगमन क्यों न करूँ ?

१. व (उ, ऋ०)।
२. जहेव (अ, उ, ऋ०)।
३. भिच्चव्विहीणु (ऋ०); भिच्चुविहीणु (इ)।
४. व (उ, ऋ०)।
५. अग्गरसप्पभूया (उ, ऋ०)।
६. होइ (वृ०)।
७. संचिक्खमाणो (वृ०, उ)।
८. चरिसामि (अ, वृ०); करिस्सामि (वृ०)।
९. भोगि (वृ० पा०)।
१०. भुयंगमो (अ, वृ०)।
११. इमेति (वृ० पा०)।
१२. ताहं (उ, वृ०); तोहं (अ)।

३५—छिन्दित्तु जालं अबलं व रोहिया
मच्छा जहा कामगुणे पहाय।
धोरेयसीला तवसा उदारा
धीरा हु भिक्खायरियं चरन्ति॥

छित्त्वा जालमबलमिव रोहिताः
मत्स्या यथाकाम-गुणान् प्रहाय।
धौरेय-शीलास्तपसा उदाराः
धीराः खलु भिक्षाचर्यां चरन्ति॥

३५—"जैसे रोहित मच्छ जर्जरित जाल को काट कर बाहर निकल जाते हैं वैसे ही उठाए हुए भार को वहन करने वाले प्रधान तपस्वी और धीर पुरुष काम-भोगों को छोड़ कर भिक्षाचर्या को स्वीकार करते हैं।"

३६—नहेव कुंचा समइक्कमन्ता
तयाणि जालाणि दलित्तु हंसा।
पलेन्ति पुत्ता य पई य मज्झं
'ते हं'[1] कहं नाणुगमिस्समेक्का?॥

नभसीव क्रौंचाः समतिक्रामन्तः
ततानि जालानि दलित्वा हंसाः।
परियान्ति पुत्रौ च पतिश्च मम
तानहं कथं नानुगमिष्याम्येका?॥

३६—वाशिष्ठी ने कहा—"जैसे क्रौंच पक्षी और हंस बहेलियों द्वारा बिछाए हुए जालों को काट कर आकाश में उड़ जाते हैं वैसे ही मेरे पुत्र और पति जा रहे हैं। पीछे मैं अकेली क्यों रहूँ? उनका अनुगमन क्यों न करूँ?"

३७—पुरोहियं तं ससुयं सदारं
सोच्चाऽभिनिक्खम्म पहाय भोए।
कुडुम्बसारं विउलुत्तमं तं
रायं अभिक्खं समुवाय देवी॥

पुरोहितं तं ससुतं सदारं
श्रुत्वाऽभिनिष्क्रम्य प्रहाय भोगान्।
कुटुम्ब-सारं विपुलोत्तमं तद्
राजानमभीक्ष्णं समुवाच देवी॥

३७—पुरोहित अपने पुत्र और पत्नी के साथ भोगों को छोड़ कर प्रव्रजित हो चुका है, यह सुन राजा ने उसके प्रचुर और प्रधान धन-धान्य आदि को लेना चाहा तब महारानी कमलावती ने बार-बार कहा—

३८—वन्तासी पुरिसो रायं!
न सो होइ पसंसिओ।
माहणेण परिच्चत्तं
धणं आदाउमिच्छसि॥

वान्ताशी पुरुषो राजन्!
न स भवति प्रशंसनीयः।
ब्राह्मणेन परित्यक्तं
धनमादातुमिच्छसि॥

३८—"राजन्! वमन खाने वाले पुरुष की प्रशंसा नहीं होती। तुम ब्राह्मण के द्वारा परित्यक्त धन को लेना चाहते हो—यह क्या है?

३९—सव्वं जगं जइ तुहं
सव्वं वावि धणं भवे।
सव्वं पि ते अपज्जत्तं
नेव ताणाय तं तव॥

सर्वं जगद् यदि तव
सर्वं वापि धनं भवेत्।
सर्वमपि ते अपर्याप्तं
नैव त्राणाय तत्तव॥

३९—"यदि समूचा जगत् तुम्हें मिल जाए अथवा समूचा धन तुम्हारा हो जाए तो भी वह तुम्हारी इच्छा-पूर्ति के लिए पर्याप्त नहीं होगा और वह तुम्हें त्राण भी नहीं दे सकेगा।

४०—मरिहिसि रायं! जया तया वा
मणोरमे कामगुणे पहाय[2]।
एक्को हु धम्मो नरदेव! ताणं
न विज्जई अन्नमिहेह किंचि॥

मरिष्यसि राजन्! यदा तदा वा
मनोरमान् काम-गुणान् प्रहाय।
एकः खलु धर्मो नरदेव! त्राणं
न विद्यतेऽन्यदिहेह किञ्चित्॥

४०—"राजन्! इन मनोरम काम-भोगों को छोड़ कर जब कभी मरना होगा। हे नरदेव! एक धर्म ही त्राण है। उसके सिवाय कोई दूसरी वस्तु त्राण नहीं दे सकती।

१. ताहं (उ, चू०); तोहं (अ)।
२. जहाय (चू०)।

४१—नाहं रमे पक्खिणि पंजरे वा
संताणछिन्ना चरिस्सामि मोणं।
अकिंचणा उज्जुकडा निरामिसा
परिग्गहारम्भनियत्तदोसा ॥

नाहं रमे पक्षिणी पंजर इव
छिन्न-सन्ताना चरिष्यामि मौनम्।
अकिंचना ऋजु-कृता निरामिषा
परिग्रहारम्भ-दोष-निवृत्ता ॥

४१—"जैसे पक्षिणी पिंजड़े में आनन्द नहीं मानती, वैसे ही मुझे इस बन्धन में आनन्द नहीं मिल रहा है। मैं स्नेह के जाल को तोड़ कर अकिंचन, सरल क्रिया वाली, विषय-वासना से दूर और परिग्रह एवं हिंसा के दोषों से मुक्त हो कर मुनि-धर्म का आचरण करूंगी।

४२—दवग्गिणा जहा रण्णे
डज्झमाणेसु जन्तुसु।
अन्ने सत्ता पमोयन्ति
रागद्दोसवसं गया ॥

दवाग्निना यथारण्ये
दह्यमानेषु जन्तुषु।
अन्ये सत्त्वाः प्रमोदन्ते
राग-द्वेष-वशं गताः ॥

४२—"जैसे दवाग्नि लगी हुई है, अरण्य में जीव-जन्तु जल रहे हैं, उन्हें देख राग-द्वेष के वशीभूत हो कर दूसरे जीव प्रमुदित होते हैं,

४३—एवमेव[1] वयं मूढा
कामभोगेसु मुच्छिया।
डज्झमाणं न बुज्झामो
रागद्दोसग्गिणा जगं ॥

एवमेव वयं मूढाः
काम-भोगेषु मूर्च्छिताः।
दह्यमानं न बुध्यामहे
राग-द्वेषाग्निना जगत् ॥

४३—"उसी प्रकार काम-भोगों में मूर्च्छित हो कर हम मूढ़ लोग यह नहीं समझ पाते कि यह समूचा संसार राग-द्वेष की अग्नि में जल रहा है।

४४—भोगे भोच्चा वमित्ता य
लहुभूयविहारिणो।
आमोयमाणा गच्छन्ति
दिया कामकमा इव ॥

भोगान् भुक्त्वा वान्त्वा च
लघुभूत-विहारिणः।
आमोदमाना गच्छन्ति
द्विजाः काम-क्रमा इव ॥

४४—"विवेकी पुरुष भोगों को भोग कर फिर उन्हें छोड़ वायु की तरह अप्रतिबद्ध-विहार करते हैं और वे स्वेच्छा से विचरण करने वाले पक्षियों की तरह प्रसन्नतापूर्वक स्वतंत्र विहार करते हैं।

४५—इमे य बद्धा[2] फन्दन्ति
मम हत्थऽज्जमागया।
वयं च सत्ता कामेसु
भविस्सामो जहा इमे ॥

इमे च बद्धाः स्पन्दन्ते
मम हस्तमार्य ! आगताः।
वयं च सक्ताः कामेषु
भविष्यामो यथेमे ॥

४५—"आर्य ! जो काम-भोग अपने हाथों में आए हुए हैं और जिनको हमने नियंत्रित कर रखा है, वे कूद-फाँद कर रहे हैं। हम कामनाओं में आसक्त बने हुए हैं किन्तु अब हम भी वैसे ही होंगे, जैसे कि अपनी पत्नी और पुत्रों के साथ भृगु हुए हैं।

४६—सामिसं कुललं दिस्स
बज्झमाणं निरामिसं।
आमिसं सव्वमुज्झित्ता
विहरिस्सामि निरामिसा ॥

सामिषं कुललं दृष्ट्वा
बाध्यमानं निरामिषम्।
आमिषं सर्वमुज्झित्वा
विहरिष्यामि निरामिषा ॥

४६—"जिस गीध के पास मांस होता है उस पर दूसरे पक्षी झपटते हैं और जिसके पास मांस नहीं होता उस पर नहीं झपटते—यह देख कर मैं आमिष (धन, धान्य आदि) को छोड़, निरामिष हो कर विचरूंगी।

---

१. एवमेवं (बृ०)।
२. लद्धा (चू०)।

४७—गिद्धोवमे उ नच्चाणं
कामे संसारवड्ढणे ।
उरगो 'सुवण्णपासे व'[1]
संकमाणो तणुं चरे ॥

गृध्रोपमांस्तु ज्ञात्वा
कामान् संसार-वर्धनान् ।
उरगः सौपर्णेय-पार्श्वे इव
शङ्कमानस्तनु चरेत् ॥

४७—"गीध की उपमा से काम-भोगों को संसार-वर्धक जान कर मनुष्य को इनसे इसी प्रकार शंकित होकर चलना चाहिए, जिस प्रकार गरुड़ के सामने साँप शंकित होकर चलता है ।

४८—नागो व्व बन्धणं छित्ता
अप्पणो वसहिं वए ।
एयं पत्थं महारायं !
उसुयारि त्ति मे सुयं ॥

नाग इव बन्धनं छित्वा
आत्मनो वसतिं व्रजेत् ।
एतत्पथ्यं महाराज !
इषुकार ! इति मया श्रुतम् ॥

४८—"जैसे बन्धन को तोड़ कर हाथी अपने स्थान (विंध्याटवी) में चला जाता है, वैसे ही हमें अपने स्थान (मोक्ष) में चले जाना चाहिए । हे महाराज इषुकार ! यह पथ्य है, इसे मैंने ज्ञानियों से सुना है ।"

४९—चइत्ता विउलं रज्जं[2]
कामभोगे य दुच्चए ।
निव्विसया निरामिसा
निन्नेहा निप्परिग्गहा ॥

त्यक्त्वा विपुलं राज्यं
काम-भोगांश्च दुस्त्यजान् ।
निर्विषयौ निरामिषौ
निःस्नेहौ निष्परिग्रहौ ॥

४९—राजा और रानी विपुल राज्य और दुस्त्यज काम-भोगों को छोड़ निर्विषय, निरामिष, निःस्नेह और निष्परिग्रह हो गए ।

५०—सम्मं धम्मं वियाणित्ता
चेच्चा कामगुणे वरे ।
तवं पगिज्झऽहक्खायं[3]
घोरं घोरपरक्कमा ॥

सम्यग् धर्मं विज्ञाय
त्यक्त्वा काम-गुणान् वरान् ।
तपः प्रगृह्य यथाख्यातं
घोरं घोर-पराक्रमौ ॥

५०—धर्म को सम्यक् प्रकार से जान, आकर्षक भोग-विलास को छोड़, वे तीर्थङ्कर के द्वारा उपदिष्ट घोर तपश्चर्या को स्वीकार कर संयम में घोर पराक्रम करने लगे ।

५१—एवं ते कमसो बुद्धा
सव्वे धम्मपरायणा[4] ।
जम्ममच्चुभउव्विग्गा
दुक्खस्सन्तगवेसिणो ॥

एवं ते क्रमशो बुद्धाः
सर्वे धर्म-परायणाः ।
जन्म-मृत्यु-भयोद्विग्नाः
दुःखस्यान्त-गवेषिणः ॥

५१—इस प्रकार वे सब क्रमशः बुद्ध हो कर, धर्म-परायण, जन्म और मृत्यु के भय से उद्विग्न बन गए तथा दुःख के अन्त की खोज में लग गए ।

---

१. सुवण्णपासेव्व (उ, चू०, सु०) ; सुवण्णपासित्ता (बृ०) ; सुवण्णपासिव्वा (अ) ।
२. रट्ठं (बृ०, चू०) ; रज्जं (बृ० पा०) ।
३. ० अहकामं (बृ० पा०) ।
४. ० परंपरा (बृ० पा०) ।

५२—सासणे विगयमोहाणं
पुव्विं भावणभाविया ।
अचिरेणेव कालेण
दुक्खस्सन्तमुवागया ॥

शासने विगत-मोहानां
पूर्वं भावना-भाविताः ।
अचिरेणैव कालेन
दुःखस्यान्तमुपागताः ॥

५३—राया सह देवीए
माहणो य पुरोहिओ ।
माहणी दारगा चेव
सव्वे ते परिनिव्वुड[1] ॥
—त्ति बेमि ॥

राजा सह देव्या
ब्राह्मणश्च पुरोहितः ।
ब्राह्मणी दारकौ चैव
सर्वे ते परिनिर्वृताः ॥
—इति ब्रवीमि ॥

५२-५३—जिनकी आत्मा पूर्व-जन्म में कुशल-भावना से भावित थी वे सब—राजा, रानी, ब्राह्मण पुरोहित, ब्राह्मणी और दोनों पुरोहित कुमार अर्हत् के शासन में आकर दुःख का अंत पा गए—मुक्त हो गए ।

—ऐसा मैं कहता हूँ ।

---

१. परिनिव्वुडु (बृ०) ; परिनिव्वुडि (अ) ; परिनिव्वुए (चू०) ।

पनरसमं अज्झयणं :
सभिक्खुयं

पंचदश अध्ययन :
सभिक्षुक

निर्युक्तिकार ने भिक्षु के लक्षण इस प्रकार बतलाए हैं[1] —

भिक्षु वह है जो राग-द्वेष को जीत लेता है।

भिक्षु वह है जो मन, वचन और काया—इन तीनों दण्डों में सावधान रहता है।

भिक्षु वह है जो न सावद्य कार्य करता है, न दूसरों से करवाता है और न उसका अनुमोदन करता है।

भिक्षु वह है जो ऋद्धि, रस और साता का गौरव नहीं करता।

भिक्षु वह है जो मायावी नहीं होता, जो निदान नहीं करता और जो सम्यग्दर्शी होता है।

भिक्षु वह है जो विकथाओं से दूर रहता है।

भिक्षु वह है जो आहार, भय, मैथुन और परिग्रह—इन चार संज्ञाओं को जीत लेता है।

भिक्षु वह है जो कषायों पर विजय पा लेता है।

भिक्षु वह है जो प्रमाद से दूर रहता है।

भिक्षु वह है जो कर्म-बन्धन को तोड़ने के लिए सदा प्रयत्नशील रहता है।

जो ऐसा होता है वह समस्त ग्रन्थियों का छेदन कर अजर-अमर पद को पा लेता है।

---

१. उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा २७८,२७९ : रागद्दोसा दंडा जोगा तह गारवा य सल्ला य।
विगहाओ सण्णाओ खुहं कसाया पमाया य॥
एयाइं तु खुड्डाइं जे खलु भिंदंति सुव्वया रिसओ।
ते भिन्नकम्मगंठी उविंति अयरामरं ठाणं॥

आमुख

इस अध्ययन में भिक्षु के लक्षणों का निरूपण है, इसलिए इसका नाम 'सभिक्खुयं'—'सभिक्षुक' रखा गया है।

भिक्षु अकेला होता है। उसके न कोई मित्र होता है और न कोई शत्रु। वह सभी सम्बन्धों से विप्रमुक्त होता है। वह साधना करता है। वह अध्यात्म की कला को कभी जीविका-उपार्जन के लिए प्रयुक्त नहीं करता। वह सदा जितेन्द्रिय रहता है। (श्लोक १६)

जीवन भयाकुल है। उसके प्रत्येक चरण में भय ही भय है। भिक्षु अभय की साधना करता है। पहले-पहल वह भय को जीतने के लिए उपाश्रय में ही मध्य रात्रि में उठ कर अकेला हो कायोत्सर्ग करता है। दूसरी बार उपाश्रय से बाहर, तीसरी बार दूर चौराहे पर, चौथी बार शून्य-गृह में और अन्त में श्मशान में अकेला जा कायोत्सर्ग करता है। वह भय-मुक्त हो जाता है। अभय अहिंसा का परिपाक है। (श्लोक १४)

मुनि को प्रत्येक वस्तु याचित ही मिलती है। अयाचित कुछ भी नहीं मिलता। जो इच्छित वस्तु मिलने पर प्रसन्न और न मिलने पर अप्रसन्न नहीं होता वह भिक्षु है। भिक्षु के लिए सभी द्वार खुले हैं। कोई दाता देता है और कोई नहीं भी देता। इन दोनों स्थितियों में जो सम रहता है वह भिक्षु है। (श्लोक ११,१२)

मुनि सरस आहार मिलने पर उसकी प्रशंसा और नीरस मिलने पर उसकी गर्हा न करे। ऊँचे कुलों की भिक्षा करने के साथ-साथ प्रान्त कुलों से भी भिक्षा ले। भिक्षा में जो कुछ प्राप्त हो उसी में सन्तोष करने वाला भिक्षु होता है। (श्लोक १३)

मुनि अपनी आवश्यकता-पूर्ति के लिए हीन-भाव से किसी के आगे हाथ नहीं पसारता। वह याचना में भी अपने आत्म-गौरव को नहीं खोता। वह व्यक्तियों को न वह चापलूसी करता है और न छोटे व्यक्तियों का तिरस्कार, न वह धनवानों की श्लाघा करता है और न निर्धनों की निन्दा। सबके प्रति उसका बर्ताव सम होता है। (श्लोक ६)

दशवैकालिक का दसवाँ अध्ययन 'सभिक्खु' है। उसमें २१ श्लोक हैं। इस अध्ययन में १६ श्लोक हैं। उद्देश्य-साम्य होने पर भी दोनों के वर्णन में अन्तर है। कहीं-कहीं श्लोकों के पदों में शब्द-साम्य है। इस अध्ययन में प्रयुक्त भिक्षु के कई विशेषण नए हैं। इसके समग्र अध्ययन से भिक्षु की जीवन-यापन विधि का अथ से इति तक सम्यक् परिज्ञान हो जाता है।

इस अध्ययन में अनेक दार्शनिक तथा सामाजिक तथ्यों का संकलन हुआ है। आगम काल में कुछ श्रमण और ब्राह्मण मंत्र, चिकित्सा आदि का प्रयोग करते थे। भगवान् महावीर ने जैन-मुनि के लिए ऐसा करने का निषेध किया है।

वमन, विरेचन और धूमनेत्र—ये चिकित्सा-प्रणाली के अङ्ग हैं। आयुर्वेद में प्रचलित 'पंचकर्म' की प्रक्रिया में प्रथम दो का महत्त्वपूर्ण स्थान है और आज भी इस प्रक्रिया से चिकित्सा की जाती है। धूमनेत्र मस्तिष्क-सम्बन्धी रोगों का निवारण करने के लिए प्रयुक्त होता था। इसका उल्लेख दशवैकालिक ३।६ और सूत्रकृतांग २।४।६७ में भी हुआ है।

सातवें श्लोक में अनेक विद्याओं का उल्लेख हुआ है। आजीवक आदि श्रमण इन विद्याओं का प्रयोग कर अपनी आजीविका चलाते थे। इससे लोगों में आकर्षण और विकर्षण—दोनों होते थे। साधना भंग होती थी। भगवान् ने इन विद्या-प्रयोगों से आजीविका चलाने का निषेध किया है।

पनरसमं अज्झयणं : पंचदश अध्ययन

सभिक्खुयं : सभिक्षुकम्

मूल

१—मोणं चरिस्सामि[1] समिच्च धम्मं
सहिए उज्जुकडे नियाणछिन्ने ।
संथवं जहिज्ज अकामकामे
अन्नायएसी परिव्वए जे स भिक्खू ॥

संस्कृत छाया

मौनं चरिष्यामि समेत्य धर्मं
सहित ऋजुकृतः छिन्न-निदानः ।
संस्तवं जह्यादकाम-कामः
अज्ञातैषी परिव्रजेत् स भिक्षुः ॥

हिन्दी अनुवाद

१—'धर्म को स्वीकार कर मुनि-व्रत का आचरण करूंगा'—जो ऐसा सङ्कल्प करता है, जो दूसरे भिक्षुओं के साथ रहता है, जिसका अनुष्ठान ऋजु है, जो वासना के संकल्प का छेदन करता है, जो परिचय का त्याग करता है, जो काम-भोगों की अभिलाषा को छोड़ चुका है, जो तप आदि का परिचय दिए बिना भिक्षा की खोज करता है, जो अप्रतिबद्ध विहार करता है—वह भिक्षु है ।

२—राओवरयं[2] चरेज्ज लाढे
विरए वेयवियाऽऽयरक्खिए ।
पन्ने अभिभूय सव्वदंसी
जे कम्हिचि[3] न मुच्छिए स भिक्खू ॥

रात्र्युपरतं चरेद् 'लाढे'
विरतो वेदविदात्म-रक्षितः ।
प्राज्ञोऽभिभूय सर्व-दर्शी
यः कस्मिन्नपि न मूर्च्छितः स भिक्षुः ॥

२—जो रात्रि-भोजन या रात्रि-विहार नहीं करता, जो निर्दोष आहार से जीवन-यापन करता है, जो विरत, आगम को जानने वाला और आत्म-रक्षक है, जो प्राज्ञ है, जो परीषहों को जीतने वाला और सब जीवों को आत्म-तुल्य समझने वाला है, जो किसी भी वस्तु में मूर्च्छित नहीं होता—वह भिक्षु है ।

३—अक्कोसवहं विइत्तु धीरे
मुणी चरे लाढे निच्चमायगुत्ते ।
अव्वग्गमणे असंपहिट्ठे
जे कसिणं अहियासए स भिक्खू ॥

आक्रोश-वधं विदित्वा धीरः
मुनिश्चरेद् 'लाढे' नित्यमात्म-गुप्तः ।
अव्यग्र-मना असंप्रहृष्टः
यः कृत्स्नमध्यास्ते स भिक्षुः ॥

३—जो धीर मुनि कठोर वचन और ताड़ना को अपने कर्मों का फल जान कर शान्त भाव से विचरण करता है, जो प्रशस्त है, जो सदा आत्मा का संवरण किये रहता है, जिसका मन आकुलता और हर्ष से रहित होता है, जो सब कुछ सहन करता है—वह भिक्षु है ।

४—पन्तं सयणासणं भइत्ता
सीउण्हं विविहं च दंसमसगं ।
अव्वग्गमणे असंपहिट्ठे
जे कसिणं अहियासए स भिक्खू ॥

प्रान्तं शयनासनं भुक्त्वा
शीतोष्णं विविधं च दंश-मशकम् ।
अव्यग्र-मना असंप्रहृष्टः
यः कृत्स्नमध्यास्ते स भिक्षुः ॥

४—निकृष्ट शयन और आसन का सेवन करके तथा सर्दी, गर्मी, डांस और मच्छरों की त्रास को सहन करके भी जिसका मन आकुलता और हर्ष से रहित होता है, जो सब कुछ सहन करता है—वह भिक्षु है ।

---

१. चरिस्सामो (बृ०) ।
२. रागोवरयं (बृ०) ; रातोवरयं (बृ० पा०) ।
३. कम्हि वि (अ, ड, बृ०) ।

५—नो सक्कियमिच्छई न पूयं
नो वि य वन्दणगं कुओ पसंसं ? ।
से संजए सुव्वए तवस्सी
सहिए आयगवेसए स भिक्खू ॥

नो सत्कृतमिच्छति न पूजां
नो अपि च वन्दनकं कुतः प्रशंसाम् ? ।
स संयतः सुव्रतस्तपस्वी
सहित आत्म-गवेषकः स भिक्षुः ॥

५—जो सत्कार, पूजा और वन्दना की इच्छा नहीं करता वह प्रशंसा की इच्छा कैसे करेगा ? जो संयत, सुव्रत, तपस्वी, दूसरे भिक्षुओं के साथ रहने वाला और आत्म-गवेषक है—वह भिक्षु है ।

६—जेण पुण जहाइ जीवियं
मोहं वा कसिणं नियच्छई ।
नरनारिं पजहे सया तवस्सी
न य कोऊहलं उवेइ स भिक्खू ॥

येन पुनर्जहाति जीवितं
मोहं वा कृत्स्नं नियच्छति ।
नर-नारिं प्रजह्यात् सदा तपस्वी
न च कुतूहलमुपैति स भिक्षुः ॥

६—जिसके संयोग मात्र से संयम-जीवन छूट जाये और समग्र मोह से बंध जाए वैसे स्त्री या पुरुष की संगति का जो त्याग करता है, जो सदा तपस्वी है, जो कुतूहल नहीं करता—वह भिक्षु है ।

७—छिन्नं सरं भोमं अन्तलिक्खं
सुमिणं लक्खणदण्डवत्थुविज्जं ।
अंगवियारं सरस्स विजयं
जो विज्जाहिं न जीवइ स भिक्खू ॥

छिन्नं स्वरं भौममन्तरिक्षं
स्वप्नं लक्षण-दण्ड-वास्तु-विद्यां ।
अंग-विकारः स्वरस्य विचयः
यो विद्याभिर्न जीवति स भिक्षुः ॥

७—जो छिन्न (छिद्र-विद्या), स्वर (सप्त-स्वर विद्या), भौम, अन्तरिक्ष, स्वप्न, लक्षण, दण्ड, वास्तु-विद्या, अंग-विकार और स्वर-विज्ञान (पशु-पक्षी स्वर-विद्या)—इन विद्याओं के द्वारा जो आजीविका नहीं करता वह भिक्षु है ।

८—मन्तं मूलं विविहं वेज्जचिन्तं
वमणविरेयणधूमणेत्तसिणाणं ।
आउरे सरणं तिगिच्छियं च
तं परिन्नाय परिव्वए स भिक्खू ॥

मन्त्रं मूलं विविधां वैद्य-चिन्तां
वमन-विरेचन-धूमनेत्र-स्नानम् ।
आतुरे शरणं चिकित्सितं च
तत् परिज्ञाय परिव्रजेत् स भिक्षुः ॥

८—मन्त्र, मूल, विविध प्रकार की आयुर्वेद सम्बन्धी चिन्ता, वमन, विरेचन, धूम-पान की नली, स्नान, आतुर होने पर स्वजन की शरण, चिकित्सा—इनका परित्याग कर जो परिव्रजन करता है—वह भिक्षु है ।

९—खत्तियगणउग्गरायपुत्ता
माहणभोइय विविहा 'य सिप्पिणो'[1] ।
नो तेसिं वयइ[2] सिलोगपूयं
तं परिन्नाय परिव्वए स भिक्खू ॥

क्षत्रियगणोग्रराजपुत्राः
ब्राह्मण-भोगिका विविधाश्च शिल्पिनः ।
नो तेषां वदति श्लोक-पूजे
तत्परिज्ञाय परिव्रजेत् स भिक्षुः ॥

९—क्षत्रिय, गण, उग्र, राजपुत्र, ब्राह्मण, भोगिक (सामन्त) और विविध प्रकार के शिल्पी जो होते हैं, उनकी श्लाघा और पूजा नहीं करता किन्तु उसे दोष-पूर्ण जान उसका परित्याग कर जो परिव्रजन करता है—वह भिक्षु है ।

---

१. सिप्पिगणोऽणे (बृ० पा०) ।
२. करेइ (चू०) ।

१०—गिहिणो जे पव्वइएण दिट्ठा
अप्पव्वइएण व संथुया हविज्जा।
तेसिं इहलोइयफलट्ठा[1]
जो संथवं न करेइ स भिक्खू॥

गृहिणो ये प्रव्रजितेन दृष्टाः
अप्रव्रजितेन च संस्तुता भवेयुः।
तेषामिहलौकिकफलार्थं
यः संस्तवं न करोति स भिक्षुः॥

१०—दीक्षा लेने के पश्चात् जिन्हें देखा हो या उससे पहले जो परिचित हों उनके साथ इहलौकिक फल (वस्त्र-पात्र आदि) की प्राप्ति के लिए जो परिचय नहीं करता—वह भिक्षु है।

११—सयणासणपाणभोयणं
विविहं खाइमसाइमं परेसिं।
अदए पडिसेहिए नियण्ठे
जे तत्थ न पउस्सई स भिक्खू॥

शयनासन-पान-भोजनं
विविधं खाद्य-स्वाद्यं परेभ्यः।
अददद्भ्यः प्रतिषिद्धो निर्ग्रन्थः
यस्तत्र न प्रदुष्यति स भिक्षुः॥

११—शयन, आसन, पान, भोजन और विविध प्रकार के खाद्य-स्वाद्य गृहस्थ न दे तथा कारण विशेष से माँगने पर भी इन्कार हो जाए, उस स्थिति में जो प्रद्वेष न करे—वह भिक्षु है।

१२—जं किंचि आहारपाणं[2] विविहं
खाइमसाइमं परेसिं लद्धुं।
जो तं तिविहेण नाणुकम्पे
मणवयकायसुसंवुडे स भिक्खू॥

यत्किंचिदाहार-पानं
विविधं खाद्य-स्वाद्यं परेभ्यो: लब्ध्वा।
यस्तेन त्रिविधेन नानुकम्पते
संवृत-मनोवाक्कायः स भिक्षुः॥

१२—गृहस्थों के घर से जो कुछ आहार, पानक और विविध प्रकार के खाद्य-स्वाद्य प्राप्त कर जो गृहस्थ की मन, वचन और काया से अनुकम्पा नहीं करता—उन्हें आशीर्वाद नहीं देता, जो मन, वचन और काया से सुसंवृत होता है—वह भिक्षु है।

१३—आयामगं चेव जवोदणं च
'सीयं च सोवीरजवोदगं च'[3]।
नो हीलए पिण्डं नीरसं तु
पन्तकुलाइं परिव्वए स भिक्खू॥

आयामकं चैव यवौदनं च
शीतं सौवीरं यवोदकं च।
न हीलयेत् पिण्डं नीरसं तु
प्रान्त-कुलानि परिव्रजेत् स भिक्षुः॥

१३—ओसामन, जौ का दलिया, ठण्डा-बासी आहार, काँजी का पानी, जौ का पानी जैसी नीरस भिक्षा की जो निन्दा नहीं करता, जो सामान्य घरों में भिक्षा के लिए जाता है—वह भिक्षु है।

१४—सद्दा विविहा भवन्ति लोए
दिव्वा 'माणुस्सगा तहा तिरिच्छा'[4]।
भीमा भयभेरवा उराला
जो सोच्चा न वहिज्जई[5] स भिक्खू॥

शब्दा विविधा भवन्ति लोके
दिव्या मानुष्यकास्तैरश्चाः।
भीमा भय-भैरवा उदाराः
यः श्रुत्वा न बिभेति स भिक्षुः॥

१४—लोक में देवता, मनुष्य और तिर्यञ्चों के अनेक प्रकार के रौद्र, अमित भयंकर और अद्भुत शब्द होते हैं, उन्हें सुनकर जो नहीं डरता—वह भिक्षु है।

---

१. इहलोगफलट्ठाए (अ, आ, इ, चू०)।
२. वाहार ० (अ)।
३. सीयं सुवीरं च जवोदगं च (स, उ)।
४. माणुस्सया तिरिच्छा य (चू०)।
५. वहिए (उ)।

१५—वादं विविहं समिच्च लोए
सहिए खेयाणुगए य कोवियप्पा ।
पन्ने अभिभूय सव्वदंसी
उवसन्ते अविहेडए[1] स भिक्खू ॥

वादं विविधं समेत्य लोके
सहितः खेदानुगतश्च कोविदात्मा ।
प्राज्ञोऽभिभूय सर्वदर्शी
उपशान्तोऽविहेठकः स भिक्षुः ॥

१५—लोक में विविध प्रकार के वादों को जान कर भी जो भिक्षुओं के साथ रहता है, जो संयमी है, जिसे आगम का परम अर्थ प्राप्त हुआ है, जो प्राज्ञ है, जो परीषहों को जीतने वाला और सब जीवों को आत्म-तुल्य समझने वाला है, जो उपशान्त और किसी को भी अपमानित न करने वाला होता है—वह भिक्षु है ।

१६—असिप्पजीवी[2] अगिहे अमित्ते
जिइन्दिए सव्वओ विप्पमुक्के ।
अणुक्कसाई लहुअप्पभक्खी
चेच्चा गिहं एगचरे स भिक्खू ॥
—त्ति बेमि ।

अशिल्पजीव्यगृहोऽमित्रः
जितेन्द्रियः सर्वतो विप्रमुक्तः ।
अणु-कषायी लघ्वल्पभक्षी
त्यक्त्वा गृहमेकचरः स भिक्षुः ॥
—इति ब्रवीमि ।

१६—जो शिल्प-जीवी नहीं होता, जिसके घर नहीं होता, जिसके मित्र नहीं होते, जो जितेन्द्रिय और सब प्रकार के परिग्रह से मुक्त होता है, जिसका कषाय मन्द होता है, जो थोड़ा और निस्सार भोजन करता है, जो घर को छोड़ अकेला (राग-द्वेष से रहित हो) विचरता है—वह भिक्षु है ।

—ऐसा मैं कहता हूँ ।

---

१. उविहेडए (ब) ।
२. असिप्पजीवे (अ) ।

सोलसमं अज्झयणं :
बम्भचेरसमाहिठाणं

षोडश अध्ययन :
ब्रह्मचर्य-समाधि-स्थान

आमुख

ब्रह्मचर्य-समाधि का निरूपण होने के कारण इस अध्ययन का नाम 'बम्भचेरसमाहिठाणं'—'ब्रह्मचर्य-समाधि-स्थान' है। इसमें ब्रह्मचर्य-समाधि के दस स्थानों का वर्णन है। स्थानाङ्ग और समवायाङ्ग में भी ब्रह्मचर्य की नौ गुप्तियों का वर्णन प्राप्त होता है। तुलनात्मक तालिका यों है :

स्थानाङ्ग तथा समवायाङ्ग में वर्णित नौ गुप्तियाँ[1] :

१—निर्ग्रन्थ स्त्री, पशु और नपुंसक से संसक्त शयन और आसन का सेवन न करे।

२—केवल स्त्रियों के बीच कथा न कहे अर्थात् स्त्री-कथा न करे।

३—स्त्रियों के साथ एक आसन पर न बैठे।[2]

४—स्त्रियों की मनोहर और मनोरम इन्द्रियों को न देखे और न अवधान पूर्वक उनका चिन्तन करे।

५—प्रणीत रसभोजी न हो।

६—मात्रा से अधिक न खाए और न पीए।

७—पूर्व-क्रीड़ाओं का स्मरण न करे।

८—शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श तथा श्लोक-कीर्ति में आसक्त न हो।

९—साता और सुख में प्रतिबद्ध न हो।

उत्तराध्ययन के दस स्थान :

१—निर्ग्रन्थ स्त्री, पशु और नपुंसक से आकीर्ण शयन और आसन का प्रयोग न करे।

२—स्त्रियों के बीच कथा न कहे।

३—स्त्रियों के साथ एक आसन पर न बैठे।

४—स्त्रियों की मनोहर और मनोरम इन्द्रियों को दृष्टि गड़ाकर न देखे।

५—स्त्रियों के कूजन, रोदन, गीत, हास्य, विलाप आदि के शब्द न सुने।

६—पूर्व-क्रीड़ाओं का अनुस्मरण न करे।

७—प्रणीत आहार न करे।

८—मात्रा से अधिक न खाए और न पीए।

९—विभूषा न करे।

१०—शब्द, रस, रूप, गन्ध और स्पर्श में आसक्त न हो।

उत्तराध्ययन में जो दसवाँ स्थान है, वह स्थानाङ्ग और समवायाङ्ग में आठवाँ स्थान है। अन्य स्थानों का वर्णन प्राय: समान है। केवल पाँचवाँ स्थान स्थानाङ्ग तथा समवायाङ्ग में नहीं है।

१—(क) स्थानाङ्ग ९।६।६३ :

नव बंभचेरगुत्तीतो पं० तं०—विवित्ताइं सयणासणाइं सेवित्ता भवति णो इत्थिसंसत्ताइं नो पसुसंसत्ताइं नो पंडगसंसत्ताइं १; नो इत्थिणं कहं कहेत्ता २; नो इत्थिठाणाइं सेवित्ता भवति ३; णो इत्थीणमिंदिताइं मणोहराइं मणोरमाइं आलोइत्ता निज्झाइत्ता भवइ ४; णो पणीतरसभोती ५; णो पाणभोयणस्स अतिमत्तं आहारते सता भवति ६; णो पुव्वरतं पुव्वकीलियं समरेत्ता भवति ७; णो सद्दाणुवाती णो रूवाणुवाती णो सिलोगाणुवाती ८; णो सातसोक्खपडिबद्धे यावि भवति ९।

(ख) समवायाङ्ग समवाय ९ :

नव बंभचेरगुत्तीओ प० तं०—नो इत्थीपसुपंडगसंसत्ताणि सिज्जासणाणि सेवित्ता भवइ १; नो इत्थीणं कहं कहित्ता भवइ २; नो इत्थीणं गणाइं सेवित्ता भवइ ३; नो इत्थीणं इंदियाणि मणोहराइं मणोरमाइं आलोइत्ता निज्झाइत्ता भवइ ४; नो पणीयरसभोई ५; नो पाण-भोयणस्स अइमायाए आहारइत्ता ६; नो इत्थीणं पुव्वरयाइं पुव्वकीलिआइं समरइत्ता भवइ ७; नो सद्दाणुवाई नो रूवाणुवाई नो गन्धाणुवाई नो रसाणुवाई नो फासाणुवाई नो सिलोगाणुवाई ८; नो सायासोक्खपडिबद्धे यावि भवइ।

२—समवायाङ्ग में इसके स्थान पर—निर्ग्रन्थ स्त्री-समुदाय की उपासना न करे—ऐसा पाठ है। देखें पा० टि० १ (ख)।

प्रस्तुत अध्ययन में चक्षु-गृद्धि की भाँति पाँचवें स्थान में शब्द-गृद्धि का भी वर्जन किया गया है और दसवें स्थान में पाँचों इन्द्रियों की आसक्ति का समवेत रूप में वर्जन किया गया है।

यहाँ दस समाधि-स्थानों का वर्णन बहुत ही मनोवैज्ञानिक ढंग से हुआ है। शयन, आसन, काम-कथा, स्त्री-पुरुष का एक आसन पर बैठना, चक्षु-गृद्धि, शब्द-गृद्धि, पूर्व-क्रीड़ा का स्मरण, सरस आहार, अतिमात्र आहार, विभूषा, इन्द्रिय-विषयों की आसक्ति—ये सब ब्रह्मचर्य की साधना मे विघ्न हैं। इसलिए इनके निवारण को 'ब्रह्मचर्य-समाधि-स्थान' या 'ब्रह्मचर्य-गुप्ति' कहा गया है।

ब्रह्मचर्य का अर्थ वस्ति-निग्रह है। वह पाँचों इन्द्रियों तथा मन के संयम के बिना प्राप्त नहीं होता। इसलिए उसका अर्थ 'सर्वेन्द्रिय-संयम' है। ये समाधि-स्थान इन्द्रिय-संयम के ही स्थान हैं :

स्पर्शन-इन्द्रिय-संयम के लिए सह-शयनासन और एक आसन पर बैठना वर्जित है।

रसन-इन्द्रिय-संयम के लिए सरस और अति-मात्रा मे आहार करना वर्जित है।

घ्राण इन्द्रिय-संयम के लिए कोई पृथक् विभाग निर्दिष्ट नहीं है।

चक्षु इन्द्रिय-संयम के लिए स्त्री-देह व उसके हाव-भावों का निरीक्षण वर्जित है।

श्रोत्र-इन्द्रिय-संयम के लिए हास्य-विलास पूर्ण शब्दों का सुनना वर्जित है।

मानसिक-संयम के लिए काम-कथा, पूर्व-क्रीड़ा का स्मरण और विभूषा वर्जित है।

दसवाँ स्थान इन्द्रिय-संयम का संकलित रूप है।

मूलाचार मे शील-विराधना (अब्रह्मचर्य) के दस कारण बतलाए गए हैं[१]—

१—स्त्री-संसर्ग—स्त्रियों के साथ संसर्ग करना।

२—प्रणीत-रस-भोजन—अत्यन्त गृद्धि से पाँचों इन्द्रियों के विकारों को बढ़ाने वाला आहार करना।

३—गंधमाल्य-संस्पर्श—सुगन्धित द्रव्यों तथा पुष्पों के द्वारा शरीर का संस्कार करना।

४—शयनासन—शयन और आसन में गृद्धि रखना।

५—भूषण—शरीर का मण्डन करना।

६—गीत-वाद्य—नाट्य, गीत आदि की अभिलाषा करना।

७—अर्थ-संप्रयोजन—स्वर्ण आदि का व्यवहरण।

८—कुशील-संसर्ग—कुशील व्यक्तियों का संसर्ग।

९—राज-सेवा—विषयों की पूर्ति के लिए राजा का गुण कीर्तन करना।

१०—रात्रि-संचरण—बिना प्रयोजन रात्रि में इधर-उधर जाना।

दिगम्बर-विद्वान् पण्डित आशाधरजी ने ब्रह्मचर्य के दस नियमों को निम्न रूप में रखा है[२]—

१—मूलाचार ११।१३,१४ : इत्थीसंसग्गी पणीदरसभोयण गधमल्लसंठप्पं।
सयणासणभूसणयं, छट्ठं पुण गीयवाइयं चेव॥
अत्थस्स संपओगो, कुसीलसंसग्गि रायसेवा य।
रत्ति वि य संयरणं, दस सील विराहणा भणिया॥

२—अनगारधर्मामृत ४।६१ : मा रूपादिरसं पिपास सुदृशां मा वस्तिमोक्षं कृथा,
वृष्यं स्त्रीशयनादिकं च भज मा मा दा वराङ्गे दृशम्।
मा स्त्रीं सत्कुरु मा च संस्कुरु रतं वृत्तं स्मरस्मार्य मा,
वत्स्र्यन्मेच्छ जुषस्व मेष्टविषयान् द्विःपञ्चधा ब्रह्मणे॥६१॥

१—मा रूपादिरसं पिपासा सुदृशाम्—ब्रह्मचारी रूप, रस, गन्ध, स्पर्श तथा शब्द के रसों को पान करने की इच्छा न करे।

२—मा वस्तिमोक्षं कृथा—वह ऐसा कार्य न करे, जिससे लिङ्ग-विकार हो।

३—वृष्यं मा भज—वह कामोद्दीपक आहार न करे।

४—स्त्रीशयनादिकं च मा भज—स्त्री तथा शयन-आसन आदि का प्रयोग न करे।

५—वराङ्गे दृशं मा दा—स्त्रियों के अंगों को न देखे।

६—स्त्रीं मा सत्कुरु—स्त्रियों का सत्कार न करे।

७—मा च संस्कुरु—शरीर-संस्कार न करे।

८—रतं वृत्तं मा स्मर—पूर्व सेवित का स्मरण न करे।

९—वत्स्यन् मा इच्छ—भविष्य में क्रीड़ा करने का न सोचे।

१०—इष्ट विषयान् मा जुजस्व—इष्ट रूपादि विषयों से मन को युक्त न करे।

इनमें क्रमाङ्क १,३,४,५,७ और ८ तो वे ही हैं जो श्वेताम्बर-आगमों में हैं, शेष भिन्न हैं।

वेद अथवा उपनिषदों में ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए ऐसे श्रृंखलाबद्ध नियमों का उल्लेख नहीं मिलता। स्मृति में कहा है—स्मरण, क्रीड़ा, देखना, गुह्यभाषण, संकल्प, अध्यवसाय और क्रिया—इस प्रकार मैथुन आठ प्रकार के हैं। इन सबसे विलग हो ब्रह्मचर्य की रक्षा करनी चाहिए।[1]

बौद्ध-साहित्य में भी ब्रह्मचर्य-गुप्तियों जैसा कोई व्यवस्थित क्रम नहीं मिलता, किन्तु विकीर्ण रूप में कुछ नियम मिलते हैं। वहाँ रूप के प्रति आसक्ति-भाव को दूर करने के लिए अशुचि भावना के चिन्तन का मंत्र मान्य रहा है। यह 'कायगता-स्मृति' के नाम से विख्यात है।[2]

बुद्ध मृत्यु-शय्या पर थे तब शिष्यों ने पूछा—"भंते! स्त्रियों के साथ हम कैसा व्यवहार करेंगे?"

"अदर्शन, आनन्द!"

"दर्शन होने पर भगवन्! कैसा बर्ताव करेंगे?"

"आलाप न करना, आनन्द!"

"बात करने वाले को कैसा करना चाहिए?"

"स्मृति को संभाल रखना चाहिए।"[3]

उक्त अनेक परम्पराओं के संदर्भ में दस समाधि-स्थानों का अध्ययन बहुत महत्त्वपूर्ण है।

१—दक्षस्मृति ७।३१-३३ : ब्रह्मचर्यं सदा रक्षेदष्टधा मैथुनं पृथक्।
स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्॥
सङ्कल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिष्पत्तिरेव च।
एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः॥
न ध्यातव्यं न वक्तव्यं न कर्त्तव्यं कदाचन।
एतैः सर्वैः सुसम्पन्नो यतिर्भवति नेतरः॥

२—सुत्तनिपात ११११; विसुद्धि मग्ग (प्रथम भाग) परिच्छेद ८, पृष्ठ २१८-२६०।

३—दीघनिकाय (महापरिनिब्बाण सुत्त) २।३।

सू० ३—इमे खलु ते थेरेहिं भगवन्तेहिं दस बम्भचेरसमाहिठाणा पन्नत्ता, जे भिक्खू सोच्चा, निसम्म, संजमबहुले, संवरबहुले, समाहिबहुले, गुत्ते, गुत्तिन्दिए, गुत्तबम्भयारी सया अप्पमत्ते विहरेज्जा, तं जहा—'विवित्ताइं सयणासणाइं सेविज्जा'[1], से निग्गन्थे।'[2] नो इत्थीपसुपण्डगसंसत्ताइं सयणासणाइं सेवित्ता हवइ, से निग्गन्थे।

तं कहमिति चे ?

आयरियाह—निग्गन्थस्स खलु इत्थीपसुपण्डगसंसत्ताइं सयणासणाइं सेवमाणस्स बम्भयारिस्स बम्भचेरे संका वा, कंखा वा, वितिगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा, भेयं वा लभेज्जा, उम्मायं वा पाउणिज्जा, दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा, केवलिपन्नत्ताओ 'वा धम्माओ'[3] भंसेज्जा। तम्हा नो इत्थिपसुपण्डगसंसत्ताइं सयणासणाइं सेवित्ता हवइ, से निग्गन्थे।

इमानि खलु स्थविरैर्भगवद्भिर्दश ब्रह्मचर्य-समाधि-स्थानानि प्रज्ञप्तानि, यानि भिक्षुः श्रुत्वा, निशम्य, संयम-बहुलः, संवर-बहुलः, समाधि-बहुलः, गुप्तः, गुप्तेन्द्रियः, गुप्त-ब्रह्मचारी, सदाऽप्रमत्तो विहरेत्। तद्यथा—विविक्तानि शयनासनानि सेवेत स निर्ग्रन्थः नो स्त्री-पशु-पण्डक-संसक्तानि शयनासनानि सेविता भवति स निर्ग्रन्थः।

तत् कथमिति चेत् ?

आचार्य आह—निर्ग्रन्थस्य खलु स्त्री-पशु-पण्डक-संसक्तानि शयनासनानि सेवमानस्य ब्रह्मचारिणो ब्रह्मचर्ये शङ्का वा काङ्क्षा वा विचिकित्सा वा समुत्पद्येत, भेदं वा लभेत, उन्मादं वा प्राप्नुयात्, दीर्घकालिको वा रोगातङ्को भवेत्, केवलि-प्रज्ञप्ताद् धर्माद् भ्रश्येत्, तस्मान्नो स्त्री-पशु-पण्डक-संसक्तानि शयनासनानि सेविता भवति स निर्ग्रन्थः।

३—स्थविर भगवान ने ब्रह्मचर्य-समाधि के दस स्थान ये बतलाए हैं, जिन्हें सुन कर, जिनके अर्थ का निश्चय कर, भिक्षु संयम, संवर, और समाधि का पुनः-पुनः अभ्यास करे। मन, वाणी और शरीर का गोपन करे। इन्द्रियों को उनके विषयों से बचाए, ब्रह्मचर्य को नौ सुरक्षाओं से सुरक्षित रखे और सदा अप्रमत्त होकर विहार करे। वे इस प्रकार हैं—

जो एकान्त शयन और आसन का सेवन करता है, वह निर्ग्रन्थ है। निर्ग्रन्थ स्त्री, पशु और नपुंसक से आकीर्ण शयन और आसन का सेवन नहीं करता।

यह क्यों ?

ऐसा पूछने पर आचार्य कहते हैं—स्त्री, पशु और नपुंसक से आकीर्ण शयन और आसन का सेवन करने वाले ब्रह्मचारी निर्ग्रन्थ को ब्रह्मचर्य के विषय में शंका, कांक्षा या विचिकित्सा उत्पन्न होती है अथवा ब्रह्मचर्य का विनाश होता है अथवा उन्माद पैदा होता है अथवा दीर्घकालिक रोग और आतंक होता है अथवा वह केवली-कथित धर्म से भ्रष्ट हो जाता है, इसलिए जो स्त्री, पशु और नपुंसक से आकीर्ण शयन और आसन का सेवन नहीं करता, वह निर्ग्रन्थ है।

---

१. सेविज्जा हवइ (उ)।
२. × (चू०)।
३. धम्माओ (उ, ऋ)।

सोलसमं अज्झयणं : षोडशम् अध्ययनम्
बम्भचेरसमाहिठाणं : ब्रह्मचर्य-समाधि-स्थानम्

मूल

सू० १—सुयं मे, आउसं ! तेणं भगवया एवमक्खायं—

इह खलु थेरेहिं भगवन्तेहिं दस बम्भचेरसमाहिठाणा पन्नत्ता, जे भिक्खू सोच्चा, निसम्म, संजमबहुले, संवरबहुले, समाहिबहुले, गुत्ते, गुत्तिन्दिए, गुत्तबम्भयारी सया अप्पमत्ते विहरेज्जा।

संस्कृत छाया

श्रुतं मया आयुष्मन्! तेन भगवतैवमाख्यातम्—इह खलु स्थविरैं भगवद्भिर्दश ब्रह्मचर्य-समाधि-स्थानानि प्रज्ञप्तानि, यानि भिक्षुः श्रुत्वा, निशम्य, संयम-बहुलः, संवर-बहुलः, समाधि-बहुलः, गुप्तः, गुप्तेन्द्रियः, गुप्त-ब्रह्मचारी, सदाऽप्रमत्तो विहरेत्।

हिन्दी अनुवाद

१—आयुष्मन्! मैंने सुना है, भगवान (प्रज्ञापक आचार्य) ने ऐसा कहा है—निर्ग्रन्थ प्रवचन में जो स्थविर (गणधर) भगवान हुए हैं उन्होंने ब्रह्मचर्य-समाधि के दस स्थान बतलाए हैं, जिन्हें सुन कर, जिनके अर्थ का निश्चय कर, भिक्षु संयम, संवर और समाधि का पुनः-पुनः अभ्यास करे। मन, वाणी और शरीर का गोपन करे, इन्द्रियों को उनके विषयों से बचाए, ब्रह्मचर्य को नौ सुरक्षाओं से सुरक्षित रखे और सदा अप्रमत्त होकर विहार करे।

सू० २—कयरे खलु ते थेरेहिं भगवन्तेहिं दस बम्भचेरसमाहिठाणा पन्नत्ता जे भिक्खू सोच्चा, निसम्म, संजमबहुले, संवरबहुले समाहिबहुले, गुत्ते, गुत्तिन्दिए, गुत्तबम्भयारी सया अप्पमत्ते विहरेज्जा ?

कतराणि खलु तानि स्थविर-भगवद्भिर्दश ब्रह्मचर्य-समाधि-स्थानानि प्रज्ञप्तानि, यानि भिक्षुः श्रुत्वा, निशम्य, संयम-बहुलः, संवर-बहुलः, समाधि-बहुलः, गुप्तः, गुप्तेन्द्रियः, गुप्त-ब्रह्मचारी, सदाऽप्रमत्तो विहरेत् ?

२—स्थविर भगवान ने वे कौन से ब्रह्मचर्य-समाधि के दस स्थान बतलाए हैं, जिन्हें सुन कर, जिनके अर्थ का निश्चय कर, भिक्षु संयम, संवर और समाधि का पुनः-पुनः अभ्यास करे। मन, वाणी और शरीर का गोपन करे, इन्द्रियों को उनके विषयों से बचाए, ब्रह्मचर्य को नौ सुरक्षाओं से सुरक्षित रखे और सदा अप्रमत्त होकर विहार करे ?

सू० ४—नो इत्थीणं कहं कहित्ता हवइ, से निग्गन्थे।

तं कहमिति चे ?

आयरियाह—निग्गन्थस्स खलु इत्थीणं कहं कहेमाणस्स, बम्भयारिस्स बम्भचेरे संका वा, कंखा वा, वितिगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा, भेयं वा लभेज्जा, उम्मायं वा पाउणिज्जा, दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा, केवलिपन्नत्ताओ वा धम्माओ भंसेज्जा। 'तम्हा नो इत्थीणं'[1] कहं कहेज्जा।

नो स्त्रीणां कथां कथयिता भवति, स निर्ग्रन्थः।

तत्कथमिति चेत् ?

आचार्य आह—निर्ग्रन्थस्य खलु स्त्रीणां कथां कथयतो ब्रह्मचारिणो ब्रह्मचर्ये शङ्का वा काङ्क्षा वा विचिकित्सा वा समुत्पद्येत, भेदं वा लभेत, उन्मादं वा प्राप्नुयात्, दीर्घकालिको वा रोगातङ्को भवेत्, केवलि-प्रज्ञप्ताद् वा धर्माद् भ्रश्येत्। तस्मान्नो स्त्रीणां कथां कथयेत्।

४—जो केवल स्त्रियों के बीच में कथा नहीं करता वह निर्ग्रन्थ है।

यह क्यों ?

ऐसा पूछने पर आचार्य कहते हैं—केवल स्त्रियों के बीच कथा करने वाले ब्रह्मचारी निर्ग्रन्थ को ब्रह्मचर्य के विषय में शंका, कांक्षा या विचिकित्सा उत्पन्न होती है अथवा ब्रह्मचर्य का विनाश होता है अथवा उन्माद पैदा होता है अथवा दीर्घकालिक रोग और आतंक होता है अथवा वह केवली-कथित धर्म से भ्रष्ट हो जाता है, इसलिए केवल स्त्रियों के बीच में कथा न करे।

सू० ५—नो इत्थीहिं[2] सद्धिं सन्निसेज्जागए विहरित्ता हवइ, से निग्गन्थे।

तं कहमिति चे ?

आयरियाह—निग्गन्थस्स खलु इत्थीहिं सद्धिं सन्निसेज्जागयस्स, बम्भयारिस्स बम्भचेरे संका वा, कंखा वा, वितिगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा, भेयं वा लभेज्जा, उम्मायं वा पाउणिज्जा, दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा, केवलिपन्नत्ताओ वा धम्माओ भंसेज्जा। तम्हा खलु नो निग्गन्थे इत्थीहिं सद्धिं सन्निसेज्जागए विहरेज्जा[3]।

नो स्त्रीभिः सार्धं सन्निषद्यागतो विहर्ता भवति स निर्ग्रन्थः।

तत्कथमिति चेत् ?

आचार्य आह—निर्ग्रन्थस्य खलु स्त्रीभिः सार्धं सन्निषद्यागतस्य ब्रह्मचारिणो ब्रह्मचर्ये शङ्का वा काङ्क्षा वा विचिकित्सा वा समुत्पद्येत, भेदं वा लभेत, उन्मादं वा प्राप्नुयात्, दीर्घकालिको वा रोगातङ्को भवेत्, केवलि-प्रज्ञप्ताद् वा धर्माद् भ्रश्येत्। तस्मात् खलु नो निर्ग्रन्थः स्त्रीभिः सार्धं सन्निषद्यागतो विहरेत्।

५—जो स्त्रियों के साथ पीठ आदि एक आसन पर नहीं बैठता, वह निर्ग्रन्थ है।

यह क्यों ?

ऐसा पूछने पर आचार्य कहते हैं—स्त्रियों के साथ एक आसन पर बैठने वाले ब्रह्मचारी निर्ग्रन्थ को ब्रह्मचर्य के विषय में शंका, कांक्षा या विचिकित्सा उत्पन्न होती है अथवा ब्रह्मचर्य का विनाश होता है अथवा उन्माद पैदा होता है अथवा दीर्घकालिक रोग और आतंक होता है अथवा वह केवली-कथित धर्म से भ्रष्ट हो जाता है, इसलिए स्त्रियों के साथ एक आसन पर न बैठे।

---

१. तम्हा खलु निग्गन्थे नो इत्थीणं (उ)।
२. इत्थीणं (अ, ऋ०)।
३. विहरइ (अ)।

सू० ६—नो इत्थीणं इन्दियाइं मणोहराइं, मणोरमाइं आलोइत्ता, निज्झाइत्ता हवइ, से निग्गन्थे।

तं कहमिति चे ?

आयरियाह—निग्गन्थस्स खलु इत्थीणं इन्दियाइं मणोहराइं, मणोरमाइं आलोएमाणस्स, निज्झायमाणस्स बम्भयारिस्स बम्भचेरे संका वा, कंखा वा, वितिगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा, भेयं वा लभेज्जा, उम्मायं वा पाउणिज्जा, दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा, केवलिपन्नत्ताओ वा धम्माओ भंसेज्जा। तम्हा खलु 'निग्गन्थे नो'[1] इत्थीणं इन्दियाइं मणोहराइं, मणोरमाइं आलोएज्जा, निज्झाएज्जा।

नो स्त्रीणामिन्द्रियाणि मनोहराणि मनोरमाण्यालोकयिता निर्ध्याता भवति स निर्ग्रन्थः।

तत्कथमिति चेत् ?

आचार्य आह—निर्ग्रन्थस्य खलु स्त्रीणामिन्द्रियाणि मनोहराणि मनोरमाण्यवलोकमानस्य निर्ध्यायतो ब्रह्मचारिणो ब्रह्मचर्ये शङ्का वा काङ्क्षा वा विचिकित्सा वा समुत्पद्येत, भेदं वा लभेत, उन्मादं वा प्राप्नुयात्, दीर्घकालिको वा रोगातङ्को भवेत्, केवलिप्रज्ञप्ताद् वा धर्माद् भ्रश्येत्। तस्मात् खलु नो निर्ग्रन्थः स्त्रीणामिन्द्रियाणि मनोहराणि मनोरमाण्यालोकयेन्निर्ध्यायेत्।

६—जो स्त्रियों की मनोहर और मनोरम इन्द्रियों को दृष्टि गड़ा कर नहीं देखता, उनके विषय में चिन्तन नहीं करता, वह निर्ग्रन्थ है।

यह क्यों ?

ऐसा पूछने पर आचार्य कहते हैं—स्त्रियों की मनोहर और मनोरम इन्द्रियों को दृष्टि गड़ा कर देखने वाले और उनके विषय में चिन्तन करने वाले ब्रह्मचारी निर्ग्रन्थ को ब्रह्मचर्य के विषय में शंका, कांक्षा या विचिकित्सा उत्पन्न होती है अथवा ब्रह्मचर्य का विनाश होता है अथवा उन्माद पैदा होता है अथवा दीर्घकालिक रोग और आतंक होता है अथवा वह केवली-कथित धर्म से भ्रष्ट हो जाता है, इसलिए स्त्रियों के मनोहर और मनोरम इन्द्रियों को दृष्टि गड़ा कर न देखे और उनके विषय में चिन्तन न करे।

---

१. नो निग्गन्थे (अ)।

सू० ७—नो इत्थीणं कुड्डन्तरंसि वा, दूसन्तरंसि वा, भित्तन्तरंसि वा, कुइयसद्दं वा, रुइयसद्दं वा, गीयसद्दं वा, हसियसद्दं वा, थणियसद्दं वा, कन्दियसद्दं वा, विलवियसद्दं वा, सुणेत्ता हवइ, से निग्गन्थे।

नो स्त्रीणां कुड्यान्तरे वा, दूष्यान्तरे वा, भित्यन्तरे वा, कूजित-शब्दं वा, रुदित-शब्दं वा, गीत-शब्दं वा, हसित-शब्दं वा, स्तनित-शब्दं वा क्रन्दित-शब्दं वा, विलपित-शब्दं वा श्रोता भवति सनिर्ग्रन्थः।

७—जो मिट्टी की दीवार के अन्तर से, परदे के अन्तर से, पक्की दीवार के अन्तर से स्त्रियों के कूजन, रोदन, गीत, हास्य, गर्जन, आक्रन्दन या विलाप के शब्दों को नहीं सुनता, वह निर्ग्रन्थ है।

तं कहमिति चे ?

आयरियाह—निग्गन्थस्स खलु इत्थीणं 'कुड्डन्तंसि वा, दूसन्तरंसि वा, भित्तन्तरंसि[1] वा'[2], कुइयसद्दं वा, रुइयसद्दं वा, गीयसद्दं वा, हसियसद्दं वा, थणियसद्दं वा, कन्दियसद्दं वा, विलवियसद्दं वा, सुणेमाणस्स बम्भयारिस्स बम्भचेरे संका वा, कंखा वा, वितिगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा, भेयं वा लभेज्जा, उम्मायं वा पाउणिज्जा, दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा, केवलिपन्नत्ताओ वा धम्माओ भंसेज्जा। तम्हा खलु निग्गन्थे नो इत्थीणं कुड्डन्तरंसि वा, दूसन्तरंसि वा, भित्तन्तरंसि वा, कुइयसद्दं वा, रुइयसद्दं वा, गीयसद्दं वा, हसियसद्दं वा, थणियसद्दं वा, कन्दियसद्दं वा, विलवियसद्दं वा सुणेमाणे विहरेज्जा।

तत्कथमिति चेत् ?

आचार्य आह—निर्ग्रन्थस्य खलु स्त्रीणां कुड्यान्तरे वा, दूष्यान्तरे वा, भित्यन्तरे वा कूजित-शब्दं वा, रुदित-शब्दं वा, गीत-शब्दं वा, हसित-शब्दं वा, स्तनित-शब्दं वा, क्रन्दित-शब्दं वा, विलपित-शब्दं वा शृण्वतो ब्रह्मचारिणो ब्रह्मचर्ये शङ्का वा काङ्क्षा वा विचिकित्सा वा समुत्पद्येत, भेदं वा लभेत, उन्मादं वा प्राप्नुयात्, दीर्घकालिको वा रोगातङ्को भवेत्, केवलि-प्रज्ञप्ताद् वा धर्माद् भ्रश्यते। तस्मात् खलु नो निर्ग्रन्थः स्त्रीणां कुड्यान्तरेवा, दूष्यान्तरे वा, भित्यन्तरे वा कूजित-शब्दं वा, रुदित-शब्दं वा, गीत-शब्दं वा हसित-शब्दं वा, स्तनित-शब्दं वा, क्रन्दित-शब्दं वा, विलपित-शब्दं वा शृण्वन् विहरेत्।

यह क्यों ?

ऐसा पूछने पर आचार्य कहते हैं—मिट्टी की दीवार के अन्तर से, परदे के अन्तर से, पक्की दीवार के अन्तर से स्त्रियों के कूजन, रोदन, गीत, हास्य, गर्जन, आक्रन्दन या विलाप के शब्दों को सुनने वाले ब्रह्मचारी निर्ग्रन्थ को ब्रह्मचर्य के विषय में शंका, कांक्षा या विचिकित्सा उत्पन्न होती है अथवा ब्रह्मचर्य का विनाश होता है अथवा उन्माद पैदा होता है अथवा दीर्घकालिक रोग और आतंक होता है अथवा वह केवली-कथित धर्म से भ्रष्ट हो जाता है, इसलिए मिट्टी की दीवार के अन्तर से, परदे के अन्तर से, पक्की दीवार के अन्तर से स्त्रियों के कूजन, रोदन, गीत, हास्य, गर्जन, आक्रन्दन या विलाप के शब्दों को न सुने।

१. भित्ति अंतरंसि वा (अ, वृ०); भित्तितरंसि (उ)।
२. कुड्डन्तरंसि वा भित्तन्तरंसि वा दूसन्तरंसि वा (वृ०, स); कुड्डतरंसि वा (अ)।

सू० ८—नो निग्गन्थे पुव्वरयं, पुव्वकीलियं अणुसरित्ता हवइ, से निग्गन्थे ।

तं कहमिति चे ?

आयरियाह—निग्गन्थस्स खलु पुव्वरयं[1], पुव्वकीलियं अणुसरमाणस्स बम्भयारिस्स बम्भचेरे संका वा, कंखा वा, वितिगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा, भेयं वा लभेज्जा, उम्मायं वा पाउणिज्जा, दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा, केवलिपन्नत्ताओ वा धम्माओ भंसेज्जा । तम्हा खलु नो निग्गन्थे पुव्वरयं, पुव्वकीलियं अणुसरेज्जा ।

नो निर्ग्रन्थः पूर्व-रतं पूर्व-क्रीडित मनुस्मर्ता भवेत्, स निर्ग्रन्थः ।

तत्कथमिति चेत् ?

आचार्य आह—निर्ग्रन्थस्य खलु स्त्रीणां पूर्व-रतं पूर्व-क्रीडितमनुस्मरतो ब्रह्मचारिणो ब्रह्मचर्ये शङ्का वा काङ्क्षा वा विचिकित्सा वा समुत्पद्येत, भेदं वा लभेत, उन्मादं वा प्राप्नुयात्, दीर्घ-कालिको वा रोगातङ्को भवेत्, केवलि-प्रज्ञप्ताद् वा धर्माद् भ्रश्येत् । तस्मात् खलु नो निर्ग्रन्थः स्त्रीणां पूर्व-रतं पूर्व-क्रीडित-मनुस्मरेत् ।

८—जो गृहवास में की हुई रति और क्रीडा का अनुस्मरण नहीं करता, वह निर्ग्रन्थ है ।

यह क्यों ?

ऐसा पूछने पर आचार्य कहते हैं—गृहवास में की हुई रति और क्रीडा का अनुस्मरण करने वाले ब्रह्मचारी निर्ग्रन्थ को ब्रह्मचर्य के विषय में शंका, कांक्षा या विचिकित्सा उत्पन्न होती है अथवा ब्रह्मचर्य का विनाश होता है अथवा उन्माद पैदा होता है अथवा दीर्घकालिक रोग और आतंक होता है अथवा वह केवली-कथित धर्म से भ्रष्ट हो जाता है, इसलिए गृहवास में की हुई रति और क्रीडा का अनुस्मरण न करे ।

सू० ९—नो पणीयं आहारं आहारित्ता हवइ, से निग्गन्थे ।

तं कहमिति चे ?

आयरियाह—निग्गन्थस्स खलु पणीयं पाणभोयणं आहारेमाणस्स बम्भयारिस्स बम्भचेरे संका वा, कंखा वा, वितिगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा, भेयं वा लभेज्जा, उम्मायं वा पाउणिज्जा, दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा, केवलिपन्नत्ताओ वा धम्माओ भंसेज्जा । तम्हा खलु नो निग्गन्थे पणीयं आहारं आहारेज्जा ।

नो प्रणीतमाहारमाहर्त्ता भवति, स निर्ग्रन्थः ।

तत्कथमिति चेत् ?

आचार्य आह—निर्ग्रन्थस्य खलु प्रणीतमाहारमाहरतो ब्रह्मचारिणो ब्रह्मचर्ये शङ्का वा काङ्क्षा वा विचि-कित्सा वा समुत्पद्येत, भेदं वा लभेत, उन्मादं वा प्राप्नुयात्, दीर्घकालिको वा रोगातङ्को भवेत्, केवलि-प्रज्ञप्ताद् वा धर्माद् भ्रश्येत् । तस्मात् खलु नो निर्ग्रन्थः प्रणीतमाहारमाहरेत ।

६—जो प्रणीत आहार नहीं करता, वह निर्ग्रन्थ है ।

यह क्यों ?

ऐसा पूछने पर आचार्य कहते हैं—प्रणीत पान-भोजन करने वाले ब्रह्मचारी निर्ग्रन्थ को ब्रह्मचर्य के विषय में शंका, कांक्षा या विचिकित्सा उत्पन्न होती है अथवा ब्रह्मचर्य का विनाश होता है अथवा उन्माद पैदा होता है अथवा दीर्घकालिक रोग और आतंक होता है अथवा वह केवली-कथित धर्म से भ्रष्ट हो जाता है, इसलिए प्रणीत आहार न करे ।

---

१. इत्थीणं पुव्वरयं (उ, ऋ०) ।

सू० १०—नो अइमायाए पाणभोयणं आहारेत्ता हवइ, से निग्गन्थे।

तं कहमिति चे ?

आयरियाह—निग्गन्थस्स खलु अइमायाए पाणभोयणं आहारेमाणस्स बम्भयारिस्स बम्भचेरे संका वा, कंखा वा, वितिगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा, भेयं वा लभेज्जा, उम्मायं वा पाउणिज्जा, दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा, केवलिपन्नत्ताओ वा धम्माओ भंसेज्जा। तम्हा खलु नो निग्गन्थे अइमायाए पाणभोयणं भुंजिज्जा।

नो अतिमात्रया पान-भोजनमाहर्ता भवति, स निर्ग्रन्थः।

तत्कथमितिचेत् ?

आचार्य आह—निर्ग्रन्थस्य खल्वतिमात्रया पान-भोजनमाहरतो ब्रह्मचारिणो ब्रह्मचर्ये शङ्का वा काङ्क्षा वा विचिकित्सा वा समुत्पद्येत, भेदं वा लभेत, उन्मादं वा प्राप्नुयात् दीर्घकालिको वा रोगातङ्को भवेत्, केवलि-प्रज्ञप्ताद् वा धर्माद् भ्रश्येत। तस्मात् खलु नो निर्ग्रन्थोऽतिमात्रया पान-भोजनं भुंजीत।

१०—जो मात्रा से अधिक नहीं पीता और नहीं खाता, वह निर्ग्रन्थ है।

यह क्यों ?

ऐसा पूछने पर आचार्य कहते हैं—मात्रा से अधिक पीने और खाने वाले ब्रह्मचारी निर्ग्रन्थ को ब्रह्मचर्य के विषय में शंका, कांक्षा या विचिकित्सा उत्पन्न होती है अथवा ब्रह्मचर्य का विनाश होता है अथवा उन्माद पैदा होता है अथवा दीर्घकालिक रोग और आतंक होता है अथवा वह केवली-कथित धर्म से भ्रष्ट हो जाता है, इसलिए मात्रा से अधिक न पीए और न खाए।

सू० ११—नो विभूसाणुवाई हवइ, से निग्गन्थे।

तं कहमिति चे ?

आयरियाह—विभूसावत्तिए[1], विभूसियसरीरे इत्थिजणस्स अभिलसणिज्जे हवइ। तओ णं तस्स इत्थिजणेणं अभिलसिज्जमाणस्स बम्भचेरे संका वा, कंखा वा, वितिगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा, भेयं वा लभेज्जा, उम्मायं वा पाउणिज्जा, दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा, केवलिपन्नत्ताओ वा धम्माओ भंसेज्जा। तम्हा खलु नो निग्गन्थे विभूसाणुवाई सिया।

नो विभूषानुपाती भवति, स निर्ग्रन्थः।

तत्कथमितिचेत् ?

आचार्य आह—विभूषावर्तिको विभूषितशरीरः स्त्रीजनस्याभिलषणीयो भवति। ततस्तस्य स्त्रीजनेनाभिलष्यमाणस्य ब्रह्मचारिणो ब्रह्मचर्ये शङ्का वा काङ्क्षा वा विचिकित्सा वा समुत्पद्येत भेदं वा लभेत, उन्मादं वा प्राप्नुयात्, दीर्घकालिको वा रोगातङ्को भवेत्, केवलि-प्रज्ञप्ताद् वा धर्माद् भ्रश्येत। तस्मात् खलु नो निर्ग्रन्थो विभूषानुपाती स्यात्।

११—जो विभूषा नहीं करता—शरीर को नहीं सजाता, वह निर्ग्रन्थ है।

यह क्यों ?

ऐसा पूछने पर आचार्य कहते हैं—जिसका स्वभाव विभूषा करने का होता है, जो शरीर को विभूषित किए रहता है, उसे स्त्रियाँ चाहने लगती हैं। पश्चात् स्त्रियों के द्वारा चाहे जाने वाले ब्रह्मचारी को ब्रह्मचर्य के विषय में शङ्का, काङ्क्षा या विचिकित्सा उत्पन्न होती है अथवा ब्रह्मचर्य का विनाश होता है अथवा उन्माद पैदा होता है अथवा दीर्घकालिक रोग और आतंक होता है अथवा वह केवली-कथित धर्म से भ्रष्ट हो जाता है, इसलिए विभूषा न करे।

---

१. निग्गन्थस्स खलु विभूसावत्तिए (अ)।

सू० १२—नो सद्दरूवरसगन्धफासाणुवाई हवइ, से निग्गन्थे।

तं कहमिति चे ?

आयरियाह—निग्गन्थस्स खलु सद्दरूवरसगन्धफासाणुवाइस्स बम्भयारिस्स बम्भचेरे संका वा, कंखा वा, वितिगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा, भेयं वा लभेज्जा, उम्मायं वा पाउणिज्जा, दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा, केवलिपन्नत्ताओ वा धम्माओ भंसेज्जा। तम्हा खलु नो निगन्थे सद्दरूवरसगन्धफासाणुवाई हविज्जा। दसमे बम्भचेरसमाहिठाणे हवइ।

भवन्ति इत्थ सिलोगा, तं जहा—

नो शब्द-रूप-रस-गन्ध-स्पर्शानुपाती भवति, स निर्ग्रन्थः।

तत्कथमितिचेत् ?

आचार्य आह—निर्ग्रन्थस्य खलु शब्द - रूप - रस-गन्ध-स्पर्शानुपातिनो ब्रह्मचारिणो ब्रह्मचर्ये शङ्का वा काङ्क्षा वा विचिकित्सा वा समुत्पद्येत, भेदं वा लभेत, उन्मादं वा प्राप्नुयात्, दीर्घकालिको वा रोगातङ्को भवेत्, केवलि-प्रज्ञप्ताद् वा धर्माद् भ्रश्येत्। तस्मात् खलु नो निर्ग्रन्थः शब्द-रूप-रस-गन्ध-स्पर्शानुपाती भवेत्। दशमं ब्रह्मचर्य-समाधि-स्थानं भवति।

भवन्ति अत्र श्लोकाः, तद् यथा—

१२—जो शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श में आसक्त नहीं होता, वह निर्ग्रन्थ है।

यह क्यों ?

ऐसा पूछने पर आचार्य कहते हैं शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श में आसक्त होने वाले ब्रह्मचारी को ब्रह्मचर्य के विषय में शंका, कांक्षा या विचिकित्सा उत्पन्न होती है अथवा ब्रह्मचर्य का विनाश होता है अथवा उन्माद पैदा होता है अथवा दीर्घकालिक रोग और आतंक होता है अथवा वह केवली-कथित धर्म से भ्रष्ट हो जाता है, इसलिए शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श में आसक्त न बने। ब्रह्मचर्य की समाधि का यह दसवाँ स्थान है।

यहाँ श्लोक हैं जैसे—

१—जं विवित्तमणाइण्णं
रहियं थीजणेण य।
बम्भचेरस्स रक्खट्ठा
आलयं तु निसेवए॥

यो विविक्तोनाकीर्णः
रहितं स्त्रीजनेन च।
ब्रह्मचर्यस्य रक्षार्थम्
आलयं तु निषेवते॥

१—ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए मुनि वैसे आलय में रहे जो एकान्त, अनाकीर्ण और स्त्रियों से रहित हो।

२—मणपल्हायजणणि
कामरागविवड्ढणिं।
बम्भचेररओ भिक्खू
थीकहं तु विवज्जए॥

मनः-प्रह्लाद-जननीं
काम-राग-विवर्धनीम्।
ब्रह्मचर्य-रतो भिक्षुः
स्त्री-कथां तु विवर्जयेत्॥

२—ब्रह्मचर्य में रत रहने वाला भिक्षु मन को आह्लाद देने वाली तथा काम-राग बढ़ाने वाली स्त्री-कथा का वर्जन करे।

३—समं च संथवं थीहिं
संकहं च अभिक्खणं।
बम्भचेररओ भिक्खू
निच्चसो परिवज्जए॥

समं च संस्तवं स्त्रीभिः
संकथां चाभीक्ष्णम्।
ब्रह्मचर्य-रतो भिक्षुः
नित्यशः परिवर्जयेत्॥

३—ब्रह्मचर्य में रत रहने वाला भिक्षु स्त्रियों के साथ परिचय और बार-बार वार्तालाप का सदा वर्जन करे।

४—अंगपच्चंगसंठाणं
चारुल्लवियपेहियं ।
बम्भचेररओ थीणं[1]
चक्खुगिज्झं विवज्जए ॥

अंग-प्रत्यंग-संस्थानं
चारुल्लपित-प्रेक्षितम् ।
ब्रह्मचर्य-रतः स्त्रीणां
चक्षु-र्ग्राह्यं विवर्जयेत् ॥

४—ब्रह्मचर्य में रत रहने वाला भिक्षु स्त्रियों के चक्षु-ग्राह्य, अंग-प्रत्यंग, आकार, बोलने की मनहर-मुद्रा और चितवन को न देखे—देखने का यत्न न करे।

५—कुइयं रुइयं गीयं
हसियं थणियकन्दियं ।
बम्भचेररओ थीणं
सोयगिज्झं विवज्जए ॥

कूजितं रुदितं गीतं
हसितं स्तनित-क्रन्दितम् ।
ब्रह्मचर्य-रतः स्त्रीणां
श्रोत्र-ग्राह्यं विवर्जयेत् ॥

५—ब्रह्मचर्य में रत रहने वाला भिक्षु स्त्रियों के श्रोत्र-ग्राह्य कूजन, रोदन, गीत, हास्य, गर्जन और क्रन्दन को न सुने—सुनने का यत्न न करे।

६—हासं किड्डं रइं दप्पं
सहसाऽवत्तासियाणि[2] य[3] ।
बम्भचेररओ थीणं
नाणुचिन्ते कयाइ वि ॥

हासं क्रीडां रतिं दर्पं
सहसाऽवत्रासितानि च ।
ब्रह्मचर्य-रतः स्त्रीणां
नानुचिन्तयेत् कदाचिदपि ॥

६—ब्रह्मचर्य में रत रहने वाला भिक्षु पूर्व-जीवन में स्त्रियों के साथ अनुभूत हास्य, क्रीड़ा, रति, अभिमान और आकस्मिक त्रास का कभी भी अनुचिंतन न करे।

७—पणीयं भत्तपाणं तु[4]
खिप्पं मयविवड्ढणं ।
बम्भचेररओ भिक्खू
निच्चसो परिवज्जए ॥

प्रणीतं भक्त-पानं तु
क्षिप्रं मद-विवर्धनम् ।
ब्रह्मचर्य-रतो भिक्षुः
नित्यशः परिवर्जयेत् ॥

७—ब्रह्मचर्य में रत रहने वाला भिक्षु शीघ्र ही काम-वासना को बढ़ाने वाले प्रणीत भक्त-पान का सदा वर्जन करे।

८—धम्मलद्धं[5] मियं काले
जत्तत्थं पणिहाणवं ।
नाइमत्तं तु भुंजेज्जा
बम्भचेररओ सया ॥

धर्म्य-लब्धं मितं काले
यात्रार्थं प्रणिधानवान् ।
नाऽतिमात्रं तु भुञ्जीत
ब्रह्मचर्य-रतः सदा ॥

८—ब्रह्मचर्य-रत और स्वस्थ चित्त वाला भिक्षु जीवन निर्वाह के लिए उचित समय में निर्दोष, भिक्षा द्वारा प्राप्त, परिमित भोजन करे, किन्तु मात्रा से अधिक न खाए।

---

१. भिक्खू (अ०)।
२. सहसाविता ० (बृ०) ; सहभुत्ता ० (अ)।
३. हस्सं दप्पं रइं किड्डं सहभुत्ता ० (बृ० पा०)।
४. च (अ)।
५. धम्मं लद्धं (बृ०) ; धम्मलद्धं, धम्मलद्धं (बृ० पा०)।

९—विभूसं परिवज्जेज्जा
सरीरपरिमण्डणं ।
बम्भचेररओ भिक्खू
सिंगारत्थं न धारए ॥

विभूषां परिवर्जयेत्
शरीर-परिमण्डनम् ।
ब्रह्मचर्य-रतो भिक्षुः
शृङ्गारार्थं न धारयेत् ॥

९—ब्रह्मचर्य में रत रहने वाला भिक्षु विभूषा का वर्जन करे और शरीर की शोभा बढ़ाने वाले केश, दाढ़ी आदि को शृङ्गार के लिए धारण न करे ।

१०—सद्दे रूवे य गन्धे य
रसे फासे तहेव य ।
पंचविहे कामगुणे
निच्चसो परिवज्जए ॥

शब्दान् रूपांश्च गंधांश्च
रसान् स्पर्शांस्तथैव च ।
पञ्चविधान् काम-गुणान्
नित्यशः परिवर्जयेत् ॥

१०—शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श—इन पाँच प्रकार के काम-गुणों का सदा वर्जन करे ।

११—आलओ थीजणाइण्णो
थीकहा य मणोरमा ।
संथवो चेव नारीणं[1]
तासिं इन्दियदरिसणं ॥

आलयः स्त्रीजनाकीर्णः
स्त्री-कथा च मनोरमा ।
संस्तवश्चैव नारीणां
तासामिन्द्रिय-दर्शनम् ॥

११—(१) स्त्रियों से आकीर्ण आलय,
(२) मनोरम स्त्री-कथा,
(३) स्त्रियों का परिचय,
(४) उनके इन्द्रियों को देखना,

१२—कुइयं रुइयं गीयं
हसियं[2] भुत्तासियाणि य ।
पणीयं भत्तपाणं च
अइमायं[3] पाणभोयणं ॥

कूजितं रुदितं गीतं
हसितं भुक्तासितानि च ।
प्रणीतं भक्त-पानं च
अतिमात्रं पान-भोजनम् ॥

१२—(५) उनके कूजन, रोदन, गीत और हास्य-युक्त शब्दों को सुनना,
(६) भुक्त-भोग और सहावस्थान, को याद करना,
(७) प्रणीत पान-भोजन,

१३—गत्तभूसणमिट्ठं च
कामभोगा य दुज्जया ।
नरस्सऽत्तगवेसिस्स
विसं तालउडं जहा ॥

गात्र-भूषणमिष्टं च
काम-भोगाश्च दुर्जयाः ।
नरस्यात्म-गवेषिणः
विषं तालपुटं यथा ॥

१३—(८) मात्रा से अधिक पान-भोजन,
(९) शरीर को सजाने की इच्छा और
(१०) दुर्जय काम-भोग—ये दस आत्म-गवेषी मनुष्य के लिए तालपुट विष के समान हैं ।

---

१. नारिहिं (बृ०) ।
२. सहभुत्ता० (अ) ।
३. अइमाणं (बृ०) ।

१४—दुज्जए कामभोगे य
निच्चसो परिवज्जए ।
संकट्ठाणाणि सव्वाणि
वज्जेज्जा[1] पणिहाणवं ॥

दुर्जयान् काम-भोगांश्च
नित्यशः परिवर्जयेत् ।
शंका-स्थानानि सर्वाणि
वर्जयेन् प्रणिधानवान् ॥

१४—एकाग्रचित्त वाला मुनि दुर्जय काम-भोगों और ब्रह्मचर्य में शंका उत्पन्न करने वाले पूर्वोक्त सभी स्थानों का वर्जन करे ।

१५—धम्मारामे चरे भिक्खू
धिइमं धम्मसारही ।
धम्मारामरए दन्ते
बम्भचेरसमाहिए ॥

धर्मारामे चरेद् भिक्षुः
धृतिमान् धर्म-सारथिः ।
धर्माराम-रतो दान्तः
ब्रह्मचर्य-समाहितः ॥

१५—धैर्यवान्, धर्म के रथ को चलाने वाला, धर्म के आराम में रत, दान्त और ब्रह्मचर्य में चित्त का समाधान पाने वाला भिक्षु धर्म के आराम में विचरण करे ।

१६—देवदाणवगन्धव्वा
जक्खरक्खसकिन्नरा ।
बम्भयारिं नमंसन्ति
दुक्करं जे करन्ति तं[2] ॥

देव-दानव-गन्धर्वाः
यक्ष-राक्षस-किन्नराः ।
ब्रह्मचारिणं नमस्कुर्वन्ति
दुष्करं यः करोति तत् ॥

१६—उस ब्रह्मचारी को देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और किन्नर—ये सभी नमस्कार करते है, जो दुष्कर ब्रह्मचर्य का पालन करता है ।

१७—एस धम्मे धुवे निअए
सासए जिणदेसिए ।
सिद्धा सिज्झन्ति चाणेण
सिज्झिस्सन्ति तहापरे ॥
—त्ति बेमि ॥

एष धर्मो ध्रुवो नित्यः
शाश्वतो जिन-देशितः ।
सिद्धाः सिध्यन्ति चानेन
सेत्स्यन्ति तथापरे ॥
—इति ब्रवीमि ।

१७—यह ब्रह्मचर्य-धर्म ध्रुव, नित्य, शाश्वत और अर्हत् के द्वारा उपदिष्ट है । इसका पालन कर अनेक जीव सिद्ध हुए हैं, हो रहे हैं और भविष्य में भी होंगे ।

—ऐसा मैं कहता हूँ ।

---

१. वज्जिया (ऋ०) ।
२. ते (अ) ।

५—आयरियउवज्झायाणं
सम्मं नो पडितप्पइ ।
अप्पडिपूयए थद्धे
पावसमणि त्ति वुच्चई ॥

आचार्योपाध्यायानां
सम्यग् न प्रतितप्यते ।
अप्रतिपूजकः स्तब्धः
पाप-श्रमण इत्युच्यते ॥

५—जो आचार्य और उपाध्याय के कार्यों की सम्यक् प्रकार से चिन्ता नहीं करता—उनकी सेवा नहीं करता, जो बड़ों का सम्मान नहीं करता, जो अभिमानी होता है, वह पाप-श्रमण कहलाता है ।

६—सम्मद्दमाणे पाणाणि
बीयाणि हरियाणि य ।
असंजए संजयमन्नमाणे
पावसमणि त्ति वुच्चई ॥

संमर्दयन् प्राणान्
बीजानि हरितानि च ।
असंयतः संयतो(ऽहमिति) मन्यमानः
पाप-श्रमण इत्युच्यते ॥

६—द्वीन्द्रिय आदि प्राणी तथा बीज और हरियाली का मर्दन करने वाला, असंयमी होते हुए भी अपने आपको संयमी मानने वाला, पाप-श्रमण कहलाता है ।

७—संथारं फलगं पीढं
निसेज्जं पायकम्बलं ।
अप्पमज्जियमारुहइ
पावसमणि त्ति वुच्चई ॥

संस्तारं फलकं पीठं
निषद्यां पाद-कम्बलम् ।
अप्रमृज्यारोहति
पाप-श्रमण इत्युच्यते ॥

७—जो बिछौने, पाट, पीठ, आसन और पैर पोंछने के कम्बल का प्रमार्जन किए बिना (तथा देखे बिना) उन पर बैठता है, वह पाप-श्रमण कहलाता है ।

८—दवदवस्स चरई
पमत्ते य अभिक्खणं ।
उल्लंघणे य चण्डे य
पावसमणि त्ति वुच्चई ॥

द्रवं द्रवं चरति
प्रमत्तश्चाभीक्ष्णम् ।
उल्लंघनश्च चण्डश्च
पाप-श्रमण इत्युच्यते ॥

८—जो द्रुतगति से चलता है, जो बार-बार प्रमाद करता है, जो प्राणियों को लांघ कर—उनके ऊपर होकर चला जाता है, जो क्रोधी है, वह पाप-श्रमण कहलाता है ।

९—पडिलेहेइ पमत्ते
अवउज्झइ पायकम्बलं ।
पडिलेहणाअणाउत्ते[1]
पावसमणि त्ति वुच्चई ॥

प्रतिलेखयति प्रमत्तः
अपोज्झति पाद-कम्बलम् ।
प्रतिलेखनाऽनायुक्तः
पाप-श्रमण इत्युच्यते ॥

९—जो असावधानी से प्रतिलेखन करता है, जो पाद-कम्बल को जहाँ कहीं रख देता है, इस प्रकार जो प्रतिलेखना में असावधान होता है, वह पाप-श्रमण कहलाता है ।

१०—पडिलेहेइ पमत्ते
से किंचि हु निसामिया ।
गुरुपरिभावए[2] निच्चं
पावसमणि त्ति वुच्चई ॥

प्रतिलेखयति प्रमत्तः
स किंचिन् खलु निशम्य ।
गुरु-परिभावको नित्यं
पाप-श्रमण इत्युच्यते ॥

१०—जो कुछ भी बातचीत हो रही हो उसे सुनकर प्रतिलेखना में असावधानी करने लगता है, जो गुरु का तिरस्कार करता है—शिक्षा देने पर उनके सामने बोलने लगता है, वह पाप-श्रमण कहलाता है ।

---

१. पडिलेहा° (स) ।
२. गुरूपरिभवइ (अ) ; गुरूपरिभासए (बृ०) ; गुरूपरिभावए (बृ० पा०) ।

सत्तरसमं अज्झयणं :
पावसमणिज्जं

सप्तदश अध्ययन :
पाप-श्रमणीयम्

११—बहुमाई पमुहरे[1]
थद्धे लुद्धे अणिग्गहे ।
असंविभागी अचियत्ते
पावसमणि त्ति वुच्चई ॥

बहुमायी प्रमुखरः
स्तब्धो लुब्धोऽनिग्रहः ।
असंविभागी 'अचियत्ते'
पाप-श्रमण इत्युच्यते ॥

११—जो बहुत कपटी, वाचाल, अभिमानी, लालची, इन्द्रिय और मन पर नियंत्रण न रखने वाला, भक्त-पान आदि का संविभाग न करने वाला और गुरु आदि से प्रेम न रखने वाला होता है, वह पाप-श्रमण कहलाता है ।

१२—विवादं च उदीरेइ
अहम्मे अत्तपन्नहा[2] ।
वुग्गहे कलहे रत्ते
पावसमणि त्ति वुच्चई ॥

विवादं चोदीरयति
अधर्म आत्म-प्रज्ञाहा ।
व्युद्ग्रहे कलहे रक्तः
पाप-श्रमण इत्युच्यते ॥

१२—जो शान्त हुए विवाद को फिर से उभाड़ता है, जो सदाचार से शून्य होता है, जो (कुतर्क से) अपनी प्रज्ञा का हनन करता है, जो कदाग्रह और कलह में रक्त होता है, वह पाप-श्रमण कहलाता है ।

१३—अथिरासणे कुक्कुईए
जत्थ तत्थ निसीयई ।
आसणम्मि अणाउत्ते
पावसमणि त्ति वुच्चई ॥

अस्थिरासनः कौकुचिकः
यत्र तत्र निषीदति ।
आसनेऽनायुक्तः
पाप-श्रमण इत्युच्यते ॥

१३—जो स्थिरासन नहीं होता—बिना प्रयोजन इधर-उधर चक्कर लगाता है, जो हाथ, पैर आदि अवयवों को हिलाता रहता है, जो जहाँ कहीं बैठ जाता है—इस प्रकार आसन (या बैठने) के विषय में जो असावधान होता है, वह पाप-श्रमण कहलाता है ।

१४—ससरक्खपाए सुवई
सेज्जं न पडिलेहइ ।
संथारए अणाउत्ते
पावसमणि त्ति वुच्चई ॥

ससरजस्क-पादः स्वपिति
शय्यां न प्रतिलेखयति ।
संस्तारकेऽनायुक्तः
पाप-श्रमण इत्युच्यते ॥

१४—जो सचित्त रज से भरे हुए पैरों का प्रमार्जन किए बिना ही सो जाता है, सोने के स्थान का प्रतिलेखन नहीं करता—इस प्रकार बिछौने (या सोने) के विषय में जो असावधान होता है, वह पाप-श्रमण कहलाता है ।

१५—दुद्धदहीविगईओ
आहारेइ अभिक्खणं ।
अरए य तवोकम्मे
पावसमणि त्ति वुच्चई ॥

दुग्ध-दधि-विकृतीः
आहरत्यभीक्ष्णम् ।
अरतश्च तपः-कर्मणि
पाप-श्रमण इत्युच्यते ॥

१५—जो दूध, दही आदि विकृतियों का बार-बार आहार करता है और तपस्या में रत नहीं रहता, वह पाप-श्रमण कहलाता है ।

१६—अत्थन्तम्मि[3] य सूरम्मि
आहारेइ अभिक्खणं ।
चोइओ पडिचोएइ
पावसमणि त्ति वुच्चई ॥

अस्तान्ते च सूर्ये
आहरत्यभीक्ष्णम् ।
चोदितः प्रतिचोदयति
पाप-श्रमण इत्युच्यते ॥

१६—जो सूर्य के उदय से लेकर अस्त होने तक बार-बार खाता रहता है । 'ऐसा नहीं करना चाहिए'—इस प्रकार सीख देने वाले को कहता है कि तुम उपदेश देने में कुशल हो, करने में नहीं, वह पाप-श्रमण कहलाता है ।

---

१. पमुहरी (इ, चू०, स) ।
२. अत्तपण्हहा (चू०) ; अत्तपण्णहा (चू० पा०) ।
३. अत्थंतमयंमि (चू० पा०) ।

सत्तरसमं अज्झयणं : सप्तदश अध्ययन

पावसमणिज्जं : पाप-श्रमणीयम्

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
१—जे 'के इमे'[1] पव्वइए नियण्ठे धम्मं सुणित्ता विणओववन्ने । सुदुल्लहं लहिउं बोहिलाभं विहरेज्ज पच्छा य जहासुहं तु ॥	यः कश्चिदयं प्रव्रजितो निर्ग्रन्थः धर्मं श्रुत्वा विनयोपपन्नः । सुदुर्लभं लब्ध्वा बोधि-लाभं विहरेत् पश्चाच्च यथासुखं तु ॥	१—जो कोई निर्ग्रन्थ धर्म को सुन, दुर्लभतम बोधि-लाभ को प्राप्त कर विनय से युक्त हो प्रव्रजित होता है किन्तु प्रव्रजित होने के पश्चात स्वच्छन्द-विहारी हो जाता है,
२—सेज्जा दढा पाउरणं मे अत्थि उप्पज्जई भोत्तुं[2] तहेव पाउं । जाणामि जं वट्टइ आउसु ! त्ति किं नाम काहामि सुएण भन्ते ! ॥	शय्या दृढा प्रावरणं मेऽस्ति, उत्पद्यते भोक्तुं तथैव पातुम् । जानामि यद्वर्तत आयुष्मन् ! इति किं नाम करिष्यामि श्रुतेन भदन्त ? ॥	२—(गुरु के द्वारा अध्ययन की प्रेरणा प्राप्त होने पर वह कहता है—) मुझे रहने को अच्छा उपाश्रय मिल रहा है, कपड़ा भी मेरे पास है, खाने-पीने को भी मिल जाता है। आयुष्मन् ! जो हो रहा है, उसे मैं जान लेता हूं। भन्ते ! फिर मैं श्रुत का अध्ययन कर के क्या करूंगा ?
३—जे के इमे पव्वइए निद्दासीले पगामसो । भोच्चा पेच्चा सुहं सुवइ[3] पावसमणि त्ति वुच्चई ॥	यः कश्चिदयं प्रव्रजितो निद्राशीलः प्रकामशः । भुक्त्वा पीत्वा सुखं स्वपिति पाप-श्रमण इत्युच्यते ॥	३—जो प्रव्रजित होकर बार-बार नींद लेता है, खा-पी कर आराम से लेट जाता है, वह पाप-श्रमण कहलाता है ।
४—आयरियउवज्झाएहि सुयं विणयं च गाहिए । ते चेव खिंसई बाले पावसमणि त्ति वुच्चई ॥	आचार्योपाध्यायैः श्रुतं विनयं च ग्राहितः । तांश्चैव खिंसति बालः पाप-श्रमण इत्युच्यते ॥	४—जिन आचार्य और उपाध्याय ने श्रुत और विनय सिखाया उन्हीं की निन्दा करता है, वह विवेक-विकल भिक्षु पाप-श्रमण कहलाता है ।

१. केइ उ (बृ०, अ०, सु०); के इमे (बृ० पा)।
२. भुत्तु (अ०)।
३. वसइ (बृ० पा०)।

आमुख

इस अध्ययन में पाप-श्रमण के स्वरूप का निरूपण है, इसलिए इसे 'पावसमणिज्जं—'पाप-श्रमणीय' कहा गया है।

श्रमण दो प्रकार के होते हैं— श्रेष्ठ-श्रमण और पाप-श्रमण। जो ज्ञान, दर्शन, चरित्र, तप और वीर्य—इन पाँच आचारों का पालन करता है वह श्रेष्ठ-श्रमण है। उसके लक्षण पन्द्रहवें अध्ययन में बताए गए हैं। जो ज्ञान आदि आचारों का सम्यक् पालन नहीं करता, इस अध्ययन में वर्णित अकरणीय कार्यों का आचरण करता है वह पाप-श्रमण होता है।[1]

जो प्रव्रज्या ग्रहण कर सुख-शील हो जाता है —'सीहत्ताए णिक्खंतो सियालत्ताए विहरति'— सिंह की भाँति निष्क्रान्त होने पर भी गीदड़ की तरह प्रव्रज्या का पालन करता है, वह पाप-श्रमण होता है। (श्लो० १)

जो खा-पीकर सो जाता है वह पाप-श्रमण होता है। जैन-परम्परा में यह औत्सर्गिक मर्यादा रही है कि मुनि दिन में न सोए। इसके कई अपवाद भी हैं। जो मुनि विहार से परिश्रान्त हो गया हो, वृद्ध हो गया हो, रोगी हो, वह मुनि आचार्य से आज्ञा लेकर दिन में भी सो सकता है, अन्यथा नहीं।[2]

आयुर्वेद के ग्रन्थों में सोने का विधान इस प्रकार है—नींद लेने का उपयुक्त काल रात है। यदि रात में पूरी नींद न आए तो प्रातःकाल भोजन से पूर्व सोए। रात में जागने से रूक्षता[3] और दिन में लेट कर नींद लेने से स्निग्धता पैदा होती है। परन्तु दिन में बैठे-बैठे नींद लेना न रूक्षता पैदा करता है और न स्निग्धता। यह स्वास्थ्य के लिए लाभप्रद है।

जो मुनि आचार्य और उपाध्याय का प्रत्यनीक होता है, पापों से नहीं डरता, कलह की उदीरणा करता है, चंचल होता है, रस-गृद्ध होता है, तपःकर्म नहीं करता, गण और गणी को छोड़ देता है, वह पाप-श्रमण है।

इस अध्ययन में—

श्लोक १-४ में ज्ञान-आचार की निरपेक्षता का वर्णन है।
श्लोक ५ में दर्शन-आचार की निरपेक्षता का वर्णन है।
श्लोक ६-१४ में चरित्र-आचार की निरपेक्षता का वर्णन है।
श्लोक १५-१६ में तपः-आचार की निरपेक्षता का वर्णन है।
श्लोक १७-१९ में वीर्य-आचार की निरपेक्षता का वर्णन है।

---

१. उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा ३९० : जे भावा अकरणिज्जा, इहमज्झयणंमि वन्निअ जिणेहिं।
तं भावे सेवंतो, नायव्वो पावसमणोत्ति॥

२. ओघनिर्युक्ति, गाथा ४१९ : अद्धाण परिस्संतो, गिलाण वुड्ढो अणुन्नवेत्ताणं।
संथारुत्तरपट्टो, अत्थरण निवज्जणा लोगं॥

३. अष्टांगहृदय सूत्रस्थान ७।५५,६५ : यथाकाल मतो निद्रां, रात्रौ सेवेत सात्मतः।
असात्म्याद् जागरादर्धं, प्रातः स्वप्यादभुक्तवान्॥
रात्रौ जागरणं रूक्षं, स्निग्धं प्रस्वपनं दिवा।
अरूक्षमनभिस्यन्दि, त्वासीनप्रचलायितम्॥

१७—आयरियपरिच्चाई
परपासण्डसेवए ।
गाणंगणिए दुब्भूए
पावसमणि त्ति वुच्चई ॥

आचार्य-परित्यागी
पर-पाषण्ड-सेवकः ।
गाणङ्गणिको दुर्भूतः
पाप-श्रमण इत्युच्यते ॥

१७—जो आचार्य को छोड़ दूसरे धर्म-सम्प्रदायों में चला जाता है, जो छह मास की अवधि में एक गण से दूसरे गण में संक्रमण करता है, जिसका आचरण निन्दनीय है, वह पाप-श्रमण कहलाता है ।

१८—सयं गेहं परिच्चज्ज
परगेहंसि वावडे[1] ।
निमित्तेण य ववहरई
पावसमणि त्ति वुच्चई ॥

स्वकं गेहं परित्यज्य
पर-गेहे व्याप्रियते ।
निमित्तेन च व्यवहरति
पाप-श्रमण इत्युच्यते ॥

१८—जो अपना घर छोड़ कर (प्रव्रजित होकर) दूसरों के घर में व्यापृत होता है—उनका कार्य करता है, जो शुभाशुभ बता कर धन का अर्जन करता है, वह पाप-श्रमण कहलाता है ।

१९—सन्नाइपिण्डं जेमेइ
नेच्छई सामुदाणियं ।
गिहिनिसेज्जं च वाहेइ
पावसमणि त्ति वुच्चई ॥

स्व-ज्ञाति-पिण्डं जेमति
नेच्छति सामुदानिकम् ।
गृहि-निषद्यां च वाहयति
पाप-श्रमण इत्युच्यते ॥

१९—जो अपने ज्ञाति-जनों के घरों में भोजन करता है, किन्तु सामुदायिक भिक्षा करना नहीं चाहता, जो गृहस्थ की शैया पर बैठता है, वह पाप-श्रमण कहलाता है ।

२०—एयारिसे पंचकुसीलसंवुडे
रूवंधरे मुणिपवराण हेट्ठिमे ।
अयंसि लोए विसमेव गरहिए
न से इहं नेव परत्थ लोए ॥

एतादृशः पंच-कुशीलाऽसंवृतः
रूपधरो मुनि-प्रवराणामधस्तनः ।
अस्मिँल्लोके विषमिव गर्हितः
न स इह नैव परत्र लोके ॥

२०—जो पूर्वोक्त आचरण करने वाला, पाँच प्रकार के कुशील साधुओं की तरह असंवृत, मुनि के वेश को धारण करने वाला और मुनि-प्रवरों की अपेक्षा तुच्छ संयम वाला होता है, वह इस लोक में विष की तरह निंदित होता है । वह न इस लोक में कुछ होता है और न परलोक में ।

२१—जे वज्जए एए सया उ दोसे
से सुव्वए होइ मुणीण मज्झे ।
अयंसि लोए अमयं व पूइए
आराहए 'दुहओ लोगमिणं'[2] ॥
—त्ति बेमि ॥

यो वर्जयत्येतान् सदा तु दोषान्
स सुव्रतो भवति मुनीनां मध्ये ।
अस्मिँल्लोकेऽमृतमिव पूजितः
आराधयति लोकमिमं तथा परम् ॥
—इति ब्रवीमि

२१—जो इन दोषों का सदा वर्जन करता है वह मुनियों में सुव्रत होता है । वह इस लोक में अमृत की तरह पूजित होता है तथा इस लोक और परलोक—दोनों लोकों की आराधना करता है ।

—ऐसा मैं कहता हूँ ।

---

१. वावरे (बृ०, सु०) ; ववहरे (बृ० पा०) ।
२. लोगमिणं तहापरं (उ, स, सु०, ऋ०) ।

अट्ठारसमं अज्झयणं :
संजइज्जं

अष्टादश अध्ययन :
संजयीयम्

आमुख

यह अध्ययन राजा संजय के वर्णन से समुत्पन्न है, इसलिए इसका नाम 'संजइज्जं'--'संजयीय' है ।[1]

कांपिल्य नगर में संजय नाम का एक राजा राज्य करता था । एक बार वह शिकार के लिए निकला । उसके साथ चारों प्रकार की सेनाएँ थी । वह केसर उद्यान में गया । वहाँ उसने संत्रस्त मृगों को मारा । इधर-उधर देखते उसकी दृष्टि गर्दभाली मुनि पर जा टिकी । वे ध्यानस्थ थे । उन्हें देख वह संभ्रान्त हो गया । उसने सोचा—मैंने यहाँ के मृगों को मार मुनि की आशातना की है । वह घोड़े से नीचे उतरा । मुनि के पास जा, वन्दना कर बोला—"भगवन् ! मुझे क्षमा करें ।" मुनि ध्यानलीन थे । वे कुछ नहीं बोले । राजा का भय बढ़ा । उसने सोचा—यदि मुनि क्रुद्ध हो गए तो वे अपने तेज से समूचे विश्व को नष्ट कर देंगे । उसने पुन: कहा—"भंते ! मैं राजा संजय हूँ । मौन तोड़ कर मुझे कुछ कहें ।" (श्लोक १-१०)

मुनि ने ध्यान पारा और अभयदान देते हुए बोले—"राजन् ! तुझे अभय है । तू भी अभयदाता बन । इस अनित्य जीव-लोक में तू क्यों हिंसा में आसक्त हो रहा है ।" (श्लोक ११) मुनि ने जीवन की अस्थिरता, ज्ञाति-सम्बन्धी की असारता, कर्म-परिणामों की निश्चितता का उपदेश दिया । राजा ने सुना । वैराग्य उभर आया । वह राज्य को त्याग कर मुनि गर्दभाली के पास श्रमण बन गया ।

एक दिन एक क्षत्रीय मुनि संजय मुनि के पास आया और पूछा—"तुम्हारा नाम क्या है ? तुम्हारा गोत्र क्या है ? किसलिए तुम माहन—मुनि बने हो ? तुम किस प्रकार आचार्यों की सेवा करते हो और किस प्रकार विनीत कहलाते हो ।" (श्लोक २१)

मुनि संजय ने उत्तर दिया—"नाम से मैं संजय हूँ । गोत्र मेरा गौतम है । गर्दभाली मेरे आचार्य हैं । मुक्ति के लिए मैं माहन बना हूँ । आचार्य के उपदेशानुसार मैं सेवा करता हूँ इसलिए मैं विनीत हूँ ।" (श्लोक २२,२३)

क्षत्रिय मुनि ने उनके उत्तर से आकृष्ट हो बिना पूछे ही कई तथ्य प्रकट किए और मुनि संजय को जैन प्रवचन में विशेष दृढ़ करने के लिए महापुरुषों के अनेक उदाहरण दिए । (श्लोक २३-३३)

इस अध्ययन में भरत, सगर, मघव, सनत्कुमार, शांति, अर, कुन्थु, महापद्म, हरिषेण, जय आदि चक्रवर्ती राजाओं के नाम हैं ।

दशार्णभद्र, नमि, करकन्डु, द्विमुख, नग्गति, उद्रायण, काशीराज, विजय, महाबल आदि नरेश्वरों के नाम हैं ।

दशार्ण, कलिंग, पांचाल, विदेह, गान्धार, सौवीर, काशी आदि देशों के नाम हैं ।

यह अध्ययन प्राग् ऐतिहासिक व ऐतिहासिक जैन-शासन की परम्परा का संकलन-सूत्र जैसा है । इसमें महावीर कालीन क्रियावाद, अक्रियावाद, विनयवाद और अज्ञानवाद का उल्लेख हुआ है । (श्लोक २३)

---

१. उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा ३९४ : संजयनामं गोयं, वेयंतो भावसंजओ होइ ।
तत्तो समुट्ठियमिणं, अज्झयणं संजइज्जंति ॥

अट्ठारसमं अज्झयणं : अष्टादश अध्ययन

संजइज्जं : संजयीयम्

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
१—कम्पिल्ले नयरे राया उदिण्णबलवाहणे । नामेणं संजए नाम मिगव्वं उवणिग्गए ॥	काम्पिल्ये नगरे राजा उदीर्ण-बल-वाहनः । नाम्ना संजयो नाम मृगव्यामुपनिर्गतः ॥	१—कांपिल्य नगर में सेना और वाहनों से सम्पन्न संजय नाम का राजा था । एक दिन वह शिकार करने के लिए गया ।
२—हयाणीए गयाणीए रहाणीए तहेव य । पायत्ताणीए महया सव्वओ परिवारिए[1] ॥	हयानीकेन गजानीकेन रथानीकेन तथैव च । पादातानीकेन महता सर्वतः परिवारितः ॥	२—वह घोड़े, हाथी और रथ पर आरूढ़ तथा पैदल चलने वाले महान् सैनिकों द्वारा चारों ओर से घिरा हुआ था ।
३—मिए छुभित्ता हयगओ कम्पिल्लुज्जाणकेसरे । भीए सन्ते मिए तत्थ वहेइ रसमुच्छिए ॥	मृगान् क्षिप्त्वा हय-गतः काम्पिल्योद्यानकेसरे । भीतान् श्रान्तान् मृगान् तत्र व्यथते रस-मूर्च्छितः ॥	३—वह घोड़े पर चढ़ा हुआ था । सैनिक हिरणों को कांपिल्य नगर के केशर नामक उद्यान की ओर ढकेल रहे थे । वह रस-मूर्च्छित होकर उन डरे हुए और खिन्न बने हुए हिरणों को वहाँ व्यथित कर रहा था—मार रहा था ।
४—अह केसरम्मि उज्जाणे अणगारे तवोधणे । सज्झायज्झाणजुत्ते धम्मज्झाणं झियायई ॥	अथ केसर उद्याने अनगारस्तपोधनः । स्वाध्याय-ध्यान-संयुक्तः धर्म्य-ध्यानं ध्यायति ॥	४—उस केशर नामक उद्यान में स्वाध्याय और ध्यान में लीन रहने वाले एक तपोधन अनगार धर्म्य-ध्यान में एकाग्र हो रहे थे ।

१. परिवारए (अ) ।

५—अप्फोवमण्डवम्मि
झायई झवियासवे[1]।
तस्सागए मिए पासं
वहेई से नराहिवे ॥

'अप्फोव' मण्डपे
ध्यायति क्षपितास्रवः।
तस्यागतान् मृगान् पार्श्वं
विध्यति स नराधिपः ॥

५—कर्म-बन्धन के हेतुओं को निर्मूल करने वाले अनगार लता-मण्डप में ध्यान कर रहे थे। राजा ने उनके समीप आए हुए हिरणों पर बाणों के प्रहार किए।

६—अह आसगओ राया
खिप्पमागम्म सो तहिं ॥
हए मिए उ पासित्ता
अणगारं तत्थ पासई ॥

अथाश्वगतो राजा
क्षिप्रमागम्य स तस्मिन्।
हतान् मृगान् तु दृष्ट्वा
अनगारं तत्र पश्यति ॥

६—राजा अश्व पर आरूढ़ था। वह तुरन्त वहाँ आया। उसने पहले मरे हुए हिरणों को ही देखा, फिर उसने उसी स्थान में अनगार को देखा।

७—अह राया तत्थ संभन्तो
अणगारो मणाऽऽहओ।
मए उ मन्दपुण्णेणं
रसगिद्धेण घन्तुणा[2] ॥

अथ राजा तत्र सम्भ्रान्तः
अनगारो मनागाहतः।
मया तु मन्द-पुण्येन
रस-गृद्धेन घातुकेन ॥

७—राजा अनगार को देख कर भय-भ्रान्त हो गया। उसने सोचा—मैं भाग्यहीन, रस-लोलुप और जीवों को मारने वाला हूँ। मैंने तुच्छ प्रयोजन के लिए मुनि को आहत किया है।

८—आसं विसज्जइत्ताणं
अणगारस्स सो निवो।
विणएण वन्दए पाए
भगवं! एत्थ मे खमे ॥

अश्वं विसृज्य
अनगारस्य स नृपः।
विनयेन वन्दते पादौ
भगवन्! अत्र मे क्षमस्व ॥

८—वह राजा घोड़े को छोड़ कर विनय पूर्वक अनगार को वन्दना करता और कहता है—"भगवन्! इस कार्य के लिए मुझे क्षमा करें।"

९—अह मोणेण सो भगवं
अणगारे झाणमस्सिए।
रायाणं न पडिमन्तेइ
तओ राया भयद्दुओ ॥

अथ मौनेन स भगवान्
अनगारो ध्यानमाश्रितः।
राजानं न प्रतिमन्त्रयते
ततो राजा भय-द्रुतः ॥

९—वे अनगार भगवान् मौन पूर्वक ध्यान में लीन थे। उन्होंने राजा को प्रत्युत्तर नहीं दिया। उससे राजा और अधिक भयाकुल हो गया।

१०—संजओ अहमस्सीति
भगवं! वाहराहि मे।
कुद्धे तेएण अणगारे
डहेज्ज नरकोडिओ ॥

संजयोऽहमस्मीति
भगवन्! व्याहर माम्।
क्रुद्धस्तेजसाऽनगारः
दहेत् नर-कोटीः ॥

१०—राजा बोला—"हे भगवन्! मैं संजय हूँ। आप मुझसे बातचीत कीजिए। अनगार कुपित होकर अपने तेज से करोड़ों मनुष्यों को जला डालता है।"

---

१. खवियासवे (स)।
२. घत्तुणा (उ); घम्मुणा (ऋ०)

११—अभओ[1] पत्थिवा ! तुब्भं
अभयदाया भवाहि य ।
अणिच्चे जीवलोगम्मि
किं हिंसाए पसज्जसि ? ॥

अभयं पार्थिव ! तव
अभय-दाता भव च ।
अनित्ये जीव-लोके
किं हिंसायां प्रसजसि ? ॥

११—अनगार बोले—"पार्थिव ! तुझे अभय है और तू भी अभयदाता बन । इस अनित्य जीव-लोक में तू क्यों हिंसा में आसक्त हो रहा है ?

१२—जया सव्वं परिच्चज्ज
गन्तव्वमवसस्स ते ।
अणिच्चे जीवलोगम्मि
किं रज्जम्मि[2] पसज्जसि ? ॥

यदा सर्वं परित्यज्य
गन्तव्यमवशस्य ते ।
अनित्ये जीव-लोके
किं राज्ये प्रसजसि ? ॥

१२—"जबकि तू पराधीन है और इसलिए सब कुछ छोड़ कर तुझे चले जाना है तब इस अनित्य जीव-लोक में तू क्यों राज्य में आसक्त हो रहा है ?

१३—जीवियं चेव रूवं च
विज्जुसंपायचंचलं ।
जत्थ तं मुज्झसी रायं
पेच्चत्थं नावबुज्झसे ॥

जीवितं चैव रूपं च
विद्युत्-सम्पात-चंचलम् ।
यत्र त्वं मुह्यसि राजन् !
प्रेत्यार्थं नावबुध्यसे ॥

१३—"राजन् ! तू जहाँ मोह कर रहा है वह जीवन और सौन्दर्य बिजली की चमक के समान चंचल है । तू परलोक के हित को क्यों नहीं समझ रहा है ?

१४—'दाराणि य सुया चेव
मित्ता य तह बन्धवा ।
जीवन्तमणुजीवन्ति
मयं नाणुव्वयन्ति य ॥'[3]

दाराश्च सुताश्चैव
मित्राणि च तथा बान्धवाः ।
जीवन्तमनुजीवन्ति
मृतं नानुव्रजन्ति च ॥

१४—"स्त्रियाँ, पुत्र, मित्र और बान्धव जीवित व्यक्ति के साथ जीते हैं किन्तु वे मृत के पीछे नहीं जाते ।

१५—नीहरन्ति मयं पुत्ता
पियरं परमदुक्खिया ।
पियरो वि तहा पुत्ते
बन्धू रायं ! तवं चरे ॥

निःसारयन्ति मृतं पुत्राः
पितरं परम-दुःखिताः ।
पितरोऽपि तथा पुत्रान्
बन्धवो राजन् ! तपश्चरेः ॥

१५—"पुत्र अपने मृत पिता को परम दुःख के साथ श्मशान ले जाते हैं और इसी प्रकार पिता भी अपने पुत्रों और बंधुओं को श्मशान में ले जाता है, इसलिए हे राजन् ! तू तपश्चरण कर ।

१६—तओ तेणऽज्जिए दव्वे
दारे य परिरक्खिए ।
कीलन्तऽन्ने नरा रायं !
हट्ठतुट्ठमलंकिया ॥

ततस्तेनार्जिते द्रव्ये
दारेषु च परिरक्षितेषु ।
क्रीडन्त्यन्ये नरा राजन् !
हृष्ट-तुष्टाऽलङ्कृताः ॥

१६—"राजन् ! मृत्यु के पश्चात् उस मृत व्यक्ति के द्वारा अर्जित धन और सुरक्षित स्त्रियों को हृष्ट, तुष्ट और अलंकृत होकर दूसरे व्यक्ति भोगते हैं ।

---

१. अभयं (अ, आ) ।
२. रज्जेण (उ, ऋ०) ; हिंसाए (वृ० पा०) ।
३. इदं सूत्रं चिरन्तनवृत्तिकृता न व्याख्यातं, प्रत्यन्तरेषु च दृश्यत इत्यस्माभिरुन्नीतम् (वृ०) ।

१७—तेणावि जं कयं कम्मं
सुहं वा जइ वा दुहं ।
कम्मुणा तेण संजुत्तो
गच्छई उ परं भवं ॥

तेनापि यत् कृतं कर्म
सुखं वा यदि वा दुःखम् ।
कर्मणा तेन संयुक्तः
गच्छति तु परं भवम् ॥

१७—"उस मरने वाले व्यक्ति ने भी जो कर्म किया—सुखकर या दुःखकर—उसी के साथ वह परभव में चला जाता है।"

१८—सोऊण तस्स सो धम्मं
अणगारस्स अन्तिए ।
महया संवेगनिव्वेयं
समावन्नो नराहिवो ॥

श्रुत्वा तस्य स धर्मम्
अनगारस्यान्तिके ।
महान्तं संवेग-निर्वेदं
समापन्नो नराधिपः ॥

१८—वह संजय राजा अनगार के समीप महान् आदर के साथ धर्म सुन कर मोक्ष का इच्छुक और संसार से उद्विग्न हो गया।

१९—संजओ चइउं रज्जं
निक्खन्तो जिणसासणे ।
गद्दभालिस्स भगवओ
अणगारस्स अन्तिए ॥

संजयस्त्यक्त्वा राज्यं
निष्क्रान्तो जिन-शासने ।
गर्दभालेर्भगवतः
अनगारस्यान्तिके ॥

१९—संजय राज्य छोड़ कर भगवान् गर्दभालि अनगार के समीप जिन-शासन मे दीक्षित हो गया।

२०—चिच्चा रट्ठं पव्वइए
खत्तिए परिभासइ ।
जहा ते दीसई रूवं
पसन्नं ते तहा मणो ॥

त्यक्त्वा राष्ट्रं प्रव्रजितः
क्षत्रियः परिभाषते ।
यथा ते दृश्यते रूपं
प्रसन्नं ते तथा मनः ॥

२०—जिसने राष्ट्र को छोड़ कर प्रव्रज्या ली, उस क्षत्रिय ने (अप्रतिबद्ध विहारी राजर्षि संजय से) कहा—"तुम्हारी आकृति जैसे प्रसन्न दीख रही है वैसे ही तुम्हारा मन भी प्रसन्न दीख रहा है।

२१—किंनामे ? किंगोत्ते ?
कस्सट्ठाए व माहणे ? ।
कहं पडियरसी बुद्धे ?
कहं विणीए त्ति वुच्चसि[1] ? ॥

किं नामा ? किं गोत्रः ?
कस्मं अर्थाय वा माहनः ? ।
कथं प्रतिचरसि बुद्धान् ?
कथं विनीत इत्युच्यसे ? ॥

२१—"तुम्हारा नाम क्या है ? गोत्र क्या है ? किसलिए तुम माहन—मुनि बने हो ? तुम किस प्रकार आचार्यो की सेवा करते हो ? और किस प्रकार विनीत कहलाते हो ?"

२२—संजओ नाम नामेणं
तहा गोत्तेण गोयमो ।
गद्दभाली ममायरिया
विज्जाचरणपारगा ॥

संयतो नाम नाम्ना
तथा गोत्रेण गौतमः ।
गर्दभालयो ममाचार्याः
विद्या-चरण-पारगाः ॥

२२—"नाम से मैं संजय हूँ। गोत्र से मैं गौतम हूँ। गर्दभालि मेरे आचार्य हैं—विद्या और चारित्र के पारगामी। मुक्ति के लिए मैं माहन बना हूँ। आचार्य के उपदेशानुसार मैं सेवा करता हूँ इसलिए मैं विनीत कहलाता हूँ।"

१. वुच्चई (अ, ऋ०, बृ०)।

२३—किरियं अकिरियं विणयं
अन्नाणं च महामुणी ! ।
एएहिं चउहिं ठाणेहिं
मेयन्ने[1] किं पभासई ? ॥

क्रियाऽक्रिया विनयः
अज्ञानं च महामुने ! ।
एतैश्चतुर्भिः स्थानैः
मेयज्ञाः किं प्रभाषन्ते ॥

२३—वे क्षत्रिय श्रमण बोले—"महामुने ! क्रिया, अक्रिया, विनय और अज्ञान—इन चार स्थानों के द्वारा एकान्तवादी तत्त्ववेत्ता क्या तत्त्व बतलाते हैं—

२४—इइ पाउकरे बुद्धे
नायए परिनिव्वुडे ।
विज्जाचरणसंपन्ने
सच्चे सच्चपरक्कमे ॥

इति प्रादुरकरोद् बुद्धः
ज्ञातकः परिनिर्वृतः ।
विद्या-चरण-संपन्नः
सत्यः सत्य-पराक्रमः ॥

२४—"उसे तत्त्ववेत्ता ज्ञात-वंशीय, उपशांत, विद्या और चारित्र से सम्पन्न, सत्य-वाक् और सत्य-पराक्रम वाले भगवान् महावीर ने प्रकट किया है ।

२५—पडन्ति नरए घोरे
जे नरा पावकारिणो ।
दिव्वं च गइं गच्छन्ति
चरित्ता धम्ममारियं ॥

पतन्ति नरके घोरे
ये नराः पाप-कारिणः ।
दिव्यां च गतिं गच्छन्ति
चरित्वा धर्ममार्यम् ॥

२५—"जो मनुष्य पाप करने वाले हैं वे घोर नरक में जाते हैं और आर्य-धर्म का आचरण कर मनुष्य दिव्य-गति को प्राप्त होते हैं ।

२६—'मायावुइयमेयं तु
मुसाभासा निरत्थिया ।
संजममाणो वि अहं
वसामि इरियामि य' ॥[2]

मायोक्तमेतत् तु
मृषाभाषा निरर्थिका ।
संयच्छन्नप्यहम्
वसामि ईरे च ॥

२६—"इन एकान्त-दृष्टि वाले क्रियावादी आदि वादियों ने जो कहा है, वह माया-पूर्ण है इसलिए वह मिथ्या-वचन है, निरर्थक है । मैं उन माया-पूर्ण एकान्तवादों से बच कर रहता हूँ और चलता हूँ ।

२७—सव्वे ते विइया मज्झं
मिच्छादिट्ठी अणारिया ।
विज्जमाणे परे लोए
सम्मं जाणामि अप्पगं ॥

सर्वे ते विदिता मम
मिथ्यादृष्टयोऽनार्याः ।
विद्यमाने परे लोके
सम्यग् जानाम्यात्मानम् ॥

२७—"मैंने उन सबको जान लिया है जो मिथ्या-दृष्टि और अनार्य हैं । मैं परलोक के अस्तित्व में आत्मा को भली-भाँति जानता हूँ ।

२८—अहमासी महापाणे
जुइमं वरिससओवमे ।
जा सा पाली महापाली
दिव्वा वरिससओवमा ॥

अहमासं महाप्राणे
द्युतिमान् वर्षशतोपमः ।
या सा पाली महा-पाली
दिव्या वर्षशतोपमा ॥

२८—"मैं महाप्राण नामक विमान में कान्तिमान देव था । मैंने वहाँ पूर्ण आयु का भोग किया । जैसे यहाँ सौ वर्ष की आयु पूर्ण होती है, वैसे ही देवलोक में पल्योपम और सागरोपम की आयु पूर्ण मानी जाती है ।

---

१. मियन्ना (चू०) ।
२. इदमपि सूत्रं प्रायो न दृश्यते (वृ०) ।

२९—से चुए[1] बम्भलोगाओ
माणुस्सं भवमागए।
अप्पणो य परेसि च
आउं जाणे जहा तहा॥

अथ च्युतो ब्रह्म-लोकान्
मानुष्यं भवमागतः।
आत्मनश्च परेषां च
आयुर्जानामि यथा तथा॥

२९—"वह मैं ब्रह्मलोक से च्युत होकर मनुष्य-लोक मे आया हूँ। मैं जिस प्रकार अपनी आयु को जानता हूँ उसी प्रकार दूसरों की आयु को भी जानता हूँ।

३०—नाणारुइं च छन्दं च
परिवज्जेज्ज संजए॥
अणट्ठा जे य सव्वत्था
इइ विज्जामणुसंचरे॥

नानारुचिं च छन्दश्च
परिवर्जयेत् संयतः।
अनर्था ये च सर्वत्र
इति विद्या मनुसंचरेः॥

३०—"संयमी को नाना प्रकार की रुचि, अभिप्राय और जो सब प्रकार के अनर्थ हैं उनका वर्जन करना चाहिए—इस विद्या के पथ पर तुम्हारा संचरण हो"—(क्षत्रिय मुनि ने राजर्षि से कहा)—

३१—पडिक्कमामि पसिणाणं
परमन्तेहिं वा पुणो।
अहो उट्ठिए अहोरायं
इइ विज्जा तवं चरे॥

प्रतिक्रमामि प्रश्नेभ्यः
पर-मन्त्रेभ्यो वा पुनः।
अहो उत्थितोऽहोरात्रम्
इति विद्वान् तपश्चरेः॥

३१—"मैं (शुभाशुभ सूचक) प्रश्नो और गृहस्थ-कार्य-सम्बन्धी मंत्रणाओं से दूर रहता हूँ। अहो! मैं दिन-रात धर्माचरण के लिए सावधान रहता हूँ—यह समझ कर तुम तप का आचरण करो।

३२—जं च मे पुच्छसी काले
सम्मं सुद्धेण[2] चेयसा।
ताइं पाउकरे बुद्धे
तं नाणं जिणसासणे॥

यच्च मां पृच्छसि काले
सम्यक् शुद्धेन चेतसा।
तत् प्रादुरकरोद् बुद्धः
तज्ज्ञानं जिन-शासने॥

३२—"जो तुम मुझे सम्यक् शुद्ध-चित्त से आयु के विषय मे पूछते हो, उसे सर्वज्ञ भगवान् ने प्रकट किया है, वह ज्ञान जिन-शासन मे विद्यमान है।

३३—किरियं च रोयए धीरे
अकिरियं परिवज्जए।
दिट्ठीए दिट्ठिसंपन्ने
धम्मं चर सुदुच्चरं॥

क्रियां च रोचयेद् धीरः
अक्रियां परिवर्जयेत्।
दृष्ट्या दृष्टि-संपन्नः
धर्मं चर सुदुश्चरम्॥

३३—"धीर-पुरुष को क्रियावाद पर रुचि करनी चाहिए और अक्रियावाद को त्याग देना चाहिए। सम्यक् दृष्टि के द्वारा दृष्टि-सम्पन्न होकर तुम सुदुश्चर धर्म का आचरण करो।

३४—एयं पुण्णपयं सोच्चा
अत्थधम्मोवसोहियं।
भरहो वि भारहं वासं
चेच्चा कामाइ पव्वए॥

एतत् पुण्य-पदं श्रुत्वा
अर्थ-धर्मोपशोभितम्।
भरतोऽपि भारतं वर्षं
त्यक्त्वा कामान् प्राव्रजत्॥

३४—"अर्थ और धर्म से उपशोभित इस पवित्र उपदेश को सुनकर भरत चक्रवर्ती ने भारतवर्ष और काम-भोगों को छोड़कर प्रव्रज्या ली।

१. चुया (अ)।
२. बुद्धेण (बृ०)।

३५—सगरो वि सागरन्तं भरहवासं नराहिवो । इस्सरियं केवलं हिच्चा दयाए परिनिव्वुडे[1] ॥	सगरो पि सागरान्तं भरतवर्षं नराधिपः । ऐश्वर्यं केवलं हित्वा दयया परिनिर्वृतः ॥	३५—"सगर चक्रवर्ती सागर पर्यन्त भारतवर्ष और पूर्ण ऐश्वर्य को छोड़, संयम की आराधना कर मुक्त हुए ।
३६—चइत्ता भारहं वासं चक्कवट्टी महिड्ढिओ । पव्वज्जमब्भुवगओ मघवं नाम महाजसो ॥	त्यक्त्वा भारतं वर्षं चक्रवर्ती महर्द्धिकः । प्रव्रज्यामभ्युपगतः मघवा नाम महायशाः ॥	३६—"महर्द्धिक और महान् यशस्वी मघवा चक्रवर्ती ने भारतवर्ष को छोड़कर प्रव्रज्या ली ।
३७—सणंकुमारो मणुस्सिन्दो चक्कवट्टी महिड्ढिओ । पुत्तं रज्जे ठवित्ताणं[2] सो वि राया तवं चरे ॥	सनत्कुमारो मनुष्येन्द्रः चक्रवर्ती महर्द्धिकः । पुत्रं राज्ये स्थापयित्वा सोऽपि राजा तपोऽचरत् ॥	३७—"महर्द्धिक राजा सनत्कुमार चक्रवर्ती ने पुत्र को राज्य पर स्थापित कर तपश्चरण किया ।
३८—चइत्ता भारहं वासं चक्कवट्टी महिड्ढिओ । सन्ती सन्तिकरे लोए पत्तो गइमणुत्तरं ॥	त्यक्त्वा भारतं वर्षं चक्रवर्ती महर्द्धिकः । शान्तिः शान्तिकरो लोके प्राप्तो गतिमनुत्तराम् ॥	३८—"महर्द्धिक और लोक में शान्ति करने वाले शान्तिनाथ चक्रवर्ती ने भारतवर्ष को छोड़कर अनुत्तर गति प्राप्त की ।
३९—इक्खागरायवसभो कुन्थू नाम नराहिवो । विक्खायकित्ती धिइमं[3] 'मोक्खं गओ अणुत्तरं'[4] ॥	इक्ष्वाकु-राज-वृषभः कुन्थुर्नाम नराधिपः । विख्यात-कीर्तिर्धृतिमान् मोक्षं गतोऽनुत्तरम् ॥	३९—"इक्ष्वाकु कुल के राजाओं में श्रेष्ठ, विख्यात कीर्ति वाले, धृतिमान् भगवान् कुन्थु नरेश्वर ने अनुत्तर मोक्ष प्राप्त किया ।

१. परिनिव्वुओ (उ, ऋ०) ।
२. ठवेऊण (उ, ऋ०) ।
३. भगवं (उ, ऋ०) ।
४. पत्तो गइमणुत्तरं (उ, ऋ०) ।

४०—सागरन्तं जहित्ताणं[1]
'भरहं वासं नरीसरो'[2] ।
अरो य अरयं[3] पत्तो
पत्तो गइमणुत्तरं ॥

सागरान्तं हित्वा
भरत-वर्षं नरेश्वरः ।
अरश्चारजः प्राप्तः
प्राप्तो गतिमनुत्तराम् ॥

४०—"सागर पर्यन्त भारतवर्ष को छोड़-कर, कर्म-रज से मुक्त हो कर नरेश्वर ने अनुत्तर गति प्राप्त की ।

४१—चइत्ता भारहं वासं
चक्कवट्टी नराहिओ[4] ।
चइत्ता उत्तमे भोए
महापउमे तवं चरे ॥

त्यक्त्वा भारतं वर्षं
चक्रवर्ती नराधिपः ।
त्यक्त्वा उत्तमान् भोगान्
महापद्मस्तपोऽचरत् ॥

४१—"विपुल राज्य, सेना और वाहन तथा उत्तम भोगों को छोड़कर महापद्म चक्रवर्ती ने तप का आचरण किया ।

४२—एगच्छत्तं पसाहित्ता
महिं माणनिसूरणो ।
हरिसेणो मणुस्सिन्दो
पत्तो[5] गइमणुत्तरं ॥

एक-च्छत्रां प्रसाध्य
महीं मान-निषूदनः ।
हरिषेणो मनुष्येन्द्रः
प्राप्तो गतिमनुत्तराम् ॥

४२—"(शत्रु-राजाओं का) मान-मर्दन करने वाले हरिषेण चक्रवर्ती ने पृथ्वी पर एक-छत्र शासन किया, फिर अनुत्तर गति प्राप्त की ।

४३—अन्निओ रायसहस्सेहिं
सुपरिच्चाई दमं चरे ।
जयनामो जिणक्खायं
पत्तो गइमणुत्तरं ॥

अन्वितो राज-सहस्रैः
सुपरित्यागी दममचरत् ।
जयनामा जिनाख्यातं
प्राप्तो गतिमनुत्तराम् ॥

४३—"जय चक्रवर्ती ने हजार राजाओं के साथ राज्य का परित्याग कर जिन-भाषित दम का आचरण किया और अनुत्तर गति प्राप्त की ।

४४—दसण्णरज्जं मुइयं
चइत्ताणं मुणी चरे ।
दसण्णभद्दो निक्खन्तो
सक्खं सक्केण चोइओ ॥

दशार्ण-राज्यं मुदितं
त्यक्त्वा मुनिरचरत् ।
दशार्णभद्रो निष्क्रान्तः
साक्षाच्छक्रेण चोदितः ॥

४४—"साक्षात् शक्र के द्वारा प्रेरित दशार्णभद्र ने दशार्ण देश का प्रमुदित राज्य छोड़ कर प्रव्रज्या ली और मुनि-धर्म का आचरण किया ।

---

१. चइत्ताणं (उ, ऋ०; स)।
२. भरहं नरवरीसरो (उ, ऋ०)।
३. अरसं (बृ० पा०)।
४. महिड्ढिओ (उ, ऋ०)।
५. गओ (अ)।

[नमी नमेइ अप्पाणं
सक्खं सक्केण चोइओ ।
चइऊण गेहं वइदेही
सामण्णे पज्जुवट्ठिओ ॥][1]

(नमि-र्नमयति आत्मानं
साक्षाच्छक्रेण चोदितः ।
त्यक्त्वा गेहं वैदेहो
श्रामण्ये पर्युपस्थितः ॥)

"(विदेह के अधिपति नमिराज ने, जो गृह को त्याग कर श्रामण्य में उपस्थित हुए और देवेन्द्र ने जिन्हें साक्षात् प्रेरित किया, आत्मा को नमा लिया—वे अत्यन्त नम्र बन गए ।)

४५—करकण्डू कलिंगेसु
पंचालेसु य दुम्मुहो[2] ।
नमी राया विदेहेसु
गन्धारेसु य नग्गई ॥

करकण्डुः कलिङ्गेषु
पञ्चालेषु च द्विमुखः ।
नमी राजा विदेहेषु
गान्धारेषु च नग्गतिः ॥

४५—"कलिंग में करकण्डु, पांचाल में द्विमुख, विदेह में नमि राजा और गान्धार में नग्गति—

४६—एए[3] नरिन्दवसभा
निक्खन्ता जिणसासणे ।
पुत्ते रज्जे ठवित्ताणं[4]
सामण्णे पज्जुवट्ठिया ॥

एते नरेन्द्रः-वृषभाः
निष्क्रान्ता जिन-शासने ।
पुत्रान् राज्ये स्थापयित्वा
श्रामण्ये पर्युपस्थिताः ॥

४६—"राजाओं में वृषभ के समान ये अपने-अपने पुत्रों को राज्य पर स्थापित कर जिन-शासन में प्रव्रजित हुए और श्रमण-धर्म में सदा यत्न-शील रहे ।

४७—सोवीररायवसभो
'चेच्चा रज्जं'[5] मुणी चरे ।
उद्दायणो[6] पव्वइओ
पत्तो गइमणुत्तरं ॥

सौवीर-राज-वृषभः
त्यक्त्वा राज्यं मुनिरचरत् ।
उद्रायणः प्रव्रजितः
प्राप्तो गतिमनुत्तराम् ॥

४७—"सौवीर राजाओं में वृषभ के समान उद्रायण राजा ने राज्य को छोड़ कर प्रव्रज्या ली, मुनि-धर्म का आचरण किया और अनुत्तर गति प्राप्त की ।

४८—तहेव कासीराया
सेओसच्चपरक्कमे ।
कामभोगे परिच्चज्ज
पहणे कम्ममहावणं ॥

तथैव काशी-राजः
श्रेयः-सत्य-पराक्रमः ।
काम-भोगान् परित्यज्य
प्राहन् कर्म-महावनम् ॥

४८—"इसी प्रकार श्रेय और सत्य के लिए पराक्रम करने वाले काशीराज ने काम-भोगों का परित्याग कर कर्म-रूपी महावन का उन्मूलन किया ।

---

१. × (आ, इ, स, चू०, बृ०) ।
२. दुम्मुहा (बृ०) ।
३. एवं (उ, बृ०) ।
४. ठवेऊणं (उ, बृ०) ।
५. चइत्ताण (अ, उ, बृ०) ।
६. उद्दाहणो (बृ०) ; उद्दायणो (चू०, आ, उ, बृ०) ।

४९—तहेव विजओ राया
'अणट्ठाकित्ति'[1] पव्वए[2] ।
रज्जं तु गुणसमिद्धं
पयहित्तु महाजसो ॥

तथैव विजयो राजा
अनष्ट-कीर्तिः प्राव्रजत् ।
राज्यं तु गुण-समृद्धं
प्रहाय महायशाः ॥

४९—"इसी प्रकार विमल-कीर्ति, महा-यशस्वी विजय राजा ने गुण से समृद्ध राज्य को छोड़ कर जिन-शासन में प्रव्रज्या ली ।

५०—तहेवुग्गं[3] तवं किच्चा
अव्वक्खित्तेण चेयसा ।
महाबलो[4] रायरिसी
अद्दाय[5] सिरसा सिरं[6] ॥

तथैवोग्रं तपः कृत्वा
अव्याक्षिप्तेन चेतसा ।
महाबलो राजर्षिः
आदित शिरसा शिरः ॥

५०—"इसी प्रकार अनाकुल-चित्त से उग्र तपस्या कर राजर्षि महाबल ने अपना शिर देकर शिर (मोक्ष) को प्राप्त किया ।

५१—कहं धीरो अहेऊहिं
उम्मत्तो[7] व्व[8] महिं चरे ? ।
एए विसेसमादाय
सूरा दढपरक्कमा ॥

कथं धीरः अहेतुभिः
उन्मत्त इव महीं चरेत् ? ।
एते विशेषमादाय
शूरा दृढ-पराक्रमाः ॥

५१—"ये भरत आदि शूर और दृढ़ पराक्रम-शाली राजा दूसरे धर्म-शासनों से जैन-शासन में विशेषता पाकर यहीं प्रव्रजित हुए तो फिर धीर पुरुष एकान्त-दृष्टिमय अहेतुवादों के द्वारा उन्मत्त की तरह कैसे पृथ्वी पर विचरण करे ?

५२—अच्चन्तनियाणखमा
सच्चा[9] मे भासिया वई ।
अतरिंसु तरन्तेगे[10]
तरिस्सन्ति अणागया[11] ॥

अत्यन्त-निदान-क्षमा
सत्या मया भाषिता वाक् ।
अतीर्षुः तरन्त्येके
तरिष्यन्ति अनागताः ॥

५२—"मैंने यह अत्यन्त युक्तियुक्त बात कही है । इसके द्वारा कई जीवों ने संसार-समुद्र का पार पाया है, पा रहे हैं और भविष्य में पाएंगे ।

---

१. अणट्ठा ० (बृ०) ; आणट्ठा ० (सु०) ।
२. आणट्ठा किइ पव्वइ (बृ० पा०) ।
३. तहेवउग्ग (अ) ।
४. महब्बलो (अ, आ, ऋ०) ; महबलो (उ) ।
५. आदाय (उ, ऋ०, सु, बृ०पा०) ।
६. सिरिं (बृ० पा०, अ, आ, उ, ऋ०) ।
७. उम्मत्तु (उ, ऋ०) ।
८. व (अ) ।
९. एसा (बृ०); सव्वा, सच्चा (बृ० पा०) ।
१०. तरंतन्ने (बृ० पा०) ।
११. अणागयं (अ) ।

५३—कहं धीरे अहेऊहिं
अत्ताणं[1] परियावसे ? ।
सव्वसंगविनिम्मुक्के
सिद्धे हवइ नीरए ॥
—त्ति बेमि ॥

कथं धीरः अहेतुभिः
आत्मानं पर्यावासयेत् ? ।
सर्व-सङ्ग-विनिर्मुक्तः
सिद्धो भवति नीरजाः ॥
—इति ब्रवीमि ।

५३—"धीर पुरुष एकान्त-दृष्टिमय अहेतुवादों में अपने आपको कैसे लगाए ? जो सब संगों से मुक्त होता है वह कर्म-रहित होकर सिद्ध हो जाता है ।"

—ऐसा मैं कहता हूँ ।

---

१. अद्दाणं (वृ०) ; अत्ताणं (वृ० पा०) ।

एगूणविंसइमं अज्झयणं :
मियापुत्तिज्जं

एकोनविंश अध्ययन :
मृगापुत्रीयम्

आमुख

निर्युक्तिकार के अनुसार इस अध्ययन का नाम 'मिगपुत्तिज्जं'—'मृगापुत्रीय' है। मृगा रानी के पुत्र से यह अध्ययन समुत्पन्न है, इसलिए इसका नाम 'मृगापुत्रीय' रखा गया है।[1]

समवायांग के अनुसार इसका नाम 'मियचारिया'—'मृगचारिका' है।[2] *यह नामकरण प्रतिपाद्य के आधार पर है।*

सुग्रीव नगर में बलभद्र नाम का राजा राज्य करता था। उसकी पटरानी का नाम मृगावती था। उसके एक पुत्र था। माता-पिता ने उसका नाम बलश्री रखा। वह लोक में मृगापुत्र के नाम से प्रसिद्ध हुआ। युवा हुआ। पाणि-ग्रहण सम्पन्न हुआ। एक बार वह अपनी पत्नियों के साथ प्रासाद के झरोखे में बैठा हुआ क्रीड़ा कर रहा था। मार्ग में लोग आ-जा रहे थे। स्थान-स्थान पर नृत्य-संगीत की मण्डलियां आयोजित थी। एकाएक उसकी दृष्टि राजमार्ग पर मन्द गति से चलते हुए निर्ग्रन्थ पर जा टिकी। मुनि के तेजोदीप्त ललाट, चमकते हुए नेत्रों तथा तपस्या से कृश शरीर को वह अनिमेष दृष्टि से देखता रहा। मन आलोड़ित हुआ। चिन्तन तीव्र हुआ। उसने सोचा—"अन्यत्र भी मैंने ऐसा रूप देखा है।" विचारों में लीन हुआ और उसे जाति-स्मृति ज्ञान उत्पन्न हो गया। पूर्व जन्म की सारी घटनाएं प्रत्यक्ष हो गईं। उसने जान लिया कि पूर्व-भव में वह श्रमण था। इस अनुभूति से उसका मन वैराग्य से भर गया। वह अपने माता-पिता के पास आया और बोला—"तात! मैं प्रव्रज्या लेना चाहता हूँ। शरीर अनित्य है, अशुचिमय है, दुःख और क्लेशों का भाजन है। मुझे इसमें कोई रस नहीं है। जिसे आज या कल छोड़ना ही होगा, उसे मैं अभी छोड़ देना चाहता हूँ। संसार में दुःख ही दुःख है। जन्म दुःख है, मरण दुःख है, जरा दुःख है और रोग दुःख है। सारे भोग आपात-भद्र हैं, परिणाम-विरस।"

माता-पिता ने उसे समझाया और श्रामण्य की कठोरता और उसकी दुश्चरता का दिग्दर्शन कराया। उन्होंने कहा—

"पुत्र! श्रामण्य दुश्चर है। मुनि को हजारों गुण धारण करने होते हैं। उसे जीवन भर प्राणातिपात से विरति करनी होती है। इसी प्रकार मृषावाद, अदत्तादान, अब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का विवर्जन करना होता है। रात्रि-भोजन का सर्वथा त्याग अत्यन्त कठिन है। अनेक कष्ट सहने पड़ते हैं।

"भिक्षाचर्या दुःखप्रद होती है। याचना और अलाभ दोनों को सहना दुष्कर है। साधु को कुक्षि-संबल होना पड़ता है।

"तुम सुकोमल हो, श्रामण्य अत्यन्त कठोर है। तुम उसका पालन नहीं कर सकोगे। दूसरी बात है कि यह श्रामण्य यावज्जीवन का होता है। इसमें अवधि नहीं होती। श्रामण्य वालुका-कवल की तरह निःस्वाद और असि-धारा की तरह दुश्चर है। इसका पालन करना लोहे के चने चबाने जैसा है।"

१—उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा ४०८ :

मिगदेवीपुत्ताओ, बलसिरिनामा समुट्ठियं जम्हा।
तम्हा मिगपुत्तिज्जं, अज्झयणं होइ नायव्वं ॥

२—समवाय ३६

इस प्रकार मृगापुत्र और उसके माता-पिता के बीच सुन्दर संवाद चलता है। माता-पिता उसे भोग की ओर आकृष्ट करना चाहते हैं और वह साधना की ओर अग्रसर होना चाहता है। माता-पिता ने श्रामण्य को जिन उपमाओं से उपमित किया है वे संयम की गुरुता और दुष्करता को प्रभावित करती हैं।

मृगापुत्र का आत्म-विश्वास मूर्त्त हो जाता है और वह इन सबको आत्मसात् करने के लिए अपने आपको योग्य बताता है।

अन्त में माता-पिता कहते हैं—"वत्स ! जो कुछ तू कहता है वह सत्य है परन्तु श्रामण्य का सबसे बड़ा दुःख है—निष्प्रतिकर्मता अर्थात् रोग की चिकित्सा न करना।" (श्लोक ७५)

मृगापुत्र ने कहा—"तात् ! अरण्य में बसने वाले मृग आदि पशुओं तथा पक्षियों की कौन चिकित्सा करता है ? कौन उनको औषधि देता है ? कौन उनकी सुख-पृच्छा करता है ? कौन उनको भक्त-पान देता है ? मैं भी उन्हीं की भाँति रहूँगा—मृग-चारिका से अपना जीवन बिताऊँगा।" (श्लोक ७६-८५)

माता-पिता ने मृगापुत्र की बातें सुनी। उसकी संयम-ग्रहण की दृढ़ता से पराभूत हो उन्होंने प्रव्रज्या की आज्ञा दी। मृगापुत्र मुनि बन गया। उसने पवित्रता से श्रामण्य का पालन किया और अन्त मे सिद्ध, बुद्ध, मुक्त हो गया।

एगूणविंसइमं अज्झयणं : एकोनविंश अध्ययन

मियापुत्तिज्जं : मृगापुत्रीयम्

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
१—सुग्गीवे नयरे रम्मे काणणुज्जाणसोहिए । राया बलभद्दो त्ति मिया तस्सग्गमाहिसी ॥	सुग्रीवे नगरे रम्ये काननोद्यान-शोभिते । राजा बलभद्र इति मृगा तस्याग्रमहिषी ॥	१—कानन और उद्यान से शोभित सुरम्य सुग्रीव नगर में बलभद्र राजा था। मृगा उसकी पटरानी थी ।
२—तेसिं पुत्ते बलसिरी मियापुत्ते त्ति विस्सुए । अम्मापिऊण दइए जुवराया दमीसरे ॥	तयोः पुत्रो बलश्रीः मृगापुत्र इति विश्रुतः । अम्बापित्रोर्दयितः युवराजो दमीश्वरः ॥	२—उनके 'बलश्री' नाम का पुत्र था । जनता में वह 'मृगापुत्र'—इस नाम से विश्रुत था । वह माता-पिता को प्रिय, युवराज और दमीश्वर था ।
३—नन्दणे सो उ पासाए कीलए[1] सह इत्थिहिं । देवो दोगुन्दगो चेव निच्चं मुइयमाणसो ॥	नन्दने स तु प्रासादे क्रीडति सह स्त्रीभिः । देवो गोगुन्दकश्चैव नित्यं मुदित-मानसः ॥	३—वह दोगुन्दग देवों की भाँति सदा प्रमुदित-मन रहता हुआ आनन्द देने वाले प्रासाद में स्त्रियों के साथ क्रीड़ा कर रहा था ।
४—मणिरयणकुट्टिमतले पासायालोयणट्ठिओ । आलोएइ नगरस्स चउक्कतियचच्चरे ॥	मणि-रत्न-कुट्टिम-तले प्रसादालोकन-स्थितः । आलोकते नगरस्य चतुष्क-त्रिक-चत्वराणि ॥	४—मणि और रत्न से जड़ित फर्श वाले प्रासाद के गवाक्ष में बैठा हुआ मृगापुत्र नगर के चौराहों, तिराहों और चौहट्टों को देख रहा था ।
५—अह तत्थ अइच्छन्तं पासई समणसंजयं । तवनियमसंजमधरं सीलड्ढं गुणआगरं ॥	अथ तत्रातिक्रामन्तं पश्यति श्रमण-संयतम् । तपो-नियम-संयम-धरं शीलाढ्यं गुणाकरम् ॥	५—उसने वहाँ जाते हुए एक संयत श्रमण को देखा, जो तप नियम और संयम को धारण करने वाला, शील से समृद्ध और गुणों का आकर था ।

१—कीलिए (बृ०) ।

६—तं देहई[1] मियापुत्ते
दिट्ठीए अणिमिसाए उ।
कहिं मन्नेरिसं रूवं
दिट्ठपुव्वं मए पुरा॥

तं पश्यति मृगापुत्रः
दृष्ट्याऽनिमेषया तु।
कुत्र मन्ये ईदृशं रूपं
दृष्ट-पूर्वं मया पुरा?॥

६—मृगापुत्र ने उसे अनिमेष-दृष्टि से देखा और मन ही मन चिन्तन करने लगा—"मैं मानता हूँ कि ऐसा रूप मैंने पहले कहीं देखा है।"

७—साहुस्स दरिसणे तस्स
अज्झवसाणम्मि सोहणे।
मोहंगयस्स सन्तस्स
जाईसरणं समुप्पन्नं॥

साधोर्दर्शने तस्य
अध्यवसाने शोभने।
मोहं गतस्य सतः
जाति-स्मरणं समुत्पन्नम्॥

७—साधु के दर्शन और अध्यवसाय पवित्र होने पर "मैंने ऐसा कहीं देखा है"—ऐसी सघन चित्त-वृत्ति हुई और उसे पूर्व-जन्म की स्मृति हो आई।

[देवलोग चुओ संतो
माणुसं भवमागओ।
सन्निनाणे समुप्पण्णे
जाइं सरइ पुराणयं॥][2]

[देवलोक-च्युतः सन्
मानुषं भवमागतः।
संज्ञि-ज्ञाने समुत्पन्ने
जातिं स्मरति पौराणिकीम्॥]

[देवलोक से च्युत हो मनुष्य-जन्म में आया। समनस्क-ज्ञान उत्पन्न हुआ तब पूर्व-जन्म की स्मृति हुई।]

८—जाईसरणे समुप्पन्ने
मियापुत्ते महिड्ढिए।
सरई पोराणियं जाइं
सामण्णं च पुराकयं॥

जाति-स्मरणे समुत्पन्ने
मृगापुत्रो महर्द्धिकः।
स्मरति पौराणिकीं जातिं
श्रामण्यं च पुराकृतम्॥

८—जाति-स्मृति ज्ञान उत्पन्न होने पर महर्द्धिक मृगापुत्र को पूर्व-जन्म और पूर्व-कृत श्रामण्य की स्मृति हो आई।

९—विसएहि अरज्जन्तो
रज्जन्तो संजमम्मि य।
अम्मापियरं उवागम्म
इमं वयणमब्बवी॥

विषयेष्वरज्यन्
रज्यन् संयमे च।
अम्बापितरावुपागम्य
इदं वचनमब्रवीत्॥

९—अब विषयों में उसकी आसक्ति नहीं रही। वह संयम में अनुरक्त हो गया। माता-पिता के समीप आ उसने इस प्रकार कहा—

१०—सुयाणि मे पंच महव्वयाणि
नरएसु दुक्खं च तिरिक्खजोणिसु।
निव्विण्णकामो मि[3] महण्णवाओ
अणुजाणह पव्वइस्सामि अम्मो!॥

श्रुतानि मया पंच महाव्रतानि
नरकेषु दुःखं च तिर्यग्-योनिषु।
निर्विण्णा-कामोऽस्मि महार्णवात्
अनुजानीत प्रव्रजिष्यामि मातः॥

१०—"मैंने पाँच महाव्रतों को सुना है। नरक और तिर्यंच योनियों में दुःख है। मैं संसार समुद्र से निर्विण्ण-काम (विरक्त) हो गया हूँ। मैं प्रव्रजित होऊँगा। माता! मुझे आप अनुज्ञा दें।

---

१. पेहई (वृ०)।
२. × (आ, इ, स, बृ०, चू०, वृ०)।
३. म्हि (स)।

११—अम्मताय ! मए भोगा
भुत्ता विसफलोवमा ।
पच्छा कडुयविवागा
अणुबन्धदुहावहा ॥

अम्ब-तात ! मया भोगाः
भुक्ता विष-फलोपमाः ।
पश्चात् कटुक-विपाकाः
अनुबन्ध-दुःखावहाः ॥

११—"माता-पिता ! मैं भोगों को भोग चुका हूं। ये भोग विष के तुल्य हैं, इनका परिणाम कटु होता है और ये निरन्तर दुःख देने वाले हैं।

१२—इमं सरीरं अणिच्चं
असुइं असुइसंभवं ।
असासयावासमिणं
दुक्खकेसाण भायणं ॥

इदं शरीरमनित्यम्
अशुच्यशुचि-संभवम् ।
अशाश्वतावासमिदं
दुःख-क्लेशानां भाजनम् ॥

१२—"यह शरीर अनित्य है, अशुचि है, अशुचि से उत्पन्न है, आत्मा का यह अशाश्वत आवास है तथा दुःख और क्लेशों का भाजन है।

१३—असासए[1] सरीरम्मि
रइं नोवलभामहं ।
पच्छा पुरा व चइयव्वे
फेणबुब्बुयसन्निभे ॥

अशाश्वते शरीरे
रतिं नोपलभेऽहम् ।
पश्चात् पुरा वा त्यक्तव्ये
फेन-बुद्बुद-सन्निभे ॥

१३—"इस अशाश्वत-शरीर में मुझे आनन्द नहीं मिल रहा है। इसे पहले या पीछे जब कभी छोड़ना है। यह पानी के बुलबुले के समान नश्वर है।

१४—माणुसत्ते असारम्मि
वाहीरोगाण आलए ।
जरामरणघत्थम्मि
खणं पि न रमामऽहं ॥

मानुषत्वे असारे
व्याधि-रोगाणामालये ।
जरा-मरण-ग्रस्ते
क्षणमपि न रमेऽहम् ॥

१४—"मनुष्य-जीवन असार है, व्याधि और रोगों का घर है, जरा और मरण से ग्रस्त है। इसमें मुझे एक क्षण भी आनन्द नहीं मिल रहा है।

१५—जम्मं दुक्खं जरा दुक्खं
रोगा य मरणाणि य ।
अहो दुक्खो हु संसारो
जत्थ कीसन्ति जन्तवो[2] ॥

जन्म दुःखं जरादुःखं
रोगाश्च मरणानि च ।
अहो दुःखं खलु संसारः
यत्र क्लिश्यन्ति जन्तवः ॥

१५—"जन्म दुःख है, बुढ़ापा दुःख है, रोग दुःख है और मृत्यु दुःख है। अहो ! संसार दुःख ही है, जिसमें जीव क्लेश पा रहे हैं।

१६—खेत्तं वत्थुं हिरण्णं च
पुत्तदारं च बन्धवा[3] ।
चइत्ताणं इमं देहं
गन्तव्वमवसस्स मे ॥

क्षेत्रं वास्तु हिरण्यं च
पुत्र-दारांश्च बान्धवान् ।
त्यक्त्वेमं देहं
गन्तव्यमवशस्य मे ॥

१६—"भूमि, घर, सोना, पुत्र, स्त्री, बान्धव और इस शरीर को छोड़ कर मुझे अवश हो चले जाना है।

---

१. आसासए (अ, उ)।
२. जन्तुणो (आ, बृ०); पाणिणो (उ, स)।
३. बंधवं (उ)।

१७—जहा किम्पागफलाणं
परिणामो न सुन्दरो ।
एवं भुत्ताण भोगाणं
परिणामो न सुन्दरो ॥

यथा किम्पाक-फलानां
परिणामो न सुन्दरः ।
एवं भुक्तानां भोगानां
परिणामो न सुन्दरः ॥

१७—"जिस प्रकार किम्पाक-फल खाने का परिणाम सुन्दर नहीं होता उसी प्रकार भोगे हुए भोगों का परिणाम भी सुन्दर नहीं होता ।

१८—अद्धाणं जो महन्तं तु
अपाहेओ पवज्जई ।
गच्छन्तो सो दुही होइ
छुहातण्हाए पीडिओ ॥

अध्वानं यो महान्तं तु
अपाथेयः प्रव्रजति ।
गच्छन् स दुःखी भवति
क्षुधा-तृष्णया पीडितः ॥

१८—"जो मनुष्य लम्बा मार्ग लेता है और साथ मे सम्बल नही लेता, वह भूख और प्यास से पीड़ित हो कर चलता हुआ दुःखी होता है ।

१९—एवं धम्मं अकाऊणं
जो गच्छइ परं भवं ।
गच्छन्तो सो दुही होइ
वाहीरोगेहि पीडिओ ॥

एवं धर्ममकृत्वा
यो गच्छति परं भवम् ।
गच्छन् स दुःखी भवति
व्याधि-रोगैः पीडितः ॥

१९—"इसी प्रकार जो मनुष्य धर्म किए बिना परभव में जाता है वह व्याधि और रोग से पीड़ित होकर जीवन-यापन करता हुआ दुःखी होता है ।

२०—अद्धाणं जो महन्तं तु
सपाहेओ पवज्जई ।
गच्छन्तो सो सुही होइ
छुहातण्हाविवज्जिओ ॥

अध्वानं यो महान्तं तु
सपाथेयः प्रव्रजति ।
गच्छन् स सुखी भवति
क्षुधा-तृष्णा-विवर्जितः ॥

२०—"जो मनुष्य लम्बा मार्ग लेता है, किन्तु सम्बल के साथ, वह भूख-प्यास से रहित हो कर चलता हुआ सुखी होता है ।

२१—एवं धम्मं पि काऊणं
जो गच्छइ परं भवं ।
गच्छन्तो सो सुही होइ
अप्पकम्मे अवेयणे ॥

एवं धर्ममपि कृत्वा
यो गच्छति परं भवम् ।
गच्छन् स सुखी भवति
अल्पकर्माऽवेदनः ॥

२१—"इसी प्रकार जो मनुष्य धर्म की आराधना कर परभव में जाता है, वह अल्प-कर्म वाला और वेदना रहित हो कर जीवन-यापन करता हुआ सुखी होता है ।

२२—जहा गेहे पलित्तम्मि
तस्स गेहस्स जो पहू ।
सारभण्डाणि नीणेइ
असारं अवउज्झइ ॥

यथा गेहे प्रदीप्ते
तस्य गेहस्य यः प्रभुः ।
सार-भाण्डानि गमयति
असारमपोज्झति ॥

२२—"जैसे घर में आग लग जाने पर उस घर का जो स्वामी होता है, वह मूल्यवान् वस्तुओं को उसमें से निकालता है और मूल्य-हीन वस्तुओं को वहीं छोड़ देता है,

२३—एवं लोए पलित्तम्मि
जराए मरणेण य ।
अप्पाणं तारइस्सामि
तुब्भेहिं अणुमन्निओ ॥

एवं लोके-प्रदीप्ते
जरया मरणेन च ।
आत्मानं तारयिष्यामि
युष्माभिरनुमतः ॥

२३—"इसी प्रकार यह लोक जरा और मृत्यु से प्रज्वलित हो रहा है। मैं आपकी आज्ञा पाकर उसमें से अपने आपको निकालूँगा।"

२४—तं बिंत ऽम्मापियरो
सामण्णं पुत्त ! दुच्चरं ।
गुणाणं तु सहस्साइं
धारेयव्वाइं भिक्खुणो[1] ॥

तंबूतोऽम्बापितरौ
श्रामण्यं पुत्र ! दुश्चरम् ।
गुणानां तु सहस्राणि
धारयितव्यानि भिक्षोः ॥

२४—माता-पिता ने उससे कहा—"पुत्र ! श्रामण्य का आचरण बहुत कठिन है। भिक्षु को हजारों गुण धारण करने होते हैं।

२५—समया सव्वभूएसु
सत्तुमित्तेसु वा जगे ।
पाणाइवायविरई
जावज्जीवाए दुक्करा[2] ॥

समता सर्व-भूतेषु
शत्रु-मित्रेषु वा जगति ।
प्राणातिपात-विरतिः
यावज्जीवं दुष्करा ॥

२५—"विश्व के शत्रु और मित्र सभी जीवों के प्रति समभाव रखना और यावज्जीवन प्राणातिपात की विरति करना बहुत ही कठिन कार्य है।

२६—निच्चकालऽप्पमत्तेणं
मुसावायविवज्जणं ।
भासियव्वं हियं सच्चं
निच्चाउत्तेण दुक्करं ॥

नित्य-कालाप्रमत्तेन
मृषावाद-विवर्जनम् ।
भाषितव्यं हितं सत्यं
नित्यायुक्तेन दुष्करम् ॥

२६—"सदा अप्रमत्त रह कर मृषावाद का वर्जन करना और सतत सावधान रह कर हितकारी सत्य वचन बोलना बहुत ही कठिन कार्य है।

२७—दन्तसोहणमाइस्स
अदत्तस्स विवज्जणं ।
अणवज्जेसणिज्जस्स
गेण्हणा अवि दुक्करं ॥

दन्तशोधनादेः
अदत्तस्य विवर्जनम् ।
अनवद्यैषणीयस्य
ग्रहणमपि दुष्करम् ॥

२७—"दतौन आदि को भी बिना दिए न लेना और ऐसी दत्त वस्तु भी वही लेना, जो अनवद्य और एषणीय हो—बहुत ही कठिन कार्य है।

२८—विरई अबम्भचेरस्स
कामभोगरसन्नुणा ।
उग्गं महव्वयं बम्भं
धारेयव्वं सुदुक्करं ॥

विरतिरब्रह्मचर्यस्य
काम-भोग-रसज्ञेन ।
उग्रं महाव्रतं ब्रह्म
धारयितव्यं सुदुष्करम् ॥

२८—"काम-भोग का रस जानने वाले व्यक्ति के लिए अब्रह्मचर्य की विरति करना और उग्र ब्रह्मचर्य महाव्रत को धारण करना बहुत ही कठिन कार्य है।

१. भिक्खुणा (बृ०); भिक्खुणो (बृ० पा०)।
२. दुक्करं (बृ०, छ०)।

२९—धणधन्नपेसवग्गेसु
परिग्गहविवज्जणं[1] ।
सव्वारम्भपरिच्चाओ
निम्ममत्तं सुदुक्करं ॥

धन-धान्य-प्रेष्यवर्गेषु
परिग्रह-विवर्जनम् ।
सर्वारम्भ-परित्यागः
निर्ममत्वं सुदुष्करम् ॥

२९—"धन-धान्य और प्रेष्य-वर्ग के परिग्रहण का वर्जन करना, सब आरम्भों (द्रव्य की उत्पत्ति के व्यापारों) और ममत्व का त्याग करना बहुत ही कठिन कार्य है ।

३०—चउव्विहे वि आहारे
राईभोयणवज्जणा ।
सन्निहीसंचओ चेव
वज्जेयव्वो सुदुक्करो[2] ॥

चतुर्विधेऽप्याहारे
रात्रि-भोजन-वर्जनम् ।
सन्निधि-संचयश्चैव
वर्जयितव्यः सुदुष्करः ॥

३०—"चतुर्विध आहार को रात में खाने का त्याग करना तथा सन्निधि और संचय का वर्जन करना बहुत ही कठिन कार्य है ।

३१—छुहा तण्हा य सीउण्हं
दंसमसगवेयणा ।
अक्कोसा दुक्खसेज्जा य
तणफासा जल्लमेव य ॥

क्षुधा तृषा च शीतोष्णं
दंश-मशक-वेदना ।
आक्रोशा दुःख-शय्या च
तृण-स्पर्शा 'जल्ल' मेव च ॥

३१—"भूख, प्यास, सर्दी, गर्मी, डाँस और मच्छरों का कष्ट, आक्रोश-वचन, कष्टप्रद उपाश्रय, घास का बिछौना, मैल,

३२—तालणा तज्जणा चेव
वहबन्धपरीसहा ।
दुक्खं भिक्खायरिया
जायणा य अलाभया ॥

ताडना तर्जना चैव
वध-बन्धौ परीषहौ ।
दुःखं भिक्षा-चर्या
याचना चालाभता ॥

३२—ताड़ना, तर्जना, बध, बन्धन का कष्ट, भिक्षा-चर्या, याचना और अलाभ— इन्हे सहन करना बहुत ही कठिन कार्य है ।

३३—कावोया जा इमा वित्ती
केसलोओ य दारुणो ।
दुक्खं बम्भवयं घोर
धारेउं अ महप्पणो ॥

कापोती येयं वृत्तिः
केश-लोचश्च दारुणः ।
दुःखं ब्रह्मव्रतं घोरं
धारयितुं च महात्मनः ॥

३३—"यह जो कापोती-वृत्ति (कबूतर के समान दोष-भीरु वृत्ति), दारुण केश-लोच और घोर-ब्रह्मचर्य को धारण करना है, वह महान् आत्माओं के लिए भी दुष्कर है ।

३४—सुहोइओ तुमं पुत्ता !
सुकुमालो सुमज्जिओ ।
न हु सी पभू तुमं पुत्ता !
सामण्णमणुपालिउं[3] ॥

सुखोचितस्त्वं पुत्र !
सुकुमारश्च सुमज्जितः ।
न खलु असि प्रभुस्त्वं पुत्र !
श्रामण्यमनुपालयितुम् ॥

३४—"पुत्र ! तू सुख भोगने योग्य है, सुकुमार है, साफ-सुथरा रहने वाला है । पुत्र ! तू श्रामण्य का पालन करने के लिए समर्थ नहीं है ।

---

१. ० विवज्जणा (आ, इ, बृ०) ।
२. सदुक्करं (उ) ।
३. ० पालिया (अ, आ, इ, उ, बृ०) ।

३५—जावज्जीवमविस्सामो गुणाणं तु महाभरो । गुरुओ लोहभारो व्व जो पुत्ता ! होइ दुव्वहो ॥	यावज्जीवमविश्रामः गुणानां तु महाभरः । गुरुको लोहभार इव यः पुत्र ! भवति दुर्वहः ॥	३५—"पुत्र ! श्रामण्य में जीवन पर्यन्त विश्राम नहीं है । यह गुणों का महान् भार है । भारी भरकम लोह-भार की भाँति इसे उठाना बहुत ही कठिन है ।
३६—आगासे गंगसोउ व्व पडिसोओ व्व दुत्तरो । बाहाहिं सागरो चेव तरियव्वो गुणोयही ॥	आकाशे गङ्गा-स्रोत इव प्रतिस्रोत इव दुस्तरः । बाहुभ्यां सागरश्चैव तरितव्यो गुणोदधिः ॥	३६—"आकाश-गंगा के स्रोत, प्रति-स्रोत और भुजाओं से सागर को तैरना जैसे कठिन कार्य है वैसे ही गुणोदधि-संयम को तैरना कठिन कार्य है ।
३७—वालुयाकवले[1] चेव निरस्साए उ[2] संजमे । असिधारागमणं चेव दुक्करं चरिउं तवो ॥	बालुका-कवलश्चैव निरास्वादस्तु संयमः । असि-धारा-गमनं चेव दुष्करं चरितुं तपः ॥	३७—"संयम बालू के कोर की तरह स्वाद-रहित है । तप का आचरण करना तलवार की धार पर चलने जैसा है ।
३८—अहीवेगन्तदिट्ठीए चरित्ते पुत्त ! दुच्चरे । जवा लोहमया चेव चावेयव्वा सुदुक्करं ॥	अहिरिवैकान्तदृष्ट्या चारित्रं पुत्र ! दुश्चरम् । यवा लोहमयाश्चैव चर्वयितव्या सुदुष्करम् ॥	३८—"पुत्र ! साँप जैसे एकाग्र-दृष्टि से चलता है, वैसे एकाग्र-दृष्टि से चारित्र का पालन करना बहुत ही कठिन कार्य है । लोहे के जवों को चबाना जैसे कठिन है वैसे ही चारित्र का पालन कठिन है ।
३९—जहा अग्गिसिहा दित्ता पाउं होइ सुदुक्करं[3] । तह दुक्करं करेउं जे तारुण्णे समणत्तणं ॥	यथाग्निशिखा दीप्ता पातुं भवति सुदुष्करम् । तथा दुष्करं कर्त्तुं 'जे' तारुण्ये श्रमणत्वम् ॥	३९—"जैसे प्रज्वलित अग्नि-शिखा को पीना बहुत ही कठिन कार्य है वैसे ही यौवन में श्रमण-धर्म का पालन करना कठिन कार्य है ।
४०—जहा दुक्खं भरेउं जे होइ वायस्स कोत्थलो । तहा दुक्खं करेउं जे कीवेणं समणत्तणं ॥	यथा दुःखं भर्त्तुं 'जे' भवति वायोः 'कोत्थलो' तथा दुष्करं कर्त्तुं 'जे' क्लीबेन श्रमणत्वम् ॥	४०—"जैसे वस्त्र के थैले को हवा से भरना कठिन कार्य है वैसे ही सत्वहीन व्यक्ति के लिए श्रमण-धर्म का पालन करना कठिन कार्य है ।

१. °कवला (अ) ।
२. व (उ) ।
३. सुदुक्करा (बृ० पा०) ।

४१—जहा तुलाए तोलेउं
दुक्करं मन्दरो गिरी ।
तहा निहुयं नीसंकं
दुक्करं समणत्तणं ॥

यथा तुलया तोलयितुं
दुष्करं मन्दरो गिरिः ।
तथा निभृतं निःशङ्कं
दुष्करं श्रमणत्वम् ॥

४१—"जैसे मेरु-पर्वत को तराजू से तोलना बहुत ही कठिन कार्य है वैसे ही निश्चल और निर्भय भाव से श्रमण-धर्म का पालन करना बहुत ही कठिन कार्य है ।

४२—जहा भुयाहिं तरिउं
दुक्करं रयणागरो ।
तहा अणुवसन्तेणं
दुक्करं[1] दमसागरो ॥

यथा भुजाभ्यां तरितुं
दुष्करं रत्नाकरः ।
तथाऽनुपशान्तेन
दुष्करं दम-सागरः ॥

४२—"जैसे समुद्र को भुजाओं से तैरना बहुत ही कठिन कार्य है, वैसे ही उपशमहीन व्यक्ति के लिए दमरूपी समुद्र को तैरना बहुत ही कठिन कार्य है ।

४३—भुंज माणुस्सए भोगे
पंचलक्खणए तुमं ।
भुत्तभोगी तओ जाया !
पच्छा धम्मं चरिस्ससि ॥

भुङ्क्ष्व मानुष्यकान् भोगान्
पंच-लक्षणकान् त्वम् ।
भुक्त-भोगी ततो जात !
पश्चाद् धर्म चरेः ॥

४३—"पुत्र ! तू मनुष्य सम्बन्धी पाँच इन्द्रियों के भोगों का भोग कर । फिर भुक्त-भोगी हो कर मुनि-धर्म का आचरण करना ।"

४४—'तं बित ऽम्मापियरो'[2]
एवमेयं जहा फुडं ।
इह लोए निप्पिवासस्स
नत्थि किंचि वि दुक्करं ॥

तद् ब्रूतो अम्बापितरौ
एवमेतद् यथास्फुटम् ।
इह लोके निष्पिपासस्य
नास्ति किंचिदपि दुष्करम् ॥

४४—मृगापुत्र ने कहा—"माता-पिता ! जो आपने कहा वह सही है किन्तु जिस व्यक्ति की ऐहिक सुखों की प्यास बुझ चुकी है उसके लिए कुछ भी दुष्कर नहीं है ।

४५—सारीरमाणसा चेव
वेयणाओ अणन्तसो ।
मए सोढाओ भीमाओ
असइं दुक्खभयाणि य ॥

शारीरमानस्यश्चैव
वेदनास्तु अनन्तशः ।
मया सोढा भीमाः
असकृद् दुःख-भयानि च ॥

४५—"मैंने भयंकर शारीरिक और मानसिक वेदनाओं को अनन्त बार सहा है और अनेक बार दुःख एवं भय का अनुभव किया है ।

४६—जरामरणकन्तारे
चाउरन्ते भयागरे ।
मए सोढाणि भीमाणि
जम्माणि मरणाणि य ॥

जरा-मरण-कान्तारे
चतुरन्ते भयाकरे ।
मया सोढानि भीमानि
जन्मानि मरणानि च ॥

४६—"मैंने चार अन्त वाले और भय के आकर जन्म-मरणरूपी जंगल में भयंकर जन्म-मरणों को सहा है ।

---

१. दुत्तरं (आ)।
२. सो बे अम्मापियरो (उ, बृ० पा०, ऋ०); तो बेंतऽम्मापियरो (बृ० पा०)।

४७—जहा इहं अगणी उण्हो
'एत्तोऽणन्तगुणे तहिं'[1] ।
नरएसु वेयणा उण्हा
अस्साया वेइया मए ॥

यथेहाग्निरुष्णः
इतोऽनन्तगुणस्तत्र ।
नरकेषु वेदना उष्णा
असाता वेदिता मया ॥

४७—"जैसे यहाँ अग्नि उष्ण है, इससे अनन्त गुना अधिक दुःखमय उष्ण-वेदना वहाँ नरक में मैंने सही है ।

४८—जहा 'इमं इहं'[2] सीयं
'एत्तोऽणन्तगुणं तहिं'[3] ।
नरएसु वेयणा सीया
अस्साया वेइया मए ॥

यथेदमिह शीतम्
इतोऽनन्तगुणं तत्र ।
नरकेषु वेदना शीता
असातावेदिता मया ॥

४८—"जैसे यहाँ यह शीत है, इससे अनन्त गुना अधिक दुःखमय शीत-वेदना वहाँ नरक में मैंने सही है ।

४९—कन्दन्तो कंदुकुम्भीसु
उड्ढपाओ अहोसिरो ।
हुयासणे जलन्तम्मि
पक्कपुव्वो अणन्तसो ॥

क्रन्दन् कन्दु-कुम्भीषु
ऊर्ध्व-पादोऽधः-शिराः ।
हुताशने ज्वलति
पक्व-पूर्वोऽनन्तशः ॥

४९—"पकाने के पात्र में, जलती हुई अग्नि में पैरों को ऊँचा और सिर को नीचा कर आक्रन्द करता हुआ मैं अनन्त बार पकाया गया हूँ ।

५०—महादवग्गिसंकासे
मरुम्मि वइरवालुए ।
कलम्बवालुयाए य
दड्ढपुव्वो अणन्तसो ॥

महादवाग्नि-संकाशे
मरौ वज्र-बालुकायाम् ।
कदम्ब-बालुकायां च
दग्ध-पूर्वोऽनन्तशः ॥

५०—"महा दवाग्नि और मरु-देश और वज्रबालुका जैसी कदम्ब नदी के बालू में मैं अनन्त बार जलाया गया हूँ ।

५१—रसन्तो कंदुकुम्भीसु
उड्ढं बद्धो अबन्धवो ।
करवत्तकरकयाईहिं
छिन्नपुव्वो अणन्तसो ॥

रसन् कन्दु-कुम्भीषु
ऊर्ध्वं बद्धोऽबान्धवः ।
करपत्र-क्रकचैः
छिन्न-पूर्वोऽनन्तशः ॥

५१—"मैं पाक-पात्र में त्राण रहित हो कर आक्रन्द करता हुआ ऊँचा बांधा गया तथा करवत और आरा आदि के द्वारा अनन्त बार छेदा गया हूँ ।

५२—अइतिक्खकण्टगाइण्णे
तुंगे सिम्बलिपायवे ।
खेवियं[4] पासबद्धेणं
कड्ढोकड्ढाहिं दुक्करं ॥

अतितीक्ष्ण-कण्टकाकीर्णे
तुंगे शाल्मलि-पादपे ।
क्षेपितं पाश-बद्धेन
कर्षापकर्षैर्दुष्करम् ॥

५२—"अत्यन्त तीखे काँटों वाले ऊँचे शाल्मलि वृक्ष पर पाश से बांध, इधर-उधर खींच कर असह्य वेदना से मैं खिन्न किया गया हूँ ।

---

१. इत्तोऽणंतगुणा तहिं (बृ० पा०) ।
२. इहं इमं (अ, बृ०) ।
३. एत्तोऽणन्तगुणा तहिं (बृ० पा०) ।
४. खेवियं (बृ०) ।

५३—महाजन्तेसु उच्छू वा
आरसन्तो सुभेरवं ।
पीलिओ मि सकम्मेहिं
पावकम्मो अणन्तसो ॥

महायन्त्रेष्विक्षुरिव
आरसन् सुभैरवम् ।
पीडितोऽस्मि स्वकर्मभिः
पाप-कर्माऽनन्तशः ॥

५३—"पापकर्मा मैं अति भयंकर आक्रन्द करता हुआ अपने ही कर्मों द्वारा महायंत्रों में ऊख की भाँति अनन्त बार पेरा गया हूँ ।

५४—कूवन्तो कोलसुणएहिं
सामेहिं सबलेहि य ।
पाडिओ फालिओ छिन्नो
विप्फुरन्तो[1] अणेगसो ॥

कूजन् कोल-शुनकैः
श्यामैः शबलैश्च ।
पातितः स्फाटितः छिन्नः
विस्फुरन्ननेकशः ॥

५४—"मैं इधर-उधर जाता और आक्रन्द करता हुआ काले और चितकबरे सूअर एवं कुत्तों के द्वारा अनेक बार गिराया, फाड़ा और काटा गया हूँ ।

५५—असीहि[2] अयसिवण्णाहिं
भल्लीहिं पट्टिसेहि य ।
छिन्नो भिन्नो विभिन्नो य
ओइण्णो[3] पावकम्मुणा ॥

असिभिरतसी-वर्णाभिः
भल्लीभिः पट्टिशैश्च ।
छिन्नो भिन्नो विभिन्नश्च
उपपन्नः पाप-कर्मणा ॥

५५—"पाप-कर्मों के द्वारा नरक में अवतरित हुआ मैं अलसी के फूलों के समान नीले रंग वाली तलवारों, भल्लियों और लोह-दण्डों के द्वारा छेदा, भेदा और छोटे-छोटे टुकड़ो मे विभक्त किया गया हूँ ।

५६—अवसो लोहरहे जुत्तो
जलन्ते[4] समिलाजुए ।
चोइओ तोत्तजुत्तेहिं
रोज्झो वा जह पाडिओ ॥

अवशो लोह-रथे युक्तः
ज्वलति समिला-युते ।
चोदितस्तोत्र-योक्त्रैः
'रोज्झो' वा यथा पातितः ॥

५६—"युग-कीलक (जूए के छेदों में डाली जाने वाली लकड़ी की कीलों) से युक्त जलते हुए लोह-रथ में परवश बनाया गया मैं जोता गया, चाबुक और रस्सी के द्वारा हांका गया तथा रोझ की भाँति भूमि पर गिराया गया हूँ ।

५७—हुयासणे जलन्तम्मि
चियासु महिसो विव ।
दड्ढो पक्को य अवसो
पावकम्मेहि पाविओ ॥

हुताशने ज्वलति
चितासु महिष इव ।
दग्धः पक्वश्चावशः
पाप-कर्मभिः प्रावृतः ॥

५७—"पाप-कर्मों से घिरा और परवश हुआ मैं भैंसे की भाँति अग्नि की जलती हुई चिताओं मे जलाया और पकाया गया हूँ ।

५८—बला संडासतुण्डेहिं
लोहतुण्डेहि पक्खिहिं ।
विलुत्तो विलवन्तो हं
ढंकगिद्धेहिऽणन्तसो ॥

बलात् संदंश-तुण्डैः
लोह-तुण्डैः पक्षिभिः ।
विलुप्तो विलपन्नहम्
ढंक-गृध्रै रनन्तशः ॥

५८—"संडासी जैसी चोंच वाले और लोहे जैसी कठोर चोंच वाले ढंक और गीध पंखियों के द्वारा विलाप करता हुआ मैं बल-प्रयोग पूर्वक अनन्त बार नोचा गया हूँ ।

१. विप्फरंतो (अ, बृ०) ।
२. असीहि (बृ०) ; असीहि (बृ० पा०) ।
३. उववण्णो (बृ०) ।
४. जलंत (बृ० पा०) ।

५९—तण्हाकिलन्तो धावन्तो
पत्तो वेयरणिं नदिं ।
जलं 'पाहिं ति'[1] चिन्तन्तो
खुरधाराहिं विवाइओ[2] ॥

तृष्णा-क्लान्तो धावन्
प्राप्तो वैतरणीं नदीम् ।
जलं पास्यामीति चिन्तयन्
क्षुर-धाराभिर्विपादितः ॥

५६—"प्यास से पीड़ित होकर मैं दौड़ता हुआ वैतरणी नदी पर पहुँचा । जल पीऊँगा—यह सोच रहा था, इतने में छूरे की धार से मैं चीरा गया ।

६०—उण्हाभितत्तो संपत्तो
असिपत्तं महावणं ।
असिपत्तेहिं पडन्तेहिं
छिन्नपुव्वो अणेगसो[3] ॥

उष्णाभितप्तः संप्राप्तः
असि-पत्रं महावनम् ।
असि-पत्रैः पतद्भिः
छिन्न-पूर्वोऽनेकशः ॥

६०—"गर्मी से संतप्त होकर असि-पत्र महावन में गया । वहाँ गिरते हुए तलवार के समान तीखे पत्तों से अनेक बार छेदा गया हूँ ।

६१—मुग्गरेहिं मुसंढीहिं
सूलेहिं मुसलेहि य ।
गयासं भग्गगत्तेहिं
पत्तं दुक्खं अणन्तसो ॥

मुद्गरैः 'मुसुंढीहिं'
शूलैर्मुसलैश्च ।
गताशं भग्न-गात्रैः
प्राप्तं दुःखमनन्तशः ॥

६१—"मुद्गरों, मुण्डियों, शूलों और मुसलों से त्राण-हीन दशा में मेरा शरीर चूर-चूर किया गया—इस प्रकार मैं अनन्त बार दुःख को प्राप्त हुआ हूँ ।

६२—खुरेहिं तिक्खधारेहिं[4]
छुरियाहिं[5] कप्पणीहि य ।
कप्पिओ फालिओ छिन्नो
उक्कत्तो[6] य अणेगसो[7] ॥

क्षुरैः तीक्ष्ण-धारैः
क्षुरिकाभिः कल्पनीभिश्च ।
कल्पितः पाटितश्छिन्नः
उत्क्रान्तश्चानेकशः ॥

६२—"तेज धार वाले छूरों, छुरियों और कैंचियों से मैं अनेक बार खण्ड-खण्ड किया गया, दो टूक किया गया और छेदा गया हूँ तथा मेरी चमड़ी उतारी गई है ।

६३—पासेहिं कूडजालेहिं
मिओ वा अवसो अहं ।
वाहिओ[8] बद्धरुद्धो अ
'बहु सो'[9] चेव विवाइओ ॥

पाशैः कूट-जालैः
मृग इव अवशोऽहम् ।
वाहितो बद्ध-रुद्धो वा
बहुशश्चैव विपादितः ॥

६३—"पाशों और कूटजालों द्वारा मृग की भाँति परवश बना हुआ मैं अनेक बार ठगा गया, बाँधा गया, रोका गया और मारा गया हूँ ।

---

१. पाइं ति (बृ०) ।
२. विपाडिओ (बृ०) ; विवाइओ (बृ० पा०) ।
३,८. अणंतसो (उ, ऋ०) ।
४. तिक्ख दारेहिं (उ) ।
५. छुरीहिं (ऋ०) ।
६. उक्खित्तो (बृ० पा०, सु) ।
७. गहिओ (बृ० पा०) ।
९. विवसो (उ, ऋ०) ।

६४—गलेहिं मगरजालेहिं
मच्छो वा अवसो अहं।
उल्लिओ[1] फालिओ गहिओ
मारिओ य अणन्तसो ॥

गलैर्मकर-जालैः
मत्स्य इव अवशोऽहम्।
उल्लिखितः पाटितो गृहीतः
मारितश्चाऽनन्तशः ॥

६४—"मछली को फँसाने की कांटियों और मगरों को पकड़ने के जालों के द्वारा मत्स्य की तरह परवश बना हुआ मैं अनन्त बार खींचा, फाड़ा, पकड़ा और मारा गया हूँ।

६५—वीदंसएहि[2] जालेहिं
लेप्पाहिं सउणो विव।
गहिओ लग्गो[3] बद्धो य
मारिओ य अणन्तसो ॥

विदंशकैर्जालैः
लेपैः शकुन इव।
गृहीतो लग्नो बद्धश्च
मारितश्चाऽनन्तशः ॥

६५—"बाज पक्षियों, जालों और वज्र-लेपों के द्वारा पक्षी की भाँति मैं अनन्त बार पकड़ा, चिपकाया, बाँधा और मारा गया हूँ।

६६—कुहाडफरसुमाईहिं
वड्ढईहिं दुमो विव।
कुट्टिओ फालिओ छिन्नो
तच्छिओ य अणन्तसो ॥

कुठार-परश्वादिभिः
वर्धकिभिर्द्रुम इव।
कुट्टितः पाटितश्छिन्नः
तक्षितश्चाऽनन्तशः ॥

६६—"बढ़ई के द्वारा वृक्ष की भाँति कुल्हाड़ी और फरसा आदि के द्वारा मैं अनन्त बार कूटा, दो टूक किया, छेदा और छीला गया हूँ।

६७—चवेडमुट्ठिमाईहिं
कुमारेहिं अयं पिव।
ताडिओ कुट्टिओ भिन्नो
चुण्णिओ य अणन्तसो ॥

चपेटा-मुष्ट्यादिभिः
कुमारै रय इव।
ताडितः कुट्टितो भिन्नः
चूर्णितश्चाऽनन्तशः ॥

६७—"लोहार के द्वारा लोह की भाँति चपत और मुट्ठी आदि के द्वारा मैं अनन्त बार पीटा, कूटा, भेदा और चूरा किया गया हूँ।

६८—तत्ताइं तम्बलोहाइं
तउयाइं सीसयाणि य।
पाइओ कलकलन्ताइं
आरसन्तो सुभेरवं ॥

तप्तानि ताम्र-लोहानि
त्रपुकानि सीसकानि च।
पायितः कलकलायमानानि
आरसन् सुभैरवम् ॥

६८—"भयंकर आक्रन्द करते हुए मुझे गर्म और कलकल शब्द करता हुआ तांबा, लोहा, रांगा और सीसा पिलाया गया।

---

१. अल्लिओ (उ, ऋ०)।
२. वीसंदएहि (ऋ०) ; वीसं देहिए (व)।
३. भग्गो (अ)।

६९—तुहं पियाइं मंसाइं
खण्डाइं सोल्लगाणि य।
खाविओ मि[1] समंसाइं
अग्गिवण्णाइं णेगसो ॥

तव प्रियाणि मांसानि
खण्डानि शूल्यकानि च।
खादितोऽस्मि स्व-मांसानि
अग्निवर्णान्यनेकशः ॥

६९—"तुझे खण्ड किया हुआ और शूल में खोंस कर पकाया हुआ मांस प्रिय था—यह याद दिलाकर मेरे शरीर का मांस काट अग्नि जैसा लाल कर मुझे खिलाया गया।

७०—तुहं पिया सुरा सीहू
मेरओ य महूणि य।
पाइओ[2] मि जलन्तीओ
वसाओ रुहिराणि य ॥

तव प्रिया सुरा सीधुः
मेरकश्च मधूनि च।
पायितोऽस्मि ज्वलन्तीः
वसा रुधिराणि च ॥

७०—"तुझे सुरा, सीधु, मैरेय और मधु—ये मदिराएं प्रिय थीं—यह याद दिलाकर मुझे जलती हुई चर्बी और रुधिर पिलाया गया।

७१—निच्चं[3] भीएण तत्थेण
दुहिएण वहिएण य।
परमा दुहसंबद्धा
वेयणा वेइया मए ॥

नित्यं भीतेन त्रस्तेन
दुःखितेन व्यथितेन च।
परमा दुःख-संबद्धा
वेदना वेदिता मया ॥

७१—"सदा भयभीत, संत्रस्त, दुःखित और व्यथित रूप में रहते हुए मैंने परम दुःखमय वेदना का अनुभव किया है।

७२—तिव्वचण्डप्पगाढाओ
घोराओ अइदुस्सहा।
महब्भयाओ[4] भीमाओ
नरएसु वेइया मए ॥

तीव्र-चण्ड-प्रगाढाः
घोरा अतिदुस्सहाः।
महाभया भीमाः
नरकेषु वेदिता मया ॥

७२—"तीव्र, चण्ड, प्रगाढ़, घोर, अत्यन्त दुःसह, भीम और अत्यन्त भयंकर वेदनाओं का मैंने नरक-लोक में अनुभव किया है।

७३—जारिसा माणुसे लोए
ताया! दीसन्ति वेयणा।
एत्तो[5] अणन्तगुणिया
नरएसु दुक्खवेयणा ॥

यादृश्यो मानुषे लोके
तात! दृश्यन्ते वेदनाः।
इतोऽनन्तगुणिताः
नरकेषु दुःख-वेदनाः ॥

७३—"माता-पिता! मनुष्य-लोक में जैसी वेदना है उससे अनन्तगुना अधिक दुःख देने वाली वेदना नरक-लोक में है।

---

१. वि (ऋ०)।
२. पज्जितो (बृ०)।
३. निच्च (अ, ऋ०)।
४. महाब्भया (बृ० पा०)।
५. तत्तो (अ); इत्तो (उ, ऋ०)।

७४—सव्वभवेसु अस्साया
वेयणा वेइया मए।
निमेसन्तरमित्तं पि
जं साया नत्थि वेयणा॥

सर्व-भवेष्वसाता
वेदना वेदिता मया।
निमेषान्तर-मात्रमपि
यत् साता नास्ति वेदना॥

७४—"मैंने सभी जन्मों में दुःखमय वेदना का अनुभव किया है। वहाँ एक निमेष का अन्तर पड़े उतनी भी सुखमय वेदना नहीं है।"

७५—तं बिंतऽम्मापियरो
छन्देणं पुत्त! पव्वया।
नवरं पुण सामण्णे
दुक्खं निप्पडिकम्मया॥

तं ब्रूतोऽम्बापितरौ
छन्दसा पुत्र! प्रव्रज।
'नवरं' पुनः श्रामण्ये
दुःखं निष्प्रतिकर्मता॥

७५—माता-पिता ने उससे कहा—"पुत्र! तुम्हारी इच्छा है तो प्रव्रजित हो जाओ। परन्तु श्रमण बनने के बाद रोगों की चिकित्सा नहीं की जाती, यह कितना कठिन मार्ग है। (यह जानते हो?)"

७६—सो बिंत ऽम्मापियरो!
एवमेयं जहाफुडं।
पडिकम्मं को कुणई
अरण्णे मियपक्खिणं?॥

स ब्रूतेऽम्बापितरौ!
एवमेतद् यथास्फुटम्।
प्रतिकर्म कः करोति
अरण्ये मृग-पक्षिणाम्?॥

७६—उसने कहा—"माता-पिता! आपने जो कहा वह ठीक है। किन्तु जंगल में रहने वाले हरिण और पक्षियों की चिकित्सा कौन करता है?

७७—एगभूओ अरण्णे वा
जहा उ चरई मिगो।
एवं धम्मं चरिस्सामि
संजमेण तवेण य॥

एकभूतोऽरण्ये वा
यथा तु चरति मृगः।
एवं धर्मं चरिष्यामि
संयमेन तपसा च॥

७७—"जैसे जंगल में हरिण अकेला विचरता है, वैसे मैं भी संयम और तप के साथ एकाकी भाव को प्राप्त कर धर्म का आचरण करूँगा।

७८—जया मिगस्स आयंको
महारण्णम्मि जायई।
अच्छन्तं रुक्खमूलम्मि
को णं ताहे तिगिच्छई[1]?॥

यथा मृगस्यातङ्कः
महारण्ये जायते।
तिष्ठन्तं वृक्ष-मूले
क एनं तदा चिकित्सति?॥

७८—"जब महावन में हरिण के शरीर में आतंक उत्पन्न होता है तब किसी वृक्ष के पास बैठे हुए उस हरिण की कौन चिकित्सा करता है?

७९—को वा से ओसहं देई?
को वा से पुच्छई सुहं?।
को से भत्तं च 'पाणं च'[2]
आहरित्त पणामए?॥

को वा तस्मै औषधं दत्ते?
को वा तस्य पृच्छति सुखम्?।
कस्तस्मै भक्तं च पानं च
आहृत्यार्पयेत्?॥

७९—"कौन उसे औषध देता है? कौन उससे सुख की बात पूछता है? कौन उसे खाने-पीने को भक्त-पान लाकर देता है?

१. विगिच्छई (उ); चिगिच्छई (ऋ०)।
२. पाणं वा (ऋ०)।

८०—जया य से सुही होइ
तया गच्छइ गोयरं ।
भत्तपाणस्स अट्ठाए
वल्लराणि सराणि य ॥

यदा च स सुखी भवति
तदा गच्छति गोचरम् ।
भक्त-पानस्यार्थाय
वल्लराणि सरांसि च ॥

८०—"जब वह स्वस्थ हो जाता है तब गोचर में जाता है । खाने-पीने के लिए लता-निकुंजों और जलाशयों मे जाता है ।

८१—खाइत्ता पाणियं पाउं
वल्लरेहिं सरेहि वा ।
मिगचारियं चरित्ताणं
गच्छई मिगचारियं ॥

खादित्वा पानीयं पीत्वा
वल्लरेषु सरस्सु वा ।
मृग-चारिकां चरित्वा
गच्छति मृग-चारिकाम् ॥

८१—"लता-निकुंजों और जलाशयों में खा-पीकर वह मृग-चर्या (कुदान) के द्वारा मृग-चर्या (स्वतंत्र-विहार) को चला जाता है ।

८२—एवं समुट्ठिओ भिक्खू
एवमेव अणेगओ[1] ।
मिगचारियं चरित्ताणं
उड्ढं पक्कमई दिसं ॥

एवं समुत्थितो भिक्षुः
एवमेवाऽनेकगः ।
मृग-चारिकां चरित्वा
ऊर्ध्वां प्रक्रामति दिशम् ॥

८२—"इसी प्रकार संयम के लिए उठा हुआ भिक्षु स्वतंत्र विहार करता हुआ मृग-चर्या का आचरण कर ऊँची-दिशा—मोक्ष को चला जाता है ।

८३—जहा मिगे एग अणेगचारी
अणेगवासे धुवगोयरे य ।
एवं मुणी गोयरियं पविट्ठे
नो हीलए नो वि य खिंसएज्जा ॥

यथा मृग एकोऽनेकचारी
अनेकवासो ध्रुव-गोचरश्च ।
एवं मुनिर्गोचर्यां प्रविष्टः
नो हीलयेन्नो अपि च खिंसयेत् ॥

८३—"जिस प्रकार हरिण अकेला अनेक स्थानों में भक्त-पान लेने वाला, अनेक स्थानों में रहने वाला और गोचर से ही जीवन-यापन करने वाला होता है, उसी प्रकार गोचर-प्रविष्ट मुनि जब भिक्षा के लिए जाता है तब किसी की अवज्ञा और निन्दा नहीं करता ।

८४—मिगचारियं चरिस्सामि
एवं पुत्ता ! जहासुहं ।
अम्मापिऊहिंअणुन्नाओ
जहाइ उवहिं तओ ॥

मृग-चारिकां चरिष्यामि
एवं पुत्र ! यथासुखम् ।
अम्बापितृभ्यामनुज्ञातः
जहात्युपधिं ततः ॥

८४—"मैं मृग-चर्या का आचरण करूँगा ।" "पुत्र ! जैसे तुम्हें सुख हो वैसे करो ।" इस प्रकार माता-पिता की अनुमति पाकर वह उपधि को छोड़ रहा है ।

८५—मियचारियं चरिस्सामि
सव्वदुक्खविमोक्खणिं ।
तुब्भेहिं अम्म ! ऽणुन्नाओ
गच्छ पुत्त ! जहासुहं ॥

मृग-चारिकां चरिष्यामि
सर्व-दुःख-विमोक्षणीम् ।
युवाभ्यामम्ब ! अनुज्ञातः
गच्छ पुत्र ! यथासुखम् ॥

८५—"मैं तुम्हारी अनुमति पाकर सब दुःखों से मुक्ति दिलाने वाली मृग-चर्या का आचरण करूँगा ।" (माता-पिता ने कहा)—"पुत्र ! जैसे तुम्हें सुख हो वैसे करो ।"

१. अणेगासो (अ, ऋ०) ; अणिएयणे (बृ० पा०) ।

८६—एवं सो अम्मापियरो
अणुमाणित्ताण बहुविहं।
ममत्तं छिन्दई ताहे
महानागो व्व कंचुयं॥

एवं सोऽम्बापितरौ
अनुमान्य बहुविधम्।
ममत्वं छिनत्ति तदा
महानाग इव कंचुकम्॥

८६—"इस प्रकार वह नाना उपायों से माता-पिता को अनुमति के लिए राजी कर ममत्व का छेदन कर रहा है जैसे महानाग कांचुली का छेदन करता है।

८७—इड्ढि[1] वित्तं च मित्ते य
पुत्तदारं च नायओ।
रेणुयं व पडे लग्गं
निद्धुणित्ताण निग्गओ॥

ऋद्धिं वित्तं च मित्राणि च
पुत्र-दारांश्च ज्ञातीन्।
रेणुकमिव पटे लग्नं
निर्धूय निर्गतः॥

८७—"ऋद्धि, धन, मित्र, पुत्र, कलत्र और ज्ञातिजनों को कपड़े पर लगी हुई धूलि की भाँति झटकाकर वह निकल गया—प्रव्रजित हो गया।

८८—पंचमहव्वयजुत्तो
पंचसमिओ तिगुत्तिगुत्तो य।
सब्भिन्तरबाहिरओ
तवोकम्मंसि उज्जुओ॥

पञ्चमहाव्रत-युक्तः
पञ्चभिः समितस्त्रिगुप्ति-गुप्तश्च।
साभ्यन्तरबाह्ये
तपः-कर्मणि उद्युक्तः॥

८८—"वह पाँच महाव्रतों से युक्त, पाँच समितियों से समित, तीन गुप्तियों से गुप्त, आन्तरिक और बाहरी तपस्या में तत्पर—

८९—निम्ममो निरहंकारो
निस्संगो चत्तगारवो।
समो य सव्वभूएसु
तसेसु थावरेसु य॥

निर्ममो निरहंकारः
निस्सङ्गस्त्यक्त-गौरवः।
समश्च सर्व-भूतेषु
त्रसेषु स्थावरेषु च॥

८९—"ममत्व-रहित, अहंकार-रहित, निर्लेप, गौरव को त्यागने वाला, त्रस और स्थावर सभी जीवों में समभाव रखने वाला—

९०—लाभालाभे सुहे दुक्खे
जीविए मरणे तहा।
समो निन्दापसंसासु
तहा माणावमाणओ॥

लाभालाभे सुखे दुःखे
जीविते मरणे तथा।
समो निन्दा-प्रशंसयोः
तथा मानापमानयोः॥

९०—"लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, जीवन-मरण, निन्दा-प्रशंसा, मान-अपमान में सम रहने वाला—

९१—गारवेसु कसाएसु
दण्डसल्लभएसु य।
नियत्तो हाससोगाओ
अनियाणो अबन्धणो॥

गौरवेभ्यः कषायेभ्यः
दण्ड-शल्य-भयेभ्यश्च।
निवृत्तो हास्य-शोकात्
अनिदानोऽबन्धनः॥

९१—"गौरव, कषाय, दण्ड, शल्य, भय, हास्य और शोक से निवृत्त, निदान और बन्धन से रहित—

---

१. इड्ढी (उ, ऋ०)।

९२—अणिस्सिओ इहं लोए
परलोए अणिस्सिओ ।
वासीचन्दणकप्पो य
असणे अणसणे तहा ॥

अनिश्रित इह लोके
परलोकेऽनिश्रितः ।
वासी-चन्दन-कल्पश्च
अशनेऽनशने तथा ॥

९२—"इहलोक और परलोक में अनासक्त, बसूले से काटने और चन्दन लगाने पर तथा आहार मिलने या न मिलने पर सम रहने वाला—

९३—अप्पसत्थेहिं दारेहिं
सव्वओ पिहियासवे ।
अज्झप्पज्झाणजोगेहिं
पसत्थदमसासणे ॥

अप्रशस्तेभ्यो द्वारेभ्यः
सर्वतः पिहितास्रवः ।
अध्यात्म-ध्यान-योगैः
प्रशस्त-दम-शासनः ॥

९३—"अप्रशस्त द्वारों से आने वाले कर्म-पुद्गलों का सर्वतोनिरोध करने वाला, शुभ-ध्यान की प्रवृत्ति से प्रशस्त एवं उपशम-प्रधान शासन में रहने वाला हुआ ।

९४—एवं नाणेण चरणेण
दंसणेण तवेण य ।
भावणाहि य सुद्धाहिं[1]
सम्मं भावेत्तु अप्पयं ॥

एवं ज्ञानेन चरणेन
दर्शनेन तपसा च ।
भावनाभिश्च शुद्धाभिः
सम्यग् भावयित्वाऽऽत्मानम् ॥

९४—"इस प्रकार ज्ञान, चारित्र, तप और विशुद्ध भावनाओं के द्वारा आत्मा को भली-भाँति भावित कर—

९५—बहुयाणि उ[2] वासाणि
सामण्णमणुपालिया ।
मासिएण उ[3] भत्तेण
सिद्धिं पत्तो अणुत्तरं ॥

बहुकानि तु वर्षाणि
श्रामण्यमनुपाल्य ।
मासिकेन तु भक्तेन
सिद्धिं प्राप्तोऽनुत्तराम् ॥

९५—"बहुत वर्षों तक श्रमण-धर्म का पालन कर, अन्त में एक महीने का अनशन कर वह अनुत्तर सिद्धि—मोक्ष को प्राप्त हुआ ।

९६—एवं करन्ति संबुद्धा[4]
पण्डिया पवियक्खणा ।
विणियट्टन्ति भोगेसु
मियापुत्ते जहारिसी[5] ॥

एवं कुर्वन्ति संबुद्धाः
पण्डिताः प्रविचक्षणाः ।
विनिवर्तन्ते भोगेभ्यः
मृगा-पुत्रो यथा ऋषिः ॥

९६—"संबुद्ध, पण्डित और प्रविचक्षण जो होते हैं वे ऐसा करते हैं । वे भोगों से उसी प्रकार निवृत्त होते हैं, जिस प्रकार मृगा-पुत्र ऋषि हुए थे ।

---

१. विसुद्धाहि (बृ०, स) ।
२. ओ (उ); अ (बृ०) ।
३. य (अ) ।
४. संपन्ना (उ, बृ०) ।
५. जहामिसी (बृ०, स) ।

९७—महापभावस्स महाजसस्स
मियाइ पुत्तस्स निसम्म भासियं ।
तवप्पहाणं चरियं[1] च उत्तमं
गइप्पहाणं च तिलोगविस्सुयं ॥

महाप्रभावस्य महायशसः
मृगायाः पुत्रस्य निशम्य भाषितम् ।
तपः-प्रधानं चरितं चोत्तमं
प्रधान-गतिं च त्रिलोक-विश्रुताम् ॥

६७—"महा प्रभावशाली, महान् यशस्वी मृगा-पुत्र का कथन, तप-प्रधान उत्तम-आचरण और त्रिलोक-विश्रुत प्रधान-गति (मोक्ष) को सुनकर—

९८—वियाणिया दुक्खविवद्धणं धणं
ममत्तबंधं च महब्भयावहं ।
सुहावहं धम्मधुरं अणुत्तरं
धारेह निव्वाणगुणावहं[2] महं ॥
—ति बेमि ॥

विज्ञाय दुःख-विवर्धनं धनं
ममत्व-बन्धं च महाभयावहम् ।
सुखावहां धर्म-धुरामनुत्तरां
धारय निर्वाण-गुणावहां महतीम् ॥
—इति ब्रवीमि ।

६८—धन को दुःख बढ़ानेवाला और ममता के बन्धन को महान् भयंकर जानकर सुख देने वाली, अनुत्तर निर्वाण के गुणों को प्राप्त कराने वाली, महान् धर्म की धुरा को धारण करो।"
—ऐसा मैं कहता हूँ।

---

१. चरित्तं (अ)।
२. नेव्वाणु° (अ)।

विसइमं अज्झयणं :
महानियण्ठिज्जं

विंशति अध्ययन :
महानिर्ग्रन्थीय

आमुख

मगध देश का सम्राट् श्रेणिक एक बार विहार-यात्रा के लिए मंडिकुक्षि नामक उद्यान में आया। घूम-फिर कर उसने उद्यान की शोभा निहारी। देखते-देखते उसकी आँखें एक ध्यानस्थ मुनि पर जा टिकीं। राजा पास में गया। वन्दना की। मुनि के रूप-लावण्य को देख वह अत्यन्त विस्मित हुआ। उसने पूछा—'मुने! भोग-काल में संन्यास-ग्रहण की बात समझ में नहीं आती। आप तरुण हैं, भोग भोगने योग्य हैं। इस अवस्था में आप मुनि क्यों बने?' मुनि ने कहा—'राजन्! मैं अनाथ हूँ। मेरा कोई भी नाथ नहीं है, त्राण नहीं है। इसीलिए मैं मुनि बना हूँ।' राजा ने मुस्कराते हुए कहा—'शरीर-सम्पदा से आप ऐश्वर्यशाली लगते हैं फिर अनाथ कैसे? कुछ भी हो मैं आपका नाथ बनता हूँ। आप मेरे साथ चलें। सुखपूर्वक भोग भोगें। मुने! मनुष्य-भव बार-बार नहीं मिलता।' मुनि ने कहा—'तुम स्वयं अनाथ हो। मेरे नाथ कैसे बन सकोगे?' राजा को यह वाक्य तीर की भाँति चुभा। उसने कहा—'मुने! आप झूठ क्यों बोलते हैं। मैं अपार-सम्पत्ति का स्वामी हूँ। मेरे राज्य में मेरी हर आज्ञा अखण्ड रूप से प्रवर्तित होती है। मेरे पास हजारों हाथी, घोड़े, रथ, सुभट और नौकर-चाकर हैं। सारी सुख-सामग्री उपनीत है। मेरे आश्रय में हजारों व्यक्ति पलते हैं। ऐसी अवस्था में मैं अनाथ कैसे?' मुनि ने कहा—'तुम अनाथ का अर्थ नहीं जानते और नहीं जानते कि कौन व्यक्ति कैसे सनाथ होता है और कैसे अनाथ?'

मुनि ने आगे कहा—'मैं कौशाम्बी नगरी में रहता था। मेरे पिता अपार धन-राशि के स्वामी थे। हमारा कुल सम्पन्न था। मेरा विवाह उच्च कुल में हुआ था। एक बार मुझे असह्य अक्षि-रोग उत्पन्न हुआ। उसको मिटाने के लिए नानाविध प्रयत्न किए गए। पिता ने अपार धन-राशि का व्यय किया। सभी परिवार वालों ने नानाविध प्रयत्न किए, पर सब व्यर्थ। मेरे सगे-सम्बन्धियों ने मेरी वेदना पर अपार आँसू बहाए। पर मेरी वेदना को वे न बँटा सके। यह थी मेरी अनाथता। यदि इस पीड़ा से मैं मुक्त हो जाऊँ तो मैं मुनि बन जाऊँ—इस संकल्प को साथ ले मैं सो गया। जैसे-जैसे रात बीती वैसे-वैसे रोग शान्त होता गया। सूर्योदय होते-होते मैं स्वस्थ हो गया। मैं साधु बना—मैं अपना नाथ बन गया। अपना त्राण मैं स्वयं बन गया। त्रस और स्थावर सभी प्राणियों का नाथ बन गया। उन सबको मुझ से त्राण मिल गया। यह है मेरी सनाथता। मैंने आत्मा पर शासन किया—यह है मेरी सनाथता। मैं श्रामण्य का विधिपूर्वक पालना करता हूँ—यह है मेरी सनाथता।'

राजा ने सनाथ और अनाथ का यह अर्थ पहली बार सुना। उसके ज्ञान-चक्षु खुले। वह बोला—"महर्षे! आप ही वास्तव में सनाथ और सबान्धव हैं। मैं आपसे धर्म का अनुशासन चाहता हूँ।" (श्लोक ५५)

मुनि ने उसे निर्ग्रन्थ धर्म की दीक्षा दी। वह धर्म में अनुरक्त हो गया।

इस अध्ययन में अनेक विषय चर्चित हुए हैं—

१—आत्मकर्तृत्व के लिए ३६, ३७ एवं ४८ श्लोक मननीय हैं।

२—४४वें श्लोक में विषयोपपन्न धर्म के परिणामों का दिग्दर्शन है। जैसे पीया हुआ कालकूट विष, अविधि से पकड़ा हुआ शस्त्र और अनियन्त्रित वेताल विनाशकारी होता है, वैसे ही विषयों से युक्त धर्म भी विनाशकारी होता है।

३—द्रव्य-लिंग से लक्ष्य की प्राप्ति नहीं होती, इसके लिए ४१ से ५० श्लोक मननीय हैं।

मिलाइए—सुत्त निपात—महावग्ग—पवज्जा सुत्त।

विसइमं अज्झयणं : विंशति अध्ययन

महानियण्ठिज्जं : महानिर्ग्रन्थीयम्

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
१—सिद्धाणं नमो किच्चा संजयाणं च भावओ । अत्थधम्मगइं[1] तच्चं अणुसट्ठिं सुणेह मे ॥	सिद्धेभ्यो नमः कृत्वा संयतेभ्यश्च भावतः । अर्थ-धर्म-गतिं तथ्याम् अनुशिष्टिं शृणुत मे ॥	१—सिद्धों और संयत-आत्माओं को भाव-भरा नमस्कार कर मैं अर्थ (साध्य) और धर्म का ज्ञान कराने वाली तथ्य-पूर्ण अनुशासना का निरूपण करता हूँ । वह मुझसे सुनो ।
२—पभूयरयणो राया सेणिओ मगहाहिवो । विहारजत्तं निज्जाओ मण्डिकुच्छिंसि चेइए ॥	प्रभूत-रत्नो राजा श्रेणिको मगधाधिपः । विहार-यात्रां निर्यातः मण्डिकुक्षौ चैत्ये ॥	२—प्रचुर रत्नों से सम्पन्न, मगध का अधिपति राजा श्रेणिक मण्डिकुक्षि नामक उद्यान में विहार-यात्रा (क्रीड़ा-यात्रा) के लिए गया ।
३—नाणादुमलयाइण्णं नाणापक्खिनिसेवियं । नाणाकुसुमसंछन्नं उज्जाणं नन्दणोवमं ॥	नाना-द्रुम-लताकीर्णं नाना-पक्षि-निषेवितम् । नाना-कुसुम-संछन्नम् उद्यानं नन्दनोपमम् ॥	३—वह उद्यान नाना प्रकार के द्रुमों और लताओं से आकीर्ण, नाना प्रकार के पक्षियों से आश्रित, नाना प्रकार के कुसुमों से पूर्णतः ढका हुआ और नन्दनवन के समान था ।
४—तत्थ सो पासई साहुं संजयं सुसमाहियं । निसन्नं रुक्खमूलम्मि सुकुमालं सुहोइयं ॥	तत्र स पश्यति साधुं संयतं सुसमाहितम् । निषण्णं वृक्ष-मूले सुकुमारं सुखोचितम् ॥	४—वहाँ राजा ने संयत, मानसिक समाधि से सम्पन्न, वृक्ष के पास बैठे हुए सुकुमार और सुख भोगने योग्य साधु को देखा ।
५—तस्स रूवं तु पासित्ता राइणो तम्मि संजए । अच्चन्तपरमो आसी अउलो रूवविम्हओ ॥	तस्य रूपं तु दृष्ट्वा राज्ञः तस्मिन् संयते । अत्यन्त-परम आसीत् अतुलो रूप-विस्मयः ॥	५—उसके रूप को देखकर राजा उस संयत के प्रति आकृष्ट हुआ और उसे अत्यन्त उत्कृष्ट और अतुलनीय विस्मय हुआ ।

१. ० गतं (अ) ; ० गइं (बृ० पा०) ।

६—अहो! वण्णो अहो! रूवं
अहो! अज्जस्स सोमया।
अहो! खन्ती अहो! मुत्ती
अहो! भोगे असंगया॥

अहो! वर्णो अहो! रूपम्
अहो! आर्यस्य सोमता।
अहो! क्षान्तिरहो! मुक्तिः
अहो! भोगेऽसङ्गता॥

६—आश्चर्य! कैसा वर्ण और कैसा रूप है। आश्चर्य! आर्य की कैसी सौम्यता है। आश्चर्य! कैसी क्षमा और निर्लोभता है। आश्चर्य! भोगों में कैसी अनासक्ति है।

७—तस्स पाए उ वन्दित्ता
काऊण य पयाहिणं।
नाइदूरमणासन्ने[1]
पंजली पडिपुच्छई॥

तस्य पादौ तु वन्दित्वा,
कृत्वा च प्रदक्षिणाम्।
नातिदूरमनासन्नः
प्राञ्जलिः प्रतिपृच्छति॥

७—उसके चरणों में नमस्कार और प्रदक्षिणा कर न अतिदूर न अतिनिकट रह राजा ने हाथ जोड़कर पूछा।

८—तरुणो सि अज्जो! पव्वइओ
भोगकालम्मि संजया!।
उवट्ठिओ[2] सि सामण्णे
एयमट्ठं सुणेमि ता॥

तरुणोऽस्यार्य! प्रव्रजितः
भोग-काले संयत!।
उपस्थितोऽसि श्रामण्ये
एतमर्थं शृणोमि तावत्॥

८—"आर्य! अभी तुम तरुण हो। संयत! तुम भोग-काल में प्रव्रजित हुए हो, श्रामण्य के लिए उपस्थित हुए हो, इसका क्या प्रयोजन है? मैं सुनना चाहता हूँ।"

९—अणाहो मि महाराय!
नाहो मज्झ न विज्जई।
अणुकम्पगं सुहिं वावि
'कंचि नाभिसमेमऽहं'[3]॥

अनाथोऽस्मि महाराज!
नाथो मम न विद्यते।
अनुकम्पकं सुहृदं वापि
कंचिन्नाभिसमेम्यहम्॥

९—"महाराज! मैं अनाथ हूँ, मेरा कोई नाथ नहीं है। मुझ पर अनुकम्पा करने वाला या मित्र कोई नहीं पा रहा हूँ।"

१०—तओ सो पहसिओ राया
सेणिओ मगहाहिवो।
एवं ते इड्ढिमन्तस्स
कहं नाहो न विज्जई?॥

ततः स प्रहसितो राजा
श्रेणिको मगधाधिपः।
एवं ते ऋद्धिमतः
कथं नाथो न विद्यते?॥

१०—यह सुनकर मगधाधिपति राजा श्रेणिक जोर से हँसा और उसने कहा—"तुम ऐसे सहज सौभाग्यशाली हो फिर कोई तुम्हारा नाथ कैसे नहीं होगा?

१. निसण्णो नाइदूरंमि (आ)।

२. उवहितो (बृ० पा०)।

३. कंचीनाहि तुमे महं (बृ०, सु०); कंची नाभिसमेमऽहं (बृ० पा०)।

११—होमि नाहो भयन्ताणं !
भोगे भुंजाहि संजया ! ।
मित्तनाईपरिवुडो
माणुस्सं खु सुदुल्लहं ॥

भवामि नाथो भदन्तानां !
भोगान् भुङ्क्ष्व संयत ! ।
मित्र-ज्ञाति-परिवृतः
मानुष्यं खलु दुर्लभम् ॥

११—"हे भदन्त ! मैं तुम्हारा नाथ होता हूँ। संयत ! मित्र और ज्ञातियों से परिवृत होकर विषयों का भोग करो। यह मनुष्य-जन्म बहुत दुर्लभ है।"

१२—अप्पणा वि अणाहो सि
सेणिया ! मगहाहिवा ! ।
अप्पणा अणाहो सन्तो
कहं[1] नाहो भविस्ससि ? ॥

आत्मनाप्यनाथोऽसि
श्रेणिक ! मगधाधिप ! ।
आत्मनाऽनाथः सन्
कथं नाथो भविष्यसि ? ॥

१२—"हे मगध के अधिपति श्रेणिक ! तुम स्वयं अनाथ हो। स्वयं अनाथ होते हुए भी तुम दूसरों के नाथ कैसे होओगे ?"

१३—एवं वुत्तो नरिन्दो सो
सुसंभन्तो सुविम्हिओ ।
वयणं अस्सुयपुव्वं
साहुणा विम्हयन्निओ[2] ॥

एवमुक्तो नरेन्द्रः सः
सुसम्भ्रान्त सुविस्मितः ।
वचनमश्रुतपूर्वं
साधुना विस्मयान्वितः ॥

१३—श्रेणिक पहले ही विस्मयान्वित बना हुआ था और साधु के द्वारा—तू अनाथ है—ऐसा अश्रुतपूर्व-वचन कहे जाने पर वह अत्यन्त व्याकुल और अत्यन्त आश्चर्यमग्न हो गया।

१४—अस्सा हत्थी मणुस्सा मे
पुरं अन्तेउरं च मे ।
भुंजामि माणुसे भोगे[3]
आणाइस्सरियं च मे ॥

अश्वा हस्तिनो मनुष्या मे
पुरमन्तःपुरं च मे ।
भुनज्मि मानुषान् भोगान्
आज्ञैश्वर्यं च मे ॥

१४—"मेरे पास हाथी और घोड़े हैं, नगर और अन्तःपुर हैं, मैं मनुष्य सम्बन्धी भोगों को भोग रहा हूँ, आज्ञा और ऐश्वर्य मेरे पास हैं।

१५—एरिसे सम्पयग्गम्मि[4]
सव्वकामसमप्पिए ।
कहं अणाहो भवइ ?
'मा हु भन्ते ! मुसं वए'[5] ॥

ईदृशे सम्पदग्रे
समर्पित-सर्वकामे ।
कथमनाथो भवामि ?
मा खलु भदन्त ! मृषावादीः ॥

१५—"जिसने मुझे सब काम-भोग समर्पित किए हैं वैसी उत्कृष्ट सम्पदा होते हुए मैं अनाथ कैसे हूँ ? भदंत ! असत्य मत बोलो।"

१६—न तुमं जाणे अणाहस्स
अत्थं 'पोत्थं व'[6] पत्थिवा ! ।
जहा अणाहो भवई
सणाहो वा नराहिवा ? ॥

न त्वं जानीषेऽनाथस्य
अर्थं प्रोत्थां वा पार्थिव ! ।
यथाऽनाथो भवति
सनाथो नराधिप ? ॥

१६—"हे पार्थिव ! तू अनाथ शब्द का अर्थ और उसकी उत्पत्ति—मैंने तुझे अनाथ क्यों कहा—इसे नहीं जानता, इसलिए जैसे अनाथ या सनाथ होता है, वैसे नहीं जानता।

---

१. कस्स (आ)।
२. विम्हियमन्निओ (अ, उ, ऋ०)।
३ कोए (अ)।
४. संपयायम्मि (बृ० पा०)।
५. मंते ! माहु मुसं वए (बृ० पा०)।
६. उत्थं व (बृ०); पोत्थं च (अ); पोत्थं व (बृ० पा०)।

१७—सुणेह मे महाराय !
अव्वक्खित्तेण[1] चेयसा ।
जहा अणाहो भवई
जहा मे य पवत्तियं ॥

शृणु मे महाराज !
अव्याक्षिप्तेन चेतसा ।
यथाऽनाथो भवति
यथा मया च प्रवर्त्तितम् ॥

१७—"महाराज ! तू *अव्याकुल* चित्त से सुन—जैसे कोई पुरुष अनाथ होता है और जिस रूप में मैंने उसका प्रयोग किया है ।

१८—कोसम्बी नाम नयरी
पुराणपुरभेयणी[2] ।
तत्थ आसी पिया मज्झ
पभूयधणसंचओ ॥

कौशाम्बी नाम नगरी
पुराणपुर-भेदिनी ।
तत्रासीत् पिता मम
प्रभूत-धन-संचयः ॥

१८—"प्राचीन नगरों में असाधारण सुन्दर कौशाम्बी नाम की नगरी है । वहाँ मेरे पिता रहते हैं । उनके पास प्रचुर धन का संचय है ।

१९—पढमे वए महाराय !
अउला मे अच्छिवेयणा ।
अहोत्था विउलो[3] दाहो
'सव्वंगेसु य'[4] पत्थिवा ! ॥

प्रथमे वयसि महाराज: !
अतुला मेऽक्षि-वेदना ।
अभूद विपुलो दाहः
सर्वाङ्गेषु च पार्थिव ! ॥

१९—"महाराज ! प्रथम-वय (यौवन) में मेरी आँखों में असाधारण वेदना उत्पन्न हुई । पार्थिव ! मेरा समूचा शरीर पीड़ा देने वाली जलन से जल उठा ।

२०—सत्थं जहा परमतिक्खं
सरीरविवरन्तरे[5] ।
पवेसेज्ज[6] अरी कुद्धो
एवं मे अच्छिवेयणा ॥

शस्त्रं यथा परम-तीक्ष्णं
शरीर-विवरान्तरे ।
प्रवेशयेदरिः क्रुद्धः
एवं मेऽक्षि-वेदना ॥

२०—"जैसे कुपित बना हुआ शत्रु शरीर के छेदों में अत्यन्त तीखे शस्त्रों को घुसेड़ता है, उसी प्रकार मेरी आँखों में वेदना हो रही थी ।

२१—तियं मे अन्तरिच्छं च
उत्तमंगं च पीडई ।
इन्दासणिसमा घोरा
वेयणा परमदारुणा ॥

त्रिकं मे अन्तरेच्छं च
उत्तमांगं च पीडयति ।
इन्द्राशनि-समा घोरा
वेदना परम-दारुणा ॥

२१—"मेरे कटि, हृदय और मस्तक में परम दारुण वेदना हो रही थी, जैसे इन्द्र का वज्र लगने से घोर वेदना होती है ।

---

१. अविक्खित्तेण (ऋ०) ।
२. नगराण पुरुभेयणं (बृ० पा०) ।
३. तिउलो (बृ०); विउलो (बृ० पा०) ।
४. सव्वगत्तेसु (बृ०); सव्वंगेसु य (बृ० पा०) ।
५. सरीर बीय अंतरे (बृ० पा०) ।
६. आविलिज्ज (ब, बृ० पा०, बृ०) ।

२२—उवट्ठिया मे आयरिया
विज्जामन्ततिगिच्छगा[1] ।
'अबीया सत्थकुसला'[2]
मन्तमूलविसारया ॥

उपस्थिता मे आचार्याः
विद्या-मन्त्र-चिकित्सकाः ।
अद्वितीयाः शास्त्र-कुशलाः
मंत्र-मूल-विशारदाः ॥

२२—"विद्या और मन्त्र के द्वारा चिकित्सा करने वाले मन्त्र और औषधियों के विशारद अद्वितीय शास्त्र-कुशल प्राणाचार्य मेरी चिकित्सा करने के लिए उपस्थित हुए।

२३—ते मे तिगिच्छं कुव्वन्ति
चाउप्पायं जहाहियं ।
न य दुक्खा विमोयन्ति
एसा मज्झ अणाहया ॥

ते मे चिकित्सां कुर्वन्ति
चतुष्पादां यथा हितम् ।
न च दुःखाद् विमोचयन्ति
एषा ममाऽनाथता ॥

२३—"उन्होंने जैसे मेरा हित हो वैसे चतुष्पाद-चिकित्सा (वैद्य, रोगी, औषध और परिचारक) की, किन्तु वे मुझे दुःख से मुक्त नहीं कर सके—यह मेरी अनाथता है।

२४—पिया मे सव्वसारं पि
दिज्जाहि मम कारणा ।
न य दुक्खा[3] विमोएइ[4]
एसा मज्झ अणाहया ॥

पिता मे सर्वसारमपि
दद्यान्मम कारणात् ।
न च दुःखाद् विमोचयति
एषा ममाऽनाथता ॥

२४—"मेरे पिता ने मेरे लिए उन प्राणाचार्यों को बहुमूल्य वस्तुएँ दीं, किन्तु वे (पिता) मुझे दुःख से मुक्त नहीं कर सके—यह मेरी अनाथता है।

२५—माया य[5] मे महाराय !
पुत्तसोगदुहट्टिया[6] ।
न य दुक्खा[7] विमोएइ
एसा मज्झ अणाहया ॥

माता च मे महाराज !
पुत्र-शोक-दुःखार्ता ।
न च दुःखाद् विमोचयति
एषा ममाऽनाथता ॥

२५—"महाराज ! मेरी माता पुत्र-शोक के दुःख से पीड़ित होती हुई भी मुझे दुःख से मुक्त नहीं कर सकी—यह मेरी अनाथता है।

२६—भायरो[8] मे महाराय !
सगा जेट्ठकणिट्ठगा ।
न य दुक्खा[9] विमोयन्ति
एसा मज्झ अणाहया ॥

भ्रातरो मे महाराज !
स्वका ज्येष्ठ-कनिष्ठकाः ।
न च दुःखाद् विमोचयन्ति
एषा ममाऽनाथता ॥

२६—"महाराज ! मेरे बड़े-छोटे सगे भाई भी मुझे दुःख से मुक्त नहीं कर सके—यह मेरी अनाथता है।

---

१. ० विगिच्छगा (वृ०)।
२. नाना सत्थत्थ कुसला (बृ० पा०); अबीया……(अ)।
३. दुक्खाओ (बृ०); दुक्खाउ (उ)।
४. विमोयंति (बृ०)। एवं सर्वत्र।
५. वि (उ)।
६. ० दुहढ्डिया (बृ० पा०)।
७. दुक्खाओ (बृ०); दुक्खाउ (उ)।
८. भाया (उ)।
९. दुक्खाओ (बृ०); दुक्खाउ (उ)।

२७—भइणीओ मे महाराय !
सगा जेट्ठकणिट्ठगा ।
न य दुक्खा[1] विमोयन्ति
एसा मज्झ अणाहया ॥

भगिन्यो मे महाराज !
स्वका ज्येष्ठ-कनिष्ठकाः ।
न च दुःखाद् विमोचयन्ति
एषा ममाऽनाथता ॥

२७—"महाराज ! मेरी बड़ी-छोटी सगी बहनें भी मुझे दुःख से मुक्त नहीं कर सकीं—यह मेरी अनाथता है ।

२८—भारिया मे महाराय !
'अणुरत्ता अणुव्वया'[2] ।
अंसुपुण्णेहिं नयणेहिं
उरं मे परिसिंचई ॥

भार्या मे महाराज !
अनुरक्ताऽनुव्रता ।
अश्रु-पूर्णाभ्यां नयनाभ्याम्
उरो मे परिषिञ्चति ॥

२८—"महाराज ! मुझमें अनुरक्त और पतिव्रता मेरी पत्नी आँसू भरे नयनों से मेरी छाती को भिगाती रही ।

२९—अन्नं पाणं च ण्हाणं च
गन्धमल्लविलेवणं ।
'मए नायमणायं वा'[3]
सा बाला नोवभुंजई ॥

अन्नं पानं च स्नानं च
गन्ध-माल्य-विलेपनम् ।
मया ज्ञातमज्ञातं वा
सा बाला नोपभुङ्क्ते ॥

२९—"वह बाला मेरे प्रत्यक्ष या परोक्ष में अन्न, पान, स्नान, गन्ध, माल्य और विलेपन का भोग नहीं कर रही थी ।

३०—खणं पि मे महाराय !
पासाओ वि[4] न फिट्टई ।
न य दुक्खा विमोएइ
एसा मज्झ अणाहया ॥

क्षणमपि मे महाराज !
पार्श्वतोपि न भ्रश्यति ।
न च दुःखाद् विमोचयति
एषा ममाऽनाथता ॥

३०—"महाराज ! वह क्षण भर के लिए भी मुझसे दूर नहीं हो रही थी, किन्तु वह मुझे दुःख से मुक्त नहीं कर सकी—यह मेरी अनाथता है ।

३१—तओ हं एवमाहंसु
दुक्खमा हु पुणो पुणो ।
वेयणा अणुभविउं जे
संसारम्मि अणन्तए ॥

ततोऽहमेवमवोचम्
दुःक्षमा खलु पुनः पुनः ।
वेदनाऽनुभवितं 'जे'
संसारेऽनन्तके ॥

३१—"तब मैंने इस प्रकार कहा—इस अनन्त संसार में बार-बार दुस्सह्य वेदना का अनुभव करना होता है ।

३२—सइं[5] च जइ मुच्चेज्जा
वेयणा विउला इओ ।
खन्तो दन्तो निरारम्भो
पव्वए[6] अणगारियं ॥

सकृच्च यदि मुच्ये
वेदनया विपुलया इतः ।
क्षान्तो दान्तो निरारम्भः
प्रव्रजेयमनगारिताम् ॥

३२—"इस विपुल वेदना से यदि मैं एक बार ही मुक्त हो जाऊँ तो क्षान्त, दान्त और निरारम्भ होकर अनगारवृत्ति को स्वीकार कर लूँ ।

---

१. दुक्खाओ (ऋ०); दुक्खाउ (उ) ।
२. अणुरत्तमणुव्वया (उ, ऋ०); अणुत्तरमणुव्वया (बृ० पा०) ।
३. तारिसं रोगमावण्णं (बृ० पा०) ।
४. य (अ, आ, उ) ।
५. सयं (उ, बृ०); सइयं (अ) ।
६. पव्वइए (अ) ।

३३—एवं च चिन्तइत्ताणं
पसुत्तो मि नराहिवा !।
परियट्टन्तीए राईए
वेयणा मे खयं गया॥

एवं च चिन्तयित्वा
प्रसुप्तोऽस्मि नराधिप !।
परिवर्तमानायां रात्रौ
वेदना मे क्षयं गता॥

३३—"हे नराधिप ! ऐसा चिन्तन कर मैं सो गया। बीतती हुई रात्रि के साथ-साथ मेरी वेदना भी क्षीण हो गई।

३४—तओ कल्ले पभायम्मि
आपुच्छित्ताण बन्धवे।
खन्तो दन्तो निरारम्भो
पव्वइओऽणगारियं॥

ततः कल्यः प्रभाते
आपृच्छ्य बान्धवान्।
क्षान्तो दान्तो निरारम्भः
प्रव्रजितोऽनगारिताम्॥

३४—"उसके पश्चात् प्रभातकाल में मैं स्वस्थ हो गया। मैं अपने बन्धु-जनों को पूछ, क्षान्त, दान्त और निरारम्भ होकर अनगार-वृत्ति में आ गया।

३५—ततो हं नाहो जाओ
अप्पणो य परस्स य।
सव्वेसिं चेव भूयाणं
तसाण थावराण य॥

ततोऽहं नाथो जातः
आत्मनश्च परस्य च।
सर्वेषां चैव भूतानां
त्रसानां स्थावराणां च॥

३५—"तब मैं अपना और दूसरों का सभी—त्रस और स्थावर जीवों का नाथ हो गया।

३६—अप्पा नई वेयरणी
अप्पा मे कूडसामली।
अप्पा कामदुहा धेणू
अप्पा मे नन्दणं वणं॥

आत्मा नदी वैतरणी
आत्मा मे कूट-शाल्मली।
आत्मा काम-दुधा धेनुः
आत्मा मे नन्दनं वनम्॥

३६—"मेरी आत्मा ही वैतरणी नदी है और आत्मा ही कूट शाल्मली वृक्ष है, आत्मा ही काम-दुधा-धेनु है और आत्मा ही नन्दन-वन है।

३७—अप्पा कत्ता विकत्ता य
दुहाण य सुहाण य।
अप्पा मित्तममित्तं च
दुप्पट्ठियसुपट्ठिओ॥

आत्मा कर्त्ता विकर्त्ता च
दुःखानां च सुखानां च।
आत्मा मित्रममित्रं च
दुष्प्रस्थितः सुप्रस्थितः॥

३७—"आत्मा ही दुःख-सुख की करने वाली और उनका क्षय करने वाली है। सत्प्रवृत्ति में लगी हुई आत्मा ही मित्र है और दुष्प्रवृत्ति में लगी हुई आत्मा ही शत्रु है।

३८—इमा हु अन्ना वि अणाहया निवा !
तमेगचित्तो निहुओ सुणेहि।
नियण्ठधम्मं लहियाण वी जहा
सीयन्ति एगे बहुकायरा नरा॥

इयं खलु अन्याप्यनाथता नृप !
तामेकचित्तो निभृतः शृणु।
निर्ग्रन्थ-धर्मं लब्ध्वाऽपि यथा
सीदन्त्येके बहुकातरा नराः॥

३८—"हे राजन् ! यह एक दूसरी अनाथता ही है। एकाग्र-चित्त, स्थिर-शान्त होकर तुम उसे मुझसे सुनो ! जैसे कई एक व्यक्ति बहुत कायर होते हैं। वे निर्ग्रन्थ-धर्म को पाकर भी कष्टानुभव करते हैं—निर्ग्रन्थाचार का पालन करने में शिथिल हो जाते हैं।

३९—जो पव्वइत्ताण महव्वयाइं
सम्मं नो फासयई[1] पमाया।
अनिग्गहप्पा य रसेसु गिद्धे
न मूलओ छिन्दइ बन्धणं से॥

यः प्रव्रज्य महाव्रतानि
सम्यक् च नो स्पृशति प्रमादात्।
अनिग्रहात्मा च रसेषु गृद्धः
न मूलतः छिनत्ति बन्धनं सः॥

३९—"जो महाव्रतों को स्वीकार कर भलीभाँति उनका पालन नहीं करता, अपनी आत्मा का निग्रह नहीं करता, रसों में मूर्च्छित होता है, वह बन्धन का मूलोच्छेद नहीं कर पाता।

४०—आउत्तया जस्स न अत्थि काइ
इरियाए भासाए तहेसणाए।
आयाणनिक्खेवदुगुंछणाए
न वीरजायं[2] अणुजाइ मग्गं॥

आयुक्तता यस्य नास्ति कापि
ईर्यायां भाषायां तथैषणायाम्।
आदान-निक्षेप-जुगुप्सनायां
न वीरयातमनुयाति मार्गम्॥

४०—"ईर्या, भाषा, एषणा, आदान-निक्षेप और उच्चार-प्रस्रवण की परिस्थापना में जो सावधानी नहीं बर्तता, वह उस मार्ग का अनुगमन नहीं कर सकता जिस पर वीर-पुरुष चले हैं।

४१—चिरं पि से मुण्डरुई भवित्ता
अथिरव्वए तवनियमेहि भट्ठे।
चिरं पि अप्पाण किलेसइत्ता
न पारए होइ हु संपराए॥

चिरमपि स मुण्ड-रुचिर्भूत्वा
अस्थिर-व्रतस्तपो-नियमेभ्यो भ्रष्टः।
चिरमप्यात्मानं क्लेशयित्वा
न पारगो भवति खलु संपरायस्य॥

४१—"जो व्रतों में स्थिर नहीं है, तप और नियमों से भ्रष्ट है, वह चिरकाल से मुण्डन में रुचि रखकर भी और चिरकाल तक आत्मा को कष्ट देकर भी संसार का पार नहीं पा सकता।

४२—'पोल्ले व'[3] मुट्ठी जह से असारे
अयन्तिए कूडकहावणे वा।
राढामणी वेरुलियप्पगासे
अमहग्घए होइ य जाणएसु॥

'पोल्ला' एव मुष्टिर्यथा सोऽसारः,
अयन्त्रितः कूट-कार्षापणो वा।
राढा-मणिर्वैडूर्य-प्रकाशः
अमहार्घको भवति च ज्ञेषु॥

४२—"जो पोली मुट्ठी की भाँति असार है, खोटे सिक्के की भाँति नियन्त्रण-रहित है, काचमणि होते हुए भी वैडूर्य जैसे चमकता है, वह जानकार व्यक्तियों की दृष्टि में मूल्य-हीन हो जाता है।

४३—कुसीललिंगं इह धारइत्ता
इसिज्झयं जीविय वूहइत्ता।
असंजए संजयलप्पमाणे[4]
विणिघायमागच्छइ से चिरं पि॥

कुशील-लिंगमिह धारयित्वा
ऋषि-ध्वजं जीविकां बृंहयित्वा।
असंयतः संयतं लपन्
विनिघातमागच्छति स चिरमपि॥

४३—"जो कुशील-वेश और ऋषि-ध्वज (रजोहरण आदि मुनि-चिह्नों) को धारण कर उनके द्वारा जीविका चलाता है, असंयत होते हुए भी अपने आपको संयत कहता है, वह चिरकाल तक विनाश को प्राप्त होता है।

---

१. फासइ (उ, ऋ०)।
२. धीरजायं (उ०)।
३. पोल्लार (बृ० पा०)।
४. ⁰लाभमाणे (बृ० पा०)।

४४—'विसं तु पीयं'[1] जह कालकूडं
हणाइ सत्थं जह कुग्गहीयं ।
'एसे व'[2] धम्मो विसओववन्नो
हणाइ वेयाल इवाविवन्नो[3] ॥

विषं तु पीतं यथा कालकूटं
हन्ति शस्त्रं यथा कुगृहीतम् ।
एष एवं धर्मो विषयोपपन्नः
हन्ति वेताल इवाविपन्नः ॥

४४—"पिया हुआ काल-कूट विष, अविधि से पकड़ा हुआ शस्त्र और नियन्त्रण में नहीं लाया हुआ वेताल जैसे विनाशकारी होता है, वैसे ही यह विषयों से युक्त धर्म भी विनाशकारी होता है ।

४५—जे लक्खणं सुविण पउंजमाणे
निमित्तकोऊहलसंपगाढे ।
कुहेडविज्जासवदारजीवी
न गच्छई सरणं तम्मि काले ॥

यो लक्षणं स्वप्नं प्रयुञ्जानः
निमित्त-कुतूहल-संप्रगाढः ।
कुहेट-विद्याश्रवद्वार-जीवी
न गच्छति शरणं तस्मिन् काले ॥

४५—"जो लक्षण-शास्त्र, स्वप्न-शास्त्र का प्रयोग करता है, निमित्त शास्त्र और कौतुक कार्य में अत्यन्त आसक्त है, मिथ्या आश्चर्य उत्पन्न करने वाले विद्यात्मक आश्रव द्वार से जीविका चलाता है, वह कर्म का फल भुगतने के समय किसी की शरण को प्राप्त नहीं होता ।

४६—तमंतमेणेव उ से असीले
सया दुही विप्परियासुवेइ[4] ।
संधावई नरगतिरिक्खजोणिं
मोणं विराहेत्तु असाहुरूवे ॥

तमस्तमसैव तु स अशीलः
सदा दुःखी विपर्यासमुपैति ।
संधावति नरक-तिर्यग्योनीः
मौनं विराध्याऽसाधु-रूपः ॥

४६—"वह शील-रहित साधु अपने तीव्र अज्ञान से सतत दुःखी होकर विपरीत दृष्टि-वाला हो जाता है । वह असाधु प्रकृति वाला मुनि धर्म की विराधना कर नरक और तिर्यग्-योनि में आता-जाता रहता है ।

४७—उद्देसियं कीयगडं नियागं
न मुंचई किंचि अणेसणिज्जं ।
अग्गी विवा सव्वभक्खी भवित्ता
इओ चुओ गच्छइ कट्टु पावं ॥

औद्देशिकं क्रीत-कृतं नित्याग्रं
न मुञ्चति किञ्चिदनेषणीयम् ।
अग्निरिव सर्वभक्षी भूत्वा
इतश्च्युतो (दुर्गतिं) गच्छति कृत्वा पापम् ॥

४७—"जो औद्देशिक, क्रीतकृत, नित्याग्र और कुछ भी अनेषणीय को नहीं छोड़ता, वह अग्नि की तरह सर्व-भक्षी होकर, पाप-कर्म का अर्जन करता है और यहाँ से मरकर दुर्गति में जाता है ।

४८—न तं अरी कण्ठछेत्ता करेइ
जं से करे अप्पणिया दुरप्पा[5] ।
से नाहिई मच्चुमुहं तु पत्ते
पच्छाणुतावेण दयाविहूणो ॥

न तमरिः कण्ठच्छेत्ता करोति
यं तस्य करोत्यात्मीया दुरात्मता ।
स ज्ञास्यति मृत्यु-मुखं तु प्राप्तः
पश्चादनुतापेन दया-विहीनः ॥

४८—"अपनी दुष्प्रवृत्ति जो अनर्थ उत्पन्न करती है वह अनर्थ गला काटने वाला शत्रु भी नहीं करता । वह दुष्प्रवृत्ति करने वाला दया-विहीन मनुष्य मृत्यु के मुख में पहुँचने के समय पश्चात्ताप के साथ इस तथ्य को जान पाएगा ।

---

१. विसं पिबित्ता (अ, आ); विसं पिबन्ती (बृ०) ।
२. एसो वि (अ); एसो व (उ) ।
३. इवाविबंधणो (बृ० पा०) ।
४. °समेइ (अ) ।
५. दुरप्पया (बृ०) ।

४९—निरट्ठिया नग्गरुई उ तस्स
जे उत्तमट्ठं विवज्जासमेई।
इमे वि से नत्थि परे वि लोए
दुहओ वि से झिज्जइ तत्थ लोए॥

निरर्थिका नाग्न्य-रुचिस्तु तस्य
य उत्तमार्थे विपर्यासमेति।
अयमपि तस्य नास्ति परोऽपिलोकः
द्विधातोऽपि स क्षीयते तत्र लोके॥

४९—"जो अन्तिम समय की आराधना में भी विपरीत बुद्धि रखता है—दुष्प्रवृत्ति को सत् प्रवृत्ति मानता है उसकी संयम-रुचि भी निरर्थक है। उसके लिए यह लोक भी नहीं है, परलोक भी नहीं है। वह दोनों लोकों से भ्रष्ट होकर दोनों लोकों के प्रयोजन की पूर्ति न कर सकने के कारण चिन्ता से छीज जाता है।

५०—एमेवऽहाछन्दकुसीलरूवे
मग्गं विराहेत्तु जिणुत्तमाणं।
कुररी विवा भोगरसाणुगिद्धा
निरट्ठसोया परियावमेइ॥

एवमेव यथाच्छन्दकुशीलरूपः
मार्गं विराध्य जिनोत्तमानाम्।
कुररी इव भोग-रसानुगृद्धा
निरर्थ-शोका परितापमेति॥

५०—"इसी प्रकार यथाछन्द (स्वच्छन्द भाव से विहार करने वाले) और कुशील साधु जिनोत्तम भगवान् के मार्ग की विराधना कर परिताप को प्राप्त होते है, जैसे—भोग-रस में आसक्त होकर अर्थ-हीन चिन्ता करने वाली गीध पक्षिणी।

५१—सोच्चाण मेहावि सुभासियं इमं
अणुसासणं नाणगुणोववेयं।
मग्गं कुसीलाण जहाय सव्वं
महानियण्ठाण वए पहेणं॥

श्रुत्वा मेधावी सुभाषितमिदं
अनुशासनं ज्ञान-गुणोपेतम्।
मार्गं कुशीलानां हित्वा सर्वं
महानिर्ग्रन्थानां व्रजेत् पथा॥

५१—"मेधावी पुरुष इस सुभाषित, ज्ञान-गुण से युक्त अनुशासन को सुनकर कुशील व्यक्तियों के पूर्ण मार्ग को छोड़कर महा-निर्ग्रन्थ के मार्ग से चले।

५२—चरित्तमायारगुणन्निए[1] तओ
अणुत्तरं संजम पालियाणं।
निरासवे संखवियाण कम्मं
उवेइ ठाणं विउलुत्तमं धुवं॥

चरित्राचारगुणान्वितस्ततः
अनुत्तरं संयमं पालयित्वा।
निरास्रवः संक्षपय्य कर्म
उपैति स्थानं विपुलोत्तमं ध्रुवम्॥

५२—"फिर चरित्र के आचरण और ज्ञान आदि गुणों से सम्पन्न निर्ग्रन्थ अनुत्तर संयम का पालन कर, कर्मों का क्षय कर निरास्रव होता है और वह विपुलोत्तम शाश्वत-मोक्ष में चला जाता है।"

५३—एवुग्गदन्ते वि महातवोधणे
महामुणी महापइन्ने महायसे।
महानियण्ठिज्जमिणं महासुयं
से काहए महया वित्थरेणं॥

एवमुग्रदान्तोऽपि महातपोधनः
महामुनिर्महाप्रतिज्ञो महायशाः।
महानिर्ग्रन्थीयमिदं महाश्रुतं
सोऽचीकथत् महता विस्तरेण॥

५३—इस प्रकार उग्र-दान्त, महा-तपोधन, महा-प्रतिज्ञ, महान् यशस्वी उस महामुनि ने इस महाश्रुत, महानिर्ग्रन्थीय अध्ययन को महान् विस्तार के साथ कहा।

५४—तुट्ठो य सेणिओ राया
इणमुदाहु कयंजली।
अणाहत्तं जहाभूयं
सुट्ठु मे उवदंसियं॥

तुष्टश्च श्रेणिको राजा
इदमुदाह कृताञ्जलिः।
अनाथत्वं यथाभूतं
सुष्ठु मे उपदर्शितम्॥

५४—श्रेणिक राजा तुष्ट हुआ और दोनों हाथ जोड़कर इस प्रकार बोला—"भगवन्! तुमने अनाथ का यथार्थ स्वरूप मुझे समझाया है।

---

१. °गुणस्सिए (अ)।

५५—तुज्झं सुलद्धं खु मणुस्सजम्मं
लाभा सुलद्धा य तुमे महेसी ! ।
तुब्भे सणाहा य सबन्धवा य
जं भे ठिया मग्गे जिणुत्तमाणं ॥

तव सुलब्धं खलु मनुष्य-जन्म
लाभाः सुलब्धाश्च त्वया महर्षे ! ।
यूयं सनाथाश्च सबान्धवाश्च
यद्भवन्तः स्थिता मार्गे
जिनोत्तमानाम् ॥

५५—"हे महर्षि ! तुम्हारा मनुष्य-जन्म सुलब्ध है—सफल है। तुम्हें जो उपलब्धियाँ हुई हैं वे भी सफल हैं। तुम सनाथ हो, सबान्धव हो, क्योंकि तुम जिनोत्तम (तीर्थंकर) के मार्ग में अवस्थित हो।

५६—तं सि नाहो अणाहाणं
सव्वभूयाण संजया ! ।
खामेमि ते महाभाग !
इच्छामि अणुसासिउं ॥

त्वमसि नाथोऽनाथानां
सर्वभूतानां संयत ! ।
क्षमयामि त्वां महाभाग !
इच्छाम्यनुशासयितुम् ॥

५६—"तुम अनाथों के नाथ हो, तुम सब जीवों के नाथ हो। हे महाभाग ! मैं तुमसे क्षमा चाहता हूँ और तुमसे मैं अनुशासित होना चाहता हूँ।

५७—पुच्छिऊण मए तुब्भं
झाणविग्घो उ[1] जो कओ ।
निमन्तिओ[2] य भोगेहिं
तं सव्वं मरिसेहि मे ॥

पृष्ट्वा मया तव
ध्यान-विघ्नस्तु यः कृतः ।
निमन्त्रितश्च भोगैः
तत् सर्वं मर्षय मे ॥

५७—"मैंने तुमसे प्रश्न कर जो ध्यान में विघ्न किया और भोगों के लिए निमन्त्रण दिया उन सबको तुम सहन करो—क्षमा करो।"

५८—एवं थुणित्ताण स रायसीहो
अणगारसीहं परमाइ भत्तिए ।
'सओरोहो य सपरियणो य'[3]
धम्माणुरत्तो विमलेण चेयसा ॥

एवं स्तुत्वा स राज-सिंहः
अनगार-सिंहं परमया भक्त्या ।
सावरोधश्च सपरिजनश्च
धर्मानुरक्तो विमलेन चेतसा ॥

५८—इस प्रकार राजसिंह—श्रेणिक अनगार-सिंह की परम भक्ति से स्तुति कर अपने विमल चित्त से रनिवास, परिजन और बन्धु-जन सहित धर्म में अनुरक्त हो गया।

५९—ऊससियरोमकूवो
काऊण य पयाहिणं ।
अभिवन्दिऊण सिरसा
अइयाओ[4] नराहिवो ॥

उच्छ्वसित-रोमकूपः
कृत्वा च प्रदक्षिणाम् ।
अभिवन्द्य शिरसा
अतियातो नराधिपः ॥

५९—राजा के रोम-कूप उच्छ्वसित हो रहे थे। वह मुनि की प्रदक्षिणा कर, सिर झुका, वन्दना कर चला गया।

६०—इयरो वि गुणसमिद्धो
तिगुत्तिगुत्तो तिदण्डविरओ य ।
विहग इव विप्पमुक्को
विहरइ वसुहं विगयमोहो ॥
—त्ति बेमि ॥

इतरोऽपि गुण-समृद्धः
त्रिगुप्ति-गुप्तस्त्रिदण्ड-विरतश्च ।
विहग इव विप्रमुक्तः
विहरति वसुधां विगत-मोहः ॥
—इति ब्रवीमि ।

६०—"वह गुण से समृद्ध, त्रिगुप्तियों से गुप्त, तीन दण्डों से विरत और निर्मोह मुनि भी विहग की भाँति स्वतन्त्रभाव से भूतल पर विहार करने लगे।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

---

१. ज (वृ०) ।
२. निमंतिया (अ, आ, इ, उ) ।
३. समोरोहो सपरियणो सबंधवो (अ, आ, इ) ।
४. [illegible]

एगविंसइमं अज्झयणं :
समुद्दपालीयं

एकविंश अध्ययन :
समुद्रपालीय

आमुख

इस अध्ययन का प्रतिपादन 'समुद्दपाल'—'समुद्रपाल' के माध्यम से हुआ है, इसलिए इसका नाम 'समुद्दपालीय'—'समुद्रपालीय' रखा गया है।

'चम्पा' नाम की नगरी थी। वहाँ पालित नाम का सार्थवाह रहता था। वह श्रमणोपासक था। निर्ग्रन्थ-प्रवचन में उसे श्रद्धा थी। दूर-दूर तक उसका व्यापार फैला हुआ था। एक बार वह सामुद्रिक यात्रा के लिए 'यान-पात्र' पर आरूढ़ हो घर से निकला। वह अपने साथ गणिम—सुपारी आदि तथा धरिम—स्वर्ण आदि ले चला। जाते-जाते समुद्र के तट पर 'पिहुण्ड' नगर मे रुका। अपना माल बेंचने के लिए वह वहाँ कई दिनों तक रहा। नगर-वासियों से उसका परिचय बढ़ा और एक सेठ ने उसके साथ अपनी पुत्री का विवाह कर दिया।

कुछ समय वहाँ रह कर वह स्वदेश को चला। उसकी नवोढ़ा गर्भवती हुई। समुद्र-यात्रा के बीच उसने एक सुन्दर और लक्षणोपेत पुत्र को जन्म दिया। उसका नाम 'समुद्रपाल' रखा गया। वैभव से उसका लालन-पालन हुआ। वह ७२ कलाओं में प्रवीण हुआ। जब वह युवा बना तब ६४ कलाओं में पारंगत 'रूपिणी' नामक कन्या के साथ उसका पाणिग्रहण हुआ। वह उसके साथ देव-तुल्य भोगों का उपभोग करता हुआ आनन्द से रहने लगा। एक बार वह प्रासाद के गवाक्ष में बैठा हुआ नगर की शोभा देख रहा था। उसने देखा कि राजपुरुष एक व्यक्ति को वध-भूमि की ओर लिए जा रहे हैं। वह व्यक्ति लाल-वस्त्र पहने हुए था। उसके गले में लाल कनेर की मालाएँ थीं। उसे यह समझते देर न लगी कि इसका वध किया जाएगा। यह सब देख कुमार का मन संवेग से भर गया। 'अच्छे कर्मों का फल अच्छा होता है और बुरे कर्मों का फल बुरा'—इस चिन्तन से उसका मार्ग स्पष्ट हो गया। माता-पिता की आज्ञा ले वह दीक्षित हुआ। साधना की और कर्मों को नष्ट कर सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हुआ।

आत्मानुशासन के उपायों के साथ-साथ इस अध्ययन में समुद्र-यात्रा का उल्लेख महत्त्वपूर्ण है। उस काल में भारत के व्यापारी दूर-दूर तक व्यापार के लिए जाते थे। सामुद्रिक व्यापार उन्नत अवस्था में था। व्यापारियों के निजी यान-पात्र होते थे और वे एक स्थान से दूसरे स्थान पर माल लेकर आते-जाते थे। उस समय अनेक वस्तुओं का भारत से निर्यात होता था। उनमें सुपारी, स्वर्ण आदि-आदि मुख्य थे। यह विशेष उल्लेखनीय है कि उस काल में भारत के पास प्रचुर सोना था। वह उसका दूसरे देशों को निर्यात करता था।

इस अध्ययन में 'ववहार' (श्लोक ३)—'व्यवहार' और 'वज्झमण्डणसोभाग' (श्लोक ८)—'वध्य-मंडन-शोभाक'—ये दो शब्द ध्यान देने योग्य हैं। आगम-काल में 'व्यवहार' शब्द क्रय-विक्रय का द्योतक था। आयात और निर्यात इसी के अन्तर्गत थे।[1]

'वध्य-मंडन-शोभाक'—यह शब्द उस समय के दण्ड-विधान की ओर संकेत करता है। उस समय चोरी करने वाले को कठोर दण्ड दिया जाता था। जिसे वध की सजा दी जाती, उसे कनेर के लाल फूलों की माला पहनाई जाती। उसको लाल कपड़े पहनाए जाते। शरीर पर लाल चन्दन का लेप किया जाता। सारे नगर में उसके कुकृत्यों की जानकारी दी जाती और उसे नगर के राज-मार्ग से वध-भूमि की ओर ले जाया जाता था।[2]

१—सूत्रकृतांग, १।९।१५।

२—वही, १।६ : बृहद् वृत्ति, पत्र १५०।

इस अध्ययन में तात्कालिक राज्य-व्यवस्था का उल्लेख भी हुआ है। ग्रन्थकार कहते हैं—"मुनि उचित काल में एक स्थान से दूसरे स्थान में जाए।" यह कथन साभिप्राय हुआ है। उस समय भारत अनेक इकाइयों में बंटा हुआ था। छोटे-छोटे राष्ट्र होते थे। आपसी कलह सीमा पार कर चुका था। इसीलिए मुनि को गमनागमन में पूर्ण सावधान रहने के लिए कहा है (श्लोक १४)। मौलिक दृष्टि से इस अध्ययन में 'चम्पा' (श्लोक १) और 'पिहुण्ड' (श्लोक ३) नगरों का उल्लेख हुआ है। चौबीस श्लोकों का यह छोटा-सा अध्ययन बहुत ही महत्त्वपूर्ण है।

एगविंसइमं अज्झयणं : एकविंश अध्ययन

समुद्दपालीयं : समुद्रपालीयम्

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
१—चम्पाए पालिए नाम सावए आसि वाणिए। महावीरस्स भगवओ सीसे सो उ महप्पणो॥	चम्पायां पालितो नाम श्रावक आसीद् वाणिजः। महावीरस्य भगवतः शिष्यः स तु महात्मनः॥	१—चम्पा नगरी मे पालित नामक एक वणिक्-श्रावक हुआ। वह महात्मा भगवान् महावीर का शिष्य था।
२—निग्गन्थे पावयणे सावए से विकोविए। पोएण ववहरन्ते पिहुण्डं नगरमागए॥	नैर्ग्रन्थे प्रवचने श्रावकः स विकोविदः। पोतेन व्यवहरन् पिहुण्डं नगरमागतः॥	२—वह श्रावक निर्ग्रन्थ-प्रवचन में कोविद् था। वह पोत से व्यापार करता हुआ पिहुण्ड नगर में आया।
३—पिहुण्डे ववहरन्तस्स वाणिओ देइ धूयरं। तं ससत्तं पइगिज्झ सदेसमह पत्थिओ॥	पिहुण्डे व्यवहरते वाणिजो ददाति दुहितरम्। तां ससत्वां प्रतिगृह्य स्वदेशमथ प्रस्थितः॥	३—पिहुण्ड नगर में व्यापार करते समय उसे किसी वणिक् ने पुत्री दी। कुछ समय ठहरने के पश्चात् वह गर्भवती को लेकर स्वदेश को विदा हुआ।
४—अह पालियस्स घरणी समुद्दंमि पसवई। अह 'दारए'[1] तहिं[2] जाए समुद्दपालि त्ति नामए॥	अथ पालितस्य गृहिणी समुद्रे प्रसूते। अथ दारक-स्तस्मिञ्-जातः समुद्रपाल इति नामकः॥	४—पालित की स्त्री ने समुद्र में पुत्र का प्रसव किया। वह समुद्र मे उत्पन्न हुआ, इसलिए उसका नाम समुद्रपाल रखा।
५—खेमेण आगए चम्पं सावए वाणिए घरं। संवड्ढई घरे तस्स दारए से सुहोइए॥	क्षेमेणागतश्चम्पां श्रावको वाणिजो गृहम्। संवर्धते गृहे तस्य दारकः स सुखोचितः॥	५—वह वणिक्-श्रावक सकुशल चम्पा नगरी मे अपने घर आया। वह सुखोचित पुत्र अपने घर में बढ़ने लगा।

१. बालए (उ)।
२. बालए तम्मि (बृ०)।

६—बावत्तरिं कलाओ य
सिक्खए[1] नीइकोविए ।
जोव्वणेण य संपन्ने[2]
सुरूवे पियदंसणे ॥

द्वासप्तति कलाश्च
शिक्षते नीति-कोविदः ।
यौवनेन च सम्पन्नः
सुरूपः प्रिय-दर्शनः ॥

६—उसने बहत्तर कलाएँ सीखीं और वह नीति-कोविद बना। वह पूर्ण यौवन में सुरूप और प्रिय लगने लगा।

७—तस्स रूववइं भज्जं
पिया आणेइ रूविणिं ।
पासाए कीलए रम्मे
देवो दोगुन्दओ जहा ॥

तस्य रूपवतीं भार्यां
पिताऽऽनयति रूपिणीम् ।
प्रासादे क्रीडति रम्ये
देवो दोगुन्दको यथा ॥

७—उसका पिता उसके लिए रूपिणी नामक सुन्दर स्त्री लाया। वह दोगुन्दक देव की भाँति उसके साथ सुरम्य प्रासाद में क्रीड़ा करने लगा।

८—अह अन्नया कयाई
पासायालोयणे ठिओ ।
वज्झमण्डणसोभागं
वज्झं पासइ वज्झगं ॥

अथान्यदा कदाचित्
प्रासादालोकने स्थितः ।
वध्यमण्डनशोभाकं
वध्यं पश्यति बाह्यगम् ॥

८—वह कभी एक बार प्रासाद के झरोखे में बैठा हुआ था। उसने वध्य-जनोचित मण्डनों से शोभित वध्य को नगर से बाहर ले जाते हुए देखा।

९—तं पासिऊण संविग्गो[3]
समुद्दपालो इणमब्बवी ।
अहोऽसुभाण कम्माणं
निज्जाणं पावगं इमं ॥

तं दृष्ट्वा संविग्नः
समुद्रपाल इदमब्रवीत् ।
अहो अशुभानां कर्मणां
निर्याणं पापकमिदम् ॥

९—उसे देख वैराग्य में भीगा हुआ समुद्रपाल यों बोला—"अहो! यह अशुभ कर्मों का दुःखद अवसान है।"

१०—संबुद्धो सो तहिं भगवं
'परं संवेगमागओ'[4] ।
आपुच्छऽम्मापियरो
पव्वए[5] अणगारियं ॥

संबुद्धः स तत्र भगवान्
परं संवेगमागतः ।
आपृच्छ्याऽम्बापितरौ
प्राव्राजीदनगारिताम् ॥

१०—वह भगवान् परम वैराग्य को प्राप्त हुआ और संबुद्ध बन गया। उसने माता-पिता को पूछकर साधुत्व स्वीकार किया।

---

१. सिक्खिए (उ, ऋ०, वृ०); सिक्खए (वृ० पा०)।
२. अप्फुण्णं (बृ०); सम्पन्ने (वृ० पा०)।
३. संवेगं (उ, ऋ०, बृ०)।
४. परमसंवेगमागओ (उ)।
५. पव्वइए (उ)।

११—'जहित्तु संगं च'[1] महाकिलेसं
महन्तमोहं कसिणं भयावहं[2]।
परियायधम्मं चऽभिरोयएज्जा
वयाणि सीलाणि परीसहे य॥

हित्वा सङ्गञ्च महाक्लेशं
महामोहं कृष्णं भयानकम्।
पर्याय-धर्मंचाभिरोचयेत्
व्रतानि शीलानि परीषहांश्च॥

११—मुनि महान् क्लेश और महान् मोह को उत्पन्न करने वाले कृष्ण व भयावह संग (आसक्ति) को छोड़कर पर्याय-धर्म (प्रव्रज्या), व्रत और शील तथा परीषहों में अभिरुचि ले।

१२—अहिंस सच्चं च अतेणगं च
तत्तो य 'बम्भं अपरिग्गहं च'[3]।
पडिवज्जिया पंच महव्वयाणि
चरिज्ज धम्मं जिणदेसियं विऊ॥

अहिंसां सत्यं चास्तैन्यकं च
ततश्चब्रह्मापरिग्रहं च।
प्रतिपद्य पंचमहाव्रतानि
चरेद् धर्मं जिन-देशितं विद्वान्॥

१२—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—इन पाँच महाव्रतों को स्वीकार कर विद्वान् मुनि वीतराग-उपदिष्ट धर्म का आचरण करे।

१३—सव्वेहिं भूएहिं दयाणुकम्पी[4]
खन्तिक्खमे संजयबम्भयारी।
सावज्जजोगं परिवज्जयन्तो
चरिज्ज भिक्खू सुसमाहिइन्दिए॥

सर्वेषु भूतेषु दयानुकम्पी
क्षान्ति-क्षमः संयतो ब्रह्मचारी।
सावद्य-योगं परिवर्जयन्
चरेद् भिक्षुः सुसमाहितेन्द्रियः॥

१३—सुसमाहित-इन्द्रिय वाला भिक्षु सब जीवों के प्रति दयानुकम्पी रहे। क्षान्ति-क्षम (क्षमा-भाव से कुवचनों को सहने वाला), संयत और ब्रह्मचारी हो। वह सावद्य योग का वर्जन करता हुआ विचरण करे।

१४—कालेण कालं विहरेज्ज रट्ठे[5]
बलाबलं जाणिय अप्पणो य[6]।
सीहो व सद्देण न संतसेज्जा
वयजोग सुच्चा न असब्भमाहु॥

कालेन कालं विहरेत् राष्ट्रे
बलाबलं ज्ञात्वाऽऽत्मनश्च।
सिंह इव शब्देन न संत्रस्येत्
वचोयोगं श्रुत्वानासभ्यमाह॥

१४—मुनि अपने बलाबल को तौलकर कालोचित कार्य करता हुआ राष्ट्र में विहरण करे। वह सिंह की भाँति भयावह शब्दों से संत्रस्त न हो। वह कुवचन सुन असभ्य वचन न बोले।

१५—उवेहमाणो उ परिव्वएज्जा
पियमप्पियं सव्व तितिक्खएज्जा।
न सव्व सव्वत्थऽभिरोयएज्जा
न यावि पूयं गरहं च संजए॥

उपेक्षमाणस्तु परिव्रजेत्
प्रियमप्रियं सर्वं तितिक्षेत।
न सर्वं सर्वत्राभिरोचयेन्
न चापि पूजां गर्हां च संयतः॥

१५—संयमी मुनि कुवचनों की उपेक्षा करता हुआ परिव्रजन करे। प्रिय और अप्रिय सब कुछ सहे। सर्वत्र सब (जो कुछ देखे उसी) की अभिलाषा न करे तथा पूजा और गर्हा की भी अभिलाषा न करे।

---

१. अहित्तु सग्गंथ (बृ०) ऽजहित्तुऽ सग्गंथ (चू०); जहित्तु संगं थ (उ०); अहित्तु संगं च, अहाय संगं च (बृ० पा०)।
२. भयाणगं (बृ०, चू०)।
३. अब्बंभ परिग्गहं च (बृ० पा०)।
४. दयाणुकंपो (बृ० पा०)।
५. रिट्ठे (चू०)।
६. उ (अ)।

१६—अणेगछन्दाइह[1] माणवेहिं
जे भावओ संपगरेइ[2] भिक्खू।
भयभेरवा तत्थ उइन्ति[3] भीमा
दिव्वा मणुस्सा अदुवा तिरिच्छा॥

अनेकच्छन्दः इह मानवेषु
यान् भावतः संप्रकरोति भिक्षुः।
भयभैरवास्तत्रोद्यन्ति भीमाः
दिव्या मानुष्याः अथवा तैरश्चाः॥

१६—संसार में मनुष्यों में जो अनेक अभिप्राय होते हैं वस्तु-वृत्त्या वे भिक्षु में भी होते हैं। किन्तु भिक्षु उन पर अनुशासन करे और साधुपन में देव, मनुष्य अथवा तिर्यञ्च सम्बन्धी भय पैदा करने वाले भीषण-भीषणतम उपसर्ग उत्पन्न हों, उन्हें सहन करे।

१७—परीसहा दुव्विसहा अणेगे
सीयन्ति जत्था बहुकायरा नरा।
से तत्थ पत्ते न वहिज्ज भिक्खू
संगामसीसे इव नागराया॥

परीषहा दुर्विषहा अनेके
सीदन्ति यत्र बहुकातरा नराः।
स तत्र प्राप्तो न व्यथेत् भिक्षुः
सङ्ग्राम-शीर्ष इव नागराजः॥

१७—जहाँ अनेक दुस्सह परीषह प्राप्त होते हैं, वहाँ बहुत सारे कायर लोग खिन्न हो जाते हैं। किन्तु भिक्षु उन्हें प्राप्त होकर व्यथित न बने—जैसे संग्राम-शीर्ष (मोर्चे) पर नाग-राज व्यथित नहीं होता।

१८—सीओसिणा दंसमसा य फासा
आयंका विविहा फुसन्ति देहं।
अकुक्कुओ[4] तत्थऽहियासएज्जा
रयाइं[5] खेवेज्ज पुरेकडाइं॥

शीतोष्णं दंशमशकाश्च स्पर्शाः
आतङ्का विविधाः स्पृशन्ति देहम्।
अकुकूजस्तत्राधिसहेत
रजांसि क्षपयेत् पुराकृतानि॥

१८—शीत, ऊष्ण, डाँस, मच्छर, तृण-स्पर्श और विविध प्रकार के आतङ्क जब देह का स्पर्श करें तब मुनि शान्त भाव से उन्हें सहन करे, पूर्वकृत रजों (कर्मों) को क्षीण करे।

१९—पहाय रागं च तहेव दोसं
मोहं च भिक्खू सययं वियक्खणो।
मेरु व्व वाएण अकम्पमाणो
परीसहे आयगुत्ते सहेज्जा॥

प्रहाय रागं च तथैव दोषं
मोहं च भिक्षुः सततं विचक्षणः।
मेरुरिव वातेनाऽकम्पमानः
परीषहान् आत्म-गुप्तः सहेत॥

१९—विचक्षण भिक्षु राग, द्वेष और मोह का सतत त्याग कर, वायु से मेरु की भाँति अकम्पमान होकर तथा आत्म-गुप्त बनकर परीषहों को सहन करे।

२०—अणुन्नए नावणए महेसी
न यावि पूयं गरहं च संजए।
स उज्जुभावं पडिवज्ज संजए
निव्वाणमग्गं विरए उवेइ॥

अनुन्नतो नावनतो महर्षिः
न चापि पूजां गर्हां च सजेत्।
स ऋजुभावं प्रतिपद्य संयतः
निर्वाण-मार्गं विरत उपैति॥

२०—पूजा में उन्नत और गर्हा में अवनत न होने वाला महर्षि मुनि उन (पूजा और गर्हा) में लिप्त न हो। अलिप्त रहने वाला वह विरत संयमी आर्जव को स्वीकार कर निर्वाण-मार्ग को प्राप्त होता है।

१. ०छंदामिह (बृ०)।
२. सोपगरेइ (बृ०)।
३. उवेन्ति (बृ० पा०)।
४. अकक्करे (बृ० पा०, चू०)।
५. रयाइ (उ)।

२१—अरइरइसहे पहीणसंथवे
विरए आयहिए पहाणवं।
परमट्ठपएहिं चिट्ठई
छिन्नसोए अममे अकिंचणे ॥

अरति-रतिसहः प्रहीण-संस्तवः
विरतः आत्म-हितः प्रधानवान्।
परमार्थ-पदेषु तिष्ठति
छिन्न-शोकोऽममोऽकिञ्चनः ॥

२१—जो अरति और रति को सहने वाला, परिचय को क्षीण करने वाला, अकर्त्तव्य से विरत रहने वाला, आत्म-हित करने वाला तथा प्रधानवान् (संयमवान्) होता है, वह छिन्न-शोक (अशोक), अमम और अकिंचन होकर परमार्थ-पदों में स्थित होता है।

२२—विवित्तलयणाइ भएज्ज ताई[1]
निरोवलेवाइ असंथडाइं।
इसीहि चिण्णाइ महायसेहिं
काएण फासेज्ज परीसहाइं ॥

विविक्त-लयनानि भजेत त्रायी
निरुपलेपान्यसंसृतानि।
ऋषिभिश्चीर्णानि महायशोभिः
कायेन स्पृशेत् परीषहान् ॥

२२—त्रायी मुनि महायशस्वी ऋषियों द्वारा आचीर्ण, अलिप्त और असंसृत (बीज आदि से रहित) विविक्त लयनों (एकान्त स्थानों) का सेवन करे तथा काया से परीषहों को सहन करे।

२३—सन्नाणनाणोवगए[2] महेसी
अणुत्तरं चरिउं धम्मसंचयं।
अणुत्तरेनाणधरे[3] जसंसी
ओभासई सूरिए वन्तलिक्खे[4] ॥

सज्ज्ञानज्ञानोपगतो महर्षिः
अनुत्तरं चरित्वा धर्म-संचयम्।
अनुत्तर-ज्ञानधरः यशस्वी
अवभासते सूर्य इवान्तरिक्षे ॥

२३—सद्ज्ञान से ज्ञान-प्राप्त करने वाला महर्षि मुनि अनुत्तर धर्म-संचय का आचरण कर अनुत्तर ज्ञानधारी और यशस्वी होकर अन्तरिक्ष में सूर्य की भाँति दीप्तिमान् होता है।

२४—दुविहं खवेऊण य पुण्णपावं
निरंगणे[5] सव्वओ विप्पमुक्के।
तरित्ता समुद्दं व महाभवोघं
समुद्दपाले 'अपुणागमं गए'[6] ॥
—त्ति बेमि ॥

द्विविधं क्षपयित्वा च पुण्य-पापं
निरङ्गणः सर्वतो विप्रमुक्तः।
तरित्वा समुद्रमिव महाभवौघं
समुद्रपालोऽपुनरागमां गतः ॥
—इति ब्रवीमि।

२४—समुद्रपाल संयम में निश्चल और सर्वतः मुक्त होकर, पुण्य और पाप दोनों को क्षीण कर तथा विशाल संसार-प्रवाह को समुद्र की भाँति तरकर अपुनरागम-गति (मोक्ष) में गया है।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

---

१. ताया (वृ०)।
२. सन्नाईणं० (बृ०) ; सन्नाण० (बृ० पा०) ; सन्नाण० (बृ०)।
३. गुणुत्तरे० (बृ० पा०)।
४. वंतलिक्खं (अ)।
५. निरंजणे (बृ०) ; निरंगणे (बृ० पा०)।
६. ०गइं गउ (अ, बृ०, वृ०, सु०)।

वर्द्धापन हुआ। विवाह से पूर्व समस्त कार्य सम्पन्न हुए। विवाह का दिन आया। राजीमती अलंकृत हुई। कुमार भी अलंकृत हो मत्त हाथी पर आरूढ़ हुए। सभी दशार्ह एकत्रित हुए। बाजे बजने लगे। मंगल दीप जलाए गए। वर-यात्रा प्रारम्भ हुई। हजारों लोगों ने उसे देखा। वह विवाह-मण्डप के पास आई। राजीमती ने दूर से अपने भावी पति को देखा। वह अत्यन्त प्रसन्न हुई।

उसी समय अरिष्टनेमि के कानों में करुण शब्द पड़े। उन्होंने सारथी से पूछा—"यह शब्द क्या है?" सारथी ने कहा—"देव! यह करुण शब्द पशुओं का है। वे आपके विवाह में सम्मिलित होने वाले व्यक्तियों के लिए भोज्य बनेंगे। मरण-भय से वे आक्रन्दन कर रहे हैं।" अरिष्टनेमि ने कहा—"यह कैसा आनन्द! जहाँ हजारों मूक और दीन पशुओं का वध किया जाता है। ऐसे विवाह से क्या जो संसार के परिभ्रमण का हेतु बनता है।" हाथी को अपने निवास की ओर मोड़ दिया। अरिष्टनेमि को मुड़ते देख राजीमती मूर्च्छित हो भूमि पर गिर पड़ी। स्वजनों ने ठण्डा जल छिड़का, पंखा झला। मूर्च्छा दूर हुई। चैतन्य प्राप्त कर वह विलाप करने लगी। अरिष्टनेमि ने अपने माता-पिता के पास जा प्रव्रज्या के लिए आज्ञा माँगी। तीन सौ वर्ष तक अगारवास में रह श्रावण शुक्ला ५ को सहस्रवन उद्यान में बेले की तपस्या में दीक्षित हो गए।

अब रथनेमि राजीमती के पास आने-जाने लगे। उन्होंने कहा—"देवी! विषाद मत कर। अरिष्टनेमि वीतराग हैं। वे विषयानुबन्ध नहीं करते। तू मुझे स्वीकार कर। मैं जीवन भर तुम्हारी आज्ञा मानूँगा।" भगवती राजीमती का मन काम-भोगों से निर्विण्ण हो चुका था। उसे रथनेमि की प्रार्थना अयुक्त लगी। एक बार उसने मधु-घृत संयुक्त पेय पीया और जब रथनेमि आए तब मदन फल खा उल्टी की और रथनेमि से कहा—"इस पेय को पीएँ।" उसने कहा—"वमन किए गए को कैसे पीऊँ?" राजीमती ने कहा—"क्या तुम यह जानते हो?" रथनेमि ने कहा—"इस बात को बालक भी जानता है।" राजीमती ने कहा—"यदि यह बात है तो मैं भी अरिष्टनेमि द्वारा वान्त हूँ। मुझे ग्रहण करना क्यों चाहते हो? धिक्कार है तुम्हें जो वमी हुई वस्तु को पीने की इच्छा करते हो! इससे तो तुम्हारा मरना श्रेयस्कर है।" इसके बाद राजीमती ने धर्म कहा। रथनेमि जागृत हुए और आसक्ति से उपरत हुए। राजीमती दीक्षाभिमुख हो अनेक प्रकार के तप और उपधानों को करने लगी।

भगवान् अरिष्टनेमि केवली हुए। देवों ने केवली-महोत्सव किया। रथनेमि प्रव्रजित हुए। राजीमती भी अनेक राज-कन्याओं के साथ प्रव्रजित हुई। एक बार भगवान् अरिष्टनेमि रैवतक पर्वत पर समवसृत थे। साध्वी राजीमती अनेक साध्वियों के साथ वन्दना करने गई। अचानक ही वर्षा प्रारम्भ हो गई। साथ वाली सभी साध्वियाँ इधर-उधर गुफाओं में चली गईं।[1] उसी गुफा में मुनि रथनेमि पहले से ही बैठे हुए थे। राजीमती को यह ज्ञात नहीं था। गुफा में अन्धकार व्याप्त था। उसने अपने कपड़े सूखने के लिए फैलाए। नग्नावस्था में उसे देख रथनेमि का मन विचलित हो गया। अचानक ही राजीमती ने रथनेमि को देख लिया और शीघ्र ही अपनी बाहों से अपने आपको ढकती हुई बैठ गई। रथनेमि ने कहा—"मैं तुझ में अत्यन्त अनुरक्त हूँ। तेरे बिना मैं शरीर धारण नहीं कर सकता। तू मुझे स्वीकार कर। अवस्था आने पर हम दोनों संयम-मार्ग को स्वीकार कर लेंगे।" राजीमती ने विषयों के दारुण-विपाक, जीवन की अस्थिरता और व्रत-भंग के फल का निरूपण किया। उसे धर्म कहा। वह संबुद्ध हुआ। राजीमती का अभिनन्दन कर वह अपने माण्डलिक साधुओं में चला गया। राजीमती भी आर्यिका के पास चली गई। संयम को विशुद्ध पालते हुए दोनों सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो गए।

इस अध्ययन के ४२, ४३, ४४, ४६ और ४९—ये पाँच श्लोक दशवैकालिक के दूसरे अध्ययन में ज्यों-के-त्यों आए हैं।

इस अध्ययन में आए हुए भोज, अन्धक और वृष्णि— ये तीन शब्द प्राचीन कुलों के द्योतक हैं।

१—उस गुफा को आज भी राजीमती गुफा कहा जाता है।—विविध तीर्थ कल्प, पृ० ६

बाइसमं अज्झयणं :
रहनेमिज्जं

द्वाविंश अध्ययन :
रहनेमीय

बाइसमं अज्झयणं : द्वाविंश अध्ययन

रहनेमिज्जं : रथनेमीयम्

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
१—सोरियपुरंमि नयरे आसि राया महिड्ढिए। वसुदेवे त्ति नामेणं रायलक्खणसंजुए ॥	सोरियपुरे नगरे आसीद्राजा महर्द्धिकः। वसुदेव इति नाम्ना राज-लक्षण-संयुतः ॥	१—सोरियपुर नगर में राज-लक्षणों से युक्त वसुदेव नामक महान् ऋद्धिमान् राजा था।
२—तस्स भज्जा दुवे आसी रोहिणी देवई तहा। तासिं दोण्हं पि दो पुत्ता इट्ठा रामकेसवा ॥	तस्य भार्ये द्वे आस्तां रोहिणी देवकी तथा। तयोर्द्वयोरपि द्वौ पुत्रौ इष्टौ राम-केशवौ ॥	२—उसके रोहिणी और देवकी नामक दो भार्याएँ थीं : उन दोनों के राम और केशव—ये दो प्रिय पुत्र थे।
३—सोरियपुरंमि नयरे आसी राया महिड्ढिए। समुद्दविजए नामं रायलक्खणसंजुए ॥	सोरियपुरे नगरे आसीद्राजा महर्द्धिकः। समुद्रविजयो नाम राज-लक्षण-संयुतः ॥	३—सोरियपुर नगर में राज-लक्षणों से युक्त समुद्रविजय नामक महान् ऋद्धिमान् राजा था।
४—तस्स भज्जा सिवा नाम तीसे पुत्तो महायसो। भगवं अरिट्ठनेमि त्ति लोगनाहे दमीसरे ॥	तस्य भार्या शिवानाम्नी तस्याः पुत्रो महायशाः। भगवानरिष्टनेमिरिति लोक-नाथो दमीश्वरः ॥	४—उसके शिवा नामक भार्या थी। उसके भगवान् अरिष्टनेमि नामक पुत्र हुआ। वह लोकनाथ एवं जितेन्द्रियों में प्रधान था।
५—सोऽरिट्ठनेमिनामो उ लक्खणस्सरसंजुओ[1]। अट्ठसहस्सलक्खणधरो गोयमो कालगच्छवी ॥	सोऽरिष्टनेमिनामा तु स्वर-लक्षण-संयुतः। अष्ट-सहस्र-लक्षण-धरः गौतमः कालकच्छविः ॥	५—वह अरिष्टनेमि स्वर-लक्षणों से युक्त, एक हजार आठ शुभ-लक्षणों का धारक, गौतम गोत्री और श्याम वर्ण वाला था।

१. वंजणस्सर° (अ, बृ०पा०)।

आमुख

इस अध्ययन में अन्धक-कुल के नेता समुद्रविजय के पुत्र रथनेमि का वृत्तान्त है, इसलिए इसका नाम 'रहनेमिज्जंति'—'रथनेमीय' है।

सोरियपुर नाम का नगर था। वहाँ वृष्णि-कुल के वसुदेव राज्य करते थे। उनके दो रानियाँ थीं—रोहिणी और देवकी। रोहिणी के एक पुत्र था। उसका नाम 'बलराम' था और देवकी के पुत्र का नाम 'केशव' था।

उसी नगर में अन्धक-कुल के नेता समुद्रविजय राज्य करते थे। उनकी पटरानी का नाम शिवा था। उसके चार पुत्र थे—अरिष्टनेमि, रथनेमि, सत्यनेमि और दृढ़नेमि। अरिष्टनेमि बाईसवें तीर्थङ्कर हुए और रथनेमि तथा सत्यनेमि प्रत्येक बुद्ध हुए।[1]

उस समय सोरियपुर में द्वैध-राज्य था। अन्धक और वृष्णि—ये दो राजनैतिक दल वहाँ का शासन चलाते थे। वसुदेव वृष्णियों के नेता थे और समुद्रविजय अन्धकों के। इस प्रकार की राज्य-प्रणाली को 'विरुद्ध-राज्य' कहा जाता था।

कार्तिक कृष्णा द्वादशी को अरिष्टनेमि का जीव शिवा रानी के गर्भ में आया। माता ने १४ स्वप्न देखे। श्रावण शुक्ला ५ को रानी ने पुत्र-रत्न को जन्म दिया। स्वप्न मे रिष्टरत्नमय नेमि देखे जाने के कारण पुत्र का नाम अरिष्टनेमि रखा। वे आठ वर्ष के हुए। कृष्ण ने कंस का वध कर डाला। महाराज जरासंध यादवों पर कुपित हो गया। मरने के भय से सभी यादव पश्चिमी समुद्र तट पर चले गए। वहाँ द्वारवती नगरी मे सुख से रहने लगे। कुछ समय के बाद बलराम और कृष्ण ने जरासंध को मार डाला और वे राजा बन गए। अरिष्टनेमि युवा बने। वे इन्द्रिय-विषयों से पराङ्मुख रहने लगे। एक बार समुद्रविजय ने केशव से कहा—"ऐसा कोई उपक्रम किया जाए जिससे कि अरिष्टनेमि विषयों में प्रवृत्त हो सके।" केशव ने रुक्मणी, सत्यभामा आदि को इस ओर प्रयत्न करने के लिए कहा। अनेक प्रयत्न किए गए। अनेक प्रलोभनों से उन्हें विचलित करने का प्रयास किया गया। पर वे अपने लक्ष्य पर स्थिर रहे। एक बार केशव ने कहा—"कुमार! ऋषभ आदि अनेक तीर्थङ्कर भी गृहस्थाश्रम के भोगों को भोग कर, पश्चिम-वय में दीक्षित हुए थे। उन्होंने भी मोक्ष प्राप्त कर लिया। यह परमार्थ है।" अरिष्टनेमि ने नियति की प्रबलता जान केशव की बात स्वीकार कर ली। केशव ने समुद्रविजय को सारी बात कही। वे अत्यन्त प्रसन्न हुए और योग्य कन्या की गवेषणा करने लगे। भोज-कुल के राजन्य उग्रसेन की पुत्री राजीमती को अरिष्टनेमि के योग्य समझ विवाह की बातचीत की। उग्रसेन ने इसे अनुग्रह मान स्वीकार कर लिया। दोनों कुलों में

१—उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा ४४३-४४५ :

सोरियपुरंमि नयरे, आसी राया समुद्दविजओत्ति।
तस्सासि अग्गमहिसी, सिवत्ति देवी अणुज्जंगी॥
तेसिं पुत्ता चउरो, अरिट्ठनेमी तहेव रहनेमी।
तइओ अ सच्चनेमी, चउत्थओ होइ दढनेमी॥
जो सो अरिट्ठनेमी, बावीसइमो अहेसि सो अरिहा।
रहनेमि सच्चनेमी, एए पत्तेयबुद्धा उ॥

६—वज्जरिसहसंघयणो
समचउरंसो झसोयरो ।
तस्स राईमइं कन्नं
भज्जं जायइ केसवो ॥

वज्रऋषभ-संहननः
समचतुरस्रो झषोदरः ।
तस्य राजीमतीं कन्यां
भार्यां याचते केशवः ॥

६—वह वज्रऋषभ संहनन और सम-चतुरस्र संस्थान वाला था। उसका उदर मछली के उदर जैसा था। केशव ने उसके लिए राजीमती कन्या की माँग की।

७—अह सा रायवरकन्ना
सुसीला चारुपेहिणी ।
सव्वलक्खणसंपुन्ना[1]
विज्जुसोयामणिप्पभा ॥

अथ सा राजवर-कन्या
सुशीलाचारुप्रेक्षिणी ।
सर्वलक्षण-सम्पूर्णा
विद्युत्सौदामनी-प्रभा ॥

७—वह राजकन्या सुशील, चारु-प्रेक्षिणी (मनोहर-चितवन वाली), स्त्री-जनोचित सर्व-लक्षणों से परिपूर्ण और चमकती हुई बिजली जैसी प्रभा वाली थी।

८—अहाह जणओ तीसे
वासुदेवं महिड्ढियं ।
इहागच्छऊ कुमारो
जा से कन्नं दलाम हं ॥

अथाह जनकस्तस्याः
वासुदेवं महर्द्धिकम् ।
इहागच्छतु कुमारः
येन तस्मै कन्यां ददाम्यहम् ॥

८—उसके पिता उग्रसेन ने महान् ऋद्धिमान् वासुदेव से कहा—"कुमार यहाँ आए तो मैं उसे अपनी कन्या दे सकता हूँ।"

९—सव्वोसहीहि ण्हविओ
कयकोउयमंगलो ।
दिव्वजुयलपरिहिओ
आभरणेहिं विभूसिओ[2] ॥

सर्वौषधिभिः स्नापितः
कृत-कौतुक-मंगलः ।
परिहित-दिव्य-युगलः
आभरणै-र्विभूषितः ॥

९—अरिष्टनेमि को सर्व औषधियों के जल से नहलाया गया, कौतुक और मंगल किए गए, दिव्य वस्त्र-युगल पहनाया गया और आभरणों से विभूषित किया गया।

१०—मत्तं च गन्धहत्थिं[3]
वासुदेवस्स जेट्ठगं ।
आरूढो सोहए अहियं
सिरे चूडामणी जहा ॥

मत्तं च गन्धहस्तिनं
वासुदेवस्य ज्येष्ठकम् ।
आरूढः शोभतेऽधिकं
शिरसि चूडामणिर्यथा ॥

१०—वासुदेव के मतवाले ज्येष्ठ गन्ध-हस्ति पर आरूढ़ अरिष्टनेमि सिर पर चूडामणि की भाँति बहुत सुशोभित हुआ।

---

१. °संपन्ना (उ०, ऋ०)।
२. विभूसई (ऋ०)।
३. °हत्थि च (अ, आ, इ, ब)।

११—'अह ऊसिएण'[1] छत्तेण
चामराहि य सोहिए।
दसारचक्केण य सो
सव्वओ परिवारिओ ॥

अथोच्छ्रितेन छत्रेण
चामराभ्यां च शोभितः।
दशार्ह चक्रेण च स
सर्वतः परिवारितः ॥

११—अरिष्टनेमि ऊँचे छत्र-चामरों से सुशोभित और दशार-चक्र से सर्वतः परि-वृत था।

१२—चउरंगिणीए सेनाए
रइयाए जहक्कमं।
तुरियाण सन्निनाएण
दिव्वेण गगणं फुसे ॥

चतुरङ्गिण्या सेनया
रचितया यथाक्रमम्।
तूर्याणां सन्निनादेन
दिव्येन गगन-स्पृशा ॥

१२—यथाक्रम सजाई हुई चतुरंगिनी सेना और वाद्यों के गगन-स्पर्शी दिव्यनाद —

१३—एयारिसीए इड्ढीए
जुईए उत्तिमाए य।
नियगाओ भवणाओ
निज्जाओ वण्हिपुंगवो ॥

एतादृश्या ऋद्ध्या
द्युत्या उत्तमया च।
निजकात् भवनात्
निर्यातो वृष्णि-पुङ्गवः ॥

१३—ऐसी उत्तम ऋद्धि और उत्तम-द्युति के साथ वह वृष्णि-पुङ्गव अपने भवन से चला।

१४—अह सो तत्थ निज्जन्तो
दिस्स पाणे भयद्दुए।
वाडेहिं पंजरेहिं च
सन्निरुद्धे[2] सुदुक्खिए ॥

अथ स तत्र निर्यन्
दृष्ट्वा प्राणान् भय-द्रुतान्।
वाटैः पञ्जरैश्च
सन्निरुद्धान् सुदुःखितान् ॥

१४—उसने वहाँ जाते हुए भय से संत्रस्त, बाड़ों और पिंजरों में निरुद्ध, सुदुःखित प्राणियों को देखा।

१५—जीवियन्तं तु संपत्ते
मंसट्ठा भक्खियव्वए।
पासेत्ता से महापन्ने
सारहिं इणमब्बवी ॥

जीवितान्तं तु सम्प्राप्तान्
मांसार्थं भक्षयितव्यान्।
दृष्ट्वा स महाप्राज्ञः
सारथिमिदमब्रवीत् ॥

१५—वे मरणासन्न दशा को प्राप्त थे और मांसाहार के लिए खाए जाने वाले थे। उन्हें देख कर महाप्राज्ञ अरिष्टनेमि ने सारथि से इस प्रकार कहा—

१६—कस्स अट्ठा 'इमे पाणा'[3]
एए सव्वे सुहेसिणो।
वाडेहिं पंजरेहिं च
सन्निरुद्धा य अच्छहिं ? ॥

कस्यार्थाद्दिमे प्राणा
एते सर्वे सुखैषिणः।
वाटैः पञ्जरैश्च
सन्निरुद्धाश्च आसते ? ॥

१६—"सुख की चाह रखने वाले ये सब प्राणी किसलिए इन बाड़ों और पिंजरों में रोके हुए हैं ?"

---

१. से ओसिएण (बृ० पा०)।
२. बद्धव्वे (बृ० पा०)।
३. बहुपाणे (बृ० पा०)।

१७—अह सारही तओ भणइ
एए भद्दा उ पाणिणो।
तुज्झं विवाहकज्जंमि
भोयावेउं बहुं जणं॥

**अथ सारथिस्ततो भणति
एते भद्रास्तु प्राणिनः।
तव विवाह-कार्ये
भोजयितुं बहुं जनम्॥**

१७—सारथि ने कहा—"ये भद्र प्राणी तुम्हारे विवाह-कार्य में बहुत जनों को खिलाने के लिए यहाँ रोके हुए हैं।"

१८—सोऊण तस्स[1] वयणं
बहुपाणिविणासणं[2]।
चिन्तेइ से महापन्ने
साणुक्कोसे जिएहि उ॥

**श्रुत्वा तस्य वचनं
बहुप्राणि-विनाशनम्।
चिन्तयति स महाप्राज्ञः
सानुक्रोशो जीवेषु तु॥**

१८—सारथि का बहुत जीवों के वध का प्रतिपादक वचन सुन कर जीवों के प्रति सकरुण उन महाप्राज्ञ अरिष्टनेमि ने सोचा—

१९—जइ मज्झ कारणा एए
'हम्मिहिंति बहू'[3] जिया।
न मे एयं तु निस्सेसं
परलोगे भविस्सई॥

**यदि मम कारणादेते
हनिष्यन्ते बहवो जीवाः।
न मे एतत्तु निःश्रेयसं
परलोके भविष्यति॥**

१९—"यदि मेरे निमित्त से इन बहुत से जीवों का वध होने वाला है तो यह परलोक में मेरे लिए श्रेयस्कर नहीं होगा।"

२०—सो कुण्डलाण जुयलं
सुत्तगं च महायसो।
आभरणाणि य सव्वाणि[4]
सारहिस्स पणामए॥

**स कुण्डलयोर्युगलं
सूत्रकं च महायशाः।
आभरणानि च सर्वाणि
सारथये अर्पयति॥**

२०—उस महायशस्वी अरिष्टनेमि ने दो कुंडल, करधनी और सारे आभूषण उतार कर सारथि को दे दिए।

२१—मणपरिणामे य कए
देवा य जहोइयं समोइण्णा[5]।
सव्वड्ढीए सपरिसा
निक्खमणं तस्स काउं जे॥

**मनः-परिणामश्च कृतः
देवाश्च यथोचितं समवतीर्णाः।
सर्वर्द्ध्या सपरिषदः
निष्क्रमणं तस्य कर्तुं 'जे'॥**

२१—अरिष्टनेमि के मन में जैसे ही निष्क्रमण (दीक्षा) की भावना हुई, वैसे ही उसका निष्क्रमण-महोत्सव करने के लिए औचित्य के अनुसार देवता आए। उनका समस्त वैभव और उनकी परिषदें उनके साथ थीं।

---

१. तस्स सो (उ, ऋ०)।
२. बहुपाण' (बृ०)।
३. हम्मंति सुबहू (उ, ऋ०, बृ०); हम्मिहिंति सुबहू (बृ० पा०)।
४. सेसाणि (उ, ऋ०)।
५. समोवडिया (बृ० पा०)।

२२—देवमणुस्सपरिवुडो
सीयारयणं[1] तओ समारूढो ।
निक्खमिय बारगाओ
रेवययंमि ट्ठिओ भगवं ॥

देव-मनुष्य-परिवृतः
शिबिका-रत्नं ततः समारूढः ।
निष्क्रम्य द्वारकातः
रैवतके स्थितो भगवान् ॥

२२—देव और मनुष्यों से परिवृत भगवान् अरिष्टनेमि शिबिका-रत्न में आरूढ हुआ । द्वारका से चल कर वह रैवतक (गिरनार) पर्वत पर स्थित हुआ ।

२३—उज्जाणं संपत्तो
ओइण्णो उत्तिमाओ सीयाओ[2] ।
साहस्सीए परिवुडो
अह निक्खमई उ चित्ताहिं ॥

उद्यानं सम्प्राप्तः
अवतीर्णः उत्तमायाः शिबिकातः ।
साहस्र्या परिवृतः
अथ निष्क्रामति तु चित्रायाम् ॥

२३—अरिष्टनेमि सहस्राम्रवण उद्यान में पहुँच कर उत्तम शिबिका से नीचे उतरा । भगवान् ने एक हजार मनुष्यों के साथ चित्रा नक्षत्र में निष्क्रमण किया ।

२४—अह से सुगन्धगन्धिए[3]
तुरियं मउयकुंचिए[4] ।
सयमेव लुंचई केसे
पंचमुट्ठीहिं[5] समाहिओ ॥

अथ स सुगन्धि-गन्धिकान्
त्वरितं मृदुक-कुंचितान् ।
स्वयमेव लुंचति केशान्
पंच-मुष्टिभिः समाहितः ॥

२४—समाहित अरिष्टनेमि ने सुगन्ध से सुवासित सुकुमार और घुँघराले बालों का पंचमुष्टि से अपने आप तुरन्त लोच किया ।

२५—वासुदेवो य णं भणइ
लुत्तकेसं जिइन्दियं ।
इच्छियमणोरहे तुरियं
पावेसू[6] तं दमीसरा !॥

वासुदेवश्चेमं भणति
लुप्त-केशं जितेन्द्रियम् ।
इच्छित-मनोरथं त्वरितं
प्राप्नुहि त्वं दमीश्वर ! ॥

२५—वासुदेव ने लुप्त-केश और जितेन्द्रिय भगवान् से कहा—दमीश्वर ! तुम अपने इच्छित-मनोरथ को शीघ्र प्राप्त करो ।

२६—नाणेणं दंसणेणं च
चरित्तेण तहेव[7] य ।
खन्तीए मुत्तीए[8]
वड्ढमाणो भवाहि य ॥

ज्ञानेन दर्शनेन च
चारित्रेण तथैव च ।
क्षान्त्या मुक्त्या
वर्धमानो भव च ॥

२६—तुम ज्ञान, दर्शन, चारित्र, क्षान्ति और मुक्ति से बढ़ो ।

१. सीइया° (ऋ०) ।
२. सीइया (ऋ०)
३. सुगंधि° (ऋ०, बृ०) ।
४. मओए° (अ) ।
५. पंचऽट्ठाहि (बृ०) ।
६. पावसु (बृ०) ।
७. तवेण (उ०) ।
८. मुत्तीए चेव (उ) ।

२७—एवं ते रामकेसवा
दसारा य बहू जणा।
अरिट्ठणेमिं वन्दित्ता
अइगया बारगापुरिं ॥

एवं तौ रामकेशवौ
दशार्हाश्च बहवो जनाः।
अरिष्टनेमिं वन्दित्वा
अतिगता द्वारका-पुरीम् ॥

२७—इस प्रकार राम, केशव, दसार तथा दूसरे बहुत से लोग अरिष्टनेमि को वन्दना कर द्वारका पुरी में लौट आए।

२८—सोऊण रायकन्ना
पव्वज्जं सा जिणस्स उ।
नीहासा य निराणन्दा
सोगेण उ समुत्थया[1] ॥

श्रुत्वा राजकन्या
प्रव्रज्यां सा जिनस्य तु।
निर्हासा च निरानन्दा
शोकेन तु समवसृता ॥

२८—अरिष्टनेमि के प्रव्रज्या की बात को सुन कर राजकन्या राजीमती अपनी हँसी, खुशी और आनन्द को खो बैठी। वह शोक से स्तब्ध हो गई।

२९—राईमई विचिन्तेइ
धिरत्थु मम जीवियं।
जा हं तेण परिच्चत्ता
'सेयं पव्वइउं'[2] मम ॥

राजीमती विचिन्तयति
धिगस्तु मम जीवितम्।
याऽहं तेन परित्यक्ता
श्रेयः प्रव्रजितुं मम ॥

२९—राजीमती ने सोचा—मेरे जीवन को धिक्कार है। जो मैं अरिष्टनेमि के द्वारा परित्यक्त हूँ। अब मेरे लिए प्रव्रजित होना ही श्रेय है।

३०—अह सा भमरसन्निभे[3]
कुच्चफणगपसाहिए[4]।
सयमेव लुंचई केसे
धिइमन्ता ववस्सिया[5] ॥

अथ सा भ्रमर-सन्निभान्
कूर्च-फणक-प्रसाधितान्।
स्वयमेव लुंचति केशान्
धृतिमती व्यवसिता ॥

३०—धीर एवं कृत-निश्चय राजीमती ने कूर्च व कंघी से संवारे हुए भौंरे जैसे काले केशों का अपने आप लुंचन किया।

३१—वासुदेवो य णं भणइ
लुत्तकेसं जिइन्दियं।
संसारसागरं घोरं
तर कन्ने! लहुं लहुं ॥

वासुदेवश्चेमां भणति
लुप्त-केशां जितेन्द्रियाम्।
संसार-सागरं घोरं
तर कन्ये! लघु लघु ॥

३१—वासुदेव ने लुप्त-केशा और जितेन्द्रिय राजीमती से कहा—"हे कन्ये! तू घोर संसार-सागर का अतिशीघ्रता से पार प्राप्त कर।"

---

१. समुत्थिया (अ); समुच्छया (आ)।
२ सेउं पव्वइउं (बृ०); सेओ पव्वइओ (उ); सेवं पव्वइयं (अ)।
३. °संकासे (अ)।
४. °फलग° (अ)।
५. वि तवस्सिया (अ)।

३२—सा पव्वइया सन्ती
पव्वावेसी[1] तहिं बहुं ।
सयणं परियणं चेव
सीलवन्ता बहुस्सुया ॥

सा प्रव्रजिता सती
प्रावीव्रजत् तत्र बहुं ।
स्वजनं परिजनं चैव
शीलवती बहुश्रुता ॥

३२—शीलवती एवं बहुश्रुत राजीमती ने प्रव्रजित हो कर द्वारका में बहुत स्वजन और परिजन को प्रव्रजित किया ।

३३—गिरिं रेवययं[2] जन्ती
वासेणुल्ला उ अन्तरा ।
वासन्ते अन्धयारंमि
अन्तो लयणस्स सा ठिया ॥

गिरिं रैवतकं यान्ती
वर्षेणार्द्रा त्वन्तरा ।
वर्षत्यन्धकारे
अन्तर्लयनस्य सा स्थिता ॥

३३—वह रैवतक पर्वत पर जा रही थी । बीच में वर्षा से भींग गई । वर्षा हो रही थी, अन्धेरा छाया हुआ था, उस समय वह लयन (गुफा) में ठहर गई ।

३४—चीवराइं विसारन्ती
जहा जाय त्ति पासिया ।
रहनेमी भग्गचित्तो
पच्छा दिट्ठो य तीइ वि ॥

चीवराणि विसारयन्ती
यथाजातेति दृष्टा ।
रथनेमिर्भग्नचित्तः
पश्चाद् दृष्टश्च तयाऽपि ॥

३४—चीवरों को सुखाने के लिए फैलाती हुई राजीमती को रथनेमि ने यथा-जात (नग्न) रूप में देखा । वह भग्न-चित्त हो गया । बाद में राजीमती ने भी उसे देख लिया ।

३५—भीया य सा तहिं दट्ठुं
एगन्ते संजयं तयं ।
बाहाहिं काउं संगोफं
वेवमाणी निसीयई ॥

भीता च सा तत्र दृष्ट्वा
एकान्ते संयतं तकम् ।
बाहुभ्यां कृत्वा संगोपं
वेपमाना निषीदति ॥

३५—एकान्त में उस संयति को देख वह डरी और दोनों भुजाओं के गुम्फन से वक्ष को ढांक कर कांपती हुई बैठ गई ।

३६—अह सो वि रायपुत्तो
समुद्दविजयंगओ ।
भीयं पवेवियं दट्ठुं
इमं वक्कं उदाहरे ॥

अथ सोऽपि राज-पुत्रः
समुद्रविजयाऽङ्गजः ।
भीतां प्रवेपितां दृष्ट्वा
इदं वाक्यमुदाहरत् ॥

३६—उस समय समुद्रविजय के अंगज राज-पुत्र रथनेमि ने राजीमती को भीत और प्रकम्पित देख कर यह वचन कहा—

३७—रहनेमी अहं भद्दे !
सुरूवे ! चारुभासिणि ! ।
ममं[3] भयाहि सुयणू !
न ते पीला भविस्सई ॥

रथनेमिरहं भद्रे !
सुरूपे ! चारुभाषिणि ! ।
मां भजस्व सुतनु !
न ते पीडा भविष्यति ॥

३७—"भद्रे ! मैं रथनेमि हूँ । सुरूपे ! चारुभाषिणि ! तू मुझे स्वीकार कर । सुतनु ! तुझे कोई पीड़ा नहीं होगी ।

---

१. पव्वावेती (अ) ।
२. रवेइयं (अ) ।
३. मम (बृ० पा०) ।

३८—एहि ता भुंजिमो भोए
माणुस्सं खु सुदुल्लहं ।
'भुत्तभोगा तओ'[1] पच्छा
जिणमग्गं चरिस्सिमो ॥

एहि तावत् भुंज्महे भोगान्
मानुष्यं खलु सुदुर्लभम् ।
भुक्त-भोगास्ततः पश्चात्
जिन-मार्गं चरिष्यामः ॥

३८—"आ, हम भोग भोगें । निश्चित ही मनुष्य-जीवन बहुत दुर्लभ है । भुक्त-भोगी हो, फिर हम जिन-मार्ग पर चलेंगे ।"

३९—दट्ठूण रहनेमिं तं
भग्गुज्जोयपराइयं ।
राईमई असम्भन्ता
अप्पाणं संवरे तहिं ॥

दृष्ट्वा रथनेमिं तं
भग्नोद्योग-पराजितम् ।
राजीमत्यसम्भ्रान्ता
आत्मानं समवारीत् तत्र ॥

३९—रथनेमि को संयम में उत्साहहीन और भोगों से पराजित देख कर राजीमती संभ्रान्त नहीं हुई । उसने वहीं अपने शरीर को वस्त्रों से ढंक लिया ।

४०—अह सा रायवरकन्ना
सुट्ठिया नियमव्वए ।
जाईं कुलं च सीलं च
रक्खमाणी तयं वए ॥

अथ सा राजवर-कन्या
सुस्थिता नियम-व्रते ।
जातिं कुलं च शीलं च
रक्षन्ती तकमवदत् ॥

४०—नियम और व्रत में सुस्थित राजवर-कन्या राजीमती ने जाति, कुल और शील की रक्षा करते हुए रथनेमि से कहा—

४१—जइ सि रूवेण वेसमणो
ललिएण नलकूबरो ।
तहा वि ते न इच्छामि
जइ सि सक्खं पुरन्दरो ॥

यद्यसि रूपेण वैश्रमणः
ललितेन नलकूबरः ।
तथापि त्वां नेच्छामि
यद्यसि साक्षात् पुरन्दरः ॥

४१—"यदि तू रूप में वैश्रमण है, लालित्य से नलकूबर है और तो क्या, यदि तू साक्षात् इन्द्र है तो भी मैं तुझे नहीं चाहती ।

[पक्खंदे जलियं जोइं
धूमकेउं दुरासयं ।
नेच्छन्ति वंतयं भोत्तुं
कुले जाया अगंधणे ॥][2]

(प्रस्कन्दन्ति ज्वलितं ज्योतिषं
धूमकेतुं दुरासदम् ।
नेच्छन्ति वान्तकं भोक्तुं
कुले जाता अगन्धने ॥)

"(अगंधन कुल में उत्पन्न सर्प ज्वलित, विकराल, धूमशिख-अग्नि में प्रवेश कर जाते हैं परन्तु (जीने के लिए) वमन किए हुए विष को वापस पीने की इच्छा नहीं करते ।)

४२—धिरत्थु ते जसोकामी !
जो तं जीवियकारणा ।
वन्तं इच्छसि आवेउं
सेयं ते मरणं भवे ॥

धिगस्तु त्वां यशस्कामिन् !
यस्त्वं जीवित-कारणात् ।
वान्तमिच्छस्यापातुं
श्रेयस्ते मरणं भवेत् ॥

४२—"हे यशःकामिन् ! धिक्कार है तुझे । जो तू भोगी-जीवन के लिये वमी हुई वस्तु को पीने की इच्छा करता है । इससे तो तेरा मरना श्रेय है ।

---

१. भुत्तभोगी तओ (उ, ऋ०); भुत्तभोगा पुणो (बृ०) ।
२. × (अ इ, ऋ०, स, ह०, चू०, बृ०) ।

४३—अहं च भोयरायस्स
तं च सि अन्धगवण्हिणो ।
मा कुले गन्धणा होमो
संजमं निहुओ चर ॥

अहं च भोज-राजस्य
त्वं चाऽसि अन्धक-वृष्णेः ।
मा कुले गन्धनौ भूव
संयमं निभृतश्चर ॥

४३—"मैं भोज-राज की पुत्री हूँ और तू अन्धक-वृष्णि का पुत्र । हम कुल में गन्धन सर्प की तरह न हों । तू निभृत हो—स्थिर मन हो— संयम का पालन कर ।

४४—जइ तं काहिसि भावं
जा जा दिच्छसि नारिओ ।
वायाविद्धो व्व हढो
अट्ठिअप्पा भविस्ससि ॥

यदि त्वं करिष्यसि भावं
या या द्रक्ष्यसि नारीः ।
वाताविद्धः इव हटः
अस्थितात्मा भविष्यसि ॥

४४—"यदि तू स्त्रियों को देख उनके प्रति इस प्रकार राग-भाव करेगा तो वायु से आहत हट की तरह अस्थितात्मा हो जाएगा ।

४५—गोवालो भण्डवालो[1] वा
जहा तद्दव्वऽणिस्सरो ।
एवं अणिस्सरो तं पि
सामण्णस्स भविस्ससि ॥

गोपालो भाण्डपालो वा
यथा तद्द्रव्यानीश्वरः ।
एवमनीश्वरस्त्वमपि
श्रामण्यस्य भविष्यसि ॥

४५—"जैसे गोपाल और भाण्डपाल गायों और किराने के स्वामी नहीं होते, इसी प्रकार तू भी श्रामण्य का स्वामी नहीं होगा ।

[कोहं माणं निगिण्हित्ता
मायं लोभं च सव्वसो ।
इन्दियाइं वसे काउं
अप्पाणं उवसंहरे ॥][2]

(क्रोधं मानं निगृह्य
मायां लोभं च सर्वशः ।
इन्द्रियाणि वशीकृत्य
आत्मानमुपसंहरेः ॥)

"(तू क्रोध और मान का निग्रह कर । माया और लोभ पर सब प्रकार से विजय पा । इन्द्रियों को अपने अधीन बना । अपने शरीर का उपसंहार कर—उसे अनाचार से निवृत्त कर ।)"

४६—तीसे सो वयणं सोच्चा
संजयाए सुभासियं ।
अंकुसेण जहा नागो
धम्मे संपडिवाइओ ॥

तस्याः स वचनं श्रुत्वा
संयतायाः सुभाषितम् ।
अंकुशेन यथा नागो
धर्मे सम्प्रतिपादितः ॥

४६—संयमिनी के इन सुभाषित वचनों को सुन कर, रथनेमि धर्म में वैसे ही स्थिर हो गया, जैसे अंकुश से हाथी होता है ।

४७—मणगुत्तो वयगुत्तो
कायगुत्तो जिइन्दिओ ।
सामण्णं निच्चलं फासे
जावज्जीवं दढव्वओ ॥

मनो-गुप्तो वचो-गुप्तः
काय-गुप्तो जितेन्द्रियः ।
श्रामण्यं निश्चलमस्प्राक्षीत्
यावज्जीवं दृढ-व्रतः ॥

४७—वह मन, वचन, और काया से गुप्त, जितेन्द्रिय तथा दृढ़व्रती हो गया । उसने फिर आजीवन निश्चल भाव से श्रामण्य का पालन किया ।

---

१. भंडपालो (बृ० पा०) ।
२. × (अ, उ, ऋ०, स, सु०, चू०, बृ०) ।

४८—उग्गं तवं चरित्ताणं
जाया दोण्णि वि केवली।
सव्वं कम्मं खवित्ताणं
सिद्धिं पत्ता अणुत्तरं ॥

उग्रं तपश्चरित्वा
जातौ द्वावपि केवलिनौ।
सर्वं कर्म क्षपयित्वा
सिद्धिं प्राप्तावनुत्तराम् ॥

४८—उग्र-तप का आचरण कर तथा सब कर्मों को खपा, वे दोनों (राजीमती और रथनेमि) अनुत्तर सिद्धि को प्राप्त हुए।

४९—एवं करेन्ति संबुद्धा
पण्डिया पवियक्खणा।
विणियट्टन्ति भोगेसु
जहा सो पुरिसोत्तमो ॥
—त्ति बेमि।

एवं कुर्वन्ति सम्बुद्धाः
पण्डिताः प्रविचक्षणाः।
विनिवर्तन्ते भोगेभ्यः
यथा स पुरुषोत्तमः ॥

इति ब्रवीमि।

४९—सम्बुद्ध, पण्डित और प्रविचक्षण पुरुष ऐसा ही करते हैं—वे भोगों से वैसे ही दूर हो जाते हैं, जैसे कि पुरुषोत्तम रथनेमि हुआ।

ऐसा मैं कहता हूँ।



तेविंसइमं अज्झयणं :
केसिगोयमिज्जं

त्रयोविंश अध्ययन :
केशि-गौतमीय

आमुख

इस अध्ययन में पार्श्वापत्यीय कुमार-श्रमण केशी और भगवान् महावीर के प्रमुख शिष्य गौतम का संवाद है। इसलिए इसका नाम 'केसिगोयमिज्जं'—'केशी-गौतमीय' है।[1]

भगवान् पार्श्वनाथ जैन-परम्परा के तेईसवें तीर्थंकर थे और उनका शासन-काल भगवान् महावीर से ढाई शताब्दी पूर्व का था।[2] भगवान् महावीर के शासन-काल में अनेक पार्श्वापत्यीय श्रमण तथा श्रावक रहते थे। पार्श्वनाथ की परम्परा के श्रमणों तथा श्रावकों का भगवान् महावीर के शिष्यों से आलाप-संलाप और मिलन हुआ। उसका उल्लेख आगमों तथा व्याख्या-ग्रन्थों मे मिलता है। भगवान् महावीर के माता-पिता पार्श्वनाथ की परम्परा को मानने वाले श्रमणोपासक थे।[3]

भगवती सूत्र में 'कालास्यवैशिक पुत्र' पार्श्वापत्यीय श्रमण का उल्लेख है। वे अनेक निर्ग्रन्थ स्थविरों से मिलते हैं। उनसे तात्विक चर्चा कर समाधान पाते है और अपनी पूर्व परम्परा का विसर्जन कर भगवान् महावीर की परम्परा को स्वीकार कर लेते हैं।[4]

एक बार भगवान् महावीर राजगृह में समवसृत थे। वहाँ भगवान् पार्श्व की परम्परा के कई स्थविर आए और भगवान् से तात्विक चर्चा की। उनका मूल प्रश्न यह था—"इस परिमित लोक में अनन्त रात-दिन या परिमित रात-दिन की बात कैसे संगत हो सकती है?" भगवान् महावीर उन्हें समाधान देते हैं और वे सभी स्थविर चातुर्याम-धर्म से पंचयाम-धर्म में दीक्षित हो जाते हैं।[5]

भगवान् महावीर वाणिज्य ग्राम में थे। पार्श्वापत्यीय श्रमण गांगेय भगवान् के पास आया। उसने जीवों की उत्पत्ति और च्युति के बारे में प्रश्न किए। उसे पूरा समाधान मिला। उसने भगवान् की सर्वज्ञता पर विश्वास किया और उनका शिष्य बन गया।[6]

उदक पेढाल पार्श्वनाथ की परम्परा मे दीक्षित हुआ था। एक बार जब गणधर गौतम नालन्दा में स्थित थे तब वह उनके पास गया। चर्चा की और समाधान पा उनका शिष्य हो गया।[7]

भगवान् महावीर कालाय सन्निवेश से विहार कर पत्रालय ग्राम से होते हुए कुमार सन्निवेश में आए

१—उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा, ४५१ :

गोअम-केसीओ आ, संवाय-समुट्ठियं तु जम्हेयं।
तो केसि-गोयमिज्जं, अज्झयणं होइ नायव्वं ॥

२—आवश्यक निर्युक्ति, मलयगिरिवृत्ति, पत्र २४१ :

पासजिणाओ य होइ वीरजिणो।
अड्ढाइज्जसएहिं गएहिं चरिमो समुप्पन्नो ॥

३—आचारांग २, चूलिका ३, सूत्र ४०१ :

समणस्स णं भगवओ महावीरस्स अम्मापियरो पासावच्चिज्जा समणोवासगा यावि होत्था।

४—भगवती, १।९

५—वही, ५।९

६—वही, ९।३२

७—सूत्रकृतांग, २।७

और चम्पक रमणीय उद्यान में ठहरे। उसी सन्निवेश में पार्श्वापत्यीय स्थविर मुनिचन्द्र अपने शिष्य परिवार के साथ कूपनक नामक कुंभकार की शाला में ठहरे हुए थे। वे जिनकल्प-प्रतिमा की साधना कर रहे थे। वे अपने शिष्य को गण का भार दे स्वयं 'सत्त्व-भावना' में अपनी आत्मा को भावित करते हुए विचरण करते थे।

गोशाला भगवान् के साथ था। उसने गाँव में घूमते-घूमते पार्श्वापत्यीय स्थविर मुनिचन्द्र को देखा। उनके पास जा पूछा—तुम कौन हो?

उन्होंने कहा—हम श्रमण निर्ग्रन्थ हैं।

गोशाला ने कहा—अहो तुम कैसे श्रमण निर्ग्रन्थ? निर्ग्रन्थ होते हुए भी तुम अपने पास इतने ग्रन्थ—परिग्रह क्यों रखते हो?

इतना कह उसने भगवान् की बात उनसे कही और पूछा—क्या तुम्हारे संघ में भी ऐसा कोई महात्मा है?

मुनिचन्द्र ने कहा—जैसे तुम हो वैसे ही तुम्हारे आचार्य होंगे।

इस पर गोशाला कुपित हो गया। उसने क्रोधाग्नि से जलते हुए कहा—यदि मेरे धर्माचार्य के तप का प्रभाव है तो तुम्हारा यह प्रतिश्रय—आश्रय जल कर भस्म हो जाए।

मुनिचन्द्र ने कहा—तुम्हारे कहने मात्र से हम नहीं जलेंगे।

गोशाला भगवान् के पास आया और बोला—भगवन्! आज मैंने सारम्भ, सपरिग्रही साधुओं को देखा है।

भगवान् ने कहा—वे पार्श्वनाथ की परम्परा के साधु हैं।

रात का समय हुआ। कुंभकार कूपनक विकाल वेला में बाहर से अपने घर पहुँचा। उसने एक ओर एक व्यक्ति को ध्यानस्थ खड़े देखा और यह सोच कर कि 'यह चोर है', उसके गले को पकड़ा। स्थविर मुनिचन्द्र का गला घुटने लगा। असह्य-वेदना हो रही थी पर वे अकम्प रहे। ध्यान की लीनता बढ़ी। वे केवली हुए और समस्त कर्मों को क्षीण कर सिद्ध, बुद्ध, मुक्त हो गए।[१]

एक बार भगवान् महावीर चोराग सन्निवेश में गए। गोशाला साथ था। वहाँ के अधिकारियों ने इन्हें गुप्तचर समझ पकड़ लिया। गोशाले को एक रस्सी से बाँध कर कुएँ में लटका दिया। वहाँ उत्पल की दो बहनें—सोमा और जयन्ति रहती थीं। वे दोनों दीक्षित होने में असमर्थ थीं, अतः पार्श्वापत्यीय परिव्राजिकाओं के रूप में रहती थीं। उन्होंने लोगों को महावीर के विषय में यथार्थ जानकारी दी। अधिकारियों ने महावीर तथा गोशाला को बन्धन-मुक्त कर दिया।[२]

एक बार भगवान् 'सम्बाक' ग्राम में गए। वहाँ पार्श्वापत्यीय स्थविर नन्दिसेण अपने बहुश्रुत मुनियों के बहुत बड़े परिवार के साथ आए हुए थे। आचार्य नन्दीसेण जिनकल्प-प्रतिमा में स्थित थे। गोशाले ने उन्हें देखा और उनका तिरस्कार किया। गाँव के अधिकारियों ने भी आचार्य को 'चर' समझ पकड़ भालों से आहत किया। असह्य वेदना को समभाव से सहते हुए उन्हें केवलज्ञान हुआ। वे सिद्ध, बुद्ध, मुक्त हो गए।[३]

एक बार भगवान् 'कूविय' सन्निवेश में गए। गोशाला साथ था। वहाँ के अधिकारियों ने दोनों को 'गुप्तचर' समझ कर पकड़ लिया। वहाँ पार्श्वापत्यीय परम्परा की दो परिव्राजिकाओं—विजया और प्रगल्भा ने आकर उन्हें छुड़ाया।[४]

१—आवश्यक निर्युक्ति, वृत्ति पत्र, २७८

२—वही, पत्र, २७८, २७९

३-४—वही पत्र २८२

इस प्रकार पार्श्वनाथ की परम्परा के साधुओं की जानकारी देने वाले अनेक प्रसंग उपलब्ध होते हैं। मूल आगम-साहित्य में अनेक स्थलों पर भगवान् महावीर के मुख से पार्श्व के लिए 'पुरुषादानीय' शब्द का प्रयोग हुआ है। यह आदर सूचक शब्द है।

कुमार-श्रमण केशी भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा के चौथे पट्टधर थे। प्रथम पट्टधर आचार्य शुभदत्त हुए। उनके उत्तराधिकारी आचार्य हरिदत्तसूरि थे। जिन्होंने वेदान्त-दर्शन के प्रसिद्ध आचार्य 'लोहिय' से शास्त्रार्थ कर उनको ५०० शिष्यों सहित दीक्षित किया। इन नव दीक्षित मुनियों ने सौराष्ट्र, तैलंग आदि प्रान्तों में विहार कर जैन-शासन की प्रभावना की। तीसरे पट्टधर आचार्य समुद्रसूरि थे। इनके काल में विदेशी नामक एक प्रचारक आचार्य ने उज्जैन नगरी में महाराजा जयसेन, उनकी रानी अनंगसुन्दरी और उनके राजकुमार 'केशी' को दीक्षित किया।[1] आगे चल कर मुनि केशी ने नास्तिक राजा परदेशी को समझाया और उसे जैन-धर्म में स्थापित किया।[2]

एक बार कुमार-श्रमण केशी ग्रामानुग्राम विहरण करते हुए 'श्रावस्ती' में आए और 'तिन्दुक' उद्यान में ठहरे। भगवान् महावीर के शिष्य गणधर गौतम भी संयोगवश उसी नगर में आए और 'कोष्ठक' उद्यान में ठहरे। नगर में आते-जाते दोनों परम्पराओं के शिष्य एक दूसरे से मिले। दोनों के मन जिज्ञासा से भर गए। आपस में ऊहापोह करते हुए वे अपने-अपने आचार्य के पास आए। उनसे पारस्परिक भेदों की चर्चा की।

कुमार-श्रमण केशी और गणधर गौतम विशिष्ट ज्ञानी थे। वे सब कुछ जानते थे। परन्तु अपने शिष्यों के समाधान के लिए वे कुछ व्यावहारिक प्रयत्न करना चाहते थे। कुमार-श्रमण केशी पार्श्व की परम्परा के आचार्य होने के कारण गौतम से ज्येष्ठ थे, इसलिए गौतम अपने शिष्यों को साथ ले 'तिन्दुक' उद्यान में गए। आचार्य केशी ने आसन आदि दे उनका सत्कार किया। कई अन्य मतावलम्बी संन्यासी तथा उनके उपासक भी आए। आचार्य केशी तथा गणधर गौतम में संवाद हुआ। प्रश्नोत्तर चले। उनमें चातुर्याम और पंचयाम धर्म तथा सचेलकत्व और अचेलकत्व के प्रश्न मुख्य थे।

आचार्य केशी ने गौतम से पूछा—"भंते! भगवान् पार्श्व ने चातुर्याम धर्म की प्ररूपणा की और भगवान् महावीर ने पंचयाम धर्म की। दोनों का लक्ष्य एक है। फिर यह भेद क्यों? क्या यह पार्थक्य संदेह उत्पन्न नहीं करता?" (श्लो० २३, २४)

गौतम ने कहा—"भंते! प्रथम तीर्थङ्कर के श्रमण ऋजु-जड़, अन्तिम तीर्थङ्कर के वक्र-जड़ और मध्यवर्ती बाईस तीर्थङ्करों के श्रमण ऋजु-प्राज्ञ होते हैं। प्रथम तीर्थङ्कर के श्रमणों के लिए मुनि के आचार को यथावत् ग्रहण करना कठिन है, चरम तीर्थंकर के श्रमणों के लिए आचार का पालन करना कठिन है और मध्यवर्ती तीर्थंकरों के मुनि उसे यथावत् ग्रहण करते हैं तथा सरलता से उसका पालन भी करते हैं। इन्हीं कारणों से धर्म के ये दो भेद हुए हैं।' (श्लो० २५, २६, २७)

आचार्य केशी ने पुनः पूछा—"भंते! एक ही प्रयोजन के लिए अभिनिष्क्रमण करने वाले इन दोनों परम्पराओं के मुनियों के वेश में यह विविधता क्यों है? एक सवस्त्र हैं और दूसरे अवस्त्र।" (श्लो० २९, ३०)

गौतम ने कहा—"भंते! मोक्ष के निश्चित साधन तो ज्ञान, दर्शन और चारित्र हैं। वेश तो बाह्य उपकरण है। लोगों को यह प्रतीत हो कि वे साधु हैं, इसलिए नाना प्रकार के उपकरणों की परिकल्पना की है। संयम जीवन-यात्रा को निभाना और 'मैं साधु हूँ'—ऐसा ध्यान आते रहना—वेश धारण के ये प्रयोजन हैं।" (श्लो० ३२, ३३)

१—समरसिंह; पृष्ठ ७५, ७६

२—नाभिनन्दोद्धार प्रबन्ध १३६ :

केशिनामा तद्-विनेयः, यः प्रदेशीनरेश्वरम्।
प्रबोध्य नास्तिकाद् धर्माद्, जैनधर्मेऽध्यरोपयत्॥

इन दो विषयों से यह आकलन किया जा सकता है कि किस प्रकार भगवान् महावीर ने अपने संघ में परिष्कार, परिवर्द्धन और सम्वर्द्धन किया था। चार महाव्रतों की परम्परा को बदल पाँच महाव्रतों की स्थापना की। सचेल परम्परा के स्थान पर अचेल परम्परा को मान्यता दी। सामाजिक-चारित्र के साथ-साथ छेदोपस्थापनीय-चारित्र की प्ररूपणा की तथा समिति-गुप्ति का पृथक् निरूपण कर उनका महत्त्व बढ़ाया।[1]

भगवान् महावीर ने सचेल और अचेल—दोनों परम्पराओं के साधकों को मान्यता दी और उनकी साधना के लिए निश्चित पथ निर्दिष्ट किया। दोनों परम्पराएँ एक ही छत्र-छाया में पनपीं, फूली-फलीं और उनमें कभी संघट्टन नहीं हुआ। भगवान् प्रारम्भ में सचेल थे। एक देवदूष्य धारण किए हुए थे। तदनन्तर वे अचेल बने और जीवन भर अचेल रहे। किन्तु उन्होंने सचेल और अचेल किसी एक को एकांगी मान्यता नहीं दी। दोनों के अस्तित्व को स्वीकार कर उन्होंने संघ को विस्तार दिया।

इस अध्ययन में आत्म-विजय और मनोनुशासन के उपायों का अच्छा निरूपण है।

१—मूलाचार, ७।३६-३८ :

बावीसं तित्थयरा, सामाइयसंजमं उवदिसंति।
छेदुवट्ठावणियं पुण, भयवं उसहो य वीरो य॥
आचक्खिदुं विभजिदुं, विण्णादुं चावि सुहदरं होदि।
एदेण कारणेण दु, महव्वदा पंच पण्णत्ता॥
आदीए दुव्विसोधणे, णिहणे तह सुट्ठु दुरणुपाले य।
पुरिमा य पच्छिमा वि हु, कप्पाकप्पं ण जाणन्ति॥

तेविंसइमं अज्झयणं : त्रयोविंश अध्ययन

केसिगोयमिज्जं : केशि-गौतमीयम्

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
१—जिणे पासे त्ति नामेण 'अरहा लोगपूइओ । संबुद्धप्पा य सव्वन्नू धम्मतित्थयरे जिणे'[1] ॥	जिनः पार्श्व इति नाम्ना । अर्हन् लोक-पूजितः । संबुद्धात्मा च सर्वज्ञः धर्म-तीर्थकरो जिनः ॥	१—पार्श्व नाम के जिन हुए। वे अर्हन्, लोक-पूजित, संबुद्धात्मा, सर्वज्ञ, धर्म-तीर्थ के प्रवर्तक और वीतराग थे।
२—तस्स लोगपईवस्स आसि सीसे महायसे । केसीकुमारसमणे विज्जाचरणपारगे ॥	तस्य लोक-प्रदीपस्य आसीच्छिष्यो महायशाः । केशिः कुमार-श्रमणः विद्या-चरण-पारगः ॥	२—लोक को प्रकाशित करने वाले उन भगवान् पार्श्व के केशी नामक शिष्य हुए। वे महान् यशस्वी, विद्या और आचार के पार-गामी, कुमार-श्रमण थे।
३—ओहिनाणसुए बुद्धे सीससंघसमाउले । गामाणुगामं रीयन्ते सावत्थिं नगरिमागए ॥	अवधिज्ञान-श्रुताभ्यां बुद्धः शिष्य-संघ-समाकुलः । ग्रामानुग्रामं रीयमाणः श्रावस्तीं नगरीमागतः ॥	३—वे अवधि-ज्ञान और श्रुत-सम्पदा से तत्त्वों को जानते थे। वे शिष्य-संघ से परिवृत हो कर ग्रामानुग्राम विहार करते हुए श्रावस्ती में आए।
४—तिन्दुयं नाम उज्जाणं तम्मी नगरमण्डले । फासुए सिज्जसंथारे तत्थ वासमुवागए ॥	तिन्दुकं नामोद्यानं तस्मिन् नगर-मण्डले । प्रासुके शय्या-संस्तारे तत्र वासमुपागतः ॥	४—उस नगर के पार्श्व में 'तिंदुक' उद्यान था। वहाँ जीव-जन्तु रहित शय्या (मकान) और संस्तार (आसन) लेकर वे ठहर गए।
५—अह तेणेव कालेणं धम्मतित्थयरे जिणे । भगवं वद्धमाणो त्ति सव्वलोगम्मि विस्सुए ॥	अथ तस्मिन्नेव काले धर्म-तीर्थंकरो जिनः । भगवान् वर्धमान इति सर्वलोके विश्रुतः ॥	५—उस समय भगवान् वर्धमान विहार कर रहे थे। वे धर्म-तीर्थ के प्रवर्तक, जिन और समूचे लोक में विश्रुत थे।

१. ....अरिहा लोगविस्सुए।
सव्वन्नू सव्वदंसी य धम्मतित्थस्स देसए ॥ (बृ० पा०)।

६—तस्स लोगपईवस्स
आसि सीसे महायसे[1]।
भगवं गोयमे नामं
विज्जाचरणपारगे ॥

तस्य लोक-प्रदीपस्य
आसीच्छिष्यो महायशाः।
भगवान् गौतमो नाम
विद्या-चरण-पारगः ॥

६—लोक को प्रकाशित करने वाले उन भगवान् वर्धमान के गौतम नाम के शिष्य थे। वे महान् यशस्वी, भगवान् तथा विद्या और आचार के पारगामी थे।

७—बारसंगविऊ बुद्धे
सीससंघसमाउले ।
गामाणुगामं रीयन्ते
से वि सावत्थिमागए ॥

द्वादशांगविद् बुद्धः
शिष्य-संघ-समाकुलः।
ग्रामानुग्रामं रीयमाणः
सोऽपि श्रावस्तीमागतः ॥

७—वे बारह अंगों को जानने वाले और बुद्ध थे। शिष्य-संघ से परिवृत हो कर ग्रामानुग्राम विहार करते हुए वे भी श्रावस्ती में आ गए।

८—कोट्ठगं नाम उज्जाणं
तम्मी नयरमण्डले ।
फासुए सिज्जसंथारे
तत्थ वासमुवागए ॥

कोष्ठकं नामोद्यानं
तस्मिन्नगर-मण्डले।
प्रासुके शय्या-संस्तारे
तत्र वासमुपागतः ॥

८—उस नगर के पार्श्व-भाग में 'कोष्ठक' उद्यान था। वहाँ जीव-जन्तु रहित शय्या और संस्तार लेकर वे ठहर गए।

९—केसीकुमारसमणे
गोयमे य महायसे ।
उभओ वि तत्थ विहरिंसु
अल्लीणा[2] सुसमाहिया ॥

केशिः कुमार-श्रमणः
गौतमश्च महायशाः।
उभावपि तत्र व्यहार्ष्टाम्
आलीनौ सुसमाहितौ ॥

९—कुमार-श्रमण केशी और महान् यशस्वी गौतम—दोनों वहाँ विहार कर रहे थे। वे आत्म-लीन और मन की समाधि से सम्पन्न थे।

१०—उभओ सीससंघाणं
संजयाणं तवस्सिणं ।
तत्थ चिन्ता समुप्पन्ना
गुणवन्ताण ताइणं ॥

उभयोः शिष्य-सङ्घानां
संयतानां तपस्विनाम्।
तत्र चिन्ता समुत्पन्ना
गुणवतां त्रायिणाम् ॥

१०—उन दोनों के शिष्य-समूहों को वहाँ एक तर्क उत्पन्न हुआ, जो संयत, तपस्वी, गुणवान् और त्रायी थे।

११—केरिसो वा इमो धम्मो ?
इमो धम्मो व केरिसो ?।
आयारधम्मपणिही
इमा वा सा व केरिसी ? ॥

कीदृशो वायं धर्मः ?
अयं धर्मो वा कीदृशः ?।
आचार-धर्म-प्रणिधिः
अयं वा स वा कीदृशः ? ॥

११—यह हमारा धर्म कैसा है ? और यह धर्म कैसा है ? आचार-धर्म की व्यवस्था यह हमारी कैसी है ? और वह उनकी कैसी है ?

---

१. महिड्डिइए (अ)।
२. अल्लीणा (बृ० पा०)।

१२—चाउज्जामो य जो धम्मो
जो इमो पंचसिक्खिओ ।
देसिओ वद्धमाणेण
पासेण य महामुणी ॥

चातुर्यामश्च यो धर्मः
योऽयं पंच-शिक्षितः ।
देशितो वर्धमानेन
पार्श्वेण च महामुनिना ॥

१२—जो चातुर्याम-धर्म है, उसका प्रतिपादन महामुनि पार्श्व ने किया है । और यह जो पंच-शिक्षात्मक-धर्म है, उसका प्रतिपादन महामुनि वर्धमान ने किया है ।

१३—अचेलगो य जो धम्मो
जो इमो सन्तरुत्तरो ।
एगकज्जपवन्नाणं
विसेसे किं नु कारणं ? ॥

अचेलकश्च यो धर्मः
योऽयं सान्तरोत्तरः ।
एककार्य-प्रपन्नयोः
विशेषे किन्नु कारणम् ? ॥

१३—महामुनि वर्धमान ने जो आचार-धर्म की व्यवस्था की है वह अचेलक है और महामुनि पार्श्व ने जो यह आचार-धर्म की व्यवस्था की है, वह सान्तर (वर्ण आदि से विशिष्ट) तथा उत्तर (मूल्यवान् वस्त्र वाली) है । जबकि हम एक ही उद्देश्य से चले हैं तो फिर इस भेद का क्या कारण है ?

१४—अह ते तत्थ सीसाणं
विन्नाय पवितक्कियं ।
समागमे कयमई
उभओ केसिगोयमा ॥

अथ तौ तत्र शिष्याणां
विज्ञाय प्रवितर्कितम् ।
समागमे कृतमती
उभौ केशि-गौतमौ ॥

१४—उन दोनों—केशी और गौतम ने अपने-अपने शिष्यों की वितर्कणा को जान कर परस्पर मिलने का विचार किया ।

१५—गोयमे पडिरूवन्नू
सीससंघसमाउले ।
जेट्ठं कुलमवेक्खन्तो
तिन्दुयं वणमागओ ॥

गौतमः प्रतिरूपज्ञः
शिष्य-सङ्घ-समाकुलः ।
ज्येष्ठं कुलमपेक्षमाणः
तिन्दुकं वनमागतः ॥

१५—गौतम ने विनय की मर्यादा का औचित्य देखा । केशी का कुल ज्येष्ठ था, इसलिए वे शिष्य-संघ को साथ लेकर तिंदुक वन में चले आए ।

१६—केसीकुमारसमणे
गोयमं दिस्समागयं ।
पडिरूवं पडिवत्तिं
सम्मं संपडिवज्जई ॥

केशिः कुमार-श्रमणः
गौतमं दृष्ट्वागतम् ।
प्रतिरूपां प्रतिपत्तिम्
सम्यक् संप्रतिपद्यते ॥

१६—कुमार श्रमण केशी ने गौतम को आए देख कर सम्यक् प्रकार से उनका उपयुक्त आदर किया ।

१७—पलालं फासुयं तत्थ
पंचमं कुसतणाणि य ।
गोयमस्स निसेज्जाए
खिप्पं संपणामए ॥

पलालं प्रासुकं तत्र
पंचमं कुश-तृणानि च ।
गौतमस्य निषद्यायै
क्षिप्रं समर्पयति ॥

१७—उन्होंने तुरन्त ही गौतम को बैठने के लिए प्रासुक पयाल (चार प्रकार के अनाजों के डंठल) और पाँचवीं कुश नाम की घास दी ।

२९—अचेलगो य जो धम्मो
जो इमो सन्तरुत्तरो ।
देसिओ वद्धमाणेण
पासेण य महाजसा[1] ॥

अचेलकश्च यो धर्मः
योऽयं सान्तरोत्तरः ।
देशितो वर्धमानेन
पार्श्वेण च महायशसा ॥

२९—महामुनि वर्धमान ने जो आचार-धर्म की व्यवस्था की है वह अचेलक है और महान् यशस्वी पार्श्व ने जो यह आचार-धर्म की व्यवस्था की है वह सान्तर (वर्ण आदि से विशिष्ट) तथा उत्तर (मूल्यवान् वस्त्र वाली) है ।

३०—एगकज्जपवन्नाणं
विसेसे किं नु कारणं ? ।
लिंगे दुविहे मेहावि !
कहं विप्पच्चओ न ते ? ॥

एककार्य-प्रपन्नयोः
विशेषे किन्नु कारणम् ? ।
लिङ्गे द्विविधे मेधाविन् !
कथं विप्रत्ययो न ते ? ॥

३०—एक ही उद्देश्य के लिए हम चले हैं तो फिर इस भेद का क्या कारण है ? मेधाविन् ! वेष के इन प्रकारों में तुम्हें संदेह कैसे नहीं होता ?

३१—केसिमेवं बुवाणं तु
गोयमो इणमब्बवी ।
विन्नाणेण समागम्म
धम्मसाहणमिच्छियं ॥

केशिमेवं ब्रुवाणं तु
गौतम इदमब्रवीत् ।
विज्ञानेन समागम्य
धर्म-साधनमिच्छितम् ॥

३१—केशी के कहते-कहते ही गौतम ने इस प्रकार कहा—विज्ञान से यथोचित जान कर ही धर्म के साधनों—उपकरणों की अनुमति दी गई है ।

३२—पच्चयत्थं च लोगस्स
नाणाविहविगप्पणं ।
जत्तत्थं गहणत्थं च
लोगे लिंगप्पओयणं ॥

प्रत्ययार्थं च लोकस्य
नानाविध-विकल्पनम् ।
यात्रार्थं ग्रहणार्थं च
लोके लिङ्गप्रयोजनम् ॥

३२—लोगों को यह प्रतीति हो कि ये साधु हैं, इसलिए नाना प्रकार के उपकरणों की परिकल्पना की गई है । जीवन-यात्रा को निभाना और 'मैं साधु हूँ', ऐसा ध्यान आते रहना—वेष-धारण के इस लोक में ये प्रयोजन हैं ।

३३—अह भवे पइन्ना उ
मोक्खसब्भूयसाहणे[2] ।
नाणं च दंसणं चेव
चरित्तं चेव निच्छए ॥

अथ भवेत्प्रतिज्ञा तु
मोक्ष-सद्भूत-साधने ।
ज्ञानं च दर्शनं चैव
चारित्रं चैव निश्चये ॥

३३—यदि मोक्ष की वास्तविक साधना की प्रतिज्ञा हो तो निश्चय-दृष्टि में उसके साधन, ज्ञान, दर्शन और चारित्र ही हैं ।

३४—साहु गोयम ! पन्ना ते
छिन्नो मे संसओ इमो ।
अन्नो वि संसओ मज्झं
तं मे कहसु गोयमा ! ॥

साधुः गौतम ! प्रज्ञा ते
छिन्नो मे संशयोऽयम् ।
अन्योऽपि संशयो मम
तं मां कथय गौतम ! ॥

३४—गौतम ! उत्तम है तुम्हारी प्रज्ञा । तुमने मेरे इस संशय को दूर किया है । मुझे एक दूसरा संशय भी है । गौतम ! उसके विषय में भी तुम मुझे बतलाओ ।

---

१. महामुणी (बृ०) ; महाजसा (बृ० पा०) ।
२. मुक्ख संभूय° (उ, ऋ०) ; मोक्खे सब्भूय° (ब) ।

३५—अणेगाणं सहस्साणं
मज्झे चिट्ठसि गोयमा ! ।
ते य ते अहिगच्छन्ति
कहं ते निज्जिया तुमे ? ॥

अनेकेषां सहस्राणां
मध्ये तिष्ठसि गौतम ! ।
ते च त्वामभिगच्छन्ति
कथं ते निर्जितास्त्वया ? ॥

३५—गौतम ! तुम हजारों-हजारों शत्रुओं के बीच खड़े हो। वे तुम्हें जीतने को तुम्हारे सामने आ रहे हैं। तुमने उन्हें कैसे पराजित किया ?

३६—एगे जिए जिया पंच
पंच जिए जिया दस ।
दसहा उ जिणित्ताणं
सव्वसत्तू जिणामहं ॥

एकस्मिन् जिते जिताः पंच
पंचसु जितेषु जिता दश ।
दशधा तु जित्वा
सर्वशत्रून् जयाम्यहम् ॥

३६—एक को जीत लेने पर पाँच जीते गए। पाँच को जीत लेने पर दस जीते गए। दसों को जीत कर मैं सब शत्रुओं को जीत लेता हूँ।

३७—सत्तू य इइ के वुत्ते ?
केसी गोयममब्बवी ।
तओ केसिं बुवंतं तु
गोयमो इणमब्बवी ॥

शत्रवश्च इति के उक्ताः ?
केशिः गौतममब्रवीत् ।
ततः केशिं ब्रुवन्तं तु
गौतम इदमब्रवीत् ॥

३७—शत्रु कौन कहलाता है ?—केशी ने गौतम से कहा। केशी के कहते-कहते ही गौतम इस प्रकार बोले—

३८—एगप्पा अजिए सत्तू
कसाया इन्दियाणि य ।
ते जिणित्तु[1] जहानायं
विहरामि अहं मुणी ! ॥

एक आत्माऽजितः शत्रुः
कषाया इन्द्रियाणि च ।
तान् जित्वा यथान्यायं
विहराम्यहं मुने ! ॥

३८—एक न जीती हुई आत्मा शत्रु है। कषाय और इन्द्रियाँ शत्रु है। मुने ! मैं उन्हें जीत कर नीति के अनुसार विहार कर रहा हूँ।

३९—साहु गोयम ! पन्ना ते
छिन्नो मे संसओ इमो ।
अन्नो वि संसओ मज्झं
तं मे कहसु गोयमा ! ॥

साधुः गौतम ! प्रज्ञा ते
छिन्नो मे संशयोऽयम् ।
अन्योऽपि संशयो मम
तं मां कथय गौतम ! ॥

३९—गौतम ! उत्तम है तुम्हारी प्रज्ञा। तुमने मेरे इस संशय को दूर किया है। मुझे एक दूसरा संशय भी है। गौतम ! उसके विषय में भी तुम मुझे बतलाओ।

४०—दीसन्ति बहवे लोए
पासबद्धा सरीरिणो ।
मुक्कपासो लहुब्भूओ
कहं तं विहरसी ? मुणी ! ॥

दृश्यन्ते बहवो लोके
पाश-बद्धाः शरीरिणः ।
मुक्त-पाशो लघुभूतः
कथं त्वं विहरसि ? मुने ! ॥

४०—इस संसार में बहुत जीव पाश से बन्धे हुए दीख रहे हैं। मुने ! तुम पाश से मुक्त और पवन की तरह प्रतिबंध-रहित हो कर कैसे विहार कर रहे हो ?

१. जहित्तु (अ)।

४१—ते पासे सव्वसो छित्ता
निहन्तूण उवायओ।
मुक्कपासो लहुब्भूओ
विहरामि अहं मुणी! ॥

ताम् पाशान् सर्वशश्छित्वा
निहत्योपायतः।
मुक्त-पाशो लघुभूतः
विहराम्यहं मुने! ॥

४१—मुने! उन पाशों को सर्वथा काट कर, उपायों से विनष्ट कर मैं पाश-मुक्त और प्रतिबन्ध-रहित हो कर विहार करता हूँ।

४२—पासा य इइ के वुत्ता?
केसी गोयममब्बवी।
केसिमेवं बुवंतं तु
गोयमो इणमब्बवी ॥

पाशाश्चेति के उक्ताः?
केशिः गौतममब्रवीत्।
केशिमेवं ब्रुवन्तं तु
गौतम इदमब्रवीत् ॥

४२—पाश किसे कहा गया है?—केशी ने गौतम से कहा। केशी के कहते-कहते ही गौतम इस प्रकार बोले—

४३—रागद्दोसादओ तिव्वा
नेहपासा भयंकरा।
ते छिन्दित्तु जहानायं
विहरामि जहक्कमं ॥

राग-द्वेषादयस्तीव्राः
स्नेह-पाशा भयङ्कराः।
तान् छित्वा यथान्यायं
विहरामि यथाक्रमम् ॥

४३—प्रगाढ़ राग-द्वेष और स्नेह भयंकर पाश हैं। मैं उन्हें काट कर मुनि-धर्म की नीति और आचार के साथ विहार करता हूँ।

४४—साहु गोयम! पन्ना ते
छिन्नो मे संसओ इमो।
अन्नो वि संसओ मज्झं
तं मे कहसु गोयमा! ॥

साधुः गौतम! प्रज्ञा ते
छिन्नो मे संशयोऽयम्।
अन्योऽपि संशयो मम
तं मां कथय गौतम! ॥

४४—गौतम! उत्तम है तुम्हारी प्रज्ञा। तुमने मेरे इस संशय को दूर किया है। मुझे एक दूसरा संशय भी है। गौतम! उसके विषय में भी तुम मुझे बतलाओ।

४५—अन्तोहिययसंभूया
लया चिट्ठइ गोयमा!।
फलेइ विसभक्खीणि[1]
सा उ उद्धरिया कहं? ॥

अन्तर्हृदय-संभूता
लता तिष्ठति गौतम!।
फलति विष-भक्ष्याणि
सा तूद्धृता कथम्? ॥

४५—गौतम! हृदय के भीतर उत्पन्न जो लता है जिसके विष-तुल्य फल लगते हैं, उसे तुमने कैसे उखाड़ा?

४६—तं लयं सव्वसो छित्ता
उद्धरित्ता समूलियं।
विहरामि जहानायं
मुक्को मि विसभक्खणं ॥

तां लतां सर्वशश्छित्वा
उद्धृत्य समूलिकाम्।
विहरामि यथान्यायं
मुक्तोऽस्मि विष-भक्षणात् ॥

४६—उस लता को सर्वथा काट कर, जड़ से उखाड़ कर मैं मुनि-धर्म की नीति के अनुसार विहार करता हूँ, इसलिए मैं विष-फल के खाने से मुक्त हूँ।

---

१. विसभक्खीणं (बृ०)।

४७—लया य इइ का वुत्ता ? केसी गोयममब्बवी । केसिमेवं बुवंतं तु गोयमो इणमब्बवी ॥	लता च इति का उक्ता ? केशिः गौतममब्रवीत् । ततः केशिं ब्रुवन्तं तु गौतम इदमब्रवीत् ॥	४७—लता किसे कहा गया है ?—केशी ने गौतम से कहा । केशी के कहते-कहते ही गौतम इस प्रकार बोले—
४८—भवतण्हा लया वुत्ता भीमा भीमफलोदया । तमुद्धरित्तु[1] जहानायं विहरामि महामुणी ! ॥	भव-तृष्णा लता उक्ता भीमा भीमफलोदया । तामुद्धृत्य यथान्यायं विहरामि महामुने ! ॥	४८—भव-तृष्णा को लता कहा गया है । वह भयंकर है और उसमें भयंकर फलों का परिपाक होता है । महामुने ! मैं उसे उखाड़ कर मुनि-धर्म की नीति के अनुसार विहार करता हूँ ।
४९—साहु गोयम ! पन्ना ते छिन्नो मे संसओ इमो । अन्नो वि संसओ मज्झं तं मे कहसु गोयमा ! ॥	साधुः गौतम ! प्रज्ञा ते छिन्नो मे संशयोऽयम् । अन्योऽपि संशयो मम तं मां कथय गौतम ! ॥	४९—गौतम ! उत्तम है तुम्हारी प्रज्ञा । तुमने मेरे इस संशय को दूर किया है । मुझे एक दूसरा संशय भी है । गौतम ! उसके विषय में भी तुम मुझे बतलाओ ।
५०—संपज्जलिया घोरा अग्गी चिट्ठइ गोयमा ! । 'जे डहन्ति सरीरत्था'[2] कहं विज्झाविया तुमे ? ॥	संप्रज्वलिता घोराः अग्नयस्तिष्ठन्ति गौतम ! । ये दहन्ति शरीरस्थाः कथं विध्यापितास्त्वया ? ॥	५०—गौतम ! घोर-अग्नियाँ प्रज्वलित हो रही हैं, जो शरीर में रहती हुई मनुष्य को जला रही हैं । उन्हें तुमने कैसे बुझाया ?
५१—महामेहप्पसूयाओ गिज्झ वारि जलुत्तमं । 'सिंचामि सययं देहं'[3] सित्ता नो व डहन्ति मे ॥	महामेघ-प्रसूतात् गृहीत्वा वारि जलोत्तमम् । सिंचामि सततं देहं सिक्ता नो एव दहन्ति माम् ॥	५१—महामेघ से उत्पन्न निर्झर से सब जलों में उत्तम जल लेकर मैं उन्हें सींचता रहता हूँ । वे सींची हुई अग्नियाँ मुझे नहीं जलातीं ।

---

१. तमुच्छित्तु (उ, चू०); तमुद्धरित्ता (आ)।

२. जा डहेति सरीरत्था (वृ० पा०)।

३. सिंचामि सययं ते ओ (ते उ) (उ, चू०, वृ०); सिंचामि सययं देहा, सिंचामि सययं तं तु (वृ० पा०)।

५२—अग्गी य इइ के वुत्ता ?
केसी गोयममब्बवी ।
केसिमेवं बुवंतं तु
गोयमो इणमब्बवी ॥

अग्नयश्चेति के उक्ताः ?
केशिः गौतममब्रवीत् ।
ततः केशिं ब्रुवन्तं तु
गौतम इदमब्रवीत् ॥

५२—अग्नि किन्हें कहा गया है ?—केशी ने गौतम से कहा । केशी के कहते-कहते ही गौतम इस प्रकार बोले—

५३—कसाया अग्गिणो वुत्ता
सुयसीलतवो जलं ।
सुयधाराभिहया सन्ता
भिन्ना हु न डहन्ति मे ॥

कषाया अग्नय उक्ताः
श्रुत-शील-तपो जलम् ।
श्रुतधाराभिहताः सन्तः
भिन्ना 'हु' न दहन्ति माम् ॥

५३—कषायों को अग्नि कहा गया है । श्रुत, शील और तप यह जल है । श्रुत की धारा से आहत किए जाने पर निस्तेज बनी हुई वे मुझे नहीं जलातीं ।

५४—साहु गोयम ! पन्ना ते
छिन्नो मे संसओ इमो । !
अन्नो वि संसओ मज्झं
तं मे कहसु गोयमा ! ॥

साधुः गौतम ! प्रज्ञा ते
छिन्नो मे संशयोऽयम् ।
अन्योऽपि संशयो मम
तं मां कथय गौतम ! ॥

५४—गौतम ! उत्तम है तुम्हारी प्रज्ञा ! तुमने मेरे इस संशय को दूर किया है । मुझे एक दूसरा संशय भी है । गौतम ! उसके विषय में भी तुम मुझे बतलाओ ।

५५—अयं साहसिओ भीमो
दुट्ठस्सो परिधावई ।
जंसि गोयम ! आरूढो
कहं तेण न हीरसि ? ॥

अयं साहसिको भीमः
दुष्टाश्वः परिधावति ।
यस्मिन् गौतम ! आरूढः
कथं तेन न ह्रियसे ? ॥

५५—यह साहसिक, भयंकर, दुष्ट-अश्व दौड़ रहा है । गौतम ! तुम उस पर चढ़े हुए हो । वह तुम्हें उन्मार्ग में कैसे नहीं ले जाता ?

५६—पधावन्तं निगिण्हामि
सुयरस्सीसमाहियं ।
न मे गच्छइ उम्मग्गं
मग्गं च पडिवज्जई ॥

प्रधावन्तं निगृह्णामि
श्रुतरश्मि-समाहितम् ।
न मे गच्छत्युन्मार्गं
मार्गं च प्रतिपद्यते ॥

५६—मैंने इसे श्रुत की लगाम से बांध लिया है । यह जब उन्मार्ग की ओर दौड़ता है तब मैं इस पर रोक लगा देता हूं । इसलिए मेरा अश्व उन्मार्ग को नहीं जाता, मार्ग में ही चलता है ।

५७—अस्से य इइ के वुत्ते ?
केसी गोयममब्बवी ।
केसिमेवं[1] बुवंतं तु
गोयमो इणमब्बवी ॥

अश्वश्चेति क उक्तः ?
केशिः गौतममब्रवीत् ।
ततः केशिं ब्रुवन्तं तु
गौतम इदमब्रवीत् ॥

५७—अश्व किसे कहा गया है ?—केशी ने गौतम से कहा । केशी के कहते-कहते ही गौतम इस प्रकार बोले—

---

१. तओ केसिं (अ) ।

५८—मणो साहसिओ भीमो
दुट्ठस्सो परिधावई ।
तं सम्मं निगिण्हामि
धम्मसिक्खाए कन्थगं ॥

मनः साहसिको भीमः
दुष्टाश्वः परिधावति ।
तत् सम्यक् निगृह्णामि
धर्म-शिक्षया कन्थकम् ॥

५८—यह जो साहसिक, भयंकर, दुष्ट-अश्व दौड़ रहा है, वह मन है। उसे मैं भली-भाँति अपने अधीन रखता हूँ। धर्म-शिक्षा के द्वारा वह उत्तम-जाति का अश्व हो गया है।

५९—साहु गोयम! पन्ना ते
छिन्नो मे संसओ इमो ।
अन्नो वि संसओ मज्झं
तं मे कहसु गोयमा ! ॥

साधुः गौतम ! प्रज्ञा ते
छिन्नो मे संशयोऽयम् ।
अन्योऽपि संशयो मम
तं मां कथय गौतम ! ॥

५९—गौतम ! उत्तम है तुम्हारी प्रज्ञा। तुमने मेरे इस संशय को दूर किया है। मुझे एक दूसरा संशय भी है। गौतम! उसके विषय में भी तुम मुझे बतलाओ।

६०—कुप्पहा बहवो लोए
जेहिं नासन्ति जंतवो ।
अद्धाणे कह वट्टन्ते
तं न नस्ससि ? गोयमा! ॥

कुपथा बहवो लोके
यैर्नश्यन्ति जन्तवः ।
अध्वनि कथं वर्तमानः
त्वं न नश्यसि ? गौतम ! ॥

६०—लोक में कुमार्ग बहुत हैं। जिन पर चलने वाले लोग भटक जाते हैं। गौतम! मार्ग में चलते हुए तुम कैसे नहीं भटकते ?

६१—जे य मग्गेण गच्छन्ति
'जे य उम्मग्गपट्ठिया'[१] ।
ते सव्वे विइया मज्झं
तो न नस्सामहं[२] मुणी ! ॥

ये च मार्गेण गच्छन्ति
ये चोन्मार्ग-प्रस्थिताः ।
ते सर्वे विदिता मया
ततो न नश्याम्यहं मुने ! ॥

६१—जो मार्ग से चलते हैं और जो उन्मार्ग से चलते हैं, वे सब मुझे ज्ञात हैं। मुने ! इसीलिए मैं नहीं भटक रहा हूँ।

६२—मग्गे य इइ के वुत्ते ?
केसी गोयममब्बवी ।
केसिमेवं बुवंतं तु
गोयमो इणमब्बवी ॥

मार्गश्चेति क उक्तः ?
केशिः गौतममब्रवीत् ।
ततः केशिं ब्रुवन्तं तु
गौतम इदमब्रवीत् ॥

६२—मार्ग किसे कहा गया है ?—केशी ने गौतम से कहा। केशी के कहते-कहते ही गौतम इस प्रकार बोले—

६३—कुप्पवयणपासण्डी
सव्वे उम्मग्गपट्ठिया ।
सम्मग्गं तु जिणक्खायं
एस मग्गे हि[३] उत्तमे ॥

कुप्रवचन-पाषण्डिनः
सर्वे उन्मार्ग-प्रस्थिताः ।
सन्मार्गस्तु जिनाख्यातः
एष मार्गो हि उत्तमः ॥

६३—जो कुप्रवचन के व्रती हैं, वे सब उन्मार्ग की ओर चले जा रहे हैं। जो राग-द्वेष को जीतने वाले जिन ने कहा है, वह सन्मार्ग है, क्योंकि यह सबसे उत्तम मार्ग है।

१. जे उम्मग्ग पइट्ठिया (अ)।
२. नस्सामिहं (अ)।
३. हे (अ)।

६४—साहु गोयम ! पन्ना ते
छिन्नो मे संसओ इमो ।
अन्नो वि संसओ मज्झं
तं मे कहसु गोयमा ! ॥

साधुः गौतम ! प्रज्ञा ते
छिन्नो मे संशयोऽयम् ।
अन्योऽपि संशयो मम
तं मां कथय गौतम ! ॥

६४—गौतम ! उत्तम है तुम्हारी प्रज्ञा । तुमने मेरे इस संशय को दूर किया है । मुझे एक दूसरा संशय भी है । गौतम ! उसके विषय में भी तुम मुझे बतलाओ ।

६५—महाउदगवेगेणं
वुज्झमाणाण पाणिणं ।
सरणं गई पइट्ठा य
दीवं 'कं मन्नसी ?'[1] मुणी ! ॥

महोदकवेगेन
उह्यमानानां प्राणिनाम् ।
शरणं गतिं प्रतिष्ठां च
द्वीपं कं मन्यसे ? मुने ! ॥

६५—मुने ! महान् जल-प्रवाह के वेग से बहते हुए जीवों के लिए तुम शरण, गति, प्रतिष्ठा और द्वीप किसे मानते हो ?

६६—अत्थि एगो महादीवो
वारिमज्झे महालओ ।
महाउदगवेगस्स
गई तत्थ न विज्जई ॥

अस्त्येको महाद्वीपः
वारिमध्ये महालयः ।
महोदक-वेगस्य
गतिस्तत्र न विद्यते ॥

६६—जल के मध्य में एक लम्बा-चौड़ा महाद्वीप है । वहाँ महान् जल-प्रवाह की गति नहीं है ।

६७—दीवे य इइ के वुत्ते ?
केसी गोयममब्बवी ।
केसिमेवं बुवंतं तु
गोयमो इणमब्बवी ॥

द्वीपश्चेति क उक्तः ?
केशिः गौतममब्रवीत् ।
ततः केशिं ब्रुवन्तं तु
गौतम इदमब्रवीत् ॥

६७—द्वीप किसे कहा गया है ?—केशी ने गौतम से कहा । केशी के कहते-कहते ही गौतम इस प्रकार बोले—

६८—जरामरणवेगेणं
वुज्झमाणाण पाणिणं ।
धम्मो दीवो 'पइट्ठा य'[2]
गई सरणमुत्तमं ॥

जरा-मरण-वेगेन
उह्यमानानां प्राणिनाम् ।
धर्मो द्वीपः प्रतिष्ठा च
गतिः शरणमुत्तमम् ॥

६८—जरा और मृत्यु के वेग से बहते हुए प्राणियों के लिए धर्म द्वीप, प्रतिष्ठा, गति और उत्तम शरण है ।

६९—साहु गोयम ! पन्ना ते
छिन्नो मे संसओ इमो ।
अन्नो वि संसओ मज्झं
तं मे कहसु गोयमा ! ॥

साधुः गौतम ! प्रज्ञा ते
छिन्नो मे संशयोऽयम् ।
अन्योऽपि संशयो मम
तं मां कथय गौतम ! ॥

६९—गौतम ! उत्तम है तुम्हारी प्रज्ञा । तुमने मेरे इस संशय को दूर किया है । मुझे एक दूसरा संशय भी है । गौतम ! उसके विषय में भी तुम मुझे बतलाओ ।

---

१. कम्मुणसी ? (अ)।
२. पत्तिट्ठा णं (अ)।

७०—अण्णवंसि महोहंसि
नावा विपरिधावई।
जंसि गोयममारूढो
कहं पारं गमिस्ससि ?॥

अर्णवे महौघे
नौर्विपरिधावति।
यस्यां गौतम ! आरूढः
कथं पारं गमिष्यसि ?॥

७०—महा-प्रवाह वाले समुद्र में नौका तीव्र गति से चली जा रही है। गौतम ! तुम उसमें आरूढ़ हो। उस पार कैसे पहुँच पाओगे ?

७१—जा उ अस्साविणी[1] नावा
न सा पारस्स गामिणी।
जा निरस्साविणी नावा
सा उ पारस्स गामिणी॥

या त्वाश्राविणी नौः
न सा पारस्य गामिनी।
या निराश्राविणी नौः
सा तु पारस्य गामिनी॥

७१—जो छेद वाली नौका होती है, वह उस पार नहीं जा पाती। किन्तु जो नौका छेद वाली नहीं होती, वह उस पार चली जाती है।

७२—नावा य इइ का वुत्ता ?
केसी गोयममब्बवी।
केसिमेवं बुवंतं तु
गोयमो इणमब्बवी॥

नौश्चेति कोक्ता ?
केशिः गौतममब्रवीत्।
ततः केशिं ब्रुवन्तं तु
गौतम इदमब्रवीत्॥

७२—नौका किसे कहा गया है ?—केशी ने गौतम से कहा। केशी के कहते-कहते ही गौतम इस प्रकार बोले—

७३—सरीरमाहु नाव त्ति
जीवो वुच्चइ नाविओ।
संसारो अण्णवो वुत्तो
जं तरन्ति महेसिणो॥

शरीरमाहुर्नौरिति
जीव उच्यते नाविकः।
संसारोऽर्णव उक्तः
यं तरन्ति महर्षयः॥

७३—शरीर को नौका, जीव को नाविक और संसार को समुद्र कहा गया है। महान् मोक्ष की एषणा करने वाले इसे तैर जाते हैं।

७४—साहु गोयम ! पन्ना ते
छिन्नो मे संसओ इमो।
अन्नो वि संसओ मज्झं
तं मे कहसु गोयमा !॥

साधुः गौतम ! प्रज्ञा ते
छिन्नो मे संशयोऽयम्।
अन्योऽपि संशयो मम
तं मां कथय गौतम्॥

७४—गौतम ! उत्तम है तुम्हारी प्रज्ञा। तुमने मेरे इस संशय को दूर किया है। मुझे एक दूसरा संशय भी है। गौतम ! उसके विषय में भी तुम मुझे बतलाओ।

७५—अन्धयारे तमे घोरे
चिट्ठन्ति पाणिणो बहू।
को करिस्सइ उज्जोयं
सव्वलोगंमि पाणिणं ?॥

अन्धकारे तमसि घोरे
तिष्ठन्ति प्राणिनो बहवः।
कः करिष्यत्युद्योतं
सर्वलोके प्राणिनाम् ?॥

७५—लोगों को अन्ध बनाने वाले तिमिर में बहुत लोग रह रहे हैं। इस समूचे लोक में उन प्राणियों के लिए प्रकाश कौन करेगा ?

१. सस्साविणी (बृ० पा०)।

७६—उग्गओ विमलो भाणू
सव्वलोगप्पभंकरो ।
सो करिस्सइ उज्जोयं
सव्वलोगंमि पाणिणं ॥

उद्गतो विमलो भानुः
सर्वलोक-प्रभाकरः ।
सः करिष्यत्युद्योतं
सर्वलोके प्राणिनाम् ॥

७६—समूचे लोक में प्रकाश करने वाला एक विमल भानु उगा है। वह समूचे लोक में प्राणियों के लिए प्रकाश करेगा।

७७—भाणू य इइ के वुत्ते ?
केसी गोयममब्बवी ।
केसिमेवं बुवंतं तु
गोयमो इणमब्बवी ॥

भानुश्चेति क उक्तः ?
केशिः गौतममब्रवीत् ।
ततः केशिं ब्रुवन्तं तु
गौतम इदमब्रवीत् ॥

७७—भानु किसे कहा गया है ?—केशी ने गौतम से कहा। केशी के कहते-कहते ही गौतम इस प्रकार बोले—

७८—उग्गओ खीणसंसारो
सव्वन्नू जिणभक्खरो ।
सो करिस्सइ उज्जोयं
सव्वलोयंमि पाणिणं ॥

उद्गतः क्षीण-संसारः
सर्वज्ञो जिन-भास्करः ।
स करिष्यत्युद्योतं
सर्वलोके प्राणिनाम् ॥

७८—जिसका संसार क्षीण हो चुका है, जो सर्वज्ञ है वह अर्हत्-रूपी भास्कर समूचे लोक के प्राणियों के लिए प्रकाश करेगा।

७९—साहु गोयम ! पन्ना ते
छिन्नो मे संसओ इमो ।
अन्नो वि संसओ मज्झं
तं मे कहसु गोयमा ! ॥

साधुः गौतम ! प्रज्ञा ते
छिन्नो मे संशयोऽयम् ।
अन्योऽपि संशयो मम
तं मां कथय गौतम ! ॥

७९—गौतम ! उत्तम है तुम्हारी प्रज्ञा। तुमने मेरे इस संशय को दूर किया है। मुझे एक दूसरा संशय भी है। गौतम ! उसके विषय में भी तुम मुझे बतलाओ।

८०—सारीरमाणसे दुक्खे
बज्झमाणाण[1] पाणिणं ।
खेमं सिवमणाबाहं
ठाणं किं मन्नसी ? मुणी ! ॥

शारीरमानसैर्दुःखैः
बाध्यमानानां प्राणिनाम् ।
क्षेमं शिवमनाबाधं
स्थानं किं मन्यसे ? मुने ! ॥

८०—शारीरिक और मानसिक दुःखों से पीड़ित होते हुए प्राणियों के लिए क्षेम, शिव और अनाबाध स्थान किसे मानते हो ? मुने !

८१—अत्थि एगं धुवं ठाणं
लोगग्गंमि दुरारुहं ।
जत्थ नत्थि जरा मच्चू
वाहिणो वेयणा तहा ॥

अस्त्येकं ध्रुवं स्थानं
लोकाग्रे दुरारोहं ।
यत्र नास्ति जरा मृत्युः
व्याधयो वेदनास्तथा ॥

८१—लोक के शिखर में एक वैसा शाश्वत स्थान है, जहाँ पहुँच पाना बहुत कठिन है और जहाँ नहीं है—जरा, मृत्यु, व्याधि और वेदना।

१. पच्चमाणाण (बृ० पा०)।

८२—ठाणे य इइ के वुत्ते ?
केसी गोयममब्बवी ।
केसिमेवं बुवंतं तु
गोयमो इणमब्बवी ॥

स्थानं चेति किमुक्तं ?
केशिः गौतममब्रवीत् ।
ततः केशिं ब्रुवन्तं तु
गौतम इदमब्रवीत् ॥

८२—स्थान किसे कहा गया है ?—केशी ने गौतम से कहा । केशी के कहते-कहते ही गौतम इस प्रकार बोले—

८३—निव्वाणं ति अबाहं ति
सिद्धी लोगग्गमेव य ।
खेमं सिवं अणाबाहं
जं चरन्ति महेसिणो ॥

निर्वाणमित्यबाधमिति
सिद्धिर्लोकाग्रमेव च ।
क्षेमं शिवमनाबाधं
यच्चरन्ति महैषिणः ॥

८३—जो निर्वाण है, जो अबाध, सिद्धि, लोकाग्र, क्षेम, शिव और अनाबाध है, जिसे महान् की एषणा करने वाले प्राप्त करते हैं—

८४—तं ठाणं सासयंवासं
लोगग्गमि दुरारुहं ।
जं संपत्ता न सोयन्ति
भवोहन्तकरा मुणी ॥

तत् स्थानं शाश्वतं वासं
लोकाग्रे दुरारोहम् ।
यत्सम्प्राप्ता न शोचन्ति
भवौघान्तकराः मुनयः ॥

८४—भव-प्रवाह का अन्त करने वाले मुनि जिसे प्राप्त कर शोक से मुक्त हो जाते हैं, जो लोक के शिखर में शाश्वत-रूप से अवस्थित है, जहाँ पहुँच पाना कठिन है, उसे मैं स्थान कहता हूँ ।

८५—साहु गोयम ! पन्ना ते
छिन्नो मे संसओ इमो ।
नमो ते संसयाईय
सव्वसुत्तमहोयही ! ॥

साधुः गौतम ! प्रज्ञा ते
छिन्नो मे संशयोऽयम् ।
नमस्तुभ्यं संशयातीत !
सर्वसूत्र-महोदधे ! ॥

८५—गौतम ! उत्तम है तुम्हारी प्रज्ञा । हे संशयातीत ! हे सर्वसूत्र-महोदधि ! मैं तुम्हें नमस्कार करता हूँ ।

८६—एवं तु संसए छिन्ने
केसी घोरपरक्कमे ॥
'अभिवन्दित्ता सिरसा
गोयमं तु महायसं'[1] ॥

एवं तु संशये छिन्ने
केशिः घोर-पराक्रमः ।
अभिवन्द्य शिरसा
गौतमं तु महायशसम् ॥

८६—इस प्रकार संशय दूर होने पर घोर-पराक्रम वाले केशी महान् यशस्वी गौतम का शिर से अभिवन्दन कर—

८७—'पंचमहव्वयधम्मं
पडिवज्जइ भावओ ।
पुरिमस्स पच्छिमंमी[2]
मग्गे तत्थ सुहावहे ॥'[3]

पंचमहाव्रत-धर्मं
प्रतिपद्यते भावतः ।
पूर्वस्य पश्चिमे
मार्गे तत्र सुखावहे ॥

८७—पूर्व मार्ग से सुखावह पश्चिम मार्ग में प्रविष्ट हुए ।

---

१. वंदित्तु पंजलिउडो गोतमं तु महामुणी (चू०) ।
२. पच्छिमम्मी (अ) ।
३. पंच महव्वय जुत्तं भावतो पडिवज्जिया ।
धम्मं पुरिमस्स पच्छिमंमि मग्गे सुहावहे ॥ (चू०) ।

F. 80

८८—केसीगोयमओ निच्चं
तम्मि आसि समागमे।
सुयसीलसमुक्करिसो
महत्थऽत्थविणिच्छओ ॥

केशि-गौतमयोर्नित्यं
तस्मिन्नासीत् समागमे।
श्रुत-शील-समुत्कर्षः
महार्थार्थविनिश्चयः ॥

८८—उस वन में होने वाला केशी और गौतम का सतत मिलन श्रुत और शील का उत्कर्ष करने वाला और महान् प्रयोजन वाले अर्थों का विनिश्चय करने वाला था।

८९—तोसिया परिसा सव्वा
'सम्मग्गं 'समुवट्ठिया'[१]।
'संथुया ते पसीयन्तु'[३]
भयवं केसिगोयमे ॥
—त्ति बेमि।

तोषिता परिषत् सर्वा
सन्मार्गं समुपस्थिताः।
संस्तुतौ तौ प्रसीदताम्
भगवन्तौ केशि-गौतमौ ॥
—इति ब्रवीमि।

८९—जिनकी गति-विधि से परिषद् को सन्तोष हुआ और वह सन्मार्ग पर उपस्थित हुई, वे परिषद् द्वारा प्रशंसित भगवान केशी और गोतम प्रसन्न हों।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

---

१ पज्जुवट्ठिया (बृ० पा०)।
२. सम्मत्ते पज्जुवत्थिया (चू०)।
३. संजुता ते पवीसंतु (चू०)।

चउवीसइमं अज्झयणं :
पवयण-माया

चतुर्विंश अध्ययन :
प्रवचन-माता

आमुख

जार्ल सरपेन्टियर के अनुसार सभी आदर्शों में इस अध्ययन का नाम 'समिईयो' है।[1] समवायांग में भी इसका यही नाम है।[2] निर्युक्तिकार ने इसका नाम 'प्रवचन-मात' या 'प्रवचन-माता' माना है।[3]

ईर्या, भाषा, एषणा, आदान-निक्षेप और उत्सर्ग—इन पाँच समितियों तथा मनो-गुप्ति, वाग्-गुप्ति और काय-गुप्ति—इन तीनों गुप्तियों का संयुक्त नाम 'प्रवचन-माता' या 'प्रवचन-मात' है। (श्लो० १)

रत्नत्रयी (सम्यग्-ज्ञान, सम्यग्-दर्शन और सम्यग्-चारित्र) को भी प्रवचन कहा जाता है। उसकी रक्षा के लिए पाँच समितियाँ और तीन गुप्तियाँ माता-स्थानीय हैं। अथवा प्रवचन (मुनि) के समस्त चारित्र के उत्पादन, रक्षण और विशोधन के ये आठों अनन्य साधन हैं अत: उन्हें 'प्रवचन-माता' कहा गया है।[4]

इनमें प्रवचन (गणिपिटक—द्वादशाङ्ग) समा जाता है। इसलिए उन्हें 'प्रवचन-मात' भी कहा जाता है। (श्लो०३)

मन, वाणी और शरीर के गोपन, उत्सर्ग या विसर्जन को गुप्ति और सम्यग् गति, भाषा, आहार की एषणा, उपकरणों का ग्रहण-निक्षेप और मल-मूत्र आदि के उत्सर्ग को समिति कहा जाता है। गुप्ति निवर्तन है और समिति सम्यक् प्रवर्तन। प्रथम श्लोक में इनका पृथक् विभाग है किन्तु तीसरे श्लोक में इन आठों को समिति भी कहा गया है।

समिति का अर्थ है सम्यक्-प्रवर्तन। सम्यक् और असम्यक् का मापदण्ड अहिंसा है। जो प्रवृत्ति अहिंसा से संवलित है वह समिति है। समितियाँ पाँच हैं—

१—ईर्या समिति—गमनागमन सम्बन्धी अहिंसा का विवेक।

२—भाषा समिति—भाषा सम्बन्धी अहिंसा का विवेक।

३—एषणा समिति—जीवन-निर्वाह के आवश्यक उपकरणों—आहार, वस्त्र आदि के ग्रहण और उपभोग सम्बन्धी अहिंसा का विवेक।

४—आदान समिति—दैनिक व्यवहार में आने वाले पदार्थों के व्यवहरण सम्बन्धी अहिंसा का विवेक।

५—उत्सर्ग समिति—उत्सर्ग सम्बन्धी अहिंसा का विवेक।

१—उत्तराध्ययन सूत्र, दी, पृष्ठ ३६५।

२—समवायांग, समवाय ३६

३—(क) उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा ४५८ :

जाणगसरीरभविए तव्वइरित्ते अ भायणे दव्वं।
भावंमि अ समिईओ मायं खलु पवयणं जत्थ॥

(ख) वही, गा० ४५६ :

अट्ठसुवि समिईसु अ दुवालसंगं समोअरइ जम्हा।
तम्हा पवयणमाया अज्झयणं होइ नायव्वं॥

४—मूलाराधना, आश्वास ६, श्लोक ११८५; मूलाराधना दर्पण, पृष्ठ ११७२ :

प्रवचनस्य रत्नत्रयस्य मातर इव पुत्राणां मातर इव सम्यग्दर्शनादीनां अपायनिवारणपरायणास्तिस्रो गुप्तयः, पंचसमितयश्च। अथवा प्रवचनस्य मुनेश्चारित्रमात्रस्योत्पादनरक्षण-विशोधनविधानात् तास्तथा व्यपदिश्यन्ते।

इन पाँच समितियों का पालन करने वाला मुनि जीवाकुल संसार में रहता हुआ भी पापों से लिप्त नहीं होता ।[१]

जिस प्रकार दृढ़ कवचधारी योद्धा बाणों की वर्षा होने पर भी नहीं बींधा जा सकता, उसी प्रकार समितियों का सम्यक् पालन करने वाला मुनि साधु-जीवन के विविध कार्यों में प्रवर्तमान होता हुआ भी पापों से लिप्त नहीं होता ।[२]

गुप्ति का अर्थ है निवर्तन । वे तीन प्रकार की हैं—

१—मनोगुप्ति—असत् चिन्तन से निवर्तन ।

२—वचनगुप्ति—असत् वाणी से निवर्तन ।

३—कायगुप्ति—असत् प्रवृत्ति से निवर्तन ।

जिस प्रकार क्षेत्र की रक्षा के लिए बाड़, नगर की रक्षा के लिए खाई या प्राकार होता है, उसी प्रकार श्रामण्य की सुरक्षा के लिए, पाप के निरोध के लिए गुप्ति है ।[३]

महाव्रतों की सुरक्षा के तीन साधन हैं—

१—रात्रि-भोजन की निवृत्ति ।

२—आठ प्रवचन-माताओं में जागरूकता ।

३—भावना (संस्कारापादन—एक ही प्रवृत्ति का पुनः-पुनः अभ्यास) ।

इस प्रकार महाव्रतों की परिपालना समिति-गुप्ति-सापेक्ष है । इनके होने पर महाव्रत सुरक्षित रहते हैं और न होने पर असुरक्षित ।[४]

यह अध्ययन साधु आचार का प्रथम और अनिवार्य अंग है । कहा गया है कि चौदह पूर्व पढ़ लेने पर भी जो मुनि प्रवचन-माताओं में निपुण नहीं है, उसका ज्ञान अज्ञान है । जो व्यक्ति कुछ नहीं जानता और प्रवचन-माताओं में निपुण है, सचेत है, वह व्यक्ति स्व-पर के लिए त्राण है ।

मुनि कैसे खाए ?, कैसे बोले ?, कैसे चले ?, वस्तुओं का व्यवहरण कैसे करे ? उत्सर्ग कैसे करे ?—इनका स्पष्ट विवेचन इस अध्ययन में दिया गया है ।

मुनि जब चले तब गमन की क्रिया में उपयुक्त हो जाए, एक तान हो जाए । प्रत्येक चरण पर उसे यह भान रहे कि—"मैं चल रहा हूँ ।" वह चलने की स्मृति को क्षण मात्र के लिए भी न भूले । युग-मात्र भूमि को देख कर चले । चलते समय अन्यान्य विषयों का वर्जन करे । (श्लो० ६,७,८)

१—मूलाराधना, ६।१२०० :

एदाहि सदा जुत्तो, समिदीहि जगम्मि विहरमाणे हु ।
हिंसादिहि न लिप्पइ, जीवणिकायाउले साहू ॥

२—वही, ६।१२०२ :

सरवासे वि पडंते, जह दढकवचो ण विज्झदि सरेहिं ।
तह समिदीहिं ण लिप्पइ, साधू काएसु इरियंतो ॥

३—वही, ६।११८६ :

छेत्तस्स वदी णयरस्स, खाइया अहव होइ पायारो ।
तह पावस्स णिरोहो, ताओ गुत्तीओ साहुस्स ॥

४—मूलाराधना, ६।११८५ :

तेसिं चेव वदाणं, रक्खट्ठं रादिभोयणणियत्ती ।
अट्ठप्पवयणमादाओ भावणाओ य सव्वाओ ॥

विजयोदया वृत्ति, पृष्ठ ११७२ : सत्यां रात्रि भोजन-निवृत्तौ प्रवचनमातृकासु भावनासु वा सतीषु हिंसादिव्यावृत्तत्वं भवति । न तास्वसतीषु इति ॥

मुनि झूठ न बोले। झूठ के आठ कारण हैं—क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, भय, मौखर्य और विकथा। मुनि इनका वर्जन करे। यह भाषा समिति का विवेक है।

मुनि शुद्ध एषणा करे। गवेषणा, ग्रहणैषणा और भोगैषणा के दोषों का वर्जन करे। (श्लो० ११,१२)

मुनि को प्रत्येक वस्तु याचित मिलती है। उसका पूर्ण उपयोग करना उसका कर्त्तव्य है। प्रत्येक पदार्थ का व्यवहरण उपयोग-सहित होना चाहिए। वस्तु को लेने या रखने में अहिंसा की दृष्टि होनी चाहिए। (श्लो० १३,१४)

मुनि के उत्सर्ग करने की विधि भी बहुत विवेक-पूर्ण होनी चाहिए। ज्यों-त्यों, जहाँ-कहीं वह उत्सर्ग नहीं कर सकता। जहाँ लोगों का आवागमन न हो, जहाँ चूहों आदि के बिल न हों, जो त्रस या स्थावर प्राणियों से युक्त न हो—ऐसे स्थान पर मुनि को उत्सर्ग करना चाहिए। यह विधि अहिंसा की पोषक तो है ही किन्तु सभ्यजन-सम्मत भी है। (श्लो० १५,१६,१७,१८)

मानसिक तथा वाचिक संक्लेशों से पूर्णतः निवृत्त होना मनोगुप्ति तथा वचनगुप्ति है।

मनोयोग चार प्रकार का है—

१—सत्य मनोयोग।

२—असत्य मनोयोग।

३—मिश्र मनोयोग।

४—व्यवहार मनोयोग।

वचनयोग चार प्रकार का है—

१—सत्य वचनयोग।

२—असत्य वचनयोग।

३—मिश्र वचनयोग।

४—व्यवहार वचनयोग।

काययोग—

स्थान, निषीदन, शयन, उल्लंघन, गमन और इन्द्रियों के व्यापार में असत् अंश का वर्जन करना—काय-गुप्ति है।

सम्पूर्ण दृष्टि से देखा जाए तो यह अध्ययन समूचे साधु-जीवन का उपष्टम्भ है। इसके माध्यम से ही श्रामण्य का शुद्ध परिपालन संभव है। जिस मुनि को प्रवचन-माताओं के पालन में विशुद्धता है उसका समूचा आचार विशुद्ध है। जो इसमें स्खलित होता है वह समूचे आचार में स्खलित होता है।

चउविंसइमं अज्झयणं : चतुर्विंश अध्ययन

पवयण-माया : प्रवचन-माता

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
१—अट्ठ पवयणमायाओ समिई गुत्ती तहेव य। पंचेव य समिईओ तओ गुत्तीओ आहिया॥	अष्टौप्रवचन-मातरः समितयो गुप्तयस्तथैव च। पंचैव च समितयः तिस्रो गुप्तय आख्याताः॥	१—आठ प्रवचन माताएँ हैं—समिति और गुप्ति। समितियाँ पाँच और गुप्तियाँ तीन।
२—इरियाभासेसणादाणे उच्चारे समिई इय। मणगुत्ती वयगुत्ती कायगुत्ती य[1] अट्ठमा॥	ईर्याभाषैषणादाने उच्चारे समितिरिति। मनोगुप्तिर्वचोगुप्तिः कायगुप्तिश्चाष्टमी॥	२—ईर्या-समिति, भाषा-समिति, एषणा-समिति, आदान-समिति, उच्चार-समिति, मनो-गुप्ति, वचन-गुप्ति और आठवीं काय-गुप्ति है।
३—एयाओ अट्ठ समिईओ समासेण वियाहिया। दुवालसंगं जिणक्खायं मायं जत्थ उ पवयणं॥	एता अष्टौ समितयः समासेन व्याख्याताः। द्वादशाङ्गं जिनाख्यातं मातं यत्र तु प्रवचनम्॥	३—ये आठ समितियाँ संक्षेप में कही गई हैं। इनमें जिन-भाषित द्वादशाङ्ग-रूप प्रवचन समाया हुआ है।
४—आलम्बणेण कालेण मग्गेण जयणाइ य। चउकारणपरिसुद्धं संजए इरियं रिए॥	आलम्बनेन कालेन मार्गेण यतनया च। चतुष्कारण-परिशुद्धां संयत ईर्यां रीयेत॥	४—संयमी मुनि आलम्बन, काल, मार्ग और यतना—इन चार कारणों से परिशुद्ध ईर्या (गति) से चले।
५—तत्थ आलंबणं नाणं दंसणं चरणं तहा। काले य दिवसे वुत्ते मग्गे उप्पहवज्जिए[2]॥	तत्रालम्बनं ज्ञानं दर्शनं चरणं तथा। कालश्च दिवस उक्तः मार्ग उत्पथ-वर्जितः॥	५—उनमें ईर्या का आलम्बन, ज्ञान, दर्शन और चारित्र है। उसका काल दिवस है और उत्पथ का वर्जन करना उसका मार्ग है।

१. उ (अ)।
२. दुप्पह वज्जिए (अ)।

F. 82

१२—उग्गमुप्पायणं पढमे
बीए सोहेज्ज एसणं ।
परिभोयंमि चउक्कं
विसोहेज्ज जयं जई ॥

उद्गमोत्पादनं प्रथमायां
द्वितीयायां शोधयेदेषणाम् ।
परिभोगे चतुष्कं
विशोधयेद् यतं यतिः ॥

१२—यतनाशील यति प्रथम एषणा (गवेषणा-एषणा) में उद्गम और उत्पादन—दोनों का शोधन करे । दूसरी एषणा (ग्रहण-एषणा) में एषणा (ग्रहण) सम्बन्धी दोषों का शोधन करे और परिभोगैषणा में दोष-चतुष्क (संयोजना, अप्रमाण, अंगार-धूम और कारण) का शोधन करे ।

१३—ओहोवहोवग्गहियं
भण्डगं दुविहं मुणी ।
गिण्हन्तो निक्खिवन्तो य
पउंजेज्ज इमं विहिं ॥

ओघोपध्यौपग्रहिकं
भाण्डकं द्विविधं मुनिः ।
गृह्णन्निक्षिपँश्च
प्रयुंजीतेमं विधिम् ॥

१३—मुनि ओघ-उपधि (सामान्य उपकरण) और औपग्रहिक-उपधि (विशेष उपकरण)—दोनों प्रकार के उपकरणों को लेने और रखने में इस विधि का प्रयोग करे—

१४—चक्खुसा पडिलेहित्ता
पमज्जेज्ज जयं जई ।
आइए निक्खिवेज्जा वा
दुहओ वि समिए सया ॥

चक्षुषा प्रतिलिख्य
प्रमार्जयेद् यतं यतिः ।
आददीत निक्षिपेद् वा
द्विधातोपि समितः सदा ॥

१४—सदा सम्यक्-प्रवृत्त और यतनाशील यति दोनों प्रकार के उपकरणों का चक्षु से प्रतिलेखन कर तथा रजोहरण आदि से प्रमार्जन कर उन्हें ले और रखे ।

१५—उच्चारं पासवणं
खेलं सिंघाणजल्लियं ।
आहारं उवहिं देहं
अन्नं वावि तहाविहं ॥

उच्चारं प्रस्रवणं
क्ष्वेलं सिङ्घाणं जल्लकम् ।
आहारमुपधिं देहं
अन्यद्वापि तथाविधम् ॥

१५—उच्चार, प्रस्रवण, श्लेष्म, नाक का मैल, मैल, आहार, उपधि, शरीर या उसी प्रकार की दूसरी कोई उत्सर्ग करने योग्य वस्तु का उपयुक्त स्थण्डिल में उत्सर्ग करे ।

१६—अणावायमसंलोए
अणावाए चेव होइ संलोए ।
आवायमसंलोए
आवाए चेय संलोए ॥

अनापातमसंलोकम्
अनापातं चैव भवति संलोकम् ।
आपातमसंलोकम्
आपातं चैव संलोकम् ॥

१६—स्थण्डिल चार प्रकार के होते हैं—

१—अनापात-असंलोक—जहाँ लोगों का आवागमन न हो, वे दूर से भी न दीखते हों ।

२—अनापात-संलोक—जहाँ लोगों का आवागमन न हो, किन्तु वे दूर से दीखते हों ।

३—आपात-असंलोक—जहाँ लोगों का आवागमन हो, किन्तु वे दूर से न दीखते हों ।

४—आपात-संलोक—जहाँ लोगों का आवागमन भी हो, और वे दूर से दीखते भी हों ।

६—दव्वओ खेत्तओ चेव
कालओ भावओ तहा ।
जयणा[1] चउव्विहा वुत्ता
तं मे कित्तयओ सुण ॥

द्रव्यतः क्षेत्रतश्चैव
कालतो भावतस्तथा ।
यतना चतुर्विधा उक्ता
तां मे कीर्तयतः शृणु ॥

६—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से यतना चार प्रकार की कही गई है। वह मैं कह रहा हूँ, सुनो।

७—दव्वओ चक्खुसा पेहे
जुगमित्तं च खेत्तओ ।
कालओ जाव रीएज्जा
उवउत्ते य भावओ ॥

द्रव्यतश्चक्षुषा प्रेक्षेत
युग-मात्रं च क्षेत्रतः ।
कालतो यावद्रीयेत
उपयुक्तश्च भावतः ॥

७—द्रव्य से—आँखों से देखे। क्षेत्र से—युग-मात्र (गाड़ी के जुए जितनी) भूमि को देखे। काल से—जब तक चले तब तक देखे। भाव से—उपयुक्त (गमन में दत्तचित्त) रहे।

८—इन्दियत्थे विवज्जित्ता
सज्झायं चेव पंचहा ।
तम्मुत्ती तप्पुरक्कारे
उवउत्ते इरियं[2] रिए ॥

इन्द्रियार्थान् विवर्ज्य
स्वाध्यायं चैव पंचधा ।
तन्मूर्त्तिः तत्पुरस्कारः
उपयुक्त ईर्यां रीयेत ॥

८—इन्द्रियों के विषयों और पाँच प्रकार के स्वाध्याय का वर्जन कर, ईर्या में तन्मय हो, उसे प्रमुख बना उपयोग पूर्वक चले।

९—'कोहे माणे य मायाए
लोभे य उवउत्तया[3] ।
हासे भए मोहरिए
विगहासु तहेव च ॥'[4]

क्रोधे माने च मायायां
लोभे चोपयुक्तता ।
हासे भये मौखर्ये
विकथासु तथैव च ।।

९—क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, भय, वाचालता और विकथा के प्रति सावधान रहे—इनका प्रयोग न करे।

१०—एयाइं अट्ठ[5] ठाणाइं
परिवज्जित्तु संजए ।
असावज्जं मियं काले
भासं भासेज्ज पन्नवं ॥

एतान्यष्टौ स्थानानि
परिवर्ज्य संयतः ।
असावद्यां मितां काले
भाषां भाषेत प्रज्ञावान् ॥

१०—प्रज्ञावान् मुनि इन आठ स्थानों का वर्जन कर यथा-समय निरवद्य और परिमित वचन बोले।

११—'गवेसणाए गहणे य
परिभोगेसणा य जा ।
आहारोवहिसेज्जाए
एए तिन्नि विसोहए ॥'[5]

गवेषणायां ग्रहणे च
परिभोगैषणा च या ।
आहारोपधिशय्यायां
एतास्तिस्रो विशोधयेत् ॥

११—आहार, उपधि और शय्या के विषय में गवेषणा, ग्रहणैषणा और परिभोगैषणा इन तीनों का विशोधन करे।

---

१. जायणा (ऋ०)।
२. रियं (ऋ०)।
३. उवउत्तओ (अ)।
४. कोहे य माणे य माया य लोभे य तहेव य ।
हास भय मोहरीए विकहा य तहेव य ॥ (बृ० पा०)।
५. गवेसणाए गहणेणं परिभोगेसणाणि य ।
आहारमुवहि सेज्ज एए तिन्नि विसोहिय ॥ (बृ० पा०)।

१७—अणावायमसंलोए
परस्सऽणुवघाइए ।
समे अज्झुसिरे यावि
अचिरकालकयंमि य ॥

आनापातेऽसंलोके
परस्यानुपघातिके ।
समेऽशुषिरे चापि
अचिरकालकृते च ॥

१७—जो स्थण्डिल, अनापात-असंलोक, पर के लिए अनुपघातकारी, सम, अशुषिर (पोल या दरार रहित) कुछ समय पहले ही निर्जीव बना हुआ—

१८—वित्थिण्णे दूरमोगाढे
नासन्ने बिलवज्जिए ।
तसपाणबीयरहिए
उच्चाराईणि वोसिरे ॥

विस्तीर्णे दूरमवगाढे
नासन्ने बिलवर्जिते ।
त्रसप्राणबीजरहिते
उच्चारादीनि व्युत्सृजेत् ॥

१८—कम से कम एक हाथ विस्तृत तथा नीचे से चार अंगुल की निर्जीव परत वाला, गाँव आदि से दूर, बिल रहित और त्रस प्राणी तथा बीजों से रहित हो—उसमें उच्चार आदि का उत्सर्ग करे ।

१९—एयाओ पंच समिईओ
समासेण वियाहिया ।
एत्तो य तओ गुत्तीओ
वोच्छामि अणुपुव्वसो ॥

एताः पंचसमितयः
समासेन व्याख्याताः ।
इतश्च तिस्रो गुप्तीः
वक्ष्याम्यनुपूर्व्वशः ॥

१९—ये पाँच समितियाँ संक्षेप में कही गई हैं । यहाँ से क्रमशः तीन गुप्तियाँ कहूँगा ।

२०—सच्चा तहेव मोसा य
सच्चामोसा तहेव य ।
चउत्थी असच्चमोसा
मणगुत्ती चउव्विहा ॥

सत्या तथैव मृषा च
सत्यामृषा तथैव च ।
चतुर्थ्यसत्यामृषा
मनोगुप्तिश्चतुर्विधा ॥

२०—सत्या, मृषा, सत्यामृषा और चौथी असत्यामृषा—इस प्रकार मनो-गुप्ति के चार प्रकार है ।

२१—संरम्भसमारम्भे
आरम्भे य तहेव य ।
मणं पवत्तमाणं तु
नियत्तेज्ज जयं जई ॥

संरम्भ-समारम्भे
आरम्भे च तथैव च ।
मनः प्रवर्तमानं तु
निवर्त्तयेद्यतं यतिः ॥

२१—यतनाशील यति संरम्भ, समारम्भ और आरम्भ में प्रवर्तमान मन का निवर्तन करे ।

२२—सच्चा तहेव मोसा य
सच्चामोसा तहेव य ।
चउत्थी असच्चमोसा
वइगुत्ती चउव्विहा ॥

सत्या तथैव मृषा च
सत्यामृषा तथैव च ।
चतुर्थ्य सत्यामृषा
वचो-गुप्तिश्चतुर्विधा ॥

२२—सत्या, मृषा, सत्या-मृषा और असत्या-मृषा—इस प्रकार वचन-गुप्ति के चार प्रकार हैं ।

२३—संरम्भसमारम्भे
आरम्भे य तहेव य ।
वयं पवत्तमाणं तु
नियत्तेज्ज जयं जई ॥

संरम्भ-समारम्भे
आरम्भे च तथैव च ।
वचः प्रवर्तमानं तु
निवर्त्तयेद्यतं यतिः ॥

२३—यतनाशील यति संरम्भ, समारम्भ और आरम्भ में प्रवर्तमान वचन का निवर्तन करे ।

२४—ठाणे निसीयणे चेव
तहेव य तुयट्टणे ।
उल्लंघणपल्लंघणे
इन्दियाण य जुंजणे ॥

स्थानेनिषदने चैव
तथैव च त्वग्-वर्तने ।
उल्लङ्घन-प्रलङ्घने
इन्द्रियाणां च योजने ॥

२४—ठहरने, बैठने, लेटने, उल्लंघन-प्रलंघन करने और इन्द्रियों के व्यापार में—

२५—संरम्भसमारम्भे
आरम्भम्मि तहेव य ।
कायं पवत्तमाणं तु
नियत्तेज्ज जयं जई ॥

संरम्भ-समारम्भे
आरम्भे तथैव च ।
कायं प्रवर्तमानं तु
निवर्तयेद्यतं यतिः ॥

२५—संरम्भ, समारम्भ और आरम्भ में प्रवर्तमान काया का निवर्तन करे ।

२६—एयाओ पंच समिईओ
चरणस्स य पवत्तणे ।
गुत्ती नियत्तणे वुत्ता
असुभत्थेसु सव्वसो ॥

एताः पंच समितयः
चरणस्य च प्रवर्तने ।
गुप्तयो निवर्तने उक्ताः
अशुभार्थेभ्यः सर्वभ्यः ॥

२६—ये पाँच समितियाँ चारित्र की प्रवृत्ति के लिए हैं और तीन गुप्तियाँ सब अशुभ विषयों से निवृत्ति करने के लिए हैं ।

२७—एया पवयणमाया
जे सम्मं आयरे मुणी ।
से खिप्पं सव्वसंसारा
विप्पमुच्चइ पण्डिए ॥
—त्ति बेमि ।

एताः प्रवचन-मातृः
यः सम्यगाचरेन्मुनिः ।
स क्षिप्रं सर्वसंसारात्
विप्रमुच्यते पण्डितः ॥
—इति ब्रवीमि ।

२७—जो पण्डित मुनि इन प्रवचन-माताओं का सम्यक् आचरण करता है, वह शीघ्र ही सर्व संसार से मुक्त हो जाता है ।
—ऐसा मैं कहता हूँ ।

मुनि को भोजन के लिए, पान के लिए, वस्त्र के लिए, वसती के लिए आदि-आदि कारणों से धर्मोपदेश नहीं देना चाहिए, किन्तु केवल आत्मोद्धार के लिए ही उपदेश देना चाहिए। इसी तथ्य को स्पष्टता से व्यक्त करते हुए जयघोष मुनि ब्राह्मण विजयघोष से कहते हैं—

"मुनि न अन्न के लिए, न जल के लिए और न किसी अन्य जीवन-निर्वाह के सा लए, लेकिन मुक्ति के लिए धर्मोपदेश देते हैं। मुझे भिक्षा से कोई प्रयोजन नहीं। तुम निष्क्रमण कर मुनि-जीवन को स्वीकार करो। (श्लो० १०,३८)

"भोग आसक्ति है और अभोग अनासक्ति। आसक्ति संसार है और अनासक्ति मोक्ष। मिट्टी के दो गोले हैं—एक गीला और दूसरा सूखा। जो गीला होता है वह भित्ति पर चिपक जाता है और जो सूखा होता है वह नहीं चिपकता। इसी प्रकार जो व्यक्ति आसक्ति से भरा है, कर्म-पुद्गल उसके चिपकते हैं और जो अनासक्त है, कर्म उसके नहीं चिपकते। (श्लो० ३८ से ४१)

"बाह्य-चिह्न, वेष आदि आन्तरिक पवित्रता के द्योतक नहीं हैं। बाह्य-लिंग सम्प्रदायानुगत अस्तित्व के द्योतक मात्र हैं। मुण्डित होने मात्र से कोई श्रमण नहीं होता। ओंकार का जाप करने मात्र से कोई ब्राह्मण नहीं होता, अरण्य में रहने मात्र से कोई मुनि नहीं होता, दर्भ-वल्कल आदि धारण करने मात्र से कोई तापस नहीं होता। (श्लो० २६)

"समभाव से समण होता है, ब्रह्मचर्य का पालन करने से ब्राह्मण, ज्ञान से मुनि और तपस्या से तापस होता है। (श्लो० ३१)

"जातिवाद अतात्त्विक है। अपने-अपने कार्य से व्यक्ति ब्राह्मण आदि होता है। जाति कार्य के आधार पर विभाजित है, जन्म के आधार पर नहीं। मनुष्य कर्म से ब्राह्मण होता है, कर्म से क्षत्रिय, कर्म से वैश्य और कर्म से शूद्र।" (श्लो० ३१)

वेद, यज्ञ, धर्म और नक्षत्र का मुख क्या है? अपनी तथा दूसरों की आत्मा का सुधार करने में कौन समर्थ है?—इन प्रश्नों का समाधान मुनि जयघोष ने विस्तार से दिया है। (श्लो० १६ से ३३)

पंचविंसइमं अज्झयणं :
जन्नइज्जं

पंचविंश अध्ययन :
यज्ञीय

पंचविसइमं अज्झयणं : पंचविंश अध्ययन

जन्नइज्जं : यज्ञीयम्

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
१—माहणकुलसंभूओ आसि विप्पो महायसो । जायाई जमजन्नंमि जयघोसे त्ति नामओ ॥	माहन-कुल-संभूतः आसीद् विप्रो महायशाः । यायाजी यम-यज्ञे जयघोष इति नामतः ॥	१—ब्राह्मण कुल में उत्पन्न एक महान् यशस्वी विप्र था। वह जीव-संहारक यज्ञ में लगा रहता था। उसका नाम था जयघोष।
२—इन्दियग्गामनिग्गाही मग्गगामी महामुणी । गामाणुगामं रीयन्ते पत्ते वाणारसिं पुरिं ॥	इन्द्रिय-ग्राम-निग्राही मार्ग-गामी महामुनिः । ग्रामानुग्रामं रीयमाणः प्राप्तो वाराणसीं पुरीम् ॥	२—वह इन्द्रिय-समूह का निग्रह करने वाला मार्ग-गामी महामुनि हो गया। एक गाँव से दूसरे गाँव जाता हुआ वह वाराणसी पुरी पहुँच गया।
३—वाणारसीए[1] बहिया उज्जाणंमि मणोरमे । फासुए सेज्जसंथारे तत्थ वासमुवागए ॥	वाराणस्या बहिः उद्याने मनोरमे । प्रासुके शय्या-संस्तारे तत्र वासमुपागतः ॥	३—वाराणसी के बाहर मनोरम उद्यान में प्रासुक शय्या और बिछौना लेकर वहाँ रहा।
४—अह तेणेव कालेणं पुरीए तत्थ माहणे । विजयघोसे त्ति नामेण जन्नं जयइ वेयवी ॥	अथ तस्मिन्नेव काले पुर्यां तत्र माहनः । विजयघोष इति नाम्ना यज्ञं यजति वेद-वित् ॥	४—उसी समय उस पुरी में वेदों को जानने वाला विजयघोष नाम का ब्राह्मण यज्ञ करता था।
५—अह से तत्थ अणगारे मासक्खमणपारणे । विजयघोसस्स जन्नंमि भिक्खमट्ठा[2] उवट्ठिए ॥	अथ स तत्रानगारः मास-क्षपण-पारणे । विजयघोषस्य यज्ञे भिक्षार्थमुपस्थितः ॥	५—वह जयघोष मुनि एक मास की तपस्या का पारणा करने के लिए विजयघोष के यज्ञ में भिक्षा लेने को उपस्थित हुआ।

---

१. वाणारसीय (अ, बृ०)।
२. भिक्खस्स अट्ठा (बृ० पा०)।

आमुख

इस अध्ययन का नाम 'जन्नइज्जं'--'यज्ञीय' है। इसका मुख्य विवक्षित विषय यज्ञ है।[1] यज्ञ शब्द का अर्थ देव-पूजा है। जीव-वध आदि बाह्य अनुष्ठान के द्वारा किए जाने वाले यज्ञ को जैन-परम्परा में द्रव्य (अवास्तविक)-यज्ञ कहा है। वास्तविक यज्ञ भाव-यज्ञ होता है। उसका अर्थ है—तप और संयम में यतना—अनुष्ठान करना।[2]

प्रसंगवश इस अध्ययन में (१९ वें श्लोक से ३२ वें श्लोक तक) ब्राह्मण के मुख्य गुणों का उल्लेख हुआ है।

वाराणसी नगरी में जयघोष और विजयघोष नाम के दो ब्राह्मण रहते थे। वे काश्यप-गोत्रीय थे। वे पूजन-याजन, अध्ययन-अध्यापन, दान और प्रतिग्रह इन छह कर्मों में रत और चार वेदों के अध्येता थे। वे दोनों युगल रूप में जन्मे हुए थे। एक बार जयघोष स्नान करने नदी पर गया हुआ था। उसने देखा कि एक सर्प मेढक को निगल रहा है। इतने में एक कुरर पक्षी वहाँ आया और सर्प को पकड़ कर खाने लगा। मरणकाल आसन्न होने पर भी सर्प मंडूक को खाने मे रत था और इधर कम्पायमान सर्प को खाने में कुरर आसक्त था। इस दृश्य को देख जयघोष उद्विग्न हो उठा। एक दूसरे के उपघात को देख कर उसका मन वैराग्य से भर गया। वह प्रतिबुद्ध हो गया। गंगा को पार कर श्रमणों के पास पहुँचा। अपने उद्वेग का समाधान पा श्रमण हो गया।

एक बार मुनि जयघोष एक-रात्रि की प्रतिमा को स्वीकार कर ग्रामानुग्राम विहार करते हुए वाराणसी आए। बहिर्भाग में एक उद्यान मे ठहरे। आज उनके एक महीने की तपस्या का पारणा था। वे भिक्षा लेने नगर में गए। उसी दिन ब्राह्मण विजयघोष ने यज्ञ प्रारम्भ किया था। दूर-दूर से ब्राह्मण बुलाए गए थे। उनके लिए विविध भोजन-सामग्री तैयार की गई थी। मुनि जयघोष भिक्षा लेने यज्ञ-वाट में पहुँचे। भिक्षा की याचना की। प्रमुख याजक विजयघोष ने कहा-- 'मुने। मैं तुम्हें भिक्षा नहीं दूँगा। तुम कहीं अन्यत्र चले जाओ। जो ब्राह्मण वेदों को जानते हैं, जो यज्ञ आदि करते हैं, जो शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष-- वेद के इन छह अंगों के पारगामी हैं तथा जो अपनी और दूसरों की आत्मा का उद्धार करने में समर्थ हैं—उन्हीं को यह प्रणीत अन्न दिया जाएगा, तुम जैसे व्यक्तियों को नहीं। (श्लो० ६,७,८)

मुनि जयघोष ने यह बात सुनी। प्रतिषिद्ध किए जाने पर रुष्ट नहीं हुए। सम-भाव का आचरण करते हुए स्थिर-चित्त हो, भोजन पाने के लिए नहीं किन्तु याजकों को सही ज्ञान कराने के लिए कई तथ्य प्रकट किए। ब्राह्मणों के लक्षण बताए। मुनि के वचन सुन विजयघोष ब्राह्मण सम्बुद्ध हुआ और उनके पास दीक्षित हो गया। सम्यक् आराधना कर दोनों सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो गए।

१—उत्तराध्ययन, निर्युक्ति गाथा ४६२ :

जयघोसा अणगारा विजयघोसस्स जन्नकिच्चंमि।
तत्तो समुट्ठियमिणं अज्झयणं जन्नइज्जन्ति॥

२—वही, गाथा ४६१ :

तवसंजमेसु जयणा भावे जन्नो मुणेयव्वो॥

१२—जे समत्था समुद्धत्तुं
परं अप्पाणमेव य ।
न ते तुमं वियाणासि
अह जाणासि तो भण ॥

ये समर्थाः समुद्धर्तुं
परमात्मानमेव च ।
न तान् त्वं विजानासि
अथ जानासि तदा भण ॥

१२—"जो अपना और पराया उद्धार करने में समर्थ हैं, उन्हे तू नही जानता । यदि जानता है तो बता ।"

१३—तस्सऽक्खेवपमोक्खं च
अचयन्तो तहिं दिओ ।
सपरिसो पंजली होउं
पुच्छई तं महामुणि ॥

तस्याक्षेपप्रमोक्षं च
अशक्नुवन् तत्र द्विजः ।
स-परिषत् प्रांजलिर्भूत्वा
पृच्छति तं महामुनिम् ॥

१३—मुनि के प्रश्न का उत्तर देने में अपने को असमर्थ पाते हुए द्विज ने परिषद् सहित हाथ जोड़ कर उस महामुनि से पूछा—

१४—वेयाणं च मुहं बूहि
बूहि जन्नाण जं मुहं ।
नक्खत्ताण मुहं बूहि
बूहि धम्माण वा मुहं ॥

वेदानां च मुखं ब्रूहि
ब्रूहि यज्ञानां यन्मुखम् ।
नक्षत्राणां मुखं ब्रूहि
ब्रूहि धर्माणां वा मुखम् ॥

१४—"तुम कहो वेदों का मुख क्या है ? यज्ञ का जो मुख है वह तुम्ही बतलाओ । तुम कहो नक्षत्रों का मुख क्या है ? धर्मो का मुख क्या है ? तुम्ही बतलाओ ।

१५—जे समत्था समुद्धत्तुं
परं अप्पाणमेव य ।
एयं मे संसयं सव्वं
साहू कहय[1] पुच्छिओ ॥

ये समर्थाः समुद्धर्तुं
परमात्मानमेव च ।
एतं मे संशयं सर्वं
साधो ! कथय पृष्टः ॥

१५—"जो अपना और पराया उद्धार करने में समर्थ है (उनके विषय में तुम्हीं कहो)। हे साधु ! यह मुझे सारा संशय है, तुम मेरे प्रश्नो का समाधान दो ।"

१६—अग्गिहोत्तमुहा वेया
जन्नट्ठी वेयसां मुहं ।
नक्खत्ताण मुहं चन्दो
धम्माणं कासवो मुहं ॥

अग्निहोत्र-मुखा वेदाः
यज्ञार्थी वेदसां मुखम् ।
नक्षत्राणां मुखं चन्द्रः
धर्माणां काश्यपो मुखम् ॥

१६—"वेदो का मुख अग्निहोत्र है, यज्ञों का मुख यज्ञार्थी है, नक्षत्रो का मुख चन्द्रमा है और धर्मो का मुख काश्यप ऋषभदेव है ।

१७—'जहा चन्दं गहाईया
चिट्ठन्ती पंजलीउडा ।
वन्दमाणा नमंसन्ता
उत्तमं मणहारिणो ॥'[2]

यथा चन्द्रं ग्रहादिकाः
तिष्ठन्ति प्रांजलि-पुटाः ।
वन्दमाना नमस्यन्तः
उत्तमं मनोहारिणः ॥

१७—"जिस प्रकार चन्द्रमा के सम्मुख ग्रह आदि हाथ जोड़े हुए, वन्दना-नमस्कार करते हुए और विनीत भाव से मन का हरण करते हुए रहते हैं उसी प्रकार भगवान् ऋषभ के सम्मुख सब लोग रहते थे ।

१. कहइ (अ)।
२. जहा चन्दे गहाईये चिट्ठन्ती पंजलीउडा ।
णमंसमाणा वंदंती उद्धुत्तमणहारिणो [उद्धत्तु मणगारिणो] ॥ (बृ० पा०)।

६—समुवट्ठियं तहिं सन्तं
जायगो पडिसेहए ।
न हु दाहामि ते भिक्खं
भिक्खू जायाहि अन्नओ ॥

समुपस्थितं तत्र सन्तं
याजकः प्रतिषेधयति ।
न खलु दास्यामि तुभ्यं भिक्षां
भिक्षो ! याचस्वान्यतः ॥

६—यज्ञ-कर्त्ता ने वहाँ उपस्थित हुए मुनि को निषेध की भाषा में कहा—"भिक्षो ! तुझे भिक्षा नहीं दूंगा और कहीं याचना करो ।

७—जे य वेयविऊ विप्पा
जन्नट्ठा य 'जे दिया'[1] ।
जोइसंगविऊ जे य
जे य धम्माण पारगा ।

ये च वेद-विदो विप्राः
यज्ञार्थाश्च ये द्विजाः ।
ज्योतिषांगविदो ये च
ये च धर्माणां पारगाः ॥

८—जे समत्था समुद्धत्तुं
परं अप्पाणमेव य ।
तेसिं अन्नमिणं देयं
भो भिक्खू सव्वकामियं ॥

ये समर्थाः समुद्धर्तुं
परमात्मानमेव च ।
तेभ्योऽन्नमिदं देयं
भो भिक्षो ! सर्व-कामितम् ॥

७-८—"हे भिक्षो ! यह सबके द्वारा अभिलषित भोजन उन्हीं को देना है जो वेदों को जानने वाले विप्र हैं, यज्ञ के लिए जो द्विज हैं, जो ज्योतिष आदि वेद के छहों अंगों को जानने वाले हैं, जो धर्म-शास्त्रों के पारगामी हैं, जो अपना और पराया उद्धार करने में समर्थ हैं ।"

९—सो 'एवं तत्थ'[2] पडिसिद्धो
जायगेण महामुणी ।
न वि रुट्ठो न वि तुट्ठो
उत्तमट्ठगवेसओ ॥

स एवं तत्र प्रतिषिद्धः
याजकेन महामुनिः ।
नापि रुष्टो नापि तुष्टः
उत्तमार्थ-गवेषकः ॥

९—वह उत्तम अर्थ की गवेषणा करने वाला महामुनि वहाँ यज्ञ-कर्त्ता के द्वारा प्रतिषेध किए जाने पर न रुष्ट ही हुआ और न तुष्ट ही ।

१०—नऽन्नट्ठं पाणहेउं वा
न वि निव्वाहणाय वा ।
तेसिं विमोक्खणट्ठाए
इमं वयणमब्बवी ॥

नान्नार्थं पान-हेतुं वा
नापि निर्वाहणाय वा ।
तेषां विमोक्षणार्थम्
इदं वचनमब्रवीत् ॥

१०—न अन्न के लिए, न जल के लिए और न किसी जीवन-निर्वाह के साधन के लिए, किन्तु उनकी विमुक्ति के लिए मुनि ने इस प्रकार कहा—

११—नवि जाणसि वेयमुहं
नवि जन्नाण जं मुहं ।
नक्खत्ताण मुहं जं च
जं च धम्माण वा मुहं ॥

नापि जानासि वेद-मुखं
नापि यज्ञानां यन्मुखम् ।
नक्षत्राणां मुखं यच्च
यच्च धर्माणां वा मुखम् ॥

११—"तू वेद के मुख को नहीं जानता ! यज्ञ का जो मुख है, उसे भी नहीं जानता । नक्षत्र का जो मुख है और धर्म का जो मुख है, उसे भी नहीं जानता ।

१. जिइ दिया (आ) ।
२. तत्थ एव (बृ०) ।

१८—अजाणगा जन्नवाई
विज्जामाहणसंपया ।
गूढा[1] सज्झायतवसा
भासच्छन्ना इवऽग्गिणो ॥

अजायकाः यज्ञ-वादिनः
विद्या-माहन-सम्पदाम् ।
गूढाः स्वाध्याय-तपसा
भस्म-च्छन्ना इवाग्नयः ॥

१८—"जो यज्ञ-वादी हैं वे ब्राह्मण की सम्पदा—विद्या से अनभिज्ञ हैं। वे बाहर में स्वाध्याय और तपस्या से उसी प्रकार ढंके हुए हैं जिस प्रकार अग्नि राख से ढंकी हुई होती है।

१९—जो लोए बम्भणो वुत्तो
अग्गी वा महिओ जहा ।
सया कुसलसंदिट्ठं
तं वयं बूम माहणं ॥

यो लोके ब्राह्मण उक्तः
अग्निर्वा महितो यथा ।
सदा कुशल-संदिष्टं
तं वयं ब्रूमो माहनम् ॥

१९—"जिसे कुशल पुरुषों ने ब्राह्मण कहा है, जो अग्नि की भाँति सदा लोक में पूजित है, उसे हम कुशल पुरुष द्वारा कहा हुआ ब्राह्मण कहते हैं।

२०—जो न सज्जइ आगन्तुं
पव्वयन्तो न सोयई[2] ।
रमए अज्जवयणंमि
तं वयं बूम माहणं ॥

यो न स्वजत्यागन्तुं
प्रव्रजन्न शोचति ।
रमते आर्य-वचने
तं वयं ब्रूमो माहनम् ॥

२०—"जो आने पर आसक्त नहीं होता, जाने के समय शोक नहीं करता, जो आर्य-वचन में रमण करता है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

२१—जायरूवं जहामट्ठं[3]
निद्धन्तमलपावगं ।
रागद्दोसभयाईयं
तं वयं बूम माहणं ॥

जातरूपं यथामृष्टं
निर्ध्मात-मल-पापकम् ।
राग-दोष-भयातीतं
तं वयं ब्रूमो माहनम् ॥

२१—"अग्नि में तपा कर शुद्ध किए हुए और घिसे हुए सोने की तरह जो विशुद्ध है तथा राग-द्वेष और भय से रहित है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

[तवस्सियं किसं दन्तं
अवचियमंससोणियं ।
सुव्वयं पत्तनिव्वाणं
तं वयं बूम माहणं ॥][4]

[तपस्विनं कृशं दान्तं
अपचित-मांस-शोणितम् ।
सुव्रतं प्राप्त-निर्वाणं
तं वयं ब्रूमो माहनम् ॥]

'[जो तपस्वी है, कृश है, दान्त है, जिसके मांस और शोणित का अपचय हो चुका है, जो सुव्रत है, जो शान्त है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।]

१. मूढा (बृ०); गूढा (बृ० पा०)।
२. छुब्वइ (ब)।
३. महामट्ठं (बृ०); जहामट्ठं (बृ० पा०)।
४. यह श्लोक बृहद् वृत्ति में व्याख्यात नहीं है।

२२—तसपाणे वियाणेत्ता
संगहेण 'य थावरे'[1] ।
जो न हिंसइ तिविहेणं[2]
तं वयं बूम माहणं ॥

त्रस-प्राणिनो विज्ञाय
संग्रहेण च स्थावरान् ।
यो न हिनस्ति त्रिविधेन
तं वयं ब्रूमो ब्राह्मणम् ॥

२२—"जो त्रस और स्थावर जीवों को भलीभाँति जान कर मन, वाणी और शरीर से उनकी हिंसा नहीं करता, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं ।

२३—कोहा वा जइ वा हासा
लोहा वा जइ वा भया ।
मुसं न वयई जो उ
तं वयं बूम माहणं ॥

क्रोधाद् वा यदि वा हासात्
लोभाद्वा यदि वा भयात् ।
मृषा न वदति यस्तु
तं वयं ब्रूमो ब्राह्मणम् ॥

२३—"जो क्रोध, हास्य, लोभ या भय के कारण असत्य नहीं बोलता, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं ।

२४—चित्तमन्तमचित्तं वा
अप्पं वा जइ वा बहुं ।
न गेण्हइ अदत्तं जो
तं वयं बूम माहणं ॥

चित्तवदचित्तं वा
अल्पं वा यदि वा बहुम् ।
न गृह्णात्यदत्तं यः
तं वयं ब्रूमो ब्राह्मणम् ॥

२४—"जो सचित्त या अचित्त कोई भी पदार्थ, थोड़ा या अधिक कितना ही क्यों न हो, उसके अधिकारी के दिए बिना नहीं लेता, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं ।

२५—दिव्वमाणुसतेरिच्छं
जो न सेवइ मेहुणं ।
मणसा कायवक्केणं
तं वयं बूम माहणं ॥

दिव्य-मानुष-तैरश्चं
यो न सेवते मैथुनम् ।
मनसा काय-वाक्येन
तं वयं ब्रूमो ब्राह्मणम् ॥

२५—"जो देव, मनुष्य और तिर्यञ्च सम्बन्धी मैथुन का मन, वचन और काय से सेवन नहीं करता, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं ।

२६—जहा पोमं जले जायं
नोवलिप्पइ वारिणा ।
एवं अलित्तो[3] कामेहिं
तं वयं बूम माहणं ॥

यथा पद्मं जले जातं
नोपलिप्यते वारिणा ।
एवमलिप्तः कामैः
तं वयं ब्रूमो ब्राह्मणम् ॥

२६—"जिस प्रकार जल में उत्पन्न हुआ कमल जल से लिप्त नहीं होता, इसी प्रकार काम-भोग के वातावरण में उत्पन्न हुआ जो मनुष्य उससे लिप्त नहीं होता, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं ।

२७—अलोलुयं मुहाजीवी[4]
अणगारं अकिंचणं ।
असंसत्तं गिहत्थेसु
तं वयं बूम माहणं ॥

अलोलुपं मुधा-जीविनं
अनगारमकिंचनम् ।
असंसक्तं गृहस्थेषु
तं वयं ब्रूमो ब्राह्मणम् ॥

२७—"जो लोलुप नहीं है, जो निर्दोष भिक्षा से जीवन का निर्वाह करता है, जो गृह-त्यागी है, जो अकिंचन है, जो गृहस्थों में अनासक्त है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं ।

---

१. सथावरे (बृ० पा०) ।
२. एयं तु (बृ०) ; तिविहेण (बृ० पा०) ।
३. अलित्तं (आ, इ, ब०) ।
४. मुहाजीवि (बृ० पा०) ।

[जहित्ता पुव्वसंजोगं
नाइसंगे[1] य बन्धवे।
जो न सज्जइ एएहिं[2]
तं वयं बूम माहणं ॥][3]

[त्यक्त्वा पूर्व-संयोगं
ज्ञाति-संगांश्च बान्धवान्।
यो न स्वजति एतेषु
तं वयं ब्रूमो माहनम् ॥]

[जो पूर्व-संयोगो, ज्ञाति-जनों की आसक्ति और बान्धवों को छोड़ कर उनमें आसक्त नहीं होता, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।]

२८—पसुबन्धा[4] सव्ववेया[5]
जट्ठं च पावकम्मुणा।
न तं तायन्ति दुस्सीलं
कम्माणि बलवन्ति ह ॥

पशु-बन्धाः सर्व-वेदाः
इष्टं च पाप-कर्मणा।
न तं त्रायन्ते दुःशीलं
कर्माणि बलवन्ति इह ॥

२८—"जिनके शिक्षा-पद पशुओं को बलि के लिए यज्ञस्तूपों में बांधे जाने के हेतु बनते हैं, वे सब वेद और पशु-बलि आदि पाप-कर्म के द्वारा किए जाने वाले यज्ञ दुराचार-सम्पन्न उस यज्ञ-कर्त्ता को त्राण नहीं देते, क्योंकि कर्म बलवान् होते हैं।

२९—न वि मुण्डिएण समणो
न ओंकारेण बम्भणो।
न मुणी रण्णवासेणं
कुसचीरेण न तावसो ॥

नाऽपि मुण्डितेन श्रमणः
न ओंकारेण ब्राह्मणः।
न मुनिररण्य-वासेन
कुश-चीवरेण न तापसः ॥

२९—"केवल सिर मूंड लेने से कोई श्रमण नहीं होता, 'ओम्' का जप करने मात्र से कोई ब्राह्मण नहीं होता, केवल अरण्य में रहने से कोई मुनि नहीं होता और कुश का चीवर पहनने मात्र से कोई तापस नहीं होता।

३०—समयाए समणो होइ
बम्भचेरेण बम्भणो।
नाणेण य मुणी होइ
तवेणं होइ तावसो ॥

समतया श्रमणो भवति
ब्रह्मचर्येण ब्राह्मणः।
ज्ञानेन च मुनिर्भवति
तपसा भवति तापसः ॥

३०—"समभाव की साधना करने से श्रमण होता है, ब्रह्मचर्य के पालन से ब्राह्मण होता है, ज्ञान की आराधना—मनन करने से मुनि होता है, तप का आचरण करने से तापस होता है।

३१—कम्मुणा बम्भणो होइ
कम्मुणा होइ खत्तिओ।
वइस्सो कम्मुणा होइ
सुद्दो हवइ[6] कम्मुणा ॥

कर्मणा ब्राह्मणो भवति
कर्मणा भवति क्षत्रियः।
वैश्यो कर्मणा भवति
शूद्रो भवति कर्मणा ॥

३१—"मनुष्य कर्म से ब्राह्मण होता है, कर्म से क्षत्रिय होता है, कर्म से वैश्य होता है और कर्म से ही शूद्र होता है।

१. नाइ संजोगे (ऋ०)।
२. भोगेसु (ऋ०); एएसु (उ)।
३. यह श्लोक बृहद् वृत्ति में पाठान्तर रूप में स्वीकृत है।
४. पसुबद्धा (बृ० पा०)।
५. सव्व वेया य (अ)।
६. होइय (अ); होइ उ (बृ०)

३२—एए 'पाउकरे बुद्धे'[1]
जेहिं होइ सिणायओ ।
सव्वकम्मविनिम्मुक्कं
तं वयं बूम माहणं ॥

एतान्प्रादुरकार्षीद् बुद्धः
यैर्भवति स्नातकः ।
सर्व-कर्म-विनिर्मुक्तः
तं वयं ब्रूमो माहनम् ॥

३२—"इन तत्त्वों को अर्हत् ने प्रकट किया है। इनके द्वारा जो मनुष्य स्नातक होता है, जो सब कर्मों से मुक्त होता है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

३३—एवं गुणसमाउत्ता
जे भवन्ति दिउत्तमा ।
ते समत्था उ उद्धत्तुं
परं अप्पाणमेव य ॥

एवं गुण-समायुक्ताः
ये भवन्ति द्विजोत्तमाः ।
ते समर्थास्तूद्धर्तुम्
परमात्मानमेव च ॥

३३—"इस प्रकार जो गुण-सम्पन्न द्विजोत्तम होते हैं, वे ही अपना और पराया उद्धार करने में समर्थ हैं।"

३४—एवं तु संसए छिन्ने
विजयघोसे य माहणे[2] ।
'समुदाय तयं[3] तं तु'[4]
जयघोसं महामुणिं ॥

एवं तु संशये छिन्ने
विजयघोषश्च माहनः ।
समुदाय तकां तं तु
जयघोषं महामुनिम् ॥

३४—"इस प्रकार संशय दूर होने पर विजयघोष ब्राह्मण ने जयघोष की वाणी को भली-भाँति समझा और—

३५—तुट्ठे य विजयघोसे
इणमुदाहु कयंजली ।
माहणत्तं जहाभूयं
सुट्ठु मे उवदंसियं ॥

तुष्टश्च विजयघोषः
इदमुदाह कृतांजलिः ।
माहनत्वं यथाभूतं
सुष्ठु मे उपदर्शितम् ॥

३५—"महामुनि जयघोष से संतुष्ट हो, हाथ-जोड कर इस प्रकार कहा—"तुमने मुझे यथार्थ ब्राह्मणत्व का बहुत ही अच्छा अर्थ समझाया है।

३६—तुब्भे जइया जन्नाणं
तुब्भे वेयविऊ विऊ ।
जोइसंगविऊ तुब्भे
तुब्भे धम्माण पारगा ॥

यूयं यष्टारो यज्ञानां
यूयं वेद-विदो विदः ।
ज्योतिषांग-विदो यूयं
यूयं धर्माणां पारगाः ॥

३६—"तुम यज्ञों के यज्ञकर्त्ता हो, तुम वेदों को जानने वाले विद्वान् हो, तुम वेद के ज्योतिष आदि छहों अंगों को जानते हो, तुम धर्मों के पारगामी हो।

३७—तुब्भे समत्था उद्धत्तुं
परं अप्पाणमेव य ।
तमणुग्गहं करेहऽम्हं[5]
भिक्खेणं[6] भिक्खुउत्तमा ॥

यूयं समर्थाः उद्धर्तुं
परमात्मानमेव च ।
तदनुग्रहं कुरुतास्माकं
भैक्ष्येण भिक्षूत्तमाः ॥

३७—"तुम अपना और पराया उद्धार करने में समर्थ हो, इसलिए हे भिक्षु-श्रेष्ठ ! तुम हम पर भिक्षा लेने का अनुग्रह करो।"

---

१. पाउकराधम्मा (बृ० पा०)।
२. बंभणे (बृ०); माहणे (बृ० पा०)।
३. तओ (अ, छ०, ऋ०)।
४. संजाणंतो तओ तं तु (बृ०पा०); समादाय तयं तं व (उ)।
५. करे अम्मं (अ, इ)।
६. भिक्खूणं (बृ०)।

३८—न कज्जं मज्झ भिक्खेण
खिप्पं निक्खमसू दिया।
मा भमिहिसि भयावट्टे[1]
घोरे[2] संसारसागरे॥

न कार्यं मम भैक्ष्येण
क्षिप्रं निष्क्राम द्विज!।
मा भ्रमीः भयावर्त्ते
घोरे संसार-सागरे॥

३८—"मुझे भिक्षा से कोई प्रयोजन नहीं है। हे द्विज! तू तुरन्त ही निष्क्रमण कर मुनि-जीवन को स्वीकार कर। जिससे भय के आवर्त्तों से आकीर्ण इस घोर संसार-सागर में मुझे चक्कर लगाना न पड़े।

३९—उवलेवो होइ भोगेसु
अभोगी नोवलिप्पई।
भोगी भमइ संसारे
अभोगी विप्पमुच्चई॥

उपलेपो भवति भोगेषु
अभोगी नोपलिप्यते।
भोगी भ्रमति संसारे
अभोगी विप्रमुच्यते॥

३९—"भोगों में उपलेप होता है। अभोगी लिप्त नहीं होता। भोगी संसार में भ्रमण करता है। अभोगी उससे मुक्त हो जाता है।

४०—उल्लो सुक्को य दो छूढा
गोलया मट्टियामया।
दो वि आवडिया कुड्डे
जो उल्लो सोतत्थ[3] लग्गई॥

आर्द्रः शुष्कश्च द्वौ क्षिप्तौ
गोलकौ मृत्तिकामयौ।
द्वावप्यापतितौ कुड्ये
य आर्द्रः स तत्र लगति॥

४०—"मिट्टी के दो गोले—एक गीला और एक सूखा-फेंके गए। दोनों भीत पर गिरे। जो गीला था वह वहाँ चिपक गया।

४१—एवं लग्गन्ति दुम्मेहा
जे नरा कामलालसा।
विरत्ता उ न लग्गन्ति
जहा सुक्को उ गोलओ॥

एवं लगन्ति दुर्मेधसः
ये नराः काम-लालसाः।
विरक्तास्तु न लगन्ति
यथा शुष्कस्तु गोलकः॥

४१—"इसी प्रकार जो मनुष्य दुर्बुद्धि और काम-भोगों में आसक्त होते हैं, वे विषयों से चिपट जाते हैं। जो विरक्त होते हैं, वे उनसे नहीं चिपटते, जैसे सूखा गोला।"

४२—एवं से विजयघोसे
जयघोसस्स अन्तिए।
अणगारस्स निक्खन्तो
धम्मं 'सोच्चा अणुत्तरं'[4]॥

एवं स विजयघोषः
जयघोषस्यान्तिके।
अनगारस्य निष्क्रान्तः
धर्मं श्रुत्वाऽनुत्तरम्॥

४२—"इस प्रकार वह विजयघोष जयघोष अनगार के समीप अनुत्तर धर्म सुन कर प्रव्रजित हो गया।

४३—खवित्ता पुव्वकम्माइं
संजमेण तवेण य।
जयघोसविजयघोसा
सिद्धिं पत्ता अणुत्तरं॥
—त्ति बेमि।

क्षपयित्वा पूर्व-कर्माणि
संयमेन तपसा च।
जयघोष-विजयघोषौ
सिद्धिं प्राप्तावनुत्तराम्॥
—इति ब्रवीमि।

४३—"जयघोष और विजयघोष ने संयम और तप के द्वारा पूर्व संचित कर्मों को क्षीण कर अनुत्तर सिद्धि प्राप्त की।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

---

१. भवावत्ते (बृ० पा०)।
२. दीहं (बृ० पा०)।
३. सोऽत्थ (बृ०, ऋ०)।
४. सोच्चाण केवलं (बृ० पा०)।

छब्बीसइमं अज्झयणं :
सामायारी

षड्विंश अध्ययन :
सामाचारी

आमुख

इस अध्ययन में 'इच्छा' आदि का समाचरण वर्णित है इसलिए इस अध्ययन का नाम 'सामाचारी'—'सामाचारी' है।

'णाणस्स सारं आयारो'—ज्ञान का सार है आचार। आचार जीवन-मुक्ति का साधन है। जैन मनीषियों ने जिस प्रकार तत्त्वों की सूक्ष्मतम छानबीन की है उसी प्रकार आचार का सूक्ष्मतम निरूपण भी किया है। आचार दो प्रकार का होता है—व्रतात्मक-आचार और व्यवहारात्मक-आचार। व्रतात्मक-आचार अहिंसा है। वह शाश्वत धर्म है। व्यवहारात्मक-आचार है परस्परानुग्रह। वह अनेक विध होता है। वह अशाश्वत है।

जो मुनि संघीय-जीवन यापन करते हैं उनके लिए व्यवहारात्मक-आचार भी उतना ही उपयोगी है जितना कि व्रतात्मक-आचार। जिस संघ या समूह में व्यवहारात्मक-आचार की उन्नत विधि है और उसकी सम्यक् परि-पालना होती है, वह संघ दीर्घायु होता है। उसकी एकता अखण्ड होती है।

जैन आचार-शास्त्र में दोनों आचारों का विशद् निरूपण प्राप्त है। प्रस्तुत अध्ययन में व्यवहारात्मक-आचार के दस प्रकारों का स्फुट निदर्शन है। ये दस प्रकार सम्यक्-आचार के आधार हैं इसलिए इन्हें समाचार, सामाचार या सामाचारी कहा है।

सामाचारी के दो प्रकार हैं—

१—ओघ सामाचारी।

२—पद-विभाग सामाचारी।

प्रस्तुत अध्ययन में ओघ सामाचारी का निरूपण है। टीकाकार ने अध्ययन के अन्त में यह जानकारी प्रस्तुत की है कि ओघ सामाचारी का अन्तर्भाव धर्मकथानुयोग में होता है और पद-विभाग सामाचारी का चरण-करणानुयोग में। उत्तराध्ययन धर्मकथानुयोग के अन्तर्गत है।[1] ओघ सामाचारी के दस प्रकार हैं। (श्लो० ३, ४)

१—आवश्यकी	२—नैषेधिकी
३—आपृच्छा	४—प्रतिपृच्छा
५—छन्दना	६—इच्छाकार
७—मिच्छाकार	८—तथाकार
९—अभ्युत्थान	१०—उपसंपदा

स्थानाङ्ग (१०।७४९) तथा भगवती (२५।७) में दस सामाचारी का उल्लेख है। इनमें क्रम-भेद के अतिरिक्त एक नाम-भेद भी है—'अभ्युत्थान' के बदले 'निमंत्रणा' है। निर्युक्ति (गाथा ४८२) में भी 'निमंत्रणा' ही दिया है। मूलाचार (गाथा १२५) में स्थानाङ्ग में प्रतिपादित क्रम से ओघ सामाचारी का प्रतिपादन हुआ है।

१—बृहद् वृत्ति, पत्र ५४७ :
अनन्तरोक्ता सामाचारी दशविधा ओघरूपा च पदविभागात्मिका चेह नोक्ता धर्मकथाऽनुयोगत्वादस्य छेदसूत्रान्तर्गतत्वाच्च तस्याः—।

F. 87

दिगम्बर-साहित्य में सामाचारी के स्थान पर समाचार, सामाचार शब्द का प्रयोग हुआ है और इसके चार अर्थ किए हैं—

१ समता का आचार।
२—सम्यग् आचार।
३ सम (तुल्य) आचार।
४—समान (परिमाण सहित) आचार।[1]

क्वचित् चक्रवाल-सामाचारी का भी उल्लेख मिलता है। वर्द्धमान देशना (पत्र १०२) में शिक्षा के दो प्रकार बताए हैं—आसेवना शिक्षा और ग्रहण शिक्षा।

आसेवना शिक्षा के अन्तर्गत दस-विध चक्रवाल सामाचारी का उल्लेख हुआ है।[2]

१—प्रतिलेखना
२—प्रमार्जना
३—भिक्षा
४—चर्या
५—आलोचना
६—भोजन
७—पात्रक धावन
८—विचारण (बहिर्भूमि-गमन)
९—स्थण्डिल
१०—आवश्यिकी

उपर्युक्त दस सामाचारियों में आवश्यिकी विभाग में सारी औघिक सामाचारियों का ग्रहण हुआ है।

सामाचारी का अर्थ है—मुनि का आचार-व्यवहार या इति-कर्तव्यता। इस व्यापक परिभाषा से मुनि-जीवन की दिन-रात की समस्त प्रवृत्तियां 'सामाचारी' शब्द से व्यवहृत हो सकती हैं। दस-विध औघिक सामाचारी के साथ-साथ प्रस्तुत अध्ययन में अन्यान्य कर्तव्यों का निर्देश भी हुआ है।

शिष्य के लिए आवश्यक है कि वह जो भी कार्य करे गुरु से आज्ञा प्राप्त कर करे। (श्लो० ८,९,१०) दिन-चर्या की व्यवस्था के लिए दिन के चार भागों और उनमें करणीय कार्यों का उल्लेख श्लो० ११ और १२ में है। श्लो० १३ से १६ तक दैवसिक काल-ज्ञान—दिन के चार प्रहरों को जानने की विधि है। श्लो० १७ और १८ में रात्रि-चर्या के चार भागों और उनमें करणीय कार्यों का उल्लेख है। श्लो० १९ और २० में रात्रिक काल-ज्ञान—रात के चार प्रहरों को जानने की विधि और प्रथम और चतुर्थ प्रहर में स्वाध्याय करने का निर्देश है। श्लो० २१ में उपधि-प्रतिलेखना और स्वाध्याय का विधान है। ८ वें श्लोक में भी यह विषय प्रतिपादित है। यहां थोड़े परिवर्तन के साथ पुनरुक्त है। श्लो० २२ में पात्र-प्रतिलेखना तथा २३ में उसका क्रम है। श्लो० २४ से २८ तक वस्त्र-प्रतिलेखना की विधि है। श्लो० २९ और ३० में प्रतिलेखना-प्रमाद के दोष का निरूपण है। श्लो० ३१ से ३५ तक में दिन के तीसरे प्रहर के कर्तव्य-भिक्षाचरी, आहार तथा दूसरे गाँव में भिक्षार्थ जाने आदि का विधान है। श्लो० ३६ एवं ३७ तथा ३८ के प्रथम दो चरणों तक चतुर्थ प्रहर के कर्तव्य—वस्त्र-पात्र-प्रतिलेखन, स्वाध्याय, शय्या और उच्चार-भूमि की प्रतिलेखना का विधान है। श्लो० ३८ के अन्तिम दो चरणों से ४२ के तीन चरणों तक दैवसिक प्रतिक्रमण का विधान है। चतुर्थ चरण में रात्रिक काल-प्रतिलेखना का विधान है। श्लो० ४३ वाँ १८ वें का पुनरुक्त है तथा ४४ वाँ २० वें का पुनरुक्त है। श्लो० ४५ से ५१ तक रात्रिक प्रतिक्रमण का विधान है। ५२ वें श्लोक में उपसंहार है। २० वें श्लोक तक एक प्रकार से ओघ सामाचारी (दिन और रात की चर्या) का प्रतिपादन हो चुकता है। श्लोक २१ से ५१ तक प्रतिपादित विषय का ही विस्तार से प्रतिपादन किया है। इसलिए यत्र क्वचित् पुनरुक्तियाँ भी हैं।

१—मूलाचार, गाथा १२३ :
समदा सामाचारो, सम्माचारो समो व आचारो।
सव्वेसि सम्माणं, सामाचारो दु आचारो॥

२—प्रवचन सारोद्धार, गाथा ७६०,७६१ में 'इच्छा, मिच्छा' आदि को चक्रवाल-सामाचारी के अन्तर्गत माना है और गाथा ७६८ में प्रतिलेखना, प्रमार्जना आदि को प्रकारान्तर से दस-विध सामाचारी माना है।

मुनि दिन के प्रथम प्रहर में स्वाध्याय करे, दूसरे में ध्यान, तीसरे में भिक्षाचर्या और चौथे में पुनः स्वाध्याय। (श्लो० १२)

मुनि रात्रि के प्रथम प्रहर में स्वाध्याय करे, दूसरे में ध्यान, तीसरे में निद्रा-मोक्ष (शयन) और चौथे में पुनः स्वाध्याय। (श्लो० १८)

यह मुनि के औत्सर्गिक कर्त्तव्यों का निर्देश है। इसमें कई अपवाद भी हैं।

दैनिक-कृत्यों का विस्तार से वर्णन २१ वें से ३८ वें श्लोक तक हुआ है और रात्रिक-कृत्यों का ३६ वें से ५१ वें श्लोक तक।

यह सारा वर्णन सामाचारी के अन्तर्गत आता है। सामाचारी संघीय जीवन जीने की कला है। इससे पारस्परिक एकता की भावना पनपती है और इससे संघ दृढ़ बनता है। दस-विध सामाचारी की सम्यक् परिपालना से व्यक्ति में निम्न विशेष गुण उत्पन्न होते हैं—

१—आवश्यिकी और नैषेधिकी से निष्प्रयोजन गमनागमन पर नियंत्रण रखने की आदत पनपती है।

२—मिच्छाकार से पापों के प्रति सजगता के भाव पनपते हैं।

३—आपृच्छा और प्रतिपृच्छा से श्रमशील तथा दूसरों के लिए उपयोगी बनने के भाव बनते हैं।

४—छन्दना से अतिथि-सत्कार की प्रवृत्ति बढ़ती है।

५—इच्छाकार से दूसरों के अनुग्रह को सहर्ष स्वीकार करने तथा अपने अनुग्रह में परिवर्तन करने की कला आती है।

परस्परानुग्रह संघीय-जीवन का अनिवार्य तत्त्व है। परन्तु व्यक्ति उस अनुग्रह को अधिकार मान बैठता है, वहाँ स्थिति जटिल बन जाती है। दूसरों के अनुग्रह को हार्दिक स्वीकृति स्वयं में विनय पैदा करती है।

६—उपसम्पदा से परस्पर-ग्रहण की अभिलाषा पनपती है।

७—अभ्युत्थान (गुरु-पूजा) से गुरुता की ओर अभिमुखता होती है।

८—तथाकार से आग्रह की आदत छूट जाती है, विचार करने के लिए प्रवृत्ति सदा उन्मुक्त रहती है।

५—गमणे आवस्सियं कुज्जा
ठाणे कुज्जा निसीहियं ।
आपुच्छणा सयंकरणे
परकरणे पडिपुच्छणा ॥

गमने आवश्यकीं कुर्यात्
स्थाने कुर्यान्निषीधिकाम् ।
आप्रच्छना स्वयं करणे
पर-करणे प्रतिप्रच्छना ॥

५—(१) स्थान से बाहर जाते समय आवश्यकी करे—आवश्यकी का उच्चारण करे ।
(२) स्थान में प्रवेश करते समय नैषेधिकी करे—नैषेधिकी का उच्चारण करे ।
(३) अपना कार्य करने से पूर्व आपृच्छा करे— गुरु से अनुमति ले ।
(४) एक कार्य से दूसरा कार्य करते समय प्रतिपृच्छा करे—गुरु से पुनः अनुमति ले ।

६—छन्दणा दव्वजाएणं
इच्छाकारो य सारणे ।
मिच्छाकारो य निन्दाए
तहक्कारो य[1] पडिस्सुए ॥

छन्दना द्रव्यजातेन
इच्छाकारश्च सारणे ।
मिथ्याकारश्च निन्दायां
तथाकारश्च प्रतिश्रुते ॥

६—(५) पूर्व-गृहीत द्रव्यों से छंदना करे—गुरु आदि को निमन्त्रित करे ।
(६) सारणा (औचित्य से कार्य करने और कराने) में इच्छाकार का प्रयोग करे—आपकी इच्छा हो तो मैं आपका अमुक कार्य करूं ? आपकी इच्छा हो तो कृपया मेरा अमुक कार्य करें ।
(७) अनाचरित की निन्दा के लिए मिथ्याकार का प्रयोग करे ।
(८) प्रतिश्रवण (गुरु द्वारा प्राप्त उपदेश की स्वीकृति) के लिए तथाकार (यह ऐसे ही है) का प्रयोग करे ।

७—अब्भुट्ठाणं गुरुपूया
अच्छणे उवसंपदा ।
'एवं दुपंचसंजुत्ता'[2]
सामायारी पवेइया ॥

अभ्युत्थानं गुरु-पूजायां
आसने उपसम्पद् ।
एवं द्विपंच-संयुक्ता
सामाचारी प्रवेदिता ॥

७—(९) गुरु-पूजा (आचार्य, ग्लान, बाल आदि साधुओं) के लिए अभ्युत्थान करे—आहार आदि लाए ।
(१०) दूसरे गण के आचार्य आदि के पास रहने के लिए उपसम्पदा ले—मर्यादित काल तक उनका शिष्यत्व स्वीकार करे—इस प्रकार दश-विध सामाचारी का निरूपण किया गया है ।

८—पुव्विल्लंमि चउब्भाए
आइच्चंमि समुट्ठिए ।
भण्डयं पडिलेहित्ता
वन्दित्ता य तओ गुरुं ॥

पूर्वस्मिन् चतुर्भागे
आदित्ये समुत्थिते ।
भाण्डकं प्रतिलिख्य
वन्दित्वा च ततो गुरुम् ॥

८—सूर्य के उदय होने पर दिन के प्रथम प्रहर के प्रथम चतुर्थ भाग में भाण्ड-उपकरणों की प्रतिलेखना करे । तदनन्तर गुरु को वन्दना कर—

---
१. × (ड) ।
२. एसा दसंगा साहूणं (वृ० पा०) ।

छवीसइमं अज्झयणं : षड्विंश अध्ययन

सामायारी : सामाचारी

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
१—सामायारिं पवक्खामि सव्वदुक्खविमोक्खणिं। जं चरित्ताण निग्गन्था तिण्णा संसारसागरं ॥	सामाचारीं प्रवक्ष्यामि सर्व-दुःख-विमोक्षणीम्। यां चरित्वा निर्ग्रन्थाः तीर्णाः संसार-सागरम् ॥	१—मैं सब दुःखों से मुक्त करने वाली उस सामाचारी का निरूपण करूंगा, जिसका आचरण कर निर्ग्रन्थ संसार-सागर को तिर गए।
२—पढमा आवस्सिया नाम बिइया य[1] निसीहिया। आपुच्छणा य तइया चउत्थी पडिपुच्छणा ॥	प्रथमा आवश्यकी नाम्नी द्वितीया च नैषेधिकी। आप्रच्छना च तृतीया चतुर्थी प्रतिप्रच्छना ॥	२—पहली आवश्यकी, दूसरी नैषेधिकी, तीसरी आपृच्छना, चौथी प्रति-प्रच्छना—
३—पंचमा छन्दणा नाम इच्छाकारो य छट्ठओ। सत्तमो मिच्छकारो य[2] तहक्कारो य अट्ठमो ॥	पंचमी छन्दना नाम्नी इच्छाकारश्च षष्ठः। सप्तमः मिथ्याकारश्च तथाकारश्च अष्टमः ॥	३—पाँचवीं छन्दना, छठीं इच्छाकार, सातवीं मिथ्याकार, आठवीं तथाकार—
४—अब्भुट्ठाणं नवमं दसमा उवसंपदा। एसा दसंगा साहूणं सामायारी पवेइया ॥	अभ्युत्थानं नवमं दशमी उपसम्पद्। एषा दशांगा साधूनां सामाचारी प्रवेदिता ॥	४—नौवीं अभ्युत्थान, दशवीं उपसंपदा—भगवान् ने इस दश अंग वाली साधुओं की सामाचारी का निरूपण किया है।

१. होइ (उ)।
२. उ (आ, इ)।

९—पुच्छेज्जा पंजलिउडो
किं कायव्वं मए इहं ? ।
इच्छं निओइउं भन्ते !
वेयावच्चे व सज्झाए ॥

पृच्छेत् प्रांजलिपुटः
किं कर्त्तव्यं मया इह ? ।
इच्छामि नियोजयितुं भदन्त !
वैयावृत्त्ये वा स्वाध्याये ॥

९—हाथ जोड़ कर पूछे—अब मुझे क्या करना चाहिए ? भन्ते ! मैं चाहता हूँ कि आप मुझे वैयावृत्त्य या स्वाध्याय में से किसी एक कार्य में नियुक्त करें ।

१०—वेयावच्चे निउत्तेणं
कायव्वं अगिलायओ ।
सज्झाए वा निउत्तेणं
सव्वदुक्खविमोक्खणे ॥

वैयावृत्त्ये नियुक्तेन
कर्त्तव्यमग्लायकेन ।
स्वाध्याये वा नियुक्तेन
सर्व-दुःख-विमोक्षणे ॥

१०—वैयावृत्त्य में नियुक्त किए जाने पर अग्लान भाव से वैयावृत्त्य करे अथवा सर्व दुःखों से मुक्त करने वाले स्वाध्याय में नियुक्त किए जाने पर अग्लान भाव से स्वाध्याय करे ।

११–दिवसस्स चउरो भागे
कुज्जा भिक्खू वियक्खणो ।
तओ उत्तरगुणे कुज्जा
दिणभागेसु चउसु वि ॥

दिवसस्य चतुरो भागान्
कुर्याद् भिक्षुर्विचक्षणः ।
तत उत्तर-गुणान् कुर्यात्
दिन-भागेषु चतुर्ष्वपि ॥

११—विचक्षण भिक्षु दिन के चार भाग करे। उन चारों भागों में उत्तर-गुणों (स्वाध्याय आदि) की आराधना करे।

१२—पढमं पोरिसिं सज्झायं
बीयं झाणं झियायई ।
तइयाए भिक्खायरियं
पुणो चउत्थीए सज्झायं ॥

प्रथमां पौरुषीं स्वाध्यायं
द्वितीयां ध्यानं ध्यायति ।
तृतीयायां भिक्षाचर्यां
पुनश्चतुर्थ्यां स्वाध्यायम् ॥

१२—प्रथम प्रहर में स्वाध्याय और दूसरे में ध्यान करे । तीसरे में भिक्षाचरी और चौथे में पुनः स्वाध्याय करे ।

१३—आसाढे मासे दुपया
पोसे मासे चउप्पया ।
चित्तासोएसु मासेसु
तिपया हवइ पोरिसी ॥

आषाढे मासे द्विपदा
पौषे मासे चतुष्पदा ।
चैत्राश्विनयोर्मासयोः
त्रिपदा भवति पौरुषी ॥

१३—आषाढ़ मास में दो पाद प्रमाण, पौष मास में चार पाद प्रमाण, चैत्र तथा आश्विन मास में तीन पाद प्रमाण पौरुषी होती है ।

१४—अंगुलं सत्तरत्तेणं
पक्खेण य दुअंगुलं ।
वड्ढए हायए वावी
मासेणं चउरंगुलं ॥

अंगुलं सप्त-रात्रेण
पक्षेण च द्व्यंगुलम् ।
वर्धते हीयते वापि
मासेन चतुरंगुलम् ॥

१४—सात दिन रात में एक अंगुल, पक्ष में दो अंगुल और एक मास में चार अंगुल वृद्धि और हानि होती है। श्रावण मास से पौष मास तक वृद्धि और माघ से आषाढ़ तक हानि होती है ।

१५—आसाढबहुलपक्खे
भद्दवए कत्तिए य पोसे य।
फग्गुणवइसाहेसु य
नायव्वा[1] ओमरत्ताओ ॥

आषाढ़-बहुलपक्षे
भाद्रपदे कार्तिके च पौषे च।
फाल्गुन-वैशाखयोश्च
ज्ञातव्या अवम-रात्रयः ॥

१५—आषाढ़, भाद्रपद, कार्तिक, पौष, फाल्गुन और वैशाख—इनके कृष्ण-पक्ष में एक-एक अहोरात्र (तिथि) का क्षय होता है।

१६—जेट्ठामूले आसाढसावणे
छहिं अंगुलेहिं पडिलेहा।
अट्ठहिं बीयतियंमी
तइए दस अट्ठहिं चउत्थे ॥

ज्येष्ठा-मूले आषाढ़-श्रावणे
षड्भिरंगुलैः प्रतिलेखा।
अष्टाभिर्द्वितीयत्रिके
तृतीये दशभिरष्टभिश्चतुर्थे ॥

१६—ज्येष्ठ, आषाढ़, श्रावण इस प्रथम-त्रिक में छह, भाद्रपद, आश्विन, कार्तिक इस द्वितीय-त्रिक में आठ, मृगशिर, पौष, माघ इस तृतीय-त्रिक में दश और फाल्गुन, चैत्र, वैसाख इस चतुर्थ-त्रिक में आठ आंगुल की वृद्धि करने से प्रतिलेखना का समय होता है।

१७—रत्तिं पि चउरो भागे
भिक्खू कुज्जा वियक्खणो।
तओ उत्तरगुणे कुज्जा
राइभाएसु चउसु वि ॥

रात्रिमपि चतुरो भागान्
भिक्षुः कुर्याद् विचक्षणः।
तत उत्तर-गुणान् कुर्यात्
रात्रि-भागेषु चतुर्ष्वपि ॥

१७—विचक्षण भिक्षु रात्रि के भी चार भाग करे। उन चारों भागों में उत्तर-गुणों की आराधना करे।

१८—पढमं पोरिसिं सज्झायं
बीयं झाणं झियायई।
तइयाए निद्दमोक्खं तु
चउत्थी भुज्जो[2] वि सज्झायं ॥

प्रथमां पौरुषीं स्वाध्यायं
द्वितीयां ध्यानं ध्यायति।
तृतीयायां निद्रा-मोक्षं तु
चतुर्थ्यां भूयोपि स्वाध्यायम् ॥

१८—प्रथम प्रहर में स्वाध्याय, दूसरे में ध्यान, तीसरे में नींद और चौथे में पुनः स्वाध्याय करे।

१९—जं नेइ जया रत्तिं
नक्खत्तं तंमि नहचउब्भाए।
संपत्ते विरमेज्जा
सज्झायं पओसकालम्मि ॥

यन्नयति यदा रात्रिं
नक्षत्रं तस्मिन् नभश्चतुर्भागे।
सम्प्राप्ते विरमेत
स्वाध्यायात् प्रदोष-काले ॥

१९—जो नक्षत्र जिस रात्रि की पूर्ति करता हो, वह (नक्षत्र) जब आकाश के चतुर्थ भाग में आए (प्रथम प्रहर समाप्त हो) तब प्रदोष-काल (रात्रि के प्रारम्भ) में प्रारब्ध स्वाध्याय से विरत हो जाए।

२०—तम्मेव य नक्खत्ते
गयणचउब्भागसावसेसंमि।
वेरत्तियं पि कालं
पडिलेहित्ता मुणी कुज्जा ॥

तस्मिन्नेव च नक्षत्रे
गगन-चतुर्भाग-सावशेषे।
वैरात्रिकमपि कालं
प्रतिलिख्य मुनिः कुर्यात् ॥

२०—वही नक्षत्र जब आकाश के चतुर्थ भाग में शेष रहे तब वैरात्रिक काल (रात का चतुर्थ प्रहर) आया हुआ जान फिर स्वाध्याय में प्रवृत्त हो जाए।

---

१. बोद्धव्वा (आ)।
२. पुणो (अ)।

२१—पुव्विल्लंमि चउब्भाए
पडिलेहित्ताण भण्डयं।
गुरुं वन्दित्तु सज्झायं
कुज्जा दुक्खविमोक्खणं॥

पूर्वस्मिन् चतुर्भागे
प्रतिलिख्य भाण्डकम्।
गुरुं वन्दित्वा स्वाध्यायं
कुर्याद् दुःख-विमोक्षणम्॥

२१—दिन के प्रथम प्रहर के प्रथम चतुर्थ भाग में भाण्ड-उपकरणों का प्रतिलेखन कर, गुरु को वन्दना कर, दुःख से मुक्त करने वाला स्वाध्याय करे।

२२—पोरिसीए चउब्भाए
वन्दित्ताण तओ गुरुं।
अपडिक्कमित्ता कालस्स
भायणं पडिलेहए॥

पौरुष्याश्चतुर्भागे
वन्दित्वा ततो गुरुम्।
अप्रतिक्रम्य कालस्य
भाजनं प्रतिलिखेत्॥

२२—पौन पोरुषी बीत जाने पर गुरु को वन्दना कर, काल का प्रतिक्रमण—कायोत्सर्ग किए बिना ही भाजन की प्रतिलेखना करे।

२३—मुहपोत्तियं[1] पडिलेहित्ता
पडिलेहिज्ज गोच्छगं।
गोच्छगलइयंगुलिओ
वत्थाइं पडिलेहए॥

मुख-पोतिकां प्रतिलिख्य
प्रतिलिखेत् गोच्छकम्।
अंगुलिलात-गोच्छकः
वस्त्राणि प्रतिलिखेत्॥

२३—मुख-वस्त्रिका की प्रतिलेखना कर गोच्छग की प्रतिलेखना करे। गोच्छग को अंगुलियों से पकड़ कर भाजन को ढांकने के पटलों की प्रतिलेखना करे।

२४—उड्ढं थिरं अतुरियं
पुव्वं ता वत्थमेव पडिलेहे।
तो बिइयं पप्फोडे
तइयं च पुणो पमज्जेज्जा॥

ऊर्ध्वं स्थिरमत्वरितं
पूर्वं तावद् वस्त्रमेव प्रतिलिखेत्।
ततो द्वितीयं प्रस्फोटयेत्
तृतीयं च पुनः प्रमृज्यात्॥

२४—सबसे पहले ऊकड़ू-आसन बैठ, वस्त्र को ऊँचा रखे, स्थिर रखे और शीघ्रता किए बिना उसकी प्रतिलेखना करे—चक्षु से देखे। दूसरे में वस्त्र को झटकाए और तीसरे में वस्त्र की प्रमार्जना करे।

२५—अणच्चावियं अवलियं
अणाणुबन्धि अमोसलिं[2] चेव।
छप्पुरिमा नव खोडा
[3]पाणीपाणविसोहणं[4]॥

अनर्तितमवलितं
अननुबन्ध्यमौशली चैव।
षट्-पूर्वा नव-खोडा
पाणि-प्राणि-विशोधनम्॥

२५—प्रतिलेखना करते समय (१) वस्त्र या शरीर को न नचाए, (२) न मोड़े, (३) वस्त्र के दृष्टि से अलक्षित विभाग न करे, (४) वस्त्र का भीत आदि से स्पर्श न करे, (५) वस्त्र के छह पूर्व और नौ खोटक करे और (६) जो कोई प्राणी हो उसका हाथ पर नौ बार विशोधन (प्रमार्जन) करे।

१. मुहपत्तिं (आ, इ, उ, ऋ०)।
२. अमोसलं (अ); आमोसलि (बृ०)।
३. पाणीपाणि° (बृ०)।
४. °पमज्जणं (आ, बृ०पा०); °पमज्जणया (ओघनिर्युक्ति, ४२५)।

२६—आरभडा सम्मद्दा
वज्जेयव्वा य मोसली तइया ।
पप्फोडणा चउत्थी
विक्खित्ता वेइया छट्ठा ॥

आरभटा सम्मर्दा
वर्जयितव्या च मौशली तृतीया ।
प्रस्फोटना चतुर्थी
विक्षिप्ता वेदिका षष्ठी ॥

२६—मुनि प्रतिलेखना के छह दोषों का वर्जन करे—(१) आरभटा विधि से विपरीत प्रतिलेखन करना अथवा एक वस्त्र का पूरा प्रतिलेखन किए बिना आकुलता से दूसरे वस्त्र को ग्रहण करना ।

(२) सम्मर्दा—प्रतिलेखन करते समय वस्त्र को इस प्रकार पकड़ना कि उसके बीच में सलवटें पड़ जांय अथवा प्रतिलेखनीय उपधि पर बैठ कर प्रतिलेखना करना ।

(३) मोसली—प्रतिलेखन करते समय वस्त्र को ऊपर, नीचे, तिरछे किसी वस्त्र या पदार्थ से संघट्टित करना ।

(४) प्रस्फोटना—प्रतिलेखन करते समय रज-लिप्त वस्त्र को गृहस्थ की तरह वेग से झटकाना ।

(५) विक्षिप्ता—प्रतिलेखित वस्त्रों का अप्रतिलेखित वस्त्रों पर रखना अथवा वस्त्र के अञ्चल को इतना ऊँचा उठाना कि उसकी प्रतिलेखना न हो सके ।

(६) वेदिका—प्रतिलेखना करते समय घुटनों के ऊपर, नीचे या पार्श्व में हाथ रखना अथवा घुटनों को भुजाओं के बीच रखना ।

२७—पसिढिलपलम्बलोला
एगामोसा अणेगरूवधुणा[1] ।
कुणइ पमाणि पमायं
संकिएगणणोवगं कुज्जा ॥

प्रशिथिल-प्रलम्ब-लोलाः
एकामर्शानेकरूपधूनना ।
करोति प्रमाणे प्रमादं
शंकिते गणनोपगं कुर्यात् ॥

२७—(१) प्रशिथिल—वस्त्र को ढीला पकड़ना ।

(२) प्रलम्ब—वस्त्र को विषमता से पकड़ने के कारण कोनों का लटकना ।

(३) लोल—प्रतिलेख्यमान वस्त्र का हाथ या भूमि से संघर्षण करना ।

(४) एकामर्शा—वस्त्र को बीच में से पकड़ कर उसके दोनों पार्श्वों का एक बार में ही स्पर्श करना—एक दृष्टि में ही समूचे वस्त्र को देख लेना ।

(५) अनेक रूप धूनना—प्रतिलेखना करते समय वस्त्र को अनेक बार (तीन बार से अधिक) झटकाना अथवा अनेक वस्त्रों को एक साथ झटकाना ।

(६) प्रमाण-प्रमाद—प्रस्फोटन और प्रमार्जन का जो प्रमाण (नौ-नौ बार करना) बतलाया है, उसमें प्रमाद करना ।

(७) गणनोपगणना प्रस्फोटन और प्रमार्जन के निर्दिष्ट प्रमाण में शंका होने पर उसकी गिनती करना ।

---

१. अणेगरूवधुणा (बृ० पा०) ।

२८—अणूणाइरित्तपडिलेहा
अविवच्चासा तहेव य।
पढमं पयं पसत्थं
सेसाणि उ अप्पसत्थाइं ॥

अनूनाऽतिरिक्ता प्रतिलेखा
अविव्यत्यासा तथैव च।
प्रथमं पदं प्रशस्तं
शेषाणि त्वप्रशस्तानि ॥

२८—वस्त्र के प्रस्फोटन और प्रमार्जन के प्रमाण से अन्यून अनतिरिक्त (न कम और न अधिक) और अविपरीत प्रतिलेखना करनी चाहिए। इन तीन विशेषणों के आधार पर प्रतिलेखना के आठ विकल्प बनते हैं। इनमें प्रथम विकल्प (अन्यून अनतिरिक्त और अविपरीत) प्रशस्त है और शेष अप्रशस्त।

२९—पडिलेहणं कुणन्तो
मिहोकहं कुणइ जणवयकहं वा।
देइ व पच्चक्खाणं
वाएइ सयं पडिच्छइ वा ॥

प्रतिलेखनां कुर्वन्
मिथः-कथां करोति जनपद-कथां वा।
ददाति वा प्रत्याख्यानं
वाचयति स्वयं प्रतीच्छति वा ॥

२९—जो प्रतिलेखना करते समय काम-कथा करता है अथवा जन-पद की कथा करता है अथवा प्रत्याख्यान कराता है, दूसरों को पढ़ाता है अथवा स्वयं पढ़ता है—

३०—पुढवीआउक्काए
तेऊवाऊवणस्सइतसाणं।
पडिलेहणापमत्तो
छण्हं पि विराहओ होइ ॥

पृथिव्यप्काययोः
तेजो-वायु-वनस्पति-त्रसाणाम्।
प्रतिलेखना-प्रमत्तः
षण्णामपि विराधको भवति ॥

३०—वह प्रतिलेखना में प्रमत्त मुनि पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय—इन छहों कायों का विराधक होता है।

[पुढवीआउक्काए
तेऊवाऊवणस्सइतसाणं।
पडिलेहणआउत्तो
छण्हं आराहओ होइ ॥][1]

[पृथिव्यप्काययोः
तेजो-वायु-वनस्पति-त्रसाणाम्।
प्रतिलेखना-आयुक्तः
षण्णामाराधको भवति ॥]

[प्रतिलेखना में अप्रमत्त मुनि पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय—इन छहों कायों का आराधक होता है।]

३१—तइयाए पोरिसीए
भत्तं पाणं गवेसए।
छण्हं अन्नयरागम्मि
कारणंमि समुट्ठिए ॥

तृतीयायां पौरुष्यां
भक्तं पानं गवेषयेत्।
षण्णामन्यतरस्मिन्
कारणे समुत्थिते ॥

३१—छह कारणों में से किसी एक के उपस्थित होने पर तीसरे प्रहर में भक्त और पान की गवेषणा करे।

३२—वेयणवेयावच्चे
इरियट्ठाए य संजमट्ठाए।
तह पाणवत्तियाए
छट्ठं पुण धम्मचिन्ताए ॥

वेदना-वैयावृत्याय
ईर्यार्थाय च संयमार्थाय।
तथा प्राण-प्रत्ययाय
षष्ठं पुनः धर्म-चिन्तायै ॥

३२—वेदना (क्षुधा) शान्ति के लिए, वैयावृत्य के लिए, ईर्या समिति के शोधन के लिए, संयम के लिए तथा प्राण-प्रत्यय (जीवित रहने) के लिए और धर्म-चिन्तन के लिए भक्त-पान की गवेषणा करे।

---
१. यह गाथा केवल (अ) प्रति में ही है।

३३—निग्गन्थो धिइमन्तो
निग्गन्थी वि न करेज्ज छहिं चेव।
ठाणेहिं उ इमेहिं
अणइक्कमणा य से होइ॥

निर्ग्रन्थो धृतिमान्
निर्ग्रन्थ्यपि न कुर्यात् षड्भिश्चैव।
स्थानैः स्त्वेभिः
अनतिक्रमणं च तस्य भवति॥

३३—धृतिमान् साधु और साध्वी इन छह कारणों से भक्त-पान की गवेषणा न करे, जिससे उनके संयम का अतिक्रमण न हो।

३४—आयंके उवसग्गे[1]
तितिक्खया बम्भचेरगुत्तीसु।
पाणिदया तवहेउं
सरीरवोच्छेयणट्ठाए॥

आतङ्क उपसर्ग
तितिक्षया ब्रह्मचर्य-गुप्तिषु।
प्राणि-दया तपोहेतोः
शरीर-व्यवच्छेदार्थाय॥

३४—रोग होने पर, उपसर्ग आने पर, ब्रह्मचर्य गुप्ति की तितिक्षा (सुरक्षा) के लिए, प्राणियों की दया के लिए, तप के लिए और शरीर-विच्छेद के लिए मुनि भक्त-पान की गवेषणा न करे।

३५—अवसेसं भण्डगं गिज्झा
चक्खुसा पडिलेहए।
परमद्धजोयणाओ
विहारं विहरए मुणी॥

अवशेषं भाण्डकं गृहीत्वा
चक्षुषा प्रतिलिखेत्।
परमर्धयोजनात्
विहारं विहरेन्मुनिः॥

३५—सब (भिक्षोपयोगी) भाण्डोपकरणों को ग्रहण कर चक्षु से उनकी प्रतिलेखना करे और दूसरे गाँव में भिक्षा के लिए जाना आवश्यक हो तो अधिक से अधिक अर्ध-योजन प्रदेश तक जाए।

३६—चउत्थीए पोरिसीए
निक्खिवित्ताण भायणं।
सज्झायं तओ कुज्जा
सव्वभावविभावणं[2]॥

चतुर्थ्यां पौरुष्यां
निक्षिप्य भाजनम्।
स्वाध्यायं ततः कुर्यात्
सर्व-भाव-विभावनम्॥

३६—चौथे प्रहर में भाजनों को प्रतिलेखन पूर्वक बांध कर रख दे, फिर सर्व भावों को प्रकाशित करने वाला स्वाध्याय करे।

३७—पोरिसीए चउब्भाए
वन्दित्ताण तओ गुरुं।
पडिक्कमित्ता कालस्स
सेज्जं तु पडिलेहए॥

पौरुष्याश्चतुर्भागे
वन्दित्वा ततो गुरुम्।
प्रतिक्रम्य कालस्य
शय्यां तु प्रतिलिखेत्॥

३७—चौथे प्रहर के चतुर्थ भाग में पौन पौरुषी बीत जाने पर स्वाध्याय के पश्चात् गुरु को वन्दना कर, काल का प्रतिक्रमण कर (स्वाध्याय-काल से निवृत्त होकर) शय्या की प्रतिलेखना करे।

३८—पासवणुच्चारभूमिं च
पडिलेहिज्ज जयं जई।
काउस्सग्गं तओ कुज्जा
सव्वदुक्खविमोक्खणं॥

प्रस्रवणोच्चार-भूमिं च
प्रतिलिखेद् यतं यतिः।
कायोत्सर्गं ततः कुर्यात्
सर्व-दुःख-विमोक्षणम्॥

३८—यतनाशील यति फिर प्रस्रवण और उच्चार-भूमि की प्रतिलेखना करे। तदनन्तर सर्व-दुःखों से मुक्त करने वाला कायोत्सर्ग करे।

---

१. उवसग्गे (उ)।
२. सव्वदुक्खविमोक्खणं (बृ० पा०)।

३९—देसियं च अईयारं
चिन्तिज्ज अणुपुव्वसो ।
नाणे[1] दंसणे चेव
चरित्तम्मि तहेव य ॥

दैवसिकं चातिचारं
चिन्तयेदनुपूर्वशः ।
ज्ञाने दर्शने चैव
चरित्रे तथैव च ॥

३९—ज्ञान, दर्शन और चारित्र सम्बन्धी दैवसिक अतिचार का अनुक्रम से चिन्तन करे।

४०—पारियकाउस्सग्गो
वन्दित्ताण तओ गुरुं ।
देसियं तु अईयारं
आलोएज्ज जहक्कमं ॥

पारित-कायोत्सर्गः
वन्दित्वा ततो गुरुम् ।
दैवसिकं त्वतिचारं
आलोचयेत् यथाक्रमम् ॥

४०—कायोत्सर्ग को समाप्त कर, गुरु को वन्दना करे। फिर अनुक्रम से दैवसिक अतिचार की आलोचना करे।

४१—पडिक्कमित्तु निस्सल्लो
वन्दित्ताण तओ गुरुं ।
काउस्सग्गं तओ कुज्जा
सव्वदुक्खविमोक्खणं ॥

प्रतिक्रम्य निःशल्यः
वन्दित्वा ततो गुरुम् ।
कायोत्सर्गं ततः कुर्यात्
सर्व-दुःख-विमोक्षणम् ॥

४१—प्रतिक्रमण से निःशल्य होकर गुरु को वन्दना करे। फिर सर्व दुःखों से मुक्त करने वाला कायोत्सर्ग करे।

४२—पारियकाउस्सग्गो
वन्दित्ताण तओ गुरुं ।
'थुइमंगलं च काऊण'[2]
कालं संपडिलेहए ॥

पारित-कायोत्सर्गः
वन्दित्वा ततो गुरुम् ।
स्तुति-मंगलं च कृत्वा
कालं संप्रतिलिखेत् ॥

४२—कायोत्सर्ग को समाप्त कर गुरु को वन्दना करे। फिर स्तुति-मंगल करके काल की प्रतिलेखना करे।

४३—'पढमं पोरिसिं सज्झायं
बीयं झाणं झियायई ।
तइयाए निद्दमोक्खं तु
सज्झायं तु चउत्थिए ॥'[3]

प्रथमां पौरुषीं स्वाध्यायं
द्वितीयां ध्यानं ध्यायति ।
तृतीयायां निद्रा-मोक्षं तु
स्वाध्यायं तु चतुर्थ्याम् ॥

४३—प्रथम प्रहर में स्वाध्याय, दूसरे में ध्यान, तीसरे में नींद और चौथे में पुनः स्वाध्याय करे।

४४—'पोरिसीए चउत्थीए
कालं तु पडिलेहिया ।
सज्झायं तओ कुज्जा
अबोहेन्तो असंजए ॥'[4]

पौरुष्यां चतुर्थ्यां
कालं तु प्रतिलिख्य ।
स्वाध्यायं ततः कुर्यात्
अबोधयन्नसंयतान् ॥

४४—चौथे प्रहर में काल की प्रतिलेखना कर असंयत व्यक्तियों को न जगाता हुआ स्वाध्याय करे।

---

१. नाणे य (आ) ; नाणंमि (ब) ।
२. सिद्धाणं संथवं किच्चा (बृ० पा०) ।
३. पढमा पोरसि सज्झायं बीए झाणं झियायति ।
तत्तियाए निद्दमोक्खं च चउभाए चउत्थए ॥ (बृ० पा०) ।
४. कालं तु पडिलेहित्ता अबोहितो असंजए ।
कुज्जा मुणी य सज्झायं सव्वदुक्खविमोक्खणं ॥ (बृ० पा०) ।

४५—पोरिसीए चउब्भाए
'वन्दिऊण तओ गुरुं'[1] ।
पडिक्कमित्तु कालस्स
कालं तु पडिलेहए ॥

पौरुष्याश्चतुर्भागे
वन्दित्वा ततो गुरुम् ।
प्रतिक्रम्य कालस्य
कालं तु प्रतिलिखेत ॥

४५—चौथे प्रहर के चतुर्थ भाग में गुरु को वन्दना कर, काल का प्रतिक्रमण कर (स्वाध्याय काल से निवृत्त होकर) काल की प्रतिलेखना करे ।

४६—आगए कायवोस्सग्गे
सव्वदुक्खविमोक्खणे ।
काउस्सग्गं तओ कुज्जा
सव्वदुक्खविमोक्खणं ॥

आगते काय-व्युत्सर्गे
सर्व-दुःख-विमोक्षणे ।
कायोत्सर्गं ततः कुर्यात्
सर्व दुःख-विमोक्षणम् ॥

४६—सर्व दुःखों से मुक्त करने वाला काय-व्युत्सर्ग (कायोत्सर्ग) का समय आने पर सर्व दुःखों से मुक्त करने वाला कायोत्सर्ग करे ।

४७—राइयं च अईयारं
चिन्तिज्ज अणुपुव्वसो ।
नाणंमि दंसणंमी
चरित्तंमि तवंमि य ॥

रात्रिकं चातिचारं
चिन्तयेदनुपूर्वशः ।
ज्ञाने दर्शने
चरित्रे तपसि च ॥

४७—ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप सम्बन्धी रात्रिक अतिचार का अनुक्रम से चिन्तन करे ।

४८—पारियकाउस्सग्गो
वन्दित्ताण तओ गुरुं ।
राइयं तु अईयारं
आलोएज्ज जहक्कमं ॥

पारित-कायोत्सर्गः
वन्दित्वा ततो गुरुम् ।
रात्रिकं त्वतिचारं
आलोचयेद् यथाक्रमम् ॥

४८—कायोत्सर्ग को समाप्त कर, गुरु को वंदना करे । फिर अनुक्रम से रात्रिक अतिचार की आलोचना करे ।

४९—पडिक्कमित्तु निस्सल्लो
वन्दित्ताण तओ गुरुं ।
काउस्सग्गं तओ कुज्जा
सव्वदुक्खविमोक्खणं ॥

प्रतिक्रम्य निःशल्यः
वन्दित्वा ततो गुरुम् ।
कायोत्सर्गं ततः कुर्यात्
सर्व-दुःख-विमोक्षणम् ॥

४९—प्रतिक्रमण से निःशल्य होकर गुरु को वंदना करे, फिर सर्व दुःखों से मुक्त करने वाला कायोत्सर्ग करे ।

५०—किं तवं पडिवज्जामि
एवं तत्थ विचिन्तए ।
काउस्सग्गं तु पारित्ता
वन्दई य तओ गुरुं ॥

किं तपः प्रतिपद्ये
एवं तत्र विचिन्तयेत् ।
कायोत्सर्गं तु पारयित्वा
वन्दते च ततो गुरुम् ॥

५०—मैं कौन-सा तप ग्रहण करूं—कायोत्सर्ग में ऐसा चिन्तन करे । कायोत्सर्ग को समाप्त कर, गुरु को वन्दना करे ।

१. सेसे वंदित्तु ते गुरुं (बृ० पा०) ।

५१—पारियकाउस्सग्गो
वन्दित्ताण तओ गुरुं।
तवं संपडिवज्जेत्ता[1]
करेज्ज सिद्धाण संथवं ॥

पारित-कायोत्सर्गः
वन्दित्वा ततो गुरुम्।
तपः संप्रतिपद्य
कुर्यात् सिद्धानां संस्तवम् ॥

५१—कायोत्सर्ग पारित होने पर मुनि गुरु को वन्दना करे। फिर तप को स्वीकार कर सिद्धों का संस्तव (स्तुति) करे।

५२—एसा सामायारी
समासेण वियाहिया।
जं चरित्ता बहू जीवा
तिण्णा संसारसागरं ॥
—त्ति बेमि।

एषा सामाचारी
समासेन व्याख्याता।
यां चरित्वा बहवो जीवाः
तीर्णाः संसार-सागरम् ॥
—इति ब्रवीमि।

५२—यह सामाचारी मैंने संक्षेप में कही है। इसका आचरण कर बहुत से जीव संसार-सागर को तर गए।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

१. च पडिवज्जित्ता (अ)।

सत्तावीसइमं अज्झयणं :
खलुंकिज्जं

सप्तविंश अध्ययन :
खलुंकीय

आमुख

इस अध्ययन में खलुंक (दुष्ट बैल) की उद्दण्डता के माध्यम से अविनीत की उद्दण्डता का चित्रण किया गया है, इसलिए इसका नाम 'खलुंकिज्जं'—'खलुंकीय' है।

इस ग्रन्थ के प्रथम अध्ययन में विनीत और अविनीत के स्वरूप की व्याख्या की गई है। विनीत को पग-पग पर सम्पत्ति मिलती है और अविनीत को विपत्ति। अनुशासन विनय का एक अंग है। भगवान् महावीर के शासन में अनुशासन की शिक्षा-दीक्षा का बहुत महत्त्व रहा है। आत्मानुशासन अध्यात्म का पहला सोपान है। जो आत्म-शासित है वही मोक्ष-मार्ग के योग्य है। जो शिष्य अनुशासन की अवहेलना करता है, उसका न इहलोक सधता है और न परलोक।

आन्तरिक अनुशासन में प्रवीण व्यक्ति ही बाह्य अनुशासन को क्रियान्वित कर सकता है। जिसकी आन्तरिक वृत्तियाँ अनुशासित हैं उसके लिए बाह्य अनुशासन, चाहे फिर वह कितना ही कठोर क्यों न हो, सरल हो जाता है।

यह अध्ययन प्रथम अध्ययन का ही पूरक अंश है। इसमें अविनीत शिष्य के अविनय का यथार्थ चित्रण किया गया है और उसकी 'खलुंक' (दुष्ट बैल) से तुलना की गई है—

"दुष्ट बैल शकट और स्वामी का नाश कर देता है, यत्किंचित् देख कर संत्रस्त हो जाता है, जुए और चाबुक को तोड़ डालता है और विपथगामी हो जाता है।"[1]

"अविनीत शिष्य खलुंक जैसा होता है। वह दंश-मशक की तरह कष्ट देने वाला, जलौक की तरह गुरु के दोष ग्रहण करने वाला, वृश्चिक की तरह वचन-कण्टकों से बींधने वाला, असहिष्णु, आलसी और गुरु के कथन को न मानने वाला होता है।"[2]

"वह गुरु का प्रत्यनीक, चारित्र में दोष लगाने वाला, असमाधि उत्पन्न करने वाला और कलह करने वाला होता है।"[3]

"वह पिशुन, दूसरों को तपाने वाला, रहस्य का उद्घाटन करने वाला, दूसरों का तिरस्कार करने वाला, श्रमण-धर्म से खिन्न होने वाला और मायावी होता है।"[4]

१—उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा ४८६ :
अववाली उत्तसओ जोत्तजुगभंज तुत्तभंजो अ।
उप्पहविप्पहगामी एय खलुंका भवे गोणा॥

२—वही, गाथा ४९२ :
दंसमसगस्समाणा जलुयकविच्छुयसमा य जे हुंति।
ते किर होंति खलुंका तिक्खम्मिउचंडमद्दविआ॥

३—वही, गाथा ४९३ :
जे किर गुरुपडिणीआ सबला असमाहिकारगा पावा।
अहिगरणकारगऽप्पा जिणवयणे ते किर खलुंका॥

४—वही, गाथा ४९४ :
पिसुणा परोवतावी भिन्नरहस्सा परं परिभवंति।
निव्विअणिज्जा य सढा जिणवयणे ते किर खलुंका॥

सत्तावीसइमं अज्झयणं : सप्तविंश अध्ययन

खलुंकिज्जं : खलुंकीय

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
१- थेरे गणहरे गग्गे मुणी आसि विसारए । आइण्णे गणिभावम्मि समाहिं पडिसंधए ॥	स्थविरो गणधरो गार्ग्यः मुनिरासीद् विशारदः । आकीर्णो गणि-भावे समाधिं प्रतिसंधत्ते ॥	१- एक गर्ग नामक मुनि हुआ । वह स्थविर, गणधर और शास्त्र विशारद था । वह गुणों से आकीर्ण, गणी पद पर स्थित होकर समाधि का प्रतिसंधान करता था ।
२—वहणे वहमाणस्स[1] कन्तारं अइवत्तई । जोए वहमाणस्स संसारो अइवत्तई ॥	वहने वहमानस्य कान्तारमतिवर्तते । योगे वहमानस्य संसारोऽतिवर्तते ॥	२—वाहन को वहन करते हुए बैल के अरण्य स्वयं उल्लंघित हो जाता है । वैसे ही योग को वहन करते हुए मुनि के संसार स्वयं उल्लंघित हो जाता है ।
३—खलुंके जो उ जोएइ विहम्माणो किलिस्सई[2] । असमाहिं च वेएइ तोत्तओ य से भज्जई ॥	खलुंकान् यस्तु योजयति विघ्नन् क्लिश्यति । असमाधिं च वेदयति तोत्रकं च तस्य भज्यते ॥	३—जो अयोग्य बैलों को जोतता है, वह उनको आहत करता हुआ क्लेश पाता है । उसे असमाधि का संवेदन होता है और उसका चाबुक टूट जाता है ।
४—एगं डसइ पुच्छंमि एगं विन्धइऽभिक्खणं । एगो भंजइ समिलं एगो उप्पहपट्ठिओ ॥	एकं दशति पुच्छे एकं विध्यत्यभीक्ष्णम् । एको भनक्ति समिलं एक उत्पथ-प्रस्थितः ॥	४—वह क्रुद्ध हुआ वाहक किसी एक की पूँछ को काट देता है और किसी एक को बार-बार बींधता है । तब कोई अयोग्य बैल जुए की कील को तोड देता है और कोई उत्पथ में प्रस्थान कर जाता है ।
५—एगो पडइ पासेणं निवेसइ निवज्जई । उक्कुद्दइ उप्फिडई सढे बालगवी वए ॥	एकः पतति पार्श्वेन निविशति निपद्यते । उत्कूर्दते उत्प्लवते शठः बालगवीं व्रजेत् ॥	५—कोई एक पार्श्व से गिर पड़ता है, कोई बैठ जाता है तो कोई लेट जाता है । कोई कूदता है, कोई उछलता है तो कोई शठ तरुण गाय की ओर भाग जाता है ।

१. वाहयमाणस्स (अ, सु०) ; वहणमाणस्स (बृ०) ।

२. किलामई (बृ०) ; किलिस्सई (बृ० पा०) ।

स्थविर गणधर गार्ग्य मृदु, समाधि-सम्पन्न और आचारवान् गणी थे। जब उन्होंने देखा कि उनके सारे शिष्य अविनीत, उद्दण्ड और उच्छृंखल हो गए, तब आत्म-भाव से प्रेरित हो, शिष्य-समुदाय को छोड़, वे अकेले हो गए। आत्म-निष्ठ मुनि के लिए यही कर्तव्य है। जो शिष्य-सम्पदा समाधि में सहायक होती है वही गुरु के लिए आदेय है, अनुशासनीय है और जो समाधि में बाधक बनती है वह त्याज्य है, अवांछनीय है।

सामुदायिकता साधना की समृद्धि के लिए है। वह लक्ष्य की पूर्ति के लिए सहायक हो तो उसे अंगीकार किया जाता है और यदि वह बाधक बनने लगे तो साधक स्वयं अपने को उससे मुक्त कर लेता है। यह तथ्य सदा से मान्य रहा है। यह अध्ययन उसी परम्परा की ओर संकेत करता है।

६—माई मुद्धेण पडइ
कुद्धे गच्छइ पडिप्पहं ।
'मयलक्खेण चिट्ठई'[1]
वेगेण य पहावई ॥

मायी मूर्ध्ना पतति
क्रुद्धो गच्छति प्रतिपथम् ।
मृत-लक्षेण तिष्ठति
वेगेन च प्रधावति ॥

६—कोई धूर्त्त बैल शिर को निढाल बना कर लुट जाता है तो कोई क्रुद्ध होकर पीछे को ओर चलता है। कोई मृतक-सा बन कर गिर जाता है तो कोई वेग से दौड़ता है।

७—छिन्नाले छिन्दइ सेल्लि
दुद्दन्तो भंजए जुगं ।
से वि य सुस्सुयाइत्ता[2]
उज्जाहित्ता[3] पलायए ॥

'छिन्नाले' छिनत्ति 'सेल्लिं'
दुर्दान्तो भनक्ति युगम् ।
सोपि च सूत्कृत्य
उद्धाय पलायते ॥

७—छिनाल वृषभ रास को छिन्न-भिन्न कर देता है, दुर्दान्त होकर जुए को तोड़ देता है और सों-सों कर वाहन को छोड़ कर भाग जाता है।

८—खलुंका जारिसा जोज्जा
दुस्सीसा वि हु तारिसा ।
जोइया धम्मजाणम्मि
भज्जन्ति धिइदुब्बला ॥

खलुंका यादृशा योज्याः
कुशिष्याः अपि खलुतादृशाः ।
योजिता धर्म-याने
भज्यन्ते धृति-दुर्बलाः ॥

८—जुते हुए अयोग्य बैल जैसे वाहन को भग्न कर देते हैं, वैसे ही दुर्बल धृति वाले शिष्यों को धर्म-यान में जोत दिया जाता है तो वे उसे भग्न कर डालते हैं।

९—इड्ढीगारविए एगे
एगेऽत्थ रसगारवे ।
सायागारविए एगे
एगे सुचिरकोहणे ॥

ऋद्धि-गौरविक एकः
एकोत्र रस-गौरवः ।
सात-गौरविक एकः
एकः सुचिर-क्रोधनः ॥

९—कोई शिष्य ऋद्धि का गौरव करता है तो कोई रस का गौरव करता है, कोई साता का गौरव करता है तो कोई चिरकाल तक क्रोध रखने वाला होता है।

१०—भिक्खालसिए एगे
एगे ओमाणभीरुए थद्धे ।
एगं च[4] अणुसासम्मी
हेऊहिं कारणेहि य ॥

भिक्षालस्यिक एकः
एकोऽवमान-भीरुकः स्तब्धः ।
एकं च अनुशास्ति
हेतुभिः कारणैश्च ॥

१०—कोई भिक्षाचरी में आलस्य करता है तो कोई अपमान-भीरु और अहंकारी होता है। किसी को गुरु हेतुओं व कारणों द्वारा अनुशासित करते हैं—

१. पलयं (यलं) ते ण चिट्ठिया (बृ० पा०) ।
२. सुस्सुयत्ता (अ) ।
३. उज्जुहित्ता (आ, बृ०, सु०) ।
४. × (अ) ।

११—सो वि अन्तरभासिल्लो
दोसमेव पकुव्वई[1]।
आयरियाणं तं वयणं
पडिकूलेइ अभिक्खणं ॥

सोऽप्यन्तर-भाषावान्
दोषमेव प्रकरोति।
आचार्याणां तद् वचनं
प्रतिकूलयत्यभीक्ष्णम् ॥

११—तब वह बीच में ही बोल उठता है, मन में द्वेष ही प्रकट करता है तथा बार-बार आचार्य के वचनों के प्रतिकूल आचरण करता है।

१२—न सा ममं वियाणाइ
न वि[2] सा मज्झ दाहिई।
निग्गया होहिई मन्ने
साहू अन्नोऽत्थ वच्चउ ॥

न सा मां विजानाति
नापि सा मह्यं दास्यति।
निर्गता भविष्यति मन्ये
साधुरन्योऽत्र व्रजतु ॥

१२—(गुरु प्रयोजनवश किसी श्राविका से कोई वस्तु लाने को कहे, तब वह कहता है,) वह मुझे नहीं जानती, वह मुझे नहीं देगी, मैं जानता हूँ, वह घर से बाहर गई होगी। इस कार्य के लिए मैं ही क्यों, कोई दूसरा साधु चला जाए।

१३—पेसिया[3] पलिउंचन्ति
ते परियन्ति समन्तओ।
रायवेट्ठिं[4] व मन्नन्ता
करेन्ति भिउडिं मुहे ॥

प्रेषिताः परिकुंचन्ति
ते परियन्ति समन्ततः।
राज-वेष्टिमिव मन्यमानाः
कुर्वन्ति भृकुटिं मुखे ॥

१३—किसी कार्य के लिए उन्हें भेजा जाता है और वह कार्य किए बिना ही लौट आते हैं। पूछने पर कहते हैं—उस कार्य के लिए आपने हमसे कब कहा था? वे चारों ओर घूमते हैं, किन्तु गुरु के पास कभी नहीं बैठते। कभी गुरु का कहा कोई काम करते हैं तो उसे राजा की बेगार की भाँति मानते हुए मुँह पर भृकुटी तान लेते हैं—मुँह को मचोट लेते हैं।

१४—वाइया संगहिया चेव
'भत्तपाणे य'[5] पोसिया।
जायपक्खा जहा हंसा
पक्कमन्ति दिसोदिसिं ॥

वाचिताः संगृहीताश्चैव
भक्त-पानेन च पोषिताः।
जात-पक्षा यथा हंसा
प्रक्रामन्ति दिशो दिशम् ॥

१४—(आचार्य सोचते हैं) मैंने उन्हें पढ़ाया, संगृहीत (दीक्षित) किया, भक्त-पान से पोषित किया, किन्तु कुछ योग्य बनने पर ये वैसे ही बन गए हैं, जैसे पंख आने पर हंस विभिन्न दिशाओं में प्रक्रमण कर जाते हैं—दूर-दूर उड़ जाते हैं।

१५—अह सारही विचिन्तेइ[6]
खलुंकेहिं समागओ।
किं मज्झ दुट्ठसीसेहिं
अप्पा मे अवसीयई ॥

अथ सारथिर्विचिन्तयति
खलुंकैः समागतः।
किं मम दुष्ट-शिष्यैः
आत्मा मेऽवसीदति ॥

१५—कुशिष्यों द्वारा खिन्न होकर सारथि (आचार्य) सोचते हैं—इन दुष्ट शिष्यों से मुझे क्या? इनके संसर्ग से मेरी आत्मा अवसन्न—व्याकुल होती है।

१. पभासए (बृ० पा०)।
२. य (उ)।
३. पोसिया (बृ० पा०)।
४. रायाविट्ठं (अ)।
५. भत्तपाणेण (अ, आ, इ)।
६. हि चिंतेइ (अ)।

१६—जारिसा[1] मम सीसाउ
तारिसा[2] गलिगद्दहा ।
गलिगद्दहे चइत्ताणं[3]
दढं परिगिण्हइ[4] तवं ॥

यादृशा मम शिष्यास्तु
तादृशा गलि-गर्दभाः ।
गलि-गर्दभान् त्यक्त्वा
दृढं परिगृह्णामि तपः ॥

१६—जैसे मेरे शिष्य हैं वैसे ही गली-गदर्भ होते हैं। इन गली-गर्दभों को छोड़ कर गर्गाचार्य ने दृढ़ता के साथ तप: मार्ग को अंगीकार किया।

१७—मिउ मद्दवसंपन्ने
गम्भीरे सुसमाहिए ।
विहरइ महिं महप्पा
सीलभूएण अप्पणा ॥

—त्ति बेमि ।

मृदुर्मार्दव-सम्पन्नो
गम्भीरः सुसमाहितः ।
विहरति महीं महात्मा
शीलभूतेनात्मना ॥

—इति ब्रवीमि ।

१७—वह मृदु और मार्दव से सम्पन्न गम्भीर और सुसमाहित महात्मा शील-सम्पन्न होकर पृथ्वी पर विचरने लगा।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

---

१. तारिसा (अ)।
२. जारिसा (अ)।
३. जहित्ताण (आ)।
४. पगिण्हामि (वृ०) ; परिगिण्हई (बृ० पा०)।

अट्ठावीसइमं अज्झयणं:
मोक्खमग्गगई

अष्टाविंश अध्ययन :
मोक्ष-मार्ग-गति

आमुख

इस अध्ययन का नाम 'मोक्खमग्गगई'—'मोक्ष-मार्ग-गति' है । मोक्ष प्राप्य है और मार्ग है उसकी प्राप्ति का उपाय । गति व्यक्ति का अपना पुरुषार्थ है । प्राप्य हो और प्राप्ति का उपाय न मिले तो वह प्राप्त नहीं होता । इसी प्रकार प्राप्य भी हो और प्राप्ति का उपाय भी हो किन्तु उसकी ओर गति नहीं होती तो वह प्राप्त नहीं होता । मार्ग और गति—ये दोनों प्राप्त हों तभी प्राप्य प्राप्त हो सकता है ।

ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप—इन चारों द्वारा मोक्ष की प्राप्ति होती है, इसलिए इनके समवाय को मोक्ष का मार्ग कहा गया है । जैन-दर्शन ज्ञान-योग, भक्ति-योग (श्रद्धा) और कर्म-योग (चारित्र और तप) इन तीनों को संयुक्त रूप में मोक्ष का मार्ग मानता है, किसी एक को नहीं । (श्लो० २) इस चतुरंग मार्ग को प्राप्त करने वाले जीव ही मोक्ष को प्राप्त करते हैं ।

चौथे से चौदहवें श्लोक तक ज्ञान-योग का निरूपण है—ज्ञान और ज्ञेय का प्रतिपादन है ।

पन्द्रहवें से इकतीसवें श्लोक तक श्रद्धा-योग का निरूपण है ।

बत्तीसवें से चौतीसवें श्लोक तक कर्म-योग का निरूपण है ।

पैंतीसवें श्लोक में इन योगों के परिणाम बतलाए गए हैं ।

मोक्ष-प्राप्ति का पहला साधन ज्ञान है । ज्ञान पाँच हैं—मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यव और केवल । ज्ञान के विषय हैं—द्रव्य, गुण और पर्याय । धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव—ये छह द्रव्य हैं । गुण और पर्याय अनन्त हैं ।

मोक्ष-प्राप्ति का दूसरा साधन दर्शन है । उसका विषय है तथ्य की उपलब्धि । वे नौ हैं—जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष । दर्शन को दस रुचियों में विभक्त किया गया है । यह विभाग स्थानांग (१०।७५१) और प्रज्ञापना (प्रथम पद) में भी मिलता है । वह विभाग यह है—

१—निसर्गरुचि,	६—अभिगमरुचि,
२—उपदेशरुचि,	७—विस्ताररुचि,
३—आज्ञारुचि,	८—क्रियारुचि,
४—सूत्ररुचि,	९—संक्षेपरुचि और
५—बीजरुचि,	१०—धर्मरुचि ।

मोक्ष-प्राप्ति का तीसरा साधन चारित्र—आचार है । वे पाँच हैं :

१—सामायिक चारित्र,

२—छेदोपस्थापनीय चारित्र,

३—परिहार-विशुद्धि चारित्र,

४—सूक्ष्म-सम्पराय चारित्र और

५—यथाख्यात चारित्र ।

मोक्ष-प्राप्ति का चौथा साधन तप है । वह दो प्रकार का है—बाह्य और आभ्यन्तर । प्रत्येक के छह-छह विभाग हैं ।

अट्ठावीसइमं अज्झयणं : अष्टविंश अध्ययन

मोक्खमग्गगई : मोक्ष-मार्ग-गति

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
१—मोक्खमग्गगइं तच्चं सुणेह जिणभासियं । चउकारणसंजुत्तं नाणदंसणलक्खणं ॥	मोक्ष-मार्ग-गतिं तथ्यां शृणुत जिन-भाषिताम् । चतुष्कारण-संयुक्तां ज्ञान-दर्शन-लक्षणाम् ॥	१—चार कारणों से संयुक्त, ज्ञान-दर्शन-लक्षण वाली जिन-भाषित मोक्ष-मार्ग की गति को सुनो ।
२—नाणं च दंसणं चेव चरित्तं च तवो तहा । एस[1] मग्गो त्ति पन्नत्तो जिणेहि वरदंसिहिं[2] ॥	ज्ञानं च दर्शनं चैव चरित्रं च तपस्तथा । एष मार्ग इति प्रज्ञप्तः जिनैर्वर-दर्शिभिः ॥	२—ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप—यह मोक्ष-मार्ग है, ऐसा वरदर्शी अर्हतों ने प्ररूपित किया ।
३—नाणं च दंसणं चेव चरित्तं च तवो तहा । एयंमग्गमणुप्पत्ता[3] जीवा गच्छन्ति सोग्गइं ॥	ज्ञानं च दर्शनं चैव चरित्रं च तपस्तथा । एतं मार्ग मनुप्राप्ता जीवा गच्छन्ति सुगतिम् ॥	३—ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप—इस मार्ग को प्राप्त करने वाले जीव सुगति में जाते हैं ।
४—तत्थ पंचविहं नाणं सुयं आभिनिबोहियं । ओहीनाणं तइयं मणनाणं च केवलं ॥	तत्र पंचविधं ज्ञानं श्रुतमाभिनिबोधिकम् । अवधिज्ञानं तृतीयं मनोज्ञानं च केवलम् ॥	४—उनमें ज्ञान पाँच प्रकार का है—श्रुत ज्ञान, आभिनिबोधिक ज्ञान, अवधि ज्ञान, मनः ज्ञान और केवल ज्ञान ।
५—एयं पंचविहं नाणं दव्वाण य गुणाण य । पज्जवाणं च सव्वेसिं नाणं नाणीहि देसियं ॥	एतत् पंचविधं ज्ञानं द्रव्याणां च गुणानां च । पर्यवाणां च सर्वेषां ज्ञानं ज्ञानिभिर्देशितम् ॥	५—यह पाँच प्रकार का ज्ञान सर्व द्रव्य, गुण और पर्यायों का अवबोधक है—ऐसा ज्ञानियों ने बतलाया है ।

१. एय (अ)।
२. सव्वदंसिहि (अ)।
३. एव° (अ)।

दर्शन के बिना ज्ञान नहीं होता और ज्ञान के बिना चारित्र नहीं आता। चारित्र के बिना मोक्ष नहीं होता और मोक्ष के बिना निर्वाण नहीं होता। (श्लो० ३०)

ज्ञान से तत्त्व जाने जाते हैं।

दर्शन से उन पर श्रद्धा होती है।

चारित्र से आस्रव का निरोध होता है।

तप से शोधन होता है। (श्लोक ३५)

इस प्रकार प्रस्तुत अध्ययन में इन चार मार्गों का निरूपण है। जब आत्म-शोधन पूर्ण होता है तब जीव सिद्ध-गति को प्राप्त हो जाता है।

सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के ग्यारहवें अध्ययन का नाम 'मार्गाध्ययन' है। उसमें भी मोक्ष के मार्गों का निरूपण है।

६—गुणाणमासओ दव्वं एगदव्वस्सिया गुणा । लक्खणं पज्जवाणं तु उभओ[1] अस्सिया भवे ॥	गुणानामाश्रयो द्रव्यं एक द्रव्याश्रिता गुणाः । लक्षणं पर्यवाणां तु उभयोराश्रिता भवेयुः ॥	६—जो गुणों का आश्रय होता है, वह द्रव्य है । जो किसी एक द्रव्य के आश्रित रहते है, वे गुण होते हैं । द्रव्य और गुण दोनों के आश्रित रहना पर्याय का लक्षण है—जो द्रव्य और गुण दोनों के आश्रित रहते हैं, वे पर्याय होते हैं ।
७—धम्मो अहम्मो आगासं कालो पुग्गलजन्तवो । एस लोगो त्ति पन्नत्तो जिणेहिं वरदंसिहिं ॥	धर्मोऽधर्म आकाशं कालः पुद्गल-जन्तवः । एष लोक इति प्रज्ञप्तः जिनैर्वर-दर्शिभिः ॥	७—धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव—ये छह द्रव्य हैं । यह षट्-द्रव्यात्मक जो है वही लोक है—ऐसा वरदर्शी अर्हतों ने प्ररूपित किया है ।
८—धम्मो अहम्मो आगासं दव्वं इक्किक्कमाहियं । अणन्ताणि य दव्वाणि कालो पुग्गलजन्तवो ॥	धर्मोऽधर्म आकाशं द्रव्यमेकैकमाख्यातम् । अनन्तानि च द्रव्याणि कालः पुद्गल-जन्तवः ॥	८—धर्म, अधर्म, आकाश—ये तीन द्रव्य एक-एक हैं । काल, पुद्गल और जीव ये तीन द्रव्य अनन्त-अनन्त हैं ।
९—गइलक्खणो उ[2] धम्मो अहम्मो ठाणलक्खणो । भायणं सव्वदव्वाणं नहं ओगाहलक्खणं ॥	गति-लक्षणस्तु धर्मः अधर्मः स्थान-लक्षणः । भाजनं सर्व-द्रव्याणां नभोऽवगाह-लक्षणम् ॥	९—धर्म का लक्षण है गति, अधर्म का लक्षण है स्थिति और आकाश सर्व द्रव्यों का भाजन है । उसका लक्षण है अवकाश ।
१०—वत्तणालक्खणो कालो जीवो उवओगलक्खणो । नाणेणं दंसणेणं च सुहेण य दुहेण य ॥	वर्तना-लक्षणः कालः जीव उपयोग-लक्षणः । ज्ञानेन दर्शनेन च सुखेन च दुःखेन च ॥	१०—वर्तना काल का लक्षण है । जीव का लक्षण है उपयोग । वह ज्ञान, दर्शन, सुख और दुःख से जाना जाता है ।
११—नाणं च दंसणं चेव चरित्तं च तवो तहा । वीरियं उवओगो य एयं जीवस्स लक्खणं ॥	ज्ञानं च दर्शनं चैव चरित्रं च तपस्तथा । वीर्यमुपयोगश्च एतज्जीवस्य लक्षणम् ॥	११—ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य और उपयोग—ये जीव के लक्षण हैं ।

१. दुहओ (अ)।
२. य (अ)।

१२—सद्दन्धयारउज्जोओ
पहा 'छायातवे इ वा'[1]।
वण्णरसगन्धफासा
पुग्गलाणं तु लक्खणं ॥

शब्दान्धकार उद्योतः
प्रभाच्छायाऽऽतप इति वा ।
वर्ण-रस-गन्ध-स्पर्शाः
पुद्गलानां तु लक्षणम् ॥

१२—शब्द, अन्धकार, उद्योत, प्रभा, छाया, आतप, वर्ण, रस, गन्ध और स्पर्श—ये पुद्गल के लक्षण हैं ।

१३—एगत्तं च पुहत्तं[2] च
संखा संठाणमेव य ।
संजोगा य विभागा य
पज्जवाणं तु लक्खणं ॥

एकत्वं च पृथक्त्वं च
संख्या संस्थानमेव च ।
संयोगाश्च विभागाश्च
पर्यवाणां तु लक्षणम् ॥

१३—एकत्व, पृथक्त्व, संख्या, संस्थान, संयोग और विभाग—ये पर्यायों के लक्षण हैं ।

१४—जीवाजीवा य बन्धो य
पुण्णं पावासवो तहा ।
संवरो निज्जरा मोक्खो
सन्तेए तहिया नव ॥

जीवाऽजीवाश्च बन्धश्च
पुण्यं पापाश्रवौ तथा ।
सम्वरो निर्जरा मोक्षः
सन्त्येते तथ्या नव ॥

१४—जीव, अजीव, बन्ध, पुण्य, पाप, आश्रव, संवर, निर्जरा और मोक्ष—ये नौ तथ्य (तत्त्व) हैं ।

१५—तहियाणं तु भावाणं
'सब्भावे उवएसणं ।
भावेणं सद्दहन्तस्स
सम्मत्तं तं वियाहियं'[3] ॥

तथ्यानां तु भावानां
सद्भावे उपदेशनम् ।
भावेन श्रद्दधतः
सम्यक्त्वं तद्व्याख्यातम् ॥

१५—इन तथ्य भावों के सद्भाव (वास्तविक अस्तित्व) के निरूपण में जो अन्तःकरण से श्रद्धा करता है, उसे सम्यक्त्व होता है । उस अन्तःकरण की श्रद्धा को ही भगवान् ने सम्यक्त्व कहा है ।

१६—निसग्गुवएसरुई
आणारुई सुत्तबीयरुइमेव ।
अभिगमवित्थाररुई
किरियासंखेवधम्मरुई ॥

निसर्गोपदेश-रुचिः
आज्ञा-रुचिः सूत्र-बीज-रुचिरेव ।
अभिगम-विस्तार-रुचिः
क्रिया-संक्षेप-धर्म-रुचिः ॥

१६—वह दस प्रकार का है—निसर्ग-रुचि, उपदेश-रुचि, आज्ञा-रुचि, सूत्र-रुचि, बीज-रुचि, अभिगम-रुचि, विस्तार-रुचि, क्रिया-रुचि, संक्षेप-रुचि और धर्म-रुचि ।

१७—भूयत्थेणाहिगया
जीवाजीवा य पुण्णपावं च ।
सहसम्मुइयासवसंवरो य[4]
रोएइ उ निसग्गो ॥

भूतार्थेनाधिगताः
जीवाऽजीवाश्च पुण्यं पापं च ।
स्व-सम्मत्याऽऽश्रव-संवरौ च
रोचते तु निसर्गः ॥

१७—जो परोपदेश के बिना केवल अपनी आत्मा से उपजे हुए भूतार्थ (यथार्थ ज्ञान) से जीव, अजीव, पुण्य, पाप को जानता है और जो आश्रव और संवर पर श्रद्धा करता है, वह निसर्ग-रुचि है ।

---

१. °तवे इ या (अ, ऋ०); °तवुत्ति वा (बृ०)।
२. पुहत्तं (उ)।
३. सब्भावो (वेणो) वएसणं ।
   भावेण उ सद्दहणा सम्मत्तं होति आहियं ॥ (बृ० पा०)।
४. व (अ)।

१८—जो जिणदिट्ठे भावे
चउव्विहे सद्दहाइ सयमेव ।
एमेव[1] नऽन्नह त्ति य
निसग्गरुइ त्ति नायव्वो ॥

यो जिन-दृष्टान् भावान्
चतुर्विधान् श्रद्दधाति स्वयमेव ।
एवमेव नान्यथेति च
निसर्ग-रुचिरिति ज्ञातव्यः ॥

१८—जो जिनेन्द्र द्वारा दृष्ट तथा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से विशेषित पदार्थों पर स्वयं ही—"यह ऐसा ही है अन्यथा नहीं है"—ऐसी श्रद्धा रखता है, उसे निसर्ग-रुचि वाला जानना चाहिए ।

१९—एए चेव उ[2] भावे
उवइट्ठे जो परेण सद्दहई ।
छउमत्थेण जिणेण व[3]
उवएसरुइ त्ति नायव्वो ॥

एतान् चैव तु भावान्
उपदिष्टान् यः परेण श्रद्दधाति ।
छद्मस्थेन जिनेन वा
उपदेश-रुचिरिति ज्ञातव्यः ॥

१९—जो दूसरों—छद्मस्थ या जिन—के द्वारा उपदेश प्राप्त कर, इन भावों पर श्रद्धा करता है, उसे उपदेश-रुचि वाला जानना चाहिए ।

२०—रागो दोसो मोहो
अन्नाणं जस्स अवगयं होइ ।
आणाए रोयंतो
सो खलु आणारुई नाम ॥

रागो दोषो मोहः
अज्ञानं यस्यापगतं भवति ।
आज्ञया रोचमानः
स खल्वाज्ञा-रुचिर्नाम ॥

२०—जो व्यक्ति राग, द्वेष, मोह और अज्ञान के दूर हो जाने पर वीतराग की आज्ञा में रुचि रखता है, वह आज्ञा-रुचि है ।

२१—जो सुत्तमहिज्जन्तो
सुएण ओगाहई उ सम्मत्तं ।
अंगेण बाहिरेण व[4]
सो सुत्तरुइ त्ति नायव्वो ॥

यः सूत्रमधीयानः
श्रुतेनावगाहते तु सम्यक्त्वम् ।
अङ्गेन बाह्येन वा
स सूत्र-रुचिरिति ज्ञातव्यः ॥

२१—जो अंग-प्रविष्ट या अंग-बाह्य सूत्रों को पढ़ता हुआ सम्यक्त्व पाता है, वह सूत्र-रुचि है ।

२२—एगेण अणेगाइं
पयाइं जो पसरई उ सम्मत्तं ।
उदए व्व तेल्लबिन्दू
सो बीयरुइ त्ति नायव्वो ॥

एकेनानेकानि
पदानि यत् प्रसरति तु सम्यक्त्वम् ।
उदके इव तैल-बिन्दुः
स बीज-रुचिरिति ज्ञातव्यः ॥

२२—पानी में डाले हुए तेल की बूंद की तरह जो सम्यक्त्व (रुचि) एक पद (तत्त्व) से अनेक पदों में फैलता है, उसे बीज-रुचि जानना चाहिए ।

---

१. एमेय (अ, ब, बृ०)।
२. हु (बृ०)।
३. य (बृ०)।
४. य (बृ०)।

२३—सो होइ अभिगमरुई
सुयनाणं जेण अत्थओ दिट्ठं ।
'एक्कारस अंगाइं'[1]
पइण्णगं[2] दिट्ठिवाओ य ॥

स भवति अभिगम-रुचिः
श्रुतज्ञानं येन अर्थतो दृष्टम् ।
एकादशाङ्गानि
प्रकीर्णकानि दृष्टि-वादश्च ॥

२३—जिसे ग्यारह अंग, प्रकीर्णक और दृष्टिवाद आदि श्रुत-ज्ञान अर्थ सहित प्राप्त है, वह अभिगम-रुचि है ।

२४—दव्वाण सव्वभावा
सव्वपमाणेहि जस्स उवलद्धा ।
सव्वाहि नयविहीहि य
वित्थाररुइ त्ति नायव्वो ॥

द्रव्याणां सर्वभावाः
सर्वप्रमाणैर्यस्योपलब्धाः ।
सर्वैर्नय-विधिभिश्च
विस्तार-रुचिरिति ज्ञातव्यः ॥

२४—जिसे द्रव्यों के सब भाव, सभी प्रमाणों और सभी नय-विधियों से उपलब्ध हैं, वह विस्तार-रुचि है ।

२५—दंसणनाणचरित्ते
तवविणए सच्चसमिइगुत्तीसु[3] ।
जो किरियाभावरुई
सो खलु किरियारुई नाम ॥

दर्शन-ज्ञान-चरित्रे
तपो-विनये सत्य-समिति गुप्तिषु ।
यः क्रिया-भाव-रुचिः
स खलु क्रिया-रुचिर्नाम ॥

२५—दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप, विनय, सत्य, समिति, गुप्ति आदि क्रियाओं में जिसकी वास्तविक रुचि है, वह क्रिया-रुचि है ।

२६—अणभिग्गहियकुदिट्ठी
संखेवरुइ त्ति होइ नायव्वो ।
अविसारओ पवयणे
अणभिग्गहिओ य सेसेसु ॥

अनभिगृहीत-कुदृष्टिः
संक्षेप-रुचिरिति भवति ज्ञातव्यः ।
अविशारदः प्रवचने
अनभिगृहीतश्च शेषेषु ॥

२६—जो जिन-प्रवचन में विशारद नहीं है और अन्यान्य प्रवचनों का अभिज्ञ भी नहीं है, किन्तु जिसे कुदृष्टि का आग्रह न होने के कारण स्वल्प ज्ञान मात्र से जो तत्त्व-श्रद्धा प्राप्त होती है, उसे संक्षेप-रुचि जानना चाहिए ।

२७—जो अत्थिकायधम्मं
सुयधम्मं खलु चरित्तधम्मं च ।
सद्दहइ जिणाभिहियं
सो धम्मरुइ त्ति नायव्वो ॥

योऽस्तिकाय-धर्मं
श्रुत-धर्मं खलु चरित्र-धर्मं च ।
श्रद्दधाति जिनाभिहितं
स धर्म-रुचिरिति ज्ञातव्यः ॥

२७—जो जिन-प्ररूपित अस्तिकाय-धर्म, श्रुत-धर्म और चारित्र-धर्म में श्रद्धा रखता है, उसे धर्म-रुचि जानना चाहिए ।

२८—परमत्थसंथवो वा
सुदिट्ठपरमत्थसेवणा वा वि ।
वावन्नकुदंसणवज्जणा
य सम्मत्तसद्दहणा ॥

परमार्थ-संस्तवो वा
सुदृष्ट-परमार्थ-सेवनं वापि ।
व्यापन्न-कुदर्शन-वर्जनं
च सम्यक्त्व-श्रद्धानम् ॥

२८—परमार्थ का परिचय, जिन्होंने परमार्थ को देखा है उनकी सेवा, व्यापन्न-दर्शनी (सम्यक्त्व से भ्रष्ट) और कुदर्शनी व्यक्तियों का वर्जन, यह सम्यक्त्व का श्रद्धान है ।

---
१. इक्कारसमंगाइं (उ, ऋ०) ।
२. पइण्णियं (अ) ।
३. सच्च० (अ) ।

२९—नत्थि चरित्तं सम्मत्तविहूणं
दंसणे उ भइयव्वं ।
सम्मत्तचरित्ताइं
जुगवं पुव्वं व[1] सम्मत्तं ॥

नास्ति चरित्रं सम्यक्त्व-विहीनं
दर्शने तु भक्तव्यम् ।
सम्यक्त्व-चरित्रे
युगपत् पूर्वं वा सम्यक्त्वम् ॥

२९—सम्यक्त्व-विहीन चारित्र नहीं होता। दर्शन (सम्यक्त्व) में चारित्र की भजना (विकल्प) है। सम्यक्त्व और चारित्र युगपत् (एक साथ) उत्पन्न होते हैं और जहाँ वे युगपत् उत्पन्न नहीं होते, वहाँ पहले सम्यक्त्व होता है।

३०—नादंसणिस्स नाणं
नाणेण विणा न हुन्ति चरणगुणा ।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो
नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं ॥

नाऽदर्शनिनो ज्ञानं
ज्ञानेन बिना न भवन्ति चरणगुणाः ।
अगुणिनो नास्ति मोक्षः
नास्ति अमोक्षस्य निर्वाणम् ॥

३०—अदर्शनी (असम्यक्त्वी) के ज्ञान (सम्यग् ज्ञान) नहीं होता, ज्ञान के बिना चारित्र-गुण नहीं होते। अगुणी व्यक्ति की मुक्ति नहीं होती। अमुक्त का निर्वाण नहीं होता।

३१—निस्संकिय निक्कंखिय
निव्वितिगिच्छा अमूढदिट्ठी य ।
उववूह थिरीकरणे
वच्छल्ल पभावणे अट्ठ ॥

निःशङ्कितं-निष्काङ्क्षितं
निर्विचिकित्सं अमूढ-दृष्टिश्च ।
उपबृंहा-स्थिरीकरणं
वात्सल्य-प्रभावनमष्ट ॥

३१—निःशंका, निष्कांक्षा, निर्विचिकित्सा, अमूढ-दृष्टि, उपबृंहण (सम्यक् दर्शन की पुष्टि), स्थिरीकरण, वात्सल्य और प्रभावना—ये आठ सम्यक्त्व के अंग है।

३२—सामाइयत्थ[2] पढमं
छेओवट्ठावणं भवे बीयं ।
परिहारविसुद्धीयं
सुहुमं तह संपरायं च ॥

सामायिकमत्र प्रथमं
छेदोपस्थापनं भवेद् द्वितीयम् ।
परिहार-विशुद्धिकं
सूक्ष्मं तथा सम्परायं च ॥

३२—चारित्र पाँच प्रकार के होते हैं—पहला—सामायिक, दूसरा—छेदोपस्थापनीय, तीसरा—परिहार-विशुद्धि, चौथा—सूक्ष्म-सम्पराय और।

३३—अकसायं अहक्खायं
छउमत्थस्स जिणस्स वा ।
एयं चयरित्तकरं
चारित्तं होइ आहियं ॥

अकषायं यथाख्यातं
छद्मस्थस्य जिनस्य वा ।
एतत् चय-रिक्तकरं
चारित्रं भवत्याख्यातम् ॥

३३—पाँचवाँ-यथाख्यात-चारित्र कषाय रहित होता है। वह छद्मस्थ और केवली दोनों के होता है। ये सभी चारित्र कर्म-संचयको रिक्त करते है, इसीलिए इन्हें चारित्र कहा जाता है।

३४—तवो य दुविहो वुत्तो
बाहिरब्भन्तरो तहा ।
बाहिरो छव्विहो वुत्तो
एवमब्भन्तरो तवो ॥

तपश्च द्विविधमुक्तं
बाह्यमाभ्यन्तरं तथा ।
बाह्यं षड्विध मुक्तं
एवमाभ्यन्तरं तपः ॥

३४—तप दो प्रकार का कहा है—बाह्य और आभ्यन्तर। बाह्य-तप छह प्रकार का कहा है। इसी प्रकार आभ्यन्तर-तप भी छह प्रकार का है।

१. च (अ, उ, ऋ०)।
२. सामाइयं च (उ, ऋ०)।

३५—नाणेण जाणई भावे
दंसणेण य सद्दहे ।
चरित्तेण निगिण्हाइ[1]
तवेण परिसज्झई ॥

ज्ञानेन जानाति भावान्
दर्शनेन च श्रद्धत्ते ।
चरित्रेण निगृह्णाति
तपसा परिशुध्यति ॥

३५—जीव ज्ञान से पदार्थों को जानता है, दर्शन से श्रद्धा करता है, चारित्र से निग्रह करता है और तप से शुद्ध होता है ।

३६—खवेत्ता पुव्वकम्माइं
संजमेण तवेण य ।
सव्वदुक्खप्पहीणट्ठा
पक्कमन्ति महेसिणो ॥
—त्ति बेमि ।

क्षपयित्वा पूर्व-कर्माणि
संयमेन तपसा च ।
सर्व-दुःख-प्रहाणार्थाः
प्रक्रामन्ति महर्षयः ॥
—इति ब्रवीमि ।

३६—सर्व दुःखों से मुक्ति पाने का लक्ष्य रखने वाले महर्षि संयम और तप के द्वारा पूर्व-कर्मों का क्षय कर सिद्धि को प्राप्त होते हैं ।
—ऐसा मैं कहता हूँ ।

---

१. य गिण्हति (बृ० पा०) ।

एगूणतीसइमं अज्झयणं :
सम्मत्तपरक्कमे

एकोनत्रिंश अध्ययन :
सम्यक्त्व-पराक्रम

आमुख

इस अध्ययन का नाम 'सम्मत्तपरक्कमे'—'सम्यक्त्व-पराक्रम' है। इससे सम्यक्त्व में पराक्रम करने की दिशा मिलती है, इसलिए यह 'सम्यक्त्व-पराक्रम' गुण-निष्पन्न नाम है। निर्युक्तिकार के अनुसार 'सम्यक्त्व-पराक्रम आदि पद में है, इसलिए इसका नाम 'सम्यक्त्व-पराक्रम' हुआ है।[1] उनके अभिमत में इसका गुण-निष्पन्न नाम 'अप्रमाद-श्रुत' है।[2] कुछ आचार्य इसे 'वीतराग-श्रुत' भी कहते हैं।[3]

प्रस्तुत अध्ययन में ७१ प्रश्न और उत्तर हैं। उनमें साधना-पद्धति का बहुत सूक्ष्म विश्लेषण किया गया है। साधना के सूत्रों का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है—

१—संवेग (१)[4]
२—निर्वेद (२)
३—धर्म-श्रद्धा (३)
४—शुश्रूषा—सेवा (४), वैयावृत्त्य (४३)
५—आलोचना (५)
६—निन्दा (६)
७—गर्हा (७)
८—आवश्यक-कर्म—
सामायिक (८), चतुर्विंशतिस्तव (९), वन्दना (१०), प्रतिक्रमण (११), कायोत्सर्ग (१२), प्रत्याख्यान (१३), स्तव-स्तुति (१४)
९—प्रायश्चित्त (१६)
१०—क्षमा-याचना (१७)
११—स्वाध्याय (१८)—
वाचना (१९), प्रतिप्रश्न (२०), परिवर्तना (२१), अनुप्रेक्षा (२२), धर्म-कथा (२३), श्रुताराधना (२४), काल-प्रतिलेखन (१५)
१२—मानसिक अनुशासन—
एकाग्र-मन-सन्निवेश (२५), मनो-गुप्ति (५३), मन-समाधारणता (५६), भाव-सत्यता (५०)

१—उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा ५०३ :
आयाणपएणेयं, सम्मत्तपरक्कमंति अज्झयणं।

२—वही, गाथा ५०६ :
सम्मत्तमप्पमाओ, इहमज्झयणंमि वण्णिओ जेणं।
तम्हेयं अज्झयणं, णायव्वं अप्पमाय सुअं॥

३—वही, गाथा ५०३ :
........................एगे पुण वीयरागसुयं।

४—कोष्ठकों के अन्दर के अङ्क सूत्र संख्या के सूचक हैं।

१३—वाचिक अनुशासन—

वचो-गुप्ति (५४), वचन-समाधारणता (५७)

१४—कायिक अनुशासन—

करण-सत्यता (५१), काय-गुप्ति (५५), काय-समाधारणता (५८)

१५—योग-सत्य (५२)

१६—कषाय-विजय—

क्रोध-विजय (६७), मान-विजय (६८), माया-विजय (६९), लोभ-विजय (७०), क्षान्ति (७६), मुक्ति (४७), आर्जव (४८), मार्दव (४९), वीतरागता (४५), राग, द्वेष और मिथ्यादर्शन-विजय (७१)

१७—सम्पन्नता—

सर्वगुण-सम्पन्नता (४४), ज्ञान-सम्पन्नता (५९), दर्शन-सम्पन्नता (६०), चारित्र-सम्पन्नता (६१)

१८—इन्द्रिय-निग्रह—

श्रोत्रेन्द्रिय-निग्रह (६२), चक्षुरिन्द्रिय-निग्रह (६३), घ्राणेन्द्रिय-निग्रह (६४), रसनेन्द्रिय-निग्रह (६५), स्पर्शनेन्द्रिय-निग्रह (६६)

१९—प्रत्याख्यान—

सम्भोग-प्रत्याख्यान (३३), उपधि-प्रत्याख्यान (३४), आहार-प्रत्याख्यान (३५), कषाय-प्रत्याख्यान (३६), योग-प्रत्याख्यान (३७), शरीर-प्रत्याख्यान (३८), सहाय-प्रत्याख्यान (३९), भक्त-प्रत्याख्यान (४०), सद्भाव-प्रत्याख्यान (४१)

२०—संयम (२६)

२१—तप (२०)

२२—विशुद्धि (२८)

२३—सुखासक्ति का त्याग (२९)

२४—अप्रतिबद्धता (३०)

२५—विविक्तशयनाशन (३१)

२६—विनिवर्तना (३२)

२७—प्रतिरूपता (४२)

जिस प्रकार पातञ्जल योग-दर्शन में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, परिग्रह, शौच, सन्तोष, तप, ईश्वर-प्रणिधान, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार और संयम के परिणाम बतलाए गए हैं[1], उसी प्रकार यहाँ संवेग आदि के परिणाम बतलाए गए हैं।

संवेग के परिणाम—

(१) अनुत्तर धर्म-श्रद्धा की प्राप्ति।

(२) अनुत्तर धर्म-श्रद्धा से तीव्र संवेग की प्राप्ति।

(३) तीव्रतम (अनन्तानुबन्धी) क्रोध, मान, माया और लोभ का क्षय।

(४) मिथ्यात्व-कर्म का अपुनर्बन्ध।

(५) मिथ्यात्व-विशुद्धि।

(६) उसी जन्म में या तीसरे जन्म में मुक्ति। (सू० १)

१—पातञ्जल योग-दर्शन, २।३५-४३, ४५, ४७-४९, ५३, ५५; ३।५, १६-५५।

निर्वेद के परिणाम—

(१) काम-भोगों के प्रति अनासक्त-भाव।

(२) इन्द्रियों के विषयों में विरक्ति।

(३) आरम्भ-परित्याग।

(४) संसार-मार्ग का विच्छेद और मोक्ष-मार्ग का स्वीकरण। (सू० २)

धर्म-श्रद्धा के परिणाम

(१) सुख-सुविधा के प्रति विरक्ति।

(२) अनगार-धर्म का स्वीकरण।

(३) छेदन-भेदन आदि शारीरिक और संयोग-वियोग आदि मानसिक दुःखों का उच्छेद।

(४) निर्बाध-सुख की प्राप्ति। (सू० ३)

गुरु और साधर्मिकों की सेवा के परिणाम—

(१) विनय-प्रतिपत्ति—आवश्यक कर्तव्यों का पालन।

(२) अनाशातनशीलता—गुरुजनों की अवज्ञा आदि से दूर रहने की मनोवृत्ति।

(३) दुर्गति का निरोध।

(४) गुण-ग्राहिता, गुण-प्रकाशन, भक्ति और बहुमान की मनोवृत्ति का विकास।

(५) सुगति की ओर प्रयाण।

(६) विनय-हेतुक ज्ञान आदि की प्राप्ति।

(७) दूसरों को सेवा-धर्म में प्रवृत्त करना। (सू० ४)

आलोचना के परिणाम—

(१) आन्तरिक शल्यों की चिकित्सा।

(२) सरल मनोभाव की विशेष उपलब्धि।

(३) तीव्रतर विकारों से दूर रहने की क्षमता और पूर्व-संचित विकार के संस्कारों का विलय। (सू० ५)

आत्म-निन्दा के परिणाम—

(१) पश्चात्ताप-पूर्ण मनोभाव।

(२) अभूत-पूर्व विशुद्धि की परिणाम-धारा का प्रादुर्भाव।

(३) मोह का विलय। (सू० ६)

आत्म-गर्हा के परिणाम—

(१) अपने लिए अवज्ञा-पूर्ण वातावरण का निर्माण।

(२) अप्रशस्त आचरण से निवृत्ति।

(३) ज्ञान आदि के आवरण का विलय। (सू० ७)

सामायिक का परिणाम—

(१) विषमता-पूर्ण मनोभाव (सावद्य प्रवृत्ति) की विरति। (सू० ८)

चतुर्विंशति-स्तव का परिणाम—

(१) दर्शन की विशुद्धि। (सू० ९)

वन्दना के परिणाम—

(१) नीच गोत्र-कर्म का क्षय और उच्च गोत्र-कर्म का अर्जन।

(२) सौभाग्य—लोक-प्रियता।

(३) अनुल्लंघनीय आज्ञा की प्राप्ति।

(४) अनुकूल परिस्थिति। (सू० १०)

प्रतिक्रमण के परिणाम—

(१) व्रत में होने वाले छेदों का निरोध।

(२) चारित्र के धब्बों का परिमार्जन।

(३) आठ प्रवचन-माताओं के प्रति जागरूकता।

(४) अपृथक्त्व—संयमलीनता।

(५) मानसिक निर्मलता। (सू० ११)

कायोत्सर्ग के परिणाम—

(१) अतिचार का विशोधन।

(२) हृदय की स्वस्थता और भार-हीनता।

(३) प्रशस्त-ध्यान की उपलब्धि। (सू० १२)

प्रत्याख्यान का परिणाम—

(१) आश्रव-निरोध। (सू० १३)

स्तव-स्तुति-मंगल के परिणाम—

(१) बोधि-लाभ।

(२) अन्त क्रिया—मुक्ति।

(३) स्वर्ग-गमन। (सू० १४)

काल-प्रतिलेखना का परिणाम—

(१) ज्ञानावरण कर्म का विलय। (सू० १५)

प्रायश्चित्तकरण के परिणाम—

(१) पाप-कर्म का विशोधन।

(२) दोष-विशुद्धि।

(३) मार्ग और मार्ग-फल—ज्ञान की प्राप्ति।

(४) आचार और आचार-फल—आत्म-स्वतंत्रता की आराधना। (सू० १६)

क्षमा-याचना के परिणाम—

(१) आह्लाद-पूर्ण मनोभाव।

(२) सब के प्रति मैत्रीभाव।

(३) मन की निर्मलता।

(४) अभय। (सू० १७)

स्वाध्याय का परिणाम—

(१) ज्ञानावरण कर्म का विलय। (सू० १८)

वाचना—अध्यापन के परिणाम—

(१) निर्जरा—संस्कार-क्षय।

(२) श्रुत की अनाशातना—ज्ञान का विनय।

(३) तीर्थ-धर्म का अवलम्बन—धर्म-परम्परा की अविच्छिन्नता।

(४) चरम साध्य की उपलब्धि। (सू० १९)

प्रतिप्रश्न के परिणाम—

(१) सूत्र, अर्थ और तदुभय की विशुद्धि—संशय, विपर्यय आदि का निराकरण।

(२) काङ्क्षा—मोहनीय कर्म का विच्छेद। (सू० २०)

परावर्त्तना के परिणाम—

(१) स्मृत की पुष्टि और विस्मृत की याद।

(२) व्यंजन-लब्धि—पदानुसारिणी बुद्धि का विकास। (सू० २१)

अनुप्रेक्षा के परिणाम—

(१) दृढ़ कर्म का शिथिलीकरण, दीर्घकालीन कर्म-स्थिति का संक्षेपीकरण और तीव्र अनुभाव का मन्दीकरण।

(२) असातवेदनीय कर्म का अनुपचय।

(३) संसार से शीघ्र मुक्ति। (सू० २२)

धर्म-कथा के परिणाम—

(१) निर्जरा।

(२) प्रवचन—धर्म-शासन की प्रभावना।

(३) कुशल-कर्मों का अर्जन। (सू० २३)

श्रुताराधना के परिणाम—

(१) अज्ञान का क्षय।

(२) क्लेश-हानि। (सू० २४)

मन को एकाग्र करने का परिणाम—

(१) चित्त-निरोध। (सू० २५)

संयम का परिणाम—

(१) अनाश्रव—आश्रव-निरोध। (सूत्र २६)

तप का परिणाम—

(१) व्यवदान—कर्म-निर्जरा। (सू० २७)

व्यवदान के परिणाम—

(१) अक्रिया—प्रवृत्ति-निरोध।

(२) सर्व दुःख-मुक्ति। (सू० २८)

सुख-स्पृहा त्यागने के परिणाम—

(१) अनुत्सुक मनोभाव।

(२) अनुकम्पा-पूर्ण मनोभाव।

(३) प्रशान्तता।

(४) शोक-रहित मनोभाव ।

(५) चारित्र को विकृत करने वाले मोह का विलय । (सू० २९)

अप्रतिबद्धता—मानसिक अनासक्ति के परिणाम—

(१) निःसंगता –निर्लेपता ।

(२) चित्त की एकाग्रता ।

(३) प्रतिपल अनासक्ति । (सू० ३०)

विविक्त शयनासन के परिणाम—

(१) चारित्र की सुरक्षा ।

(२) विविक्त-आहार—विकृति-रहित भोजन ।

(३) निस्पृहता ।

(४) एकान्त रमण ।

(५) कर्म-ग्रन्थि का मोक्ष । (सू० ३१)

विनिवर्त्तना- विषयों से मन को संहृत करने के परिणाम—

(१) पापाचरण के प्रति अनुत्साह ।

(२) अशुभ संस्कारों के विलय का प्रयत्न ।

(३) संसार की पार-प्राप्ति । (सू० ३२)

संभोग (मंडली-भोजन) प्रत्याख्यान के परिणाम—

(१) परावलम्बन से मुक्ति ।

(२) प्रवृत्तियों का मोक्ष की ओर केन्द्रीकरण ।

(३) अपने लाभ में सन्तुष्टि और परलाभ की ओर निस्पृहता ।

(४) दूसरी सुख-शय्या की प्राप्ति । (सू० ३३)

उपधि-प्रत्याख्यान के परिणाम—

(१) प्रतिलेखना आदि के द्वारा होने वाली स्वाध्याय की क्षति से बचाव ।

(२) वस्त्र की अभिलाषा से मुक्ति ।

(३) उपधि के बिना होने वाले संक्लेश का अभाव । (सू० ३४)

आहार-प्रत्याख्यान के परिणाम—

(१) जीने के मोह से मुक्ति ।

(२) आहार के बिना होने वाले संक्लेश का अभाव । (सू० ३५)

कषाय-प्रत्याख्यान के परिणाम—

(१) वीतरागता ।

(२) सुख-दुःख में सम रहने की स्थिति की उपलब्धि । (सू० ३६)

योग-प्रत्याख्यान के परिणाम—

(१) स्थिरता ।

(२) नवीन कर्म का अग्रहण और पूर्वार्जित कर्म का विलय । (सू० ३७)

शरीर-प्रत्याख्यान के परिणाम—

(१) आत्मा का पूर्णोदय।

(२) लोकाग्र-स्थिति।

(३) परम सुख की प्राप्ति। (सू० ३८)

सहाय-प्रत्याख्यान के परिणाम—

(१) अकेलेपन की प्राप्ति।

(२) कलह आदि से मुक्ति।

(३) संयम, संवर और समाधि की विशिष्ट उपलब्धि। (सू० ३६)

भक्त-प्रत्याख्यान—अनशन का परिणाम—

(१) जन्म-परम्परा का अल्पीकरण। (सू० ४०)

सद्भावना-प्रत्याख्यान—पूर्ण संवर के परिणाम—

(१) अनिवृत्ति—मन-वचन और काया की प्रवृत्ति का सर्वथा और सर्वदा अभाव।

(२) अघाति-कर्म का विलय।

(३) सर्व दुःख-मुक्ति। (सू० ४१)

प्रतिरूपता अचेलकता के परिणाम—

(१) लाघव।

(२) अप्रमाद।

(३) प्रकट लिंग होना।

(४) प्रशस्त लिंग होना।

(५) विशुद्ध सम्यक्त्व।

(६) सत्त्व और समिति को प्राप्त करना।

(७) सर्वत्र विश्वसनीय होना।

(८) अप्रतिलेखना।

(६) जितेन्द्रियता।

(१०) विपुल तप सहित होना—परीषह-सहिष्णु होना। (सू० ४२)

वैयावृत्त्य का परिणाम—

(१) धर्म-शासन के सर्वोच्च पद तीर्थंकरत्व की प्राप्ति। (सू० ४३)

सर्व-गुण सम्पन्नता के परिणाम—

(१) अपुनरावृत्ति—मोक्ष की प्राप्ति।

(२) शारीरिक और मानसिक दुःखों से पूर्ण मुक्ति। (सू० ४४)

वीतरागता के परिणाम—

(१) स्नेह और तृष्णा के बन्धन का विच्छेद।

(२) प्रिय शब्द आदि इन्द्रिय-विषयों में विरक्ति। (सू० ४५)

क्षान्ति—सहिष्णुता का परिणाम—

(१) परीषह-विजय। (सू० ४६)

मुक्ति के परिणाम—

(१) *आकिंचन्य।*

(२) *अर्थ-लुब्ध व्यक्तियों के द्वारा अस्पृहणीयता।* (सू० ४७)

ऋजुता के परिणाम—

(१) *काया की सरलता।*

(२) *भावों की सरलता।*

(३) *भाषा की सरलता।*

(४) *अविसंवादन—अवंचना-वृत्ति।* (सू० ४८)

मृदुता के परिणाम—

(१) *अनुद्धत मनोभाव।*

(२) *आठ मद-स्थानों पर विजय।* (सू० ४६)

भाव-सत्य के परिणाम—

(१) *भाव-विशुद्धि।*

(२) *अर्हद्-धर्म की आराधना।*

(३) *परलोक धर्म की आराधना।* (सू० ५०)

करण-सत्य के परिणाम—

(१) *कार्यजा शक्ति की प्राप्ति।*

(२) *कथनी और करनी का सामंजस्य।* (सू० ५१)

योग-सत्य का परिणाम—

(१) *मानसिक, वाचिक और कायिक प्रवृत्ति की विशुद्धि।* (सू० ५२)

मनो-गुप्ति के परिणाम—

(१) *एकाग्रता।*

(२) *संयम की आराधना* (सू० ५३)

वचन-गुप्ति के परिणाम—

(१) *विकार-शून्यता या विचार-शून्यता।*

(२) *अध्यात्म-योग और ध्यान की प्राप्ति।* (सू० ५४)

काय-गुप्ति के परिणाम—

(१) *संवर।*

(२) *पापाश्रव का निरोध।* (सू० ५५)

मन-समाधारणा के परिणाम—

(१) *एकाग्रता।*

(२) *ज्ञान की विशिष्ट क्षमता।*

(३) *सम्यक्त्व की विशुद्धि और मिथ्यात्व का क्षय।* (सू० ५६)

वचन-समाधारणा के परिणाम—

(१) *वाचिक सम्यग्-दर्शन की विशुद्धि।*

(२) *सुलभ-बोधिता की प्राप्ति और दुर्लभ-बोधिता का क्षय।* (सू० ५७)

काय-समाधारणा के परिणाम—

(१) चारित्र-विशुद्धि ।

(२) वीतराग-चारित्र की प्राप्ति ।

(३) भवोपग्राही कर्मों का क्षय ।

(४) सर्व-दुःखों से मुक्ति । (सू० ५८)

ज्ञान-सम्पन्नता के परिणाम—

(१) पदार्थ-बोध ।

(२) पारगामिता ।

(३) विशिष्ट विनय आदि की प्राप्ति ।

(४) प्रामाणिकता । (सू० ५६)

दर्शन-सम्पन्नता के परिणाम—

(१) भव-मिथ्यात्व का छेदन ।

(२) सतत प्रकाश ।

(३) ज्ञान और दर्शन की उत्तरोत्तर विशुद्धि । (सू० ६०)

चारित्र-सम्पन्नता के परिणाम—

(१) अप्रकम्प-दशा की प्राप्ति ।

(२) भवोपग्राही कर्मों का विलय ।

(३) मुक्ति । (सू० ६१)

श्रोत्रेन्द्रिय-निग्रह के परिणाम—

(१) प्रिय और अप्रिय शब्दों में राग और द्वेष का निग्रह ।

(२) शब्द हेतुक नए कर्म का अग्रहण और पूर्व संचित कर्म का क्षय । (सू० ६२)

चक्षुरिन्द्रिय-निग्रह के परिणाम—

(१) प्रिय और अप्रिय रूपों में राग और द्वेष का निग्रह ।

(२) रूप-हेतुक नए कर्म का अग्रहण और पूर्व संचित कर्म का क्षय । (सू० ६३)

घ्राणेन्द्रिय-निग्रह के परिणाम—

(१) प्रिय और अप्रिय गन्धों में राग और द्वेष का निग्रह ।

(२) गन्ध-हेतुक नए कर्म का अग्रहण और पूर्व संचित कर्म का क्षय । (सू० ६४)

रसनेन्द्रिय-निग्रह के परिणाम—

(१) प्रिय और अप्रिय रसों में राग और द्वेष का निग्रह ।

(२) रस-हेतुक नए कर्म का अग्रहण और पूर्व संचित कर्म का क्षय । (सू० ६५)

स्पर्शनेन्द्रिय-निग्रह के परिणाम—

(१) प्रिय और अप्रिय स्पर्शों में राग और द्वेष का निग्रह ।

(२) स्पर्श-हेतुक नए कर्म का अग्रहण और पूर्व संचित कर्म का क्षय । (सू० ६६) ।

क्रोध-विजय के परिणाम—

(१) क्षमा ।

(२) क्रोध-वेदनीय कर्म का अग्रहण और पूर्व संचित क्रोध-वेदनीय कर्म का विलय । (सू० ६७)

मान-विजय के परिणाम—

(१) मार्दव।

(२) मान-वेदनीय कर्म का अग्रहण और पूर्व संचित मान-वेदनीय कर्म का विलय। (सू० ६८)

माया-विजय के परिणाम—

(१) आर्जव।

(२) माया-वेदनीय कर्म का अग्रहण और पूर्व संचित माया-वेदनीय कर्म का विलय। (सू० ६६)

लोभ-विजय के परिणाम—

(१) सन्तोष।

(२) लोभ-वेदनीय कर्म का अग्रहण और पूर्व संचित लोभ-वेदनीय कर्म का विलय। (सू० ७०)

प्रेम, द्वेष, और मिथ्या-दर्शन विजय के परिणाम—

(१) ज्ञान, दर्शन और चारित्र-आराधना की तत्परता।

(२) मुक्ति। (सू० ७१)

एगूणतीसइमं अज्झयणं : एकोनत्रिंश अध्ययन

सम्मत्तपरक्कमे : सम्यक्त्व-पराक्रम

मूल

सू० १—सुयं मे आउसं ! तेणं भगवया एवमक्खायं—इह खलु सम्मत्त-परक्कमे 'नाम अज्झयणे'[1] समणेणं भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइए जं सम्मं सद्दहित्ता पत्तियाइत्ता रोयइत्ता फासइत्ता पालइत्ता[2] तीरइत्ता किट्टइत्ता सोहइत्ता आराहइत्ता आणाए अणुपालइत्ता बहवे जीवा सिज्झन्ति बुज्झन्ति मुच्चन्ति परिनिव्वायन्ति सव्वदुक्खाणमन्तं करेन्ति। तस्स णं अयमट्ठे एवमाहिज्जइ तं जहा—

संस्कृत छाया

सू० १—श्रुतं मया आयुष्मन्! तेन भगवतैवमाख्यातम्। इह खलु सम्यक्त्व-पराक्रमं नामाध्ययनं श्रमणेन भगवता महावीरेण काश्यपेन प्रवेदितम्। यत्सम्यक् श्रद्धाय, प्रतीत्य, रोचयित्वा, स्पृष्ट्वा, पालयित्वा, तीरयित्वा, कीर्तयित्वा, शोधयित्वा, आराध्य, आज्ञया अनुपाल्य, बहवो जीवाः सिध्यन्ति, बुध्यन्ते, मुच्यन्ते, परिनिर्वान्ति, सर्वदुःखानामन्तं कुर्वन्ति। तस्य अयमर्थः एवमाख्यायते, तद् यथा—

हिन्दी अनुवाद

सू० १—आयुष्मन् ! मैंने सुना है भगवान् ने इस प्रकार कहा है—इस निर्ग्रन्थ-प्रवचन में कश्यप-गोत्री श्रमण भगवान् महावीर ने सम्यक्त्व-पराक्रम नाम का अध्ययन कहा है, जिस पर भलीभाँति श्रद्धा कर, प्रतीति कर, रुचि रख कर, जिसके विषय का स्पर्श कर, स्मृति में रख कर, समग्र-रूप से हस्तगत कर, गुरु को पठित पाठ का निवेदन कर, गुरु के समीप उच्चारण की शुद्धि कर, सही अर्थ का बोध प्राप्त कर और अर्हत् की आज्ञा के अनुसार अनुपालन कर बहुत जीव सिद्ध होते हैं, बुद्ध होते हैं, मुक्त होते है, परिनिर्वाण (शान्त) होते हैं और सब दुःखों का अन्त करते हैं। सम्यक्त्व-पराक्रम का अर्थ इस प्रकार कहा गया है। जैसे—

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
संवेगे १	संवेगः १	संवेग १
निव्वेए २	निर्वेदः २	निर्वेद २
धम्मसद्धा ३	धर्म-श्रद्धा ३	धर्म-श्रद्धा ३
गुरुसाहम्मियसुस्सूसणया ४	गुरु-साधर्मिक-शुश्रूषणम् ४	गुरु और साधर्मिक की शुश्रूषा ४
आलोयणया ५	आलोचनम् ५	आलोचना ५
निन्दणया ६	निन्दनम् ६	निन्दा ६
गरहणया ७	गर्हणम् ७	गर्हा ७
सामाइए ८	सामायिकम् ८	सामायिक ८
चउव्वीसत्थए ९	चतुर्विंशति-स्तवः ९	चतुर्विंशति-स्तव ९
वन्दणए[3] १०	वन्दनम् १०	वंदन १०

---

१. नाम मज्झयणे (अ, ऋ०) ; नामज्झयणे (स, ड)।

२. पालइत्ता, पूरइत्ता (अ)।

३. वंदणे (अ)।

पडिकमणे ११	प्रतिक्रमणम् ११	प्रतिक्रमण ११
काउस्सग्गे १२	कायोत्सर्गः १२	कायोत्सर्ग १२
पच्चक्खाणे १३	प्रत्याख्यानम् १३	प्रत्याख्यान १३
थवथुइमंगले[1] १४	स्तव-स्तुति-मङ्गलम् १४	स्तव-स्तुति-मंगल १४
कालपडिलेहणया १५	काल-प्रतिलेखनम् १५	काल-प्रतिलेखन १५
पायच्छित्तकरणे १६	प्रायश्चित्तकरणम् १६	प्रायश्चित्तकरण १६
खमावणया १७	क्षमापनम् १७	क्षामणा १७
सज्झाए १८	स्वाध्यायः १८	स्वाध्याय १८
वायणया[2] १९	वाचनम् १९	वाचना १९
पडिपुच्छणया २०	प्रतिप्रच्छनम २०	प्रतिप्रच्छना २०
परियट्टणया २१	परिवर्तनम २१	परावर्त्तना २१
अणुप्पेहा २२	अनुप्रेक्षा २२	अनुप्रेक्षा २२
धम्मकहा २३	धर्म-कथा २३	धर्म-कथा २३
सुयस्स आराहणया २४	श्रुतस्य आराधना २४	श्रुताराधना २४
एगग्गमणसंनिवेसणया २५	एकाग्रमनः-सन्निवेशनम् २५	एकाग्र-मन की स्थापना २५
संजमे २६	संयमः २६	संयम २६
तवे २७	तपः २७	तप २७
वोदाणे २८	व्यवदानम् २८	व्यवदान २८
सुहसाए २९	सुख-शातम् २९	सुख की स्पृहा का त्याग २९
अप्पडिबद्धया ३०	अप्रतिबद्धता ३०	अप्रतिबद्धता ३०
विवित्तसयणासणसेवणया ३१	विविक्त-शयनासन-सेवनम् ३१	विविक्त-शयनासन-सेवन ३१
विणियट्टणया ३२	विनिवर्तनम् ३२	विनिवर्त्तना ३२
संभोगपच्चक्खाणे ३३	सम्भोग-प्रत्याख्यानम् ३३	सम्भोग-प्रत्याख्यान ३३
उवहिपच्चक्खाणे ३४	उपधि-प्रत्याख्यानम् ३४	उपधि-प्रत्याख्यान ३४
आहारपच्चक्खाणे ३५	आहार-प्रत्याख्यानम् ३५	आहार-प्रत्याख्यान ३५
कसायपच्चक्खाणे ३६	कषाय-प्रत्याख्यानम् ३६	कषाय-प्रत्याख्यान ३६
जोगपच्चक्खाणे ३७	योग-प्रत्याख्यानम् ३७	योग-प्रत्याख्यान ३७
सरीरपच्चक्खाणे ३८	शरीर-प्रत्याख्यानम् ३८	शरीर-प्रत्याख्यान ३८
सहायपच्चक्खाणे ३९	सहाय-प्रत्याख्यानम् ३९	सहाय-प्रत्याख्यान ३९

१. थव थुइ मंगले (अ, ऋ०) ; थण थुई मंगले (ऊ) ।
२. वायणाए (ऋ०) ; वायणा (उ) ।

भत्तपच्चक्खाणे ४०	भक्त-प्रत्याख्यानम् ४०	भक्त-प्रत्याख्यान ४०
सब्भावपच्चक्खाणे ४१	सद्भाव-प्रत्याख्यानम् ४१	सद्भाव-प्रत्याख्यान ४१
पडिरूवया[1] ४२	प्रतिरूपता ४२	प्रतिरूपता ४२
वेयावच्चे ४३	वैयावृत्त्यम् ४३	वैयावृत्त्य ४३
सव्वगुणसंपण्णया[2] ४४	सर्वगुण-सम्पन्नता ४४	सर्वगुण-सम्पन्नता ४४
वीयरागया ४५	वीतरागता ४५	वीतरागता ४५
खन्ती ४६	क्षान्तिः ४६	क्षाँति ४६
मुत्ती ४७	मुक्तिः ४७	मुक्ति ४७
अज्जवे[3] ४८	आर्जवम् ४८	आर्जव ४८
मद्दवे[4] ४९	मार्दवम् ४९	मार्दव ४९
भावसच्चे ५०	भाव-सत्यम् ५०	भाव-सत्य ५०
करणसच्चे ५१	करण-सत्यम् ५१	करण-सत्य ५१
जोगसच्चे ५२	योग-सत्यम् ५२	योग-सत्य ५२
मणगुत्तया ५३	मनो-गुप्तता ५३	मनो-गुप्तता ५३
वयगुत्तया ५४	वचो-गुप्तता ५४	वाक्-गुप्तता ५४
कायगुत्तया ५५	काय-गुप्तता ५५	काय-गुप्तता ५५
मणसमाधारणया ५६	मनः-समाधारणम् ५६	मनःसमाधारणा ५६
वयसमाधारणया ५७	वाक्-समाधारणम् ५७	वाक्-समाधारणा ५७
कायसमाधारणया ५८	काय-समाधारणम् ५८	काय-समाधारणा ५८
नाणसंपन्नया ५९	ज्ञान-सम्पन्नता ५९	ज्ञान-सम्पन्नता ५९
दंसणसंपन्नया ६०	दर्शन-सम्पन्नता ६०	दर्शन-सम्पन्नता ६०
चरित्तसंपन्नया ६१	चरित्र-सम्पन्नता ६१	चारित्र-सम्पन्नता ३१
सोइन्दियनिग्गहे ६२	श्रोत्रेन्द्रिय-निग्रहः ६२	श्रोत्रेन्द्रिय-निग्रह ६२
चक्खिन्दियनिग्गहे ६३	चक्षुरिन्द्रिय-निग्रहः ६३	चक्षुरिन्द्रिय-निग्रह ६३
घाणिन्दियनिग्गहे ६४	घ्राणेन्द्रिय-निग्रहः ६४	घ्राणेन्द्रिय-निग्रह ६४
जिब्भिन्दियनिग्गहे ६५	जिह्वेन्द्रिय-निग्रहः ६५	जिह्वेन्द्रिय-निग्रह ६५
फासिन्दियनिग्गहे ६६	स्पर्शेन्द्रिय-निग्रहः ६६	स्पर्शनेन्द्रिय-निग्रह ६६
कोहविजए ६७	क्रोध-विजयः ६७	क्रोध-विजय ६७

---

१. पडिरूवणया (ऋ०)।
२. °संपुण्णया (अ, आ, इ, बृ०)।
३. मद्दवे (अ, ऋ०, बृ०)।
४. अज्जवे (अ, ऋ०, बृ०)।

माणविजए ६८
मायाविजए ६९
लोहविजए ७०
पेज्जदोसमिच्छादंसणविजए ७१
सेलेसी ७२
अकम्मया ७३

मान-विजयः ६८
माया-विजयः ६९
लोभ-विजयः ७०
प्रेयो-दोष-मिथ्यादर्शन-विजयः ७१
शैलेशी ७२
अकर्मता ७३

मान-विजय ६८
माया-विजय ६९
लोभ-विजय ७०
प्रेयो-द्वेष-मिथ्या-दर्शन विजय ७१
शैलेशी ७२
अकर्मता ७३

संवेगेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

संवेगेणं अणुत्तरं धम्मसद्धं जणयइ। अणुत्तराए धम्मसद्धाए संवेगं हव्वमागच्छइ। अणन्ताणुबन्धि-कोहमाणमायालोभे खवेइ। कम्मं[1] न बन्धइ। तप्पच्चइयं च णं मिच्छत्त-विसोहिं काऊण दंसणाराहए भवइ। दंसणविसोहीए य णं विसुद्धाए अत्थेगइए तेणेव भवग्गहणेणं सिज्झइ। सोहीए य णं विसुद्धाए तच्चं पुणो भवग्गहणं नाइक्कमइ॥

संवेगेन भवन्त ! जीवः किं जनयति ?

संवेगेनानुत्तरां धर्म-श्रद्धां जनयति अनुत्तरया धर्म-श्रद्धया संवेगं शीघ्रमागच्छति। अनन्तानुबन्धि-क्रोध-मान-माया-लोभान् क्षपयति। नव कर्म न बध्नाति। तत् प्रत्ययिकां च मिथ्यात्व-विशोधिं कृत्वा दर्शना-राधको भवति। दर्शन-विशोध्या च विशुद्धया स्त्येकक: तेनैव भव-ग्रहणेन सिध्यति। विशोध्या च विशुद्धः तृतीयं पुनर्भव-ग्रहणम् नातिक्रामति॥

भन्ते ! संवेग (मोक्ष की अभिलाषा) से जीव क्या प्राप्त करता है ?

संवेग से वह अनुत्तर धर्म-श्रद्धा को प्राप्त होता है। अनुत्तर धर्म-श्रद्धा से शीघ्र ही और अधिक संवेग को प्राप्त करता है। अनन्तानु-बन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ का क्षय करता है। नये कर्मों का संग्रह नहीं करता। कषाय के क्षीण होने से प्रकट होने वाली मिथ्यात्व-विशुद्धि कर दर्शन (सम्यक् श्रद्धान) की आराधना करता है। दर्शन-विशोधि के विशुद्ध होने पर कई एक जीव उसी जन्म से सिद्ध हो जाते हैं और कई उसके विशुद्ध होने पर तीसरे जन्म का अतिक्रमण नहीं करते—उसमें अवश्य ही सिद्ध हो जाते हैं।

सू० २—निव्वेएणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

निव्वेएणं दिव्वमाणुसतेरिच्छिएसु कामभोगेसु निव्वेयं हव्वमागच्छइ। सव्वविसएसु विरज्जइ सव्वविसएसु विरज्जमाणे आरम्भपरिच्चायं[2] करेइ। आरम्भपरिच्चायं करेमाणे संसारमग्गं वोच्छिन्दइ सिद्धिमग्गे पडिवन्ने य भवइ॥

सू० २—निर्वेदेन भवन्त ! जीवः किं जनयति ?

निर्वेदेन दिव्य-मानुष-तैरश्चकेषु काम-भोगेषु निर्वेदं शीघ्रमागच्छति। सर्वविषयेषु विरज्यति। सर्वविषयेषु विरज्यमानः परित्यागं करोति। आरम्भ-परित्यागं कुर्वाणः संसार-मार्गं व्युच्छिनत्ति सिद्धि-मार्गं प्रतिपन्नश्च भवति॥

सू० २—भन्ते ! निर्वेद (भव-वैराग्य) से जीव क्या प्राप्त करता है ?

निर्वेद से वह देव, मनुष्य और तिर्यंच सम्बन्धी काम-भोगों में ग्लानि को प्राप्त होता है। सब विषयों से विरक्त हो जाता है। सब विषयों से विरक्त होता हुआ वह आरम्भ और परिग्रह का परित्याग करता है। आरम्भ और परिग्रह का परित्याग करता हुआ संसार-मार्ग का विच्छेद करता है और सिद्धि-मार्ग को प्राप्त होता है।

१. नवं च कम्मं (अ, आ, इ)।
२. आरम्भपरिग्गह° (अ)।

सू० ३—धम्मसद्धाए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

धम्मसद्धाए णं सायासोक्खेसु रज्जमाणे विरज्जइ । अगारधम्मं च णं चयइ अणगारे णं जीवे सारीर-माणसाणं दुक्खाणं छेयणभेयण-संजोगाईणं वोच्छेयं करेइ अव्वाबाहं च सुहं निव्वेत्तेइ[1] ॥

सू० ३—धर्म-श्रद्धया भदन्त ! जीवः किं जनयति ?

धर्म-श्रद्धया सात-सौख्येषु रज्यमानः विरज्यति । अगार-धर्मं च त्यजति । अनगारो जीवः शारीर-मानसानां दुःखानां छेदन-भेदन-संयोगादीनां व्युच्छेदं करोति अव्याबाधं च सुखं निर्वर्तयति ॥

सू० ३—भन्ते ! धर्म-श्रद्धा से जीव क्या प्राप्त करता है ?

धर्म-श्रद्धा से वह वैषयिक सुखों की आसक्ति को छोड़ विरक्त हो जाता है, अगार-धर्म—गृहस्थी को त्याग देता है। वह अनगार होकर छेदन-भेदन, संयोग-वियोग आदि शारीरिक और मानसिक दु:खों का विच्छेद करता है और निर्बाध (बाधा-रहित) सुख को प्राप्त करता है।

सू० ४—गुरुसाहम्मियसुस्सूसणयाए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

गुरुसाहम्मियसुस्सूसणयाए णं विणयपडिवत्तिं जणयइ । 'विणय-पडिवन्ने य णं'[2] जीवे अणच्चासायण-सीले नेरइयतिरिक्खजोणियमणुस्स-देवदोग्गईओ निरुम्भइ । वण्णसंजलण-भत्तिबहुमाणयाए मणुस्सदेवसोग्गईओ निबन्धइ सिद्धिं सोग्गइं च विसोहेइ । पसत्थाइं च णं विणयमूलाइं सव्व-कज्जाइं साहेइ । अन्ने य बहवे जीवे विणइत्ता भवइ ॥

सू० ४—गुरु-साधर्मिक-शुश्रूषणया भदन्त ! जीवः किं जनयति ?

गुरु-साधर्मिक शुश्रूषणया विनय-प्रतिपत्तिं जनयति । विनय-प्रतिपन्नश्च जीवः अनत्याशातनशीलो नैरयिक-तिर्यग्योनिक-मनुष्य-देव दुर्गती निरुणद्धि । वर्ण-संज्वलन-भक्ति-बहुमानेन मनुष्य-देव-सुगती निबध्नाति । सिद्धिं सुगतिं च विशोधयति । प्रशस्तानि च विनयमूलानि सर्वकार्याणि साधयति । अन्यांश्च बहून् जीवान् विनेता भवति ॥

सू० ४—भन्ते ! गुरु और साधर्मिक की शुश्रूषा (पर्युपासना) से जीव क्या प्राप्त करता है ?

गुरु और साधर्मिक की शुश्रूषा से वह विनय को प्राप्त होता है। विनय को प्राप्त करने वाला व्यक्ति गुरु का अविनय या परिवाद करने वाला नहीं होता, इसलिए वह नैरयिक, तिर्यग्-योनिक, मनुष्य और देव सम्बन्धी दुर्गति का निरोध करता है। श्लाघा, गुण-प्रकाशन, भक्ति और बहुमान के द्वारा मनुष्य और देव-सम्बन्धी सुगति से सम्बन्ध जोड़ता है। सिद्धि और सुगति का मार्ग प्रशस्त करता है। विनय-मूलक सब प्रशस्त कार्यों को सिद्ध करता है और दूसरे बहुत व्यक्तियों को विनय के पथ पर ले आता है।

---

१. निव्वत्ते (बृ०)।

२ 'पडिवन्नएणं (बृ०)।

सू०५—आलोयणाए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

आलोयणाए णं मायानियाण-मिच्छादंसणसल्लाणं मोक्खमग्ग-विग्घाणं अणन्तसंसारवद्धणाणं[1] उद्धरणं करेइ। उज्जुभावं च[2] जणयइ। 'उज्जुभावपडिवन्ने य णं'[3] जीवे अमाई इत्थीवेयनपुंसगवेयं च न बन्धइ। पुव्ववद्धं च णं निज्जरेइ ॥

सू०५—आलोचनया भदन्त ! जीवः किं जनयति ?

आलोचनया माया-निदान-मिथ्या-दर्शन-शल्यानां मोक्ष-मार्ग-विघ्नाना-मनन्त-संसार-वर्द्धनानामुद्धरणं करोति। ऋजुभावं च जनयति। प्रतिपन्नर्जु-भावश्च जीवोऽमायी स्त्री-वेदं नपुंसक-वेदं च न बध्नाति। पूर्वबद्धं च निर्जरयति ॥

सू०५—भन्ते ! आलोचना (गुरु के सम्मुख अपनी भूलों का निवेदन करने) से जीव क्या प्राप्त करता है ?

आलोचना से वह अनन्त संसार को बढ़ाने वाले, मोक्ष-मार्ग में विघ्न उत्पन्न करने वाले, माया, निदान तथा मिथ्या-दर्शन-शल्य को निकाल फेंकता है और ऋजु-भाव को प्राप्त होता है। ऋजु-भाव को प्राप्त हुआ व्यक्ति अमायी होता है, इसलिए वह स्त्री-वेद और नपुंसक-वेद कर्म का बन्ध नहीं करता और यदि वे पहले बन्धे हुए हों तो उनका क्षय कर देता है।

सू०६—निन्दणयाए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

निन्दणयाए णं पच्छाणुतावं जणयइ। पच्छाणुतावेणं विरज्जमाणे करणगुणसेढिं[4] पडिवज्जइ। करणगुणसेढिं 'पडिवन्ने य'[5] णं अणगारे मोहणिज्जं कम्मं उग्घाएइ ॥

सू०६—निन्दनेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ?

निन्दनेन पश्चादनुतापं जनयति। पश्चादनुतापेन विरज्यमानः करण-गुण-श्रेणिं प्रतिपद्यते। करण-गुण-श्रेणिं प्रतिपन्नश्चानगारो मोहनीयं कर्मोद्घातयति ॥

सू०६—भन्ते ! निन्दा (अपनी भूलों के प्रति अनादर का भाव प्रकट करने) से जीव क्या प्राप्त करता है ?

निन्दा से वह पश्चात्ताप को प्राप्त होता है। उसके द्वारा विरक्त होता हुआ मोह को क्षीण करने में समर्थ परिणाम-धारा को प्राप्त करता है। वैसी परिणाम-धारा को प्राप्त हुआ अनगार मोहनीय-कर्म को क्षीण कर देता है।

सू०७—गरहणयाए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

गरहणयाए णं अपुरक्कारं जणयइ। अपुरक्कारगए णं जीवे अप्पसत्थेहिंतो जोगेहिंतो नियत्तेइ[6] पसत्थजोगपडिवन्ने य णं अणगारे अणन्तघाइपज्जवे खवेइ ॥

सू०७—गर्हणेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ?

गर्हणेनापुरस्कारं जनयति। अपुरस्कारगतो जीवोऽप्रशस्तेभ्यो योगेभ्यो निवर्तते, प्रतिपन्न-प्रशस्त-योगश्च अनगारोऽनन्त-घाति-पर्यवान् क्षपयति ॥

सू०७—भन्ते ! गर्हा (दूसरों के समक्ष अपनी भूलों को प्रकट करने) से जीव क्या प्राप्त करता है ?

गर्हा से वह अनादर को प्राप्त होता है। अनादर को प्राप्त हुआ वह अप्रशस्त प्रवृत्तियों से निवृत्त होता है और प्रशस्त प्रवृत्तियों को अंगीकार करता है। वैसा अनगार आत्मा के अनन्त-विकास का घात करने वाले ज्ञानावरण आदि कर्मों की परिणतियों का क्षय करता है।

---

१. °वद्धमाणाण (अ)।
२. च णं (उ, ऋ०, स)।
३. °पडिवन्नएणं (ऋ०)।
४. °सेढीए (अ); °सेढी (वृ०)।
५. पडिवन्ने य (ऋ०); पडिवन्ने (उ, अ)।
६. नियत्तेइ पसत्थे य पवत्तइ (उ, ऋ०)।

सू०८—सामाइएणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

सामाइएणं सावज्जजोगविरइं जणयइ ॥

सू०८—सामायिकेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ?

सामायिकेन सावद्य-योग-विरतिं जनयति ॥

सू०८—भन्ते ! सामायिक (समभाव की साधना) से जीव क्या प्राप्त करता है ?

सामायिक से वह असत् प्रवृत्ति की विरति को प्राप्त होता है ।

सू०९—चउव्वीसत्थएणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

चउव्वीसत्थएणं दंसणविसोहिं जणयइ ॥

सू०९—चतुर्विंशति-स्तवेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ?

चतुर्विंशति-स्तवेन दर्शन-विशोधिं जनयति ॥

सू०९—भन्ते ! चतुर्विंशति-स्तव (चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति करने) से जीव क्या प्राप्त करता है ?

चतुर्विंशति-स्तव से वह सम्यक्त्व की विशुद्धि को प्राप्त होता है ।

सू०१०—वन्दणएणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

वन्दणएणं नीयागोयं कम्मं खवेइ । उच्चागोयं निबन्धइ । सोहग्गं च णं अप्पडिहयं आणाफलं निव्वत्तेइ दाहिणभावं च णं जणयइ ॥

सू०१० वन्दनकेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ?

वन्दनकेन नीचैर्गोत्रं कर्म क्षपयति । उच्चैर्गोत्रं निबध्नाति । सौभाग्यं चाऽप्रतिहतं आज्ञा-फलं निर्वर्तयति । दक्षिण-भावं च जनयति ॥

सू०१०—भन्ते ! वन्दना से जीव क्या प्राप्त करता है ?

वन्दना से वह नीच-कुल में उत्पन्न करने वाले कर्मों को क्षीण करता है । ऊँचे-कुल में उत्पन्न करने वाले कर्म का अर्जन करता है । जिसकी आज्ञा को लोग शिरोधार्य करें वैसा अबाधित सौभाग्य और जनता की अनुकूल भावना को प्राप्त होता है ।

सू०११—पडिक्कमणेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

पडिक्कमणेणं वयछिद्दाइं पिहेइ । पिहियवयछिद्दे पुण जीवे निरुद्धासवे असबलचरित्ते अट्ठसु पवयणमायासु उवउत्ते अपुहत्ते[1] सुप्पणिहिए[2] विहरइ ॥

सू०११—प्रतिक्रमणेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ?

प्रतिक्रमणेन व्रत-छिद्राणि पिदधाति । पिहित-व्रत-छिद्रः पुनर्जीवो निरुद्धाश्रवोऽशबल-चरित्रः अष्टसु प्रवचन-मातृषु उपयुक्तोऽपृथक्त्वः सुप्रणिहितो विहरति ॥

सू०११—भन्ते ! प्रतिक्रमण से जीव क्या प्राप्त करता है ?

प्रतिक्रमण से वह व्रत के छेदों को ढंक देता है । जिसने व्रत के छेदों को भर दिया वैसा जीव आश्रवों को रोक देता है, चारित्र के धब्बों को मिटा देता है, आठ-प्रवचन माताओं में सावधान हो जाता है, संयम में एक-रस हो जाता है और भलीभाँति समाधिस्थ होकर विहार करता है ।

---

१. अपमत्ते (वृ० पा०) ।
२. सुप्पणिहिंदिए (वृ० पा०); सुप्पणिहिए (अ, उ, वृ०) ।

सू० १२—काउस्सग्गेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

काउस्सग्गेणं तीयपडुप्पन्नं पायच्छित्तं विसोहेइ। विसुद्धपायच्छित्ते य जीवे निव्वुयहियए 'ओहरियभारो व्व'[1] भारवहे पसत्थज्झाणोवगए[2] सुहंसुहेणं विहरइ ॥

सू० १२—कायोत्सर्गेण भवन्त ! जीवः किं जनयति ?

कायोत्सर्गेण अतीत-प्रत्युत्पन्नं प्रायश्चित्तं विशोधयति। विशुद्ध-प्रायश्चित्तश्च जीवो निर्वृत-हृदयोऽपहृत भार इव भारवहः प्रशस्तध्यानोपगतः सुखं सुखेन विहरति ॥

सू० १२—भन्ते ! कायोत्सर्ग (ध्यान की मुद्रा) से जीव क्या प्राप्त करता है ?

कायोत्सर्ग से वह अतीत और वर्तमान के प्रायश्चितोचित कार्यों का विशोधन करता है। ऐसा करने वाला व्यक्ति भार को नीचे रख देने वाले भार-वाहक की भाँति स्वस्थ हृदय वाला—हल्का हो जाता है और प्रशस्त-ध्यान में लीन होकर उत्तरोत्तर बढ़ने वाले सुखपूर्वक विहार करता है।

सू० १३—पच्चक्खाणेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

पच्चक्खाणेणं आसवदाराइं निरुम्भइ[3] ॥

सू० १३—प्रत्याख्यानेन भवन्त ! जीवः किं जनयति ?

प्रत्याख्यानेनाश्रव-द्वाराणि निरुणद्धि ॥

सू० १३—भन्ते ! प्रत्याख्यान से जीव क्या प्राप्त करता है ?

प्रत्याख्यान से वह आश्रव-द्वारों (कर्म-बन्धन के हेतुओं) का निरोध करता है।

सू० १४—थवथुइमंगलेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

थवथुइमंगलेणं नाणदंसणचरित्तबोहिलाभं जणयइ। नाणदंसणचरित्तबोहिलाभसंपन्ने य णं जीवे अन्तकिरियं कप्पविमाणोववत्तिगं आराहणं आराहेइ ॥

सू० १४—स्तव-स्तुति-मङ्गलेन भवन्त ! जीवः किं जनयति ?

स्तव-स्तुति-मङ्गलेन ज्ञान-दर्शन-चारित्र-बोधि-लाभं जनयति। ज्ञान-दर्शन-चारित्र-बोधि-लाभ-सम्पन्नश्च जीवोऽन्त-क्रियां कल्पविमानोपपत्तिकामाराधनामाराधयति ॥

सू० १४—भन्ते ! स्तव और स्तुति रूप मंगल से जीव क्या प्राप्त करता है ?

स्तव और स्तुति रूप मंगल से वह ज्ञान, दर्शन और चारित्र की बोधि का लाभ करता है। ज्ञान, दर्शन और चारित्र के बोधि-लाभ से सम्पन्न व्यक्ति मोक्ष-प्राप्ति या वैमानिक देवों में उत्पन्न होने योग्य आराधना करता है।

सू० १५—कालपडिलेहणयाए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

कालपडिलेहणयाए णं नाणावरणिज्जं कम्मं खवेइ ॥

सू० १५—काल-प्रतिलेखनेन भवन्त ! जीवः किं जनयति ?

काल-प्रतिलेखनेन ज्ञानावरणीयं कर्म क्षपयति ॥

सू० १५—भन्ते ! काल-प्रतिलेखना (स्वाध्याय आदि के उपयुक्त समय का ज्ञान करने) से जीव क्या प्राप्त करता है ?

काल-प्रतिलेखना से वह ज्ञानावरणीय कर्म को क्षीण करता है।

---

१. ° भरुव्व (उ, ऋ०)।

२. ° ज्झाणज्झाइ (बृ० पा०)।

३. निरुम्भइ। पच्चक्खाणेणं इच्छानिरोहं जणयइ। इच्छानिरोहं गए य णं जीवे सव्वदव्वेसु विणीयतण्हे सीइभूए विहरइ। (इ, उ)।

सू० १६—पायच्छित्तकरणेणं भन्ते! जीवे किं जणयइ ?

पायच्छित्तकरणेणं पावकम्मविसोहिं जणयइ निरइयारे यावि भवइ। सम्मं च णं पायच्छित्तं पडिवज्जमाणे मग्गं च मग्गफलं च विसोहेइ आयारं च आयारफलं च आराहेइ ॥

सू० १६–प्रायश्चित्त-करणेन भवन्त ! जीवः किं जनयति ?

प्रायश्चित्त-करणेन पाप-कर्म-विशोधिं जनयति । निरतिचारश्चापि भवति। सम्यक् च प्रायश्चित्तं प्रतिपद्यमानो मार्गं च मार्ग-फलं च विशोधयति। आचारञ्चाचार-फलञ्चाराधयति ॥

सू० १६—भन्ते ! प्रायश्चित्त करने से जीव क्या प्राप्त करता है ?

प्रायश्चित्त करने से वह पाप-कर्म की विशुद्धि करता है और निरतिचार हो जाता है। सम्यक्-प्रकार से प्रायश्चित्त करने वाला मार्ग (सम्यक्त्व) और मार्ग-फल (ज्ञान) को निर्मल करता है तथा आचार (चारित्र) और आचार-फल (मुक्ति) की आराधना करता है।

सू० १७—खमावणयाए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

खमावणयाए णं पल्हायणभावं[1] जणयइ। पल्हायणभावमुवगए य सव्वपाणभूयजीवसत्तेसु मित्तीभावमुप्पाएइ। मित्तीभावमुवगए यावि जीवे भावविसोहिं काऊण निब्भए भवइ ॥

सू० १७—क्षमणया भवन्त ! जीवः किं जनयति ?

भन्ते ! क्षमणया प्रह्लादन-भावं जनयति। प्रह्लादन-भावमुपगतश्च सर्व-प्राण-भूत-जीव-सत्त्वेषु मित्री-भावमुत्पादयति मित्री-भावमुपगतश्चापि जीवः भाव-विशोधिं कृत्वा निर्भयो भवति ॥

सू० १७—भन्ते ! क्षमा करने से जीव क्या प्राप्त करता है ?

क्षमा करने से वह मानसिक प्रसन्नता को प्राप्त होता है। मानसिक प्रसन्नता को प्राप्त हुआ व्यक्ति सब प्राण, भूत, जीव और सत्त्वों के साथ मैत्री-भाव उत्पन्न करता है। मैत्री-भाव को प्राप्त हुआ जीव भावना को विशुद्ध बनाकर निर्भय हो जाता है।

सू० १८ सज्झाएण भन्ते ! जीवे कि जणयइ ?

सज्झाएण नाणावरणिज्जं कम्मं खवेइ ॥

सू० १८—स्वाध्यायेन भवन्त ! जीवः कि जनयति ?

स्वाध्यायेन ज्ञानावरणीयं कर्म क्षपयति ॥

सू० १८—भन्ते ! स्वाध्याय से जीव क्या प्राप्त करता है ?

स्वाध्याय से वह ज्ञानावरणीय कर्म को क्षीण करता है।

सू० १९—वायणाए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

वायणाए णं निज्जरं जणयइ। सुयस्स य 'अणासायणाए वट्टए'[2]। सुयस्स अणासायणाए वट्टमाणे तित्थधम्मं अवलम्बइ। तित्थधम्मं अवलम्बमाणे महानिज्जरे महापज्जवसाणे भवइ ॥

सू० १९—वाचनया भवन्त ! जीवः किं जनयति ?

वाचनया निर्जरां जनयति। श्रुतस्य अनाशातनायां वर्तते। श्रुतस्य अनाशातनायां वर्तमानः तीर्थ-धर्ममवलम्बते। तीर्थ-धर्ममवलम्बमानो महानिर्जरो महापर्यवसानश्च भवति ॥

सू० १९—भन्ते ! वाचना (अध्यापन) से जीव क्या प्राप्त करता है ?

वाचना से वह कर्मों को क्षीण करता है। श्रुत की उपेक्षा के दोष से बच जाता है। इस उपेक्षा के दोष से बचने वाला तीर्थ-धर्म का अवलम्बन करता है—वह गणधर की भाँति शिष्यों को श्रुत देने में प्रवृत्त होता है। तीर्थ-धर्म का अवलम्बन करने वाला कर्मों और संसार का अन्त करने वाला होता है।

---

१. पल्हाएणंत भावं (बृ०); पल्हायणभावं (बृ० पा०)।

२. अणुसज्जणाए वट्टइ (बृ० पा०)।

सू० २०—पडिपुच्छणयाए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

पडिपुच्छणयाए णं सुत्तत्थतदुभयाइं विसोहेइ। कंखामोहणिज्जं कम्मं वोच्छिन्दइ ॥

सू० २०—प्रतिप्रच्छनेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ?

प्रतिप्रच्छनेन सूत्रार्थतदुभयानि विशोधयति। काङ्क्षा-मोहनीयं कर्म व्युच्छिनत्ति ॥

सू० २०—भन्ते ! प्रतिप्रश्न करने से जीव क्या प्राप्त करता है ?

प्रतिप्रश्न करने से वह सूत्र, अर्थ और उन दोनों से सम्बन्धित सन्देहों का निवर्तन करता है और कांक्षा-मोहनीय कर्म का विनाश करता है।

सू० २१—परियट्टणाए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

परियट्टणाए णं वंजणाइं जणयइ वंजणलद्धिं च उप्पाएइ ॥

सू० २१—परिवर्तनया भदन्त ! जीवः किं जनयति ?

परिवर्तनया व्यंजनानि जनयति। व्यंजन-लब्धिं चोत्पादयति ॥

सू० २१—भन्ते ! परावर्त्तना (पठित-पाठ के पुनरावर्तन) से जीव क्या प्राप्त करता है ?

परावर्त्तना से वह अक्षरों को उत्पन्न करता है—स्मृत को परिपक्व और विस्मृत को याद करता है तथा व्यंजन-लब्धि (वर्ण-विद्या) को प्राप्त होता है।

सू० २२—अणुप्पेहाए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

अणुप्पेहाए णं आउयवज्जाओ सत्तकम्मप्पगडोओ घणियबन्धणबद्धाओ सिढिलबन्धणबद्धाओ पकरेइ। दीहकालट्ठिइयाओ हस्सकालट्ठिइयाओ पकरेइ। तिव्वाणुभावाओ मन्दाणुभावाओ पकरेइ। 'बहुपएसग्गाओ अप्पपएसग्गाओ पकरेइ'[1]। आउयं च णं कम्मं सिय बन्धइ सिय नो बन्धइ। 'असायावेयणिज्जं च णं कम्मं नो भुज्जो भुज्जो उवचिणाइ'[2] अणाइयं च णं अणवदग्गं दोहमद्धं चाउरन्तं संसार-कन्तारं खिप्पामेव वीइवयइ ॥

स० २२—अनुप्रेक्षया भदन्त ! जीवः किं जनयति ?

अनुप्रेक्षया आयुष्क-वर्जाः सप्त-कर्म-प्रकृतीः दृढ-बन्धन-बद्धाः शिथिल-बन्धन-बद्धाः प्रकरोति। दीर्घ-काल-स्थितिकाः ह्रस्व-काल-स्थितिकाः प्रकरोति। तीव्रानुभावा मन्दानुभावाः प्रकरोति। बहु-प्रदेशका अल्प-प्रदेशकाः प्रकरोति। आयुष्कञ्च कर्म स्यात् बध्नाति स्यान्नो बध्नाति। असात-वेदनीयञ्च कर्म नो भूयोभूय उपचिनोति। अनादिकं च अनवदग्रं दीर्घाध्वं चतुरन्तं संसार-कान्तारं क्षिप्रमेव व्यतिव्रजति ॥

सू० २२—भन्ते ! अनुप्रेक्षा (अर्थ-चिन्तन) से जीव क्या प्राप्त करता है ?

अनुप्रेक्षा से वह आयुष्-कर्म को छोड़ कर शेष सात कर्मों की गाढ़-बन्धन से बन्धी हुई प्रकृतियों को शिथिल-बन्धन वाली कर देता है, उनकी दीर्घ-कालीन स्थिति को अल्प-कालीन कर देता है, उनके तीव्र अनुभाव को मन्द कर देता है। उनके बहु-प्रदेशों को अल्प-प्रदेशों में बदल देता है। आयुष्-कर्म का बन्धन कदाचित् करता है, कदाचित् नहीं भी करता। असात-वेदनीय कर्म का बार-बार उपचय नहीं करता और अनादि-अनन्त लम्बे-मार्ग वाली तथा चतुर्गति-रूप चार अन्तों वाली संसार अटवी को तुरन्त ही पार कर जाता है।

१. बहुपएसग्गाओ अप्पपएसग्गाओ पकरेइ (वृ० पा०)।

२. साया वेयणिज्जं च णं कम्मं भुज्जो भुज्जो उवचिणाइ (वृ० पा०)।

सू० २३—धम्मकहाए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

धम्मकहाए णं 'निज्जरं जणयइ'[1] । 'धम्मकहाए णं पवयणं पभावेइ'[2] । पवयणपभावे णं जीवे आगमिसस्स भद्दत्ताए कम्मं निबन्धइ ॥

सू० २३—धर्म-कथया भवन्त ! जीवः किं जनयति ?

धर्म-कथया निर्जरां जनयति ! धर्म-कथया प्रवचनं प्रभावयति । प्रवचन-प्रभावको जीवः आगमिष्यतः भद्रतया कर्म निबध्नाति ॥

२३—भन्ते ! धर्म-कथा से जीव क्या प्राप्त करता है ?

धर्म-कथा से वह प्रवचन की प्रभावना करता है । प्रवचन की प्रभावना करने वाला जीव भविष्य में कल्याणकारी फल देने वाले कर्मों का अर्जन करता है ।

सू० २४—सुयस्स आराहणयाए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

सुयस्स आराहणयाएणं अन्नाणं खवेइ न य संकिलिस्सइ ॥

सू० २४—श्रुतस्य आराधनया भवन्त ! जीवः किं जनयति ?

श्रुतस्य आराधनया अज्ञानं क्षपयति, न च संक्लिश्यते ॥

सू० २४—भन्ते ! श्रुत की आराधना से जीव क्या प्राप्त करता है ?

श्रुत की आराधना से अज्ञान का क्षय करता है और राग-द्वेष आदि से उत्पन्न होने वाले मानसिक संक्लेशों से बच जाता है ।

सू० २५—एगग्गमणसंनिवेसणयाए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

एगग्गमणसंनिवेसणयाए णं चित्तनिरोहं करेइ ॥

सू० २५—एकाग्र-मनः-संनिवेशनेन भवन्त ! जीवः किं जनयति ?

एकाग्र-मनः-संनिवेशनेन चित्त-निरोधं करोति ॥

सू० २५—भन्ते ! एक अग्र (आलम्बन) पर मन को स्थापित करने से जीव क्या प्राप्त करता है ?

एकाग्र-मन की स्थापना से वह चित्त का निरोध करता है ।

सू० २६—संजमेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

संजमेणं अणण्हयत्तं जणयइ ॥

सू० २६—संयमेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ?

संयमेन अनास्नवत्वं जनयति ॥

सू० २६—भन्ते ! संयम से जीव क्या प्राप्त करता है ?

संयम से वह आश्रव का निरोध करता है ।

सू० २७—तवेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

तवेणं वोदाणं जणयइ ॥

सू० २७—तपसा भवन्त ! जीवः किं जनयति ?

तपसा व्यवदानं जनयति ॥

सू० २७—भन्ते ! तप से जीव क्या प्राप्त करता है ?

तप से वह व्यवदान—पूर्व-संचित कर्मों को क्षीण कर विशुद्धि को प्राप्त होता है ।

---

१. पवयणं पभावेइ (बृ० पा०) ।

२. × (बृ०) ।

सू० २८—वोदाणेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

वोदाणेणं अकिरियं जणयइ । अकिरियाए भवित्ता तओ पच्छा सिज्झइ बुज्झइ मुच्चइ परिनिव्वाएइ सव्वदुक्खाणमन्तं करेइ ॥

सू० २८—व्यवदानेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ?

व्यवदानेन अक्रियां जनयति । अक्रियाको भूत्वा ततः पश्चात् सिध्यति, बुध्यते, मुच्यते, परिनिर्वाति, सर्व-दुःखानामन्तं करोति ॥

सू० २८—भन्ते ! व्यवदान से जीव क्या प्राप्त करता है ?

व्यवदान से वह अक्रिया (मन, वचन और शरीर की प्रवृत्ति के पूर्ण निरोध) को प्राप्त होता है, वह अक्रियावान होकर सिद्ध होता है, बुद्ध होता है, मुक्त होता है, परिनिर्वाण होता है और दुःखों का अन्त करता है ।

सू० २९—सुहसाएणं[1] भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

सुहसाएणं अणुस्सुयत्तं जणयइ । अणुस्सुयाए णं जीवे अणुकम्पए अणुब्भडे विगयसोगे चरित्तमोहणिज्जं कम्मं खवेइ ॥

सू० २९—सुख-शातेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ?

सुख-शातेन अनुत्सुकत्वं जनयति । अनुत्सुको जीवोऽनुकम्पकोऽनुद्भटो विगत-शोकश्चारित्र-मोहनीयं कर्म क्षपयति ॥

सू० २९—भन्ते ! सुख की स्पृहा का निवारण करने से जीव क्या प्राप्त करता है ?

सुख की स्पृहा का निवारण करने से वह विषयों के प्रति अनुत्सुक-भाव को प्राप्त करता है । विषयों के प्रति अनुत्सुक जीव अनुकम्पा करने वाला, प्रशान्त और शोक मुक्त होकर चरित्र को विकृत करने वाले मोह-कर्म का क्षय करता है ।

सू० ३०—अप्पडिबद्धयाए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

अप्पडिबद्धयाए णं निस्संगत्तं जणयइ । निस्संगत्तेणं[2] जीवे एगे एगग्गचित्ते दिया य राओ य असज्जमाणे अप्पडिबद्धे यावि विहरइ ॥

सू०३०—अप्रतिबद्धतया भदन्त ! जीवः किं जनयति ?

अप्रतिबद्धतया निस्सङ्गत्वं जनयति । निस्सङ्गत्वेन जीवः एकः एकाग्र-चित्तो दिवा च रात्रौ चाऽसजन्नऽप्रतिबद्धश्चापि विहरति ॥

सू० ३०—भन्ते ! अप्रतिबद्धता (मन की अनासक्ति) से जीव क्या प्राप्त करता है ?

अप्रतिबद्धता से वह असंग हो जाता है—बाह्य संसर्गों से मुक्त हो जाता है । असंगता से जीव अकेला (राग-द्वेष रहित), एकाग्र-चित्त वाला, दिन और रात बाह्य-संसर्गों को छोड़ता हुआ प्रतिबन्ध रहित होकर विहार करता है ।

सू० ३१—विवित्तसयणासणयाए[3] णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

विवित्तसयणासणयाए णं चरित्तगुत्तिं जणयइ । चरित्तगुत्ते य णं जीवे विवित्ताहारे दढचरित्ते एगन्तरए मोक्खभावपडिवन्ने अट्ठविहकम्मगण्ठिं निज्जरेइ ॥

सू० ३१—विविक्त-शयनासनेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ?

विविक्त-शयनासनेन चरित्र-गुप्तिं जनयति चरित्र-गुप्तश्च जीवः विविक्ताहारः दृढ-चारित्रः एकान्त-रतः मोक्ष-भाव-प्रतिपन्नः अष्टविध-कर्मग्रन्थिं निर्जरयति ॥

सू० ३१—भन्ते ! विविक्त-शयनासन के सेवन से जीव क्या प्राप्त करता है ?

विविक्त-शयनासन के सेवन से वह चारित्र की रक्षा को प्राप्त होता है । चारित्र की सुरक्षा करने वाला जीव पौष्टिक आहार का वर्जन करने वाला, दृढ़ चरित्र वाला, एकांत में रत, अन्तःकरण से मोक्ष-साधना में लगा हुआ आठ प्रकार के कर्मों की गाँठ को तोड़ देता है ।

---

१. सुहसाइयाएणं (बृ०) ; सुहसायाएणं, सुहसाएणं (बृ० पा०); सुहसायाएणं (अ, आ, इ, उ, ऋ०) ।

२. निस्संगत्तं गएणं (उ, ऋ०) ।

३. °सयणासणसेवणयाए (आ, इ) ।

सू० ३२—विणियट्टणयाए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

विणियट्टणयाए णं पावकम्माणं अकरणयाए अब्भुट्ठेइ। पुव्वबद्धाण य निज्जरणयाए तं नियत्तेइ तओ पच्छा चाउरन्तं संसारकन्तारं वीइवयइ ॥

सू०३२—विनिवर्तनेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ?

विनिवर्तनेन पाप-कर्मणां अकरणेन अभ्युत्तिष्ठते। पूर्व-बद्धानांच निर्जरणेन तत् निवर्तयति। ततः पश्चात् चतुरन्तं संसार-कान्तारं व्यतिव्रजति ॥

सू०३२—भन्ते ! विनिवर्तना (इन्द्रिय और मन को विषयों से दूर रखने) से जीव क्या प्राप्त करता है ?

विनिवर्तना से वह नए सिरे से पाप-कर्मों को नहीं करने के लिए तत्पर रहता है और पूर्व-अर्जित पाप-कर्मों का क्षय कर देता है—इस प्रकार वह पाप-कर्म का विनाश कर देता है। उसके पश्चात् चार-गति रूप चार अन्तों वाली संसार अटवी को पार कर जाता है।

सू० ३३—संभोगपच्चक्खाणेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

संभोगपच्चक्खाणेणं आलम्बणाइं खवेइ। निरालम्बणस्स य आययट्ठिया जोगा भवन्ति। सएणं लाभेणं संतुस्सइ[1] परलाभं 'नो आसाएइ'[2] नो तक्केइ नो पीहेइ नो पत्थेइ नो अभिलसइ। परलाभं अणासायमाणे अतक्केमाणे अपीहेमाणे अपत्थेमाणे अणभिलसमाणे दुच्चं सुहसेज्जं उवसंपज्जित्ताणं विहरइ ॥

सू०३३—संभोग-प्रत्याख्यानेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ?

संभोग-प्रत्याख्यानेन आलम्बनानि क्षपयति। निरालम्बनस्य च आयतार्थिकायोगाः भवन्ति। स्वकेन लाभेन सन्तुष्यति। परलाभं 'नो' आस्वादयति नो तर्कयति, नो स्पृहयति, नो प्रार्थयति, नो अभिलषति। परलाभमनास्वादयन्, अतर्कयन्, अस्पृहयन्, अप्रार्थयन, अनभिलषन्, द्वितीयां सुख-शय्यामुपसम्पद्य विहरति ॥

सू०३३—भन्ते ! सम्भोग-प्रत्याख्यान (मण्डली-भोजन) का त्याग करने वाला जीव क्या प्राप्त करता है ?

सम्भोग-प्रत्याख्यान से वह परावलम्बन को छोड़ता है। उस परावलम्बन को छोड़ने वाले मुनि के सारे प्रयत्न मोक्ष की सिद्धि के लिए होते हैं। वह भिक्षा में स्वयं को जो कुछ मिलता है उसी में सन्तुष्ट हो जाता है। दूसरे मुनियों को मिली हुई भिक्षा में आस्वाद नहीं लेता, उसकी स्पृहा नहीं करता, प्रार्थना नहीं करता और अभिलाषा नहीं करता। दूसरे को मिली हुई भिक्षा में आस्वाद न लेता हुआ उसकी ताक न रखता हुआ, स्पृहा न करता हुआ, प्रार्थना न करता हुआ और अभिलाषा न करता हुआ दूसरी सुख-शय्या को प्राप्त कर विहार करता है।

सू० ३४—उवहिपच्चक्खाणेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

उवहिपच्चक्खाणेणं अपलिमन्थं जणयइ। निरुवहिए णं जीवे निक्कंखे[3] उवहिमन्तरेण य न संकिलिस्सई ॥

सू०३४—उपधि-प्रत्याख्यानेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ?

उपधि-प्रत्याख्यानेन अपरिमन्थं जनयति। निरुपधिकोजीवो निष्काङ्क्षः उपधिमन्तरेण च न संक्लिश्यति ॥

सू०३४—भन्ते ! उपधि (वस्त्र आदि उपकरणों) के प्रत्याख्यान से जीव क्या प्राप्त करता है ?

उपधि के प्रत्याख्यान से वह स्वाध्याय-ध्यान में होने वाली क्षति से बच जाता है। उपधि रहित मुनि अभिलाषा से मुक्त होकर उपधि के अभाव में मानसिक संक्लेश को प्राप्त नहीं होता।

१. तुस्सइ (उ, ऋ०)।

२. × (उ, ऋ०, बृ०)।

३. 'निक्कंखे' एतच्च पदं क्वचिदेव दृश्यते (बृ०)।

सू० ३५—आहारपच्चक्खाणेणं भन्ते! जीवे किं जणयइ ?

आहारपच्चक्खाणेणं 'जीवियासंसप्पओगं'[1] वोच्छिन्दइ। जीवियासंसप्पओगं वोच्छिन्दित्ता[2] जीवे आहारमन्तरेणं न संकिलिस्सइ ॥

सू०३५—आहार-प्रत्याख्यानेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ?

आहार-प्रत्याख्यानेन जीविताशंसा-प्रयोगं व्युच्छिनत्ति। जीविताशंसा-प्रयोगं व्यवच्छिद्य जीवः आहार-मन्तरेण न संक्लिश्यति ॥

सू०३५—भन्ते ! आहार-प्रत्याख्यान (सदोष भक्त-पान का त्याग करने) से जीव क्या प्राप्त करता है ?

आहार-प्रत्याख्यान से वह जीवित रहने की अभिलाषा के प्रयोग का विच्छेद कर देता है। जीवित रहने की अभिलाषा का विच्छेद कर देने वाला व्यक्ति आहार के बिना (तपस्या आदि में) संक्लेश को प्राप्त नहीं होता।

सू० ३६—कसायपच्चक्खाणेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

कसायपच्चक्खाणेणं वीयरागभावं जणयइ। वीयरागभावपडिवन्ने वि य णं जीवे समसुहदुक्खे भवइ ॥

सू०३६—कषाय-प्रत्याख्यानेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ?

कषाय-प्रत्याख्यानेन वीतराग-भावं जनयति वीतरागभाव-प्रतिपन्नोपि च जीवः सम-सुख-दुःखो भवति ॥

सू०३६—भन्ते ! कषाय (क्रोध, मान, माया और लोभ) के प्रत्याख्यान से जीव क्या प्राप्त करता है ?

कषाय-प्रत्याख्यान से वह वीतराग-भाव को प्राप्त होता है। वीतराग-भाव को प्राप्त हुआ जीव सुख-दुःख में सम हो जाता है।

सू० ३७—जोगपच्चक्खाणेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

जोगपच्चक्खाणेणं अजोगत्तं जणयइ। अजोगी[3] णं जीवे नवं कम्मं न बन्धइ पुव्वबद्धं निज्जरेइ ॥

सू०३७—योग-प्रत्याख्यानेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ?

योग-प्रत्याख्यानेन, अयोगत्वं जनयति। अयोगी जीवो नवं कर्म न बध्नाति, पूर्व-बद्धं निर्जरयति ॥

सू०३७—भन्ते ! योग (शरीर, वचन और मन की प्रवृत्ति) के प्रत्याख्यान से जीव क्या प्राप्त करता है ?

योग-प्रत्याख्यान से वह अयोगत्व (सर्वथा अप्रकम्प भाव) को प्राप्त होता है। अयोगी जीव नए कर्मों का अर्जन नहीं करता और पूर्वार्जित कर्मों को क्षीण कर देता है।

सू० ३८—सरीरपच्चक्खाणेणं भन्ते! जीवे किं जणयइ ?

सरीरपच्चक्खाणेणं सिद्धाइसयगुणत्तणं[4] निव्वत्तेइ। सिद्धाइसयगुणसंपन्ने य णं जीवे लोगग्गमुवगए परमसुही भवइ ॥

सू०३८—शरीर-प्रत्याख्यानेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ?

शरीर-प्रत्याख्यानेन सिद्धातिशय-गुणत्वं निर्वर्तयति। सिद्धातिशय-गुण-सम्पन्नश्च जीवो लोकाग्रमुपगतः परम-सुखी भवति ॥

सू०३८—भन्ते ! शरीर के प्रत्याख्यान (देह-मुक्ति) से जीव क्या प्राप्त करता है ?

शरीर के प्रत्याख्यान से वह मुक्त-आत्माओं के अतिशय गुणों को प्राप्त करता है, मुक्त-आत्माओं के अतिशय गुणों को प्राप्त करने वाला जीव लोक के शिखर में पहुँचकर परम सुखी हो जाता है।

१. जीवियास विप्पओगं (बृ० पा०)।
२. वोच्छिंदिय (बृ० पा०)।
३. अजोगीय (बृ०)।
४. °सयगुणत्तं (ब. बृ०)।

सू० ३९—सहायपच्चक्खाणेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

सहायपच्चक्खाणेणं एगीभावं जणयइ । एगीभावभूए वि[1] य णं[2] जीवे एगग्गं भावेमाणे अप्पसद्दे[3] अप्पझंझे अप्पकलहे अप्पकसाए अप्पतुमंतुमे संजमबहुले संवरबहुले समाहिए यावि भवइ ॥

सू०३९—सहाय-प्रत्याख्यानेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ?

सहाय-प्रत्याख्यानेन एकीभावं जनयति । एकीभाव-भूतोऽपि च जीवः ऐकाग्र्यं भावयन् अल्प-शब्दः अल्प-झञ्झः अल्प-कलहः अल्प-कषायः अल्प-त्वंत्वः संयम-बहुलः संवर-बहुलः, समाहितश्चापि भवति ॥

सू०३९—भन्ते ! सहाय-प्रत्याख्यान (दूसरों का सहयोग न लेने) से जीव क्या प्राप्त करता है ?

सहाय-प्रत्याख्यान से वह अकेलेपन को प्राप्त होता है । अकेलेपन को प्राप्त हुआ जीव एकत्व के आलम्बन का अभ्यास करता हुआ कोलाहल पूर्ण शब्दों से मुक्त, वाचिक-कलह से मुक्त, झगड़े से मुक्त, कषाय से मुक्त, तू-तू से मुक्त, संयम बहुल, संवर बहुल और समाधिस्थ हो जाता है ।

सू०४०—भत्तपच्चक्खाणेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ॥

भत्तपच्चक्खाणेणं अणेगाइं भवसयाइं निरुम्भइ ॥

सू०४०—भक्त-प्रत्याख्यानेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ?

भक्त-प्रत्याख्यानेन अनेकानि भव-शतानि निरुणद्धि ॥

सू०४०—भन्ते ! भक्त-प्रत्याख्यान (अनशन) से जीव क्या प्राप्त करता है ?

भक्त-प्रत्याख्यान से वह अनेक सैकड़ों जन्म-मरणों का निरोध करता है ।

सू० ४१—सब्भावपच्चक्खाणेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

सब्भावपच्चक्खाणेणं अनियट्टिं[4] जणयइ । अनियट्टिपडिवन्ने[5] य अणगारे चत्तारि केवलिकम्मंसे खवेइ तं जहा वेयणिज्जं आउयं नामं गोयं । तओ[6] पच्छा सिज्झइ, बुज्झइ, मुच्चइ, परिनिव्वाएइ सव्वदुक्खाणमन्तं करेइ ॥

सू०४१—सद्भाव-प्रत्याख्यानेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ?

सद्भाव-प्रत्याख्यानेन अनिवृत्तिं जनयति । अनिवृत्तिप्रतिपन्नश्चानगारः चतुरः केवलि-कर्मांशान् क्षपयति, तद् यथा—वेदनीयं, आयुः नाम गोत्रम् । ततः पश्चात् सिध्यति, बुध्यते, मुच्यते, परिनिर्वाति, सर्व-दुःखानामन्तं करोति ॥

सू०४१—भन्ते ! सद्भाव-प्रत्याख्यान (पूर्ण संवर रूप शैलेशी) से जीव क्या प्राप्त करता है ?

सद्भाव-प्रत्याख्यान से वह अनिवृत्ति को प्राप्त होता है—फिर मन, वाणी और शरीर की प्रवृत्ति नहीं करता । अनिवृत्ति को प्राप्त हुआ अनगार केवलि-सत्क (केवली के विद्यमान) चार कर्मों, जैसे—वेदनीय, आयुष्, नाम और गोत्र को क्षीण कर देता है । उसके पश्चात् वह सिद्ध होता है, बुद्ध होता है, मुक्त होता है, परिनिर्वाण होता है और सब दुःखों का अन्त करता है ।

---

१. × (ब, स०) ।
२. × (ब, स०) ।
३. × (बृ०) ।
४. नियट्टिं (बृ० पा०) ।
५. नियट्टि° (बृ० पा०) ।
६. × (ब, स०) ।

सू० ४२—पडिरूवयाए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

पडिरूवयाए णं लाघवियं जणयइ । लहुभूए णं[1] जीवे अप्पमत्ते पागडलिंगे पसत्थलिंगे विसुद्धसम्मत्ते सत्तसमिइसमत्ते सव्वपाणभूयजीवसत्तेसु वीससणिज्जरूवे अप्पडिलेहे[2] जिइन्दिए विउलतवसमिइसमन्नागए यावि भवइ ॥

सू० ४३—वेयावच्चेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

वेयावच्चेणं तित्थयरनामगोत्तं कम्मं निबन्धइ ॥

सू० ४४—सव्वगुणसंपन्नयाए[3] णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

सव्वगुणसंपन्नयाए णं अपुणरावत्तिं जणयइ । अपुणरावत्तिं पत्तए य[4] णं जीवे सारीरमाणसाणं दुक्खाणं नो भागी भवइ ॥

सू० ४५—वीयरागयाए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

वीयरागयाएणं 'नेहाणुबन्धणाणि तण्हाणुबन्धणाणि'[5] य वोच्छिन्दइ मणुन्नेसु[6] सद्दफरिसरसरूवगन्धेसु चेव विरज्जइ ॥

सू०४२—प्रतिरूपतया भदन्त ! जीवः किं जनयति ?

प्रतिरूपतया लाघवितां जनयति । लघुभूतो जीवः अप्रमत्तः प्रकट-लिंगः प्रशस्त-लिंग विशुद्ध-सम्यक्त्वः समाप्त-सत्त्व-समितिः सर्व-प्राण-भूत-जीव-सत्त्वेषु विश्वसनीय-रूपोऽल्प-प्रतिलेखो जितेन्द्रियो विपुल-तपः-समिति-समन्वागतश्चापि भवति ॥

सू०४३—वैयावृत्त्येन भदन्त ! जीवः किं जनयति ?

वैयावृत्त्येन तीर्थङ्कर-नाम-गोत्रं कर्म निबध्नाति ॥

सू०४४—सर्व-गुण-सम्पन्नतया भदन्त ! जीवः किं जनयति ?

सर्व-गुण-सम्पन्नतया अपुनरावृत्तिं जनयति । अपुनरावृत्तिं प्राप्तश्च जीवः शारीर-मानसानां दुःखानां नो भागी भवति ॥

सू०४५—वीतरागतया भदन्त ! जीवः किं जनयति ?

वीतरागतया स्नेहानुबन्धनानि तृष्णानुबन्धनानि च व्युच्छिनत्ति । मनोज्ञेषु शब्द-स्पर्श-रस-रूप-गन्धेषु चैव विरज्यते ॥

सू०४२—भन्ते ! प्रतिरूपता (जिनकल्पिक जैसे आचार का पालन करने) से जीव क्या प्राप्त करता है ?

प्रतिरूपता से वह हल्केपन को प्राप्त होता है । उपकरणों के अल्पीकरण से हल्का बना हुआ जीव अप्रमत्त, प्रकटलिंग वाला, प्रशस्त-लिंग वाला, विशुद्ध सम्यक्त्व वाला, पराक्रम और समिति से परिपूर्ण, सर्व प्राण, भूत, जीव और सत्त्वों के लिए विश्वसनीय रूप वाला, अल्प-प्रतिलेखन वाला, जितेन्द्रिय तथा विपुल तप और समितियों का सर्वत्र प्रयोग करने वाला होता है ।

सू०४३—भन्ते ! वैयावृत्त्य (साधु-संघ की सेवा करने) से जीव क्या प्राप्त करता है ?

वैयावृत्त्य से वह तीर्थङ्कर नाम-गोत्र का अर्जन करता है ।

सू०४४—भन्ते ! सर्व-गुण-सम्पन्नता से जीव क्या प्राप्त करता है ?

सर्व-गुण-सम्पन्नता से वह अपुनरावृत्ति (मुक्ति) को प्राप्त होता है । अपुनरावृत्ति को प्राप्त करने वाला जीव शारीरिक और मानसिक दुःखों का भागी नहीं होता ।

सू०४५—भन्ते ! वीतरागता से जीव क्या प्राप्त करता है ?

वीतरागता से वह स्नेह के अनुबन्धनों और तृष्णा के अनुबन्धनों का विच्छेद करता है तथा मनोज्ञ और अमनोज्ञ शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गन्ध से विरक्त हो जाता है ।

---

१ य णं (उ, ऋ०) ।
२. अप्पपडिलेहे (बृ० पा०) ।
३ 'संपुण्णयाए (अ, आ) ।
४. × (उ, ऋ०) ।
५ 'बंधणाणि तण्हाबंधणाणि (बृ०) ; नेहाणुबन्धणाणि, तण्हाणुबन्धणाणि (बृ० पा०) ;
६. मणुन्नामणुन्नेसु (अ) ।

सू० ४६—खन्तीए णं भन्ते! जीवे किं जणयइ ?

खन्तीए णं परीसहे जिणइ ॥

सू० ४७—मुत्तीए णं भन्ते! जीवे किं जणयइ ?

मुत्तीए णं अकिंचणं जणयइ। अकिंचणे य जीवे अत्थलोलाणं[1] अपत्थणिज्जो भवइ ॥

सू० ४८—अज्जवयाए णं भन्ते! जीवे किं जणयइ ?

अज्जवयाए णं काउज्जुययं भावुज्जुययं भासुज्जुययं अविसंवायणं जणयइ। अविसंवायणसंपन्नयाए णं जीवे धम्मस्स आराहए भवइ ॥

सू० ४९—मद्दवयाए णं भन्ते! जीवे किं जणयइ ?

मद्दवयाए ण 'अणुस्सियत्तं जणयइ। अणुस्सियत्ते णं जीवे मिउमद्दवसंपन्ने अट्ठ मयट्ठाणाइं निट्ठवेइ'[2] ॥

सू० ५०—भावसच्चेणं भन्ते! जीवे किं जणयइ ?

भावसच्चेणं भावविसोहिं जणयइ। भावविसोहीए वट्टमाणे जीवे अरहन्तपन्नत्तस्स धम्मस्स आराहणयाए अब्भुट्ठेइ। अरहन्तपन्नत्तस्स धम्मस्स आराहणयाए[3] अब्भुट्ठित्ता 'परलोगधम्मस्स आराहए'[4] हवइ ॥

सू० ४६—क्षान्त्या भदन्त ! जीवः किं जनयति ?

क्षान्त्या परीषहान् जयति ॥

सू० ४७—मुक्त्या भदन्त ! जीवः किं जनयति ?

मुक्त्या आकिंचन्यं जनयति। अकिंचनश्च जीवो अर्थ-लोलानां अप्रार्थनीयो भवति ॥

सू० ४८—आर्जवेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ?

आर्जवेन कायर्जुकतां, भावर्जुकतां भाषर्जुकतां, अविसंवादनं जनयति। अविसंवादन-सम्पन्नतया जावो धर्मस्याराधको भवति ॥

सू० ४९—मार्दवेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ?

मार्दवेन अनुत्सिक्तत्वं जनयति। अनुत्सिक्तत्वेन जीवो मृदु-मार्दव-सम्पन्नः अष्ट मद-स्थानानि निष्ठापयति ॥

सू० ५०—भाव-सत्येन भदन्त ! जीवः किं जनयति ?

भाव-सत्येन भाव-विशोधिं जनयति। भाव-विशोधौ वर्तमानो जीवोऽर्हत्-प्रज्ञप्तस्य धर्मस्याराधनायै अभ्युत्तिष्ठते। अर्हत्-प्रज्ञप्तस्य धर्मस्याराधनायै अभ्युत्थाय परलोक-धर्मस्याराधको भवति ॥

सू० ४६—भन्ते ! क्षमा से जीव क्या प्राप्त करता है ?

क्षमा से वह परीषहों पर विजय प्राप्त कर लेता है।

सू० ४७—भन्ते ! मुक्ति (निर्लोभता) से जीव क्या प्राप्त करता है ?

मुक्ति से वह अकिंचनता को प्राप्त होता है। अकिंचन जीव अर्थ-लोलुप पुरुषों के द्वारा अप्रार्थनीय होता है— उसके पास कोई याचना नहीं करता।

सू० ४८—भन्ते ! ऋजुता से जीव क्या प्राप्त करता है ?

ऋजुता से वह काया की सरलता, मन की सरलता, भाषा की सरलता और अवंचक वृत्ति को प्राप्त होता है। अवंचक वृत्ति से सम्पन्न जीव धर्म का आराधक होता है।

सू० ४९—भन्ते ! मृदुता से जीव क्या प्राप्त करता है ?

मृदुता से वह अनुद्धत मनोभाव को प्राप्त करता है। अनुद्धत मनोभाव वाला जीव मृदु-मार्दव से सम्पन्न होकर मद के आठ स्थानों का विनाश कर देता है।

सू० ५०—भन्ते ! भाव-सत्य (अन्तर-आत्मा की सचाई) से जीव क्या प्राप्त करता है ?

भाव-सत्य से वह भाव की विशुद्धि को प्राप्त होता है। भाव-विशुद्धि में वर्तमान जीव अर्हत्-प्रज्ञप्त धर्म की आराधना के लिए तैयार होता है। अर्हत्-प्रज्ञप्त धर्म की आराधना में तत्पर होकर वह परलोक-धर्म का आराधक होता है।

---

१. अत्थलोलाणं पुरिसाणं (आ, इ, उ, ऋ०, स)।

२. अणुस्सुअत्तं जणइ। अणुस्सुअपत्तेणं जीवे मद्दवयाएणं मिउ० (अ); मद्दवयाए णं मिउ० (उ, वृ०, ऋ०); मद्द० अणुस्सियत्तं जणेति, अणुस्सियत्ते णं जीवे मिउ० (वृ० पा०)।

३. आराहणयाए णं (ऋ०)।

४ परलोगाराहए (वृ० पा०)।

सू०५१—करणसच्चेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

करणसच्चेणं करणसत्तिं जणयइ। करणसच्चे वट्टमाणे जीवे जहावाई तहाकारी यावि भवइ ॥

सू० ५१—करण-सत्येन भदन्त ! जीवः किं जनयति ?

करण-सत्येन करण-शक्तिं जनयति। करण-सत्येन वर्तमानो जीवो यथावादी तथाकारी चापि भवति ॥

सू० ५१—भन्ते! करण-सत्य (कार्य की सचाई) से जीव क्या प्राप्त करता है ?

करण-सत्य से वह करण-शक्ति (अपूर्व कार्य करने की सामर्थ्य) को प्राप्त होता है। करण-सत्य में वर्तमान जीव जैसा कहता है वैसा करता है।

सू०५२—जोगसच्चेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

जोगसच्चेणं जोगं विसोहेइ ॥

सू० ५२—योग-सत्येन भदन्त ! जीवः किं जनयति ?

योग-सत्येन योगान् विशोधयति ॥

सू० ५२—भन्ते ! योग सत्य (मन, वाणी और काया की सचाई) से जीव क्या प्राप्त करता है ?

योग-सत्य से वह मन, वाणी और काया की प्रवृत्ति को विशुद्ध करता है।

सू०५३—मणगुत्तयाए णं भन्ते! जीवे किं जणयइ ?

मणगुत्तयाए णं जीवे एगग्गं जणयइ। एगग्गचित्ते णं जीवे मणगुत्ते संजमाराहए भवइ ॥

सू० ५३—मनो-गुप्तया भदन्त ! जीवः किं जनयति ?

मनो-गुप्ततया ऐकाग्र्यं जनयति। एकाग्र-चित्तो जीवो मनो-गुप्तः संयमाराधको भवति ॥

सू० ५३—भन्ते ! मनो-गुप्तता (कुशल मन के प्रयोग) से जीव क्या प्राप्त करता है ?

मनो-गुप्तता से वह एकाग्रता को प्राप्त होता है। एकाग्र चित्त वाला जीव अशुभ संकल्पों से मन की रक्षा करने वाला और संयम की आराधना करने वाला होता है।

सू०५४—वयगुत्तयाए णं भन्ते! जीवे किं जणयइ ?

वयगुत्तयाए णं निव्वियारं[1] जणयइ। 'निव्वियारेणं जीवे वइगुत्ते अज्झप्पजोगज्झाणगुत्ते[2,3] यावि भवइ ॥

स०५४—वाग-गुप्ततया भदन्त ! जीवः किं जनयति ?

वाग्-गुप्ततया निर्विकारं जनयति। निर्विकारो जीवो वाग्-गुप्तोऽध्यात्म-योग-ध्यान-गुप्तश्चापि भवति ॥

सू० ५४—भन्ते ! वाग्-गुप्तता (कुशल वचन के प्रयोग) से जीव क्या प्राप्त करता है ?

वाग्-गुप्तता से वह निर्विकार भाव को प्राप्त होता है। निर्विकार जीव सर्वथा वाग्-गुप्त और अध्यात्म-योग के साधन—चित्त की एकाग्रता आदि से युक्त हो जाता है।

सू०५५—कायगुत्तयाए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

कायगुत्तयाए णं संवरं जणयइ। संवरेणं कायगुत्ते पुणो पावासवनिरोहं करेइ ॥

सू० ५५—काय-गुप्ततया भदन्त ! जीवः किं जनयति ?

काय-गुप्ततया संवरं जनयति। संवरेण काय-गुप्तः पुनः पापाश्रव-निरोधं करोति ॥

सू० ५५—भन्ते ! काय-गुप्तता (कुशल काय के प्रयोग) से जीव क्या प्राप्त करता है।

काय-गुप्तता से वह संवर (अशुभ प्रवृत्ति के निरोध) को प्राप्त होता है। संवर के द्वारा कायिक स्थिरता को प्राप्त करने वाला जीव फिर पाप-कर्म के उपादान-हेतुओं (आश्रवों) का निरोध कर देता है।

---

१. निव्वियारत्तं (अ, स)।

२. साहुणजुत्ते (उ, ऋ०, बृ०)।

३. निव्वियारे णं जीवे वयगुत्तयं जणयइ (बृ० पा०)।

सू०५६—मणसमाहारणयाए णं भन्ते! जीवे किं जणयइ ?

मणसमाहारणयाए णं एगग्गं जणयइ। एगग्गं जणइत्ता नाणपज्जवे जणयइ। नाणपज्जवे जणइत्ता सम्मत्तं विसोहेइ मिच्छत्तं च निज्जरेइ ॥

सू०५६—मनः-समाधारणेन भदन्त! जीवः किं जनयति ?

मनः-समाधारणेन ऐकाग्र्यं जनयति। ऐकाग्र्यं जनयित्वा ज्ञान-पर्यवान् जनयति। ज्ञान-पर्यवान् जनयित्वा सम्यक्त्वं विशोधयति, मिथ्यात्वञ्च निर्जरयति ॥

सू० ५६—भन्ते! मन-समाधारणा (मन को आगम-कथित भावों में भली-भाँति लगाने) से जीव क्या प्राप्त करता है ?

मन-समाधारणा से वह एकाग्रता को प्राप्त होता है। एकाग्रता को प्राप्त होकर ज्ञान-पर्यवों (ज्ञान के विविध प्रकारों) को प्राप्त होता है। ज्ञान-पर्यवों को प्राप्त कर सम्यक्-दर्शन को विशुद्ध और मिथ्या-दर्शन को क्षीण करता है।

सू०५७—वयसमाहारणयाए णं भन्ते! जीवे किं जणयइ ?

वयसमाहारणयाए णं वयसाहारणदंसणपज्जवे विसोहेइ। वयसाहारणदंसणपज्जवे विसोहेत्ता सुलहबोहियत्तं निव्वत्तेइ दुल्लहबोहियत्तं निज्जरेइ ॥

सू०५७—वाक्-समाधारणेन भदन्त! जीवः किं जनयति ?

वाक्-समाधारणेन वाक्-साधारण-दर्शन-पर्यवान् विशोधयति। वाक्-साधारण-दर्शन-पर्यवान् विशोध्य सुलभ-बोधिकत्वं निर्वर्तयति, दुर्लभ-बोधिकत्वं निर्जरयति ॥

सू० ५७—भन्ते! वाक्-समाधारणा (वाणी को स्वाध्याय में भली-भाँति लगाने) से जीव क्या प्राप्त करता है ?

वाक्-समाधारणा से वह वाणी के विषय-भूत दर्शन-पर्यवों (सम्यक्-दर्शन के प्रकारों) को विशुद्ध करता है। वाणी के विषयभूत दर्शन-पर्यवों को विशुद्ध कर बोधि की सुलभता को प्राप्त होता है और बोधि की दुर्लभता को क्षीण करता है।

सू०५८—कायसमाहारणयाए णं भन्ते! जीवे किं जणयइ ?

कायसमाहारणयाए णं चरित्तपज्जवे विसोहेइ। चरित्तपज्जवे विसोहेत्ता अहक्खायचरित्तं विसोहेइ। अहक्खायचरित्तं विसोहेत्ता चत्तारि केवलिकम्मंसे खवेइ। तओ पच्छा सिज्झइ बुज्झइ मुच्चइ परिनिव्वाएइ सव्वदुक्खाणमन्तं करेइ ॥

सू० ५८—काय-समाधारणेन भदन्त! जीवः किं जनयति ?

काय-समाधारणेन चरित्र-पर्यवान् विशोधयति। चरित्र-पर्यवान् विशोध्य यथाख्यात-चरित्रं विशोधयति। यथाख्यात-चरित्रं विशोध्य चतुरः केवलि-कर्मांशान् क्षपयति। ततः पश्चात् सिध्यति, बुध्यते, मुच्यते, परिनिर्वाति, सर्वदुःखानामन्तं करोति ॥

सू० ५८—भन्ते! काय-समाधारणा (संयम-योगों में काय को भलीभाँति लगाने) से जीव क्या प्राप्त करता है ?

काय-समाधारणा से वह चरित्र-पर्यवों (चरित्र के प्रकारों) को विशुद्ध करता है। चरित्र-पर्यवों को विशुद्ध कर यथाख्यात चरित्र (वीतरागभाव) को प्राप्त करने योग्य विशुद्धि करता है। यथाख्यात चरित्र को विशुद्ध कर केवलि-सत्क (केवली के विद्यमान) चार कर्मों — आयुष्, वेदनीय, नाम और गोत्र को क्षीण करता है। उसके पश्चात् सिद्ध होता है, बुद्ध होता है, मुक्त होता है, परिनिर्वाण होता है और सब दुःखों का अन्त करता है।

सू० ५९—नाणसंपन्नयाए णं भन्ते! जीवे किं जणयइ ?

नाणसंपन्नयाए णं जीवे सव्वभावाहिगमं जणयइ। नाणसंपन्ने णं जीवे चाउरन्ते संसारकन्तारे न विणस्सइ।

जहा सूई ससुत्ता
पडिया वि न विणस्सइ।
तहा जीवे ससुत्ते
संसारे न विणस्सइ॥

नाणविणयतवचरित्तजोगे संपाउणइ ससमयपरसमय[1] संघायणिज्जे भवइ॥

सू० ५६—ज्ञान-सम्पन्नतया भदन्त ! जीवः किं जनयति ?

ज्ञान-सम्पन्नतया जीवः सर्वभावाभिगमं जनयति। ज्ञान-सम्पन्नो जीवश्चतुरन्ते संसार-कान्तारे न विनश्यति।

यथा सूची ससूत्रा,
पतिताऽपि न विनश्यति।
तथा जीवः ससूत्रः
संसारे न विनश्यति॥

ज्ञान-विनय-तपश्चरित्र-योगान् सम्प्राप्नोति, स्वसमय-परसमय-संघातनीयो भवति॥

सू० ५६—भन्ते! ज्ञान-सम्पन्नता (श्रुत ज्ञान की सम्पन्नता) से जीव क्या प्राप्त करता है ?

ज्ञान-सम्पन्नता से वह सब पदार्थों को जान लेता है। ज्ञान-सम्पन्न जीव चार गति-रूप चार अन्तों वाली संसार-अटवी में विनष्ट नहीं होता।

जिस प्रकार ससूत्र (धागे में पिरोई हुई) सुई गिरने पर भी गुम नहीं होती, उसी प्रकार ससूत्र (श्रुत सहित) जीव संसार में रहने पर भी विनष्ट नहीं होता।

(ज्ञान-सम्पन्न) अवधि आदि विशिष्ट ज्ञान, विनय, तप और चारित्र के योगों को प्राप्त करता है तथा स्वसमय और परसमय की व्याख्या या तुलना के लिए प्रामाणिक पुरुष माना जाता है।

सू० ६०—दंसणसंपन्नयाए णं भन्ते! जीवे किं जणयइ ?

दंसणसंपन्नयाए णं भवमिच्छत्तछेयणं करेइ, परं न विज्झायइ[2]। 'अणुत्तरेणं नाणदंसणेणं अप्पाणं संजोएमाणे सम्मं भावेमाणे विहरइ'[3]॥

सू० ६०—दर्शन-सम्पन्नतया भदन्त ! जीवः किं जनयति ?

दर्शन-सम्पन्नतया भव-मिथ्यात्व-छेदनं करोति। परं न विध्यायति अनुत्तरेण ज्ञान-दर्शनेनात्मानं संयोजयन् सम्यग् भावयन् विहरति॥

सू० ६०—भन्ते! दर्शन-सम्पन्नता (सम्यक्-दर्शन की सम्प्राप्ति) से जीव क्या प्राप्त करता है ?

दर्शन-सम्पन्नता से वह संसार-पर्यटन के हेतु-भूत मिथ्यात्व का उच्छेद करता है—क्षायिक सम्यक्-दर्शन को प्राप्त होता है। उससे आगे उसकी प्रकाश-शिखा बुझती नहीं। वह अनुत्तर ज्ञान और दर्शन को आत्मा से संयोजित करता हुआ, उन्हें सम्यक् प्रकार से आत्मसात् करता हुआ विहरण करता है।

सू० ६१—चरित्तसंपन्नयाए णं भन्ते! जीवे किं जणयइ ?

चरित्तसंपन्नयाए णं सेलेसीभावं जणयइ। 'सेलेसिं पडिवन्ने य अणगारे चत्तारि केवलिकम्मंसे खवेइ। तओ पच्छा सिज्झइ बुज्झइ मुच्चइ परिनिव्वाएइ सव्वदुक्खाणमन्तं करेइ'[4]॥

सू० ६१—चरित्र-सम्पन्नतया भदन्त ! जीवः किं जनयति ?

चरित्र-सम्पन्नतया शैलेशी-भावं जनयति। शैलेशीं प्रतिपन्नश्च अनगारः चतुरः केवलि-कर्मांशान् क्षपयति। ततः पश्चात् सिध्यति, बुध्यते, मुच्यते, परिनिर्वाति सर्वदुःखानामन्तं करोति॥

सू० ६१—भन्ते! चारित्र-सम्पन्नता से जीव क्या प्राप्त करता है ?

चारित्र-सम्पन्नता से वह शैलेशी-भाव को प्राप्त होता है। शैलेशी-दशा को प्राप्त करने वाला अनगार चार केवलि-सत्क कर्मों को क्षीण करता है। उसके पश्चात् वह सिद्ध होता है, बुद्ध होता है, मुक्त होता है, परिनिर्वाण होता है और सब दुःखों का अन्त करता है।

---

१. 'समय विसारए य (अ)।
२. विज्झाइ (ऋ०); वज्झाइ। परं आणाज्झायमाणे (अ)।
३. अप्पाणं संजोएमाणे सम्मं भावेमाणे अणुत्तरेणं नाणदंसणेणं विहरइ (अ); अनुत्तरेणं नाणदंसणेणं विहरइ (बृ० पा०)।
४. सेलेसी पडिवन्ने विहरइ (बृ०); सेलेसिं पडिवन्ने अणगारे चत्तारि केवलिकम्मंसे खवेति, ततो पच्छा सिज्झति······(बृ० पा०)।

सू० ६२—सोइन्दियनिग्गहेणं भन्ते! जीवे किं जणयइ ?

सोइन्दियनिग्गहेणं मणुन्नामणुन्नेसु सद्देसु रागदोसनिग्गहं जणयइ तप्पच्चइयं कम्मं न बन्धइ पुव्वबद्धं च निज्जरेइ ॥

सू०६२—श्रोत्रेन्द्रिय-निग्रहेण भदन्त! जीवः किं जनयति ?

श्रोत्रेन्द्रिय-निग्रहेण मनोज्ञामनोज्ञेषु शब्देषु राग-दोष-निग्रहं जनयति। तत्-प्रत्ययिकं कर्म न बध्नाति। पूर्व-बद्धं च निर्जरयति ॥

सू०६२—भन्ते ! श्रोत्रेन्द्रिय का निग्रह करने से जीव क्या प्राप्त करता है ?

श्रोत्रेन्द्रिय के निग्रह से वह मनोज्ञ और अमनोज्ञ शब्दों में होने वाले राग और द्वेष का निग्रह करता है। वह शब्द सम्बन्धी राग-द्वेष के निमित्त से होने वाला कर्म-बन्धन नहीं करता और पूर्व-बद्ध तन्निमित्तक कर्म को क्षीण करता है।

सू० ६३—चक्खिन्दियनिग्गहेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

चक्खिन्दियनिग्गहेणं मणुन्नामणुन्नेसु रूवेसु[1] रागदोसनिग्गहं जणयइ तप्पच्चइयं कम्मं न बन्धइ पुव्वबद्धं च निज्जरेइ ॥

सू०६३—चक्षुरिन्द्रिय-निग्रहेण भदन्त ! जीवः किं जनयति ?

चक्षुरिन्द्रिय-निग्रहेण मनोज्ञामनोज्ञेषु रूपेषु राग-दोष-निग्रहं जनयति। तत्-प्रत्ययिकं कर्म न बध्नाति पूर्व-बद्धं च निर्जरयति ॥

सू०६३—भन्ते ! चक्षु-इन्द्रिय का निग्रह करने से जीव क्या प्राप्त करता है ?

चक्षु-इन्द्रिय के निग्रह से वह मनोज्ञ और अमनोज्ञ रूपों में होने वाले राग और द्वेष का निग्रह करता है। वह रूप सम्बन्धी राग-द्वेष के निमित्त से होने वाला कर्म-बन्धन नहीं करता और पूर्व-बद्ध तन्निमित्तक कर्म को क्षीण करता है।

सू० ६४—घाणिन्दियनिग्गहेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

घाणिन्दियनिग्गहेणं मणुन्नामणुन्नेसु गन्धेसु रागदोसनिग्गहं जणयइ तप्पच्चइयं कम्मं न बन्धइ पुव्वबद्धं च निज्जरेइ ॥

सू० ६४—घ्राणेन्द्रिय-निग्रहेण भदन्त ! जीवः किं जनयति ?

घ्राणेन्द्रिय-निग्रहेण मनोज्ञामनोज्ञेषु गन्धेषु राग-दोष-निग्रहं जनयति। तत्-प्रत्ययिकं कर्म न बध्नाति। पूर्व-बद्धं च निर्जरयति ॥

सू०६४—भन्ते ! घ्राण-इन्द्रिय का निग्रह करने से जीव क्या प्राप्त करता है ?

घ्राण-इन्द्रिय के निग्रह से वह मनोज्ञ और अमनोज्ञ गन्धों में होने वाले राग और द्वेष का निग्रह करता है। वह गन्ध सम्बन्धी राग-द्वेष के निमित्त से होने वाला कर्म-बन्धन नहीं करता और पूर्व-बद्ध तन्निमित्तक कर्म को क्षीण करता है।

सू० ६५—जिब्भिन्दियनिग्गहेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

जिब्भिन्दियनिग्गहेणं मणुन्नामणुन्नेसु रसेसु रागदोसनिग्गहं जणयइ तप्पच्चइयं कम्मं न बन्धइ पुव्वबद्धं च निज्जरेइ ॥

सू०६५—जिह्वेन्द्रिय-निग्रहेण भदन्त ! जीवः किं जनयति ?

जिह्वेन्द्रिय-निग्रहेण मनोज्ञामनोज्ञेषु रसेषु राग-दोष-निग्रहं जनयति। तत्-प्रत्ययिकं कर्म न बध्नाति। पूर्व-बद्धं च निर्जरयति ॥

सू०६५—भन्ते ! जिह्वा-इन्द्रिय का निग्रह करने से जीव क्या प्राप्त करता है ?

जिह्वा-इन्द्रिय के निग्रह से वह मनोज्ञ और अमनोज्ञ रसों में होने वाले राग और द्वेष का निग्रह करता है। वह रस सम्बन्धी राग-द्वेष के निमित्त से होने वाला कर्म-बन्धन नहीं करता और पूर्व-बद्ध तन्निमित्तक कर्म को क्षीण करता है।

---

१. चक्खिविएसु (अ)।

सू०६६—फासिन्दियनिग्गहेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

फासिन्दियनिग्गहेणं मणुन्नामणुन्नेसु फासेसु रागदोसनिग्गहं जणयइ तप्पच्चइयं कम्मं न बन्धइ पुव्वबद्धं च निज्जरेइ ।।

सू०६६—स्पर्शेन्द्रिय-निग्रहेण भदन्त ! जीवः किं जनयति ?

स्पर्शेन्द्रिय-निग्रहेण मनोज्ञामनोज्ञेषु स्पर्शेषु राग-दोष-निग्रहं जनयति । तत्-प्रत्ययिकं कर्म न बध्नाति । पूर्व-बद्धं च निर्जरयति ।।

सू०६६—भन्ते ! स्पर्श-इन्द्रिय का निग्रह करने से जीव क्या प्राप्त करता है ?

स्पर्श-इन्द्रिय के निग्रह से वह मनोज्ञ और अमनोज्ञ स्पर्शों में होने वाले राग और द्वेष का निग्रह करता है। वह स्पर्श सम्बन्धी राग-द्वेष के निमित्त से होने वाला कर्म-बन्धन नहीं करता और पूर्व-बद्ध तन्निमित्तक कर्म को क्षीण करता है।

सू०६७—कोहविजएणं भन्ते! जीवे किं जणयइ ?

कोहविजएणं खन्तिं जणयइ कोहवेयणिज्जं कम्मं न बन्धइ पुव्वबद्धं च निज्जरेइ ।।

सू०६७—क्रोध-विजयेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ?

क्रोध-विजयेन क्षान्तिं जनयति । क्रोध-वेदनीयं कर्म न बध्नाति । पूर्व-बद्धं च निर्जरयति ।।

सू०६७—भन्ते ! क्रोध-विजय से जीव क्या प्राप्त करता है ?

क्रोध-विजय से वह क्षमा को उत्पन्न करता है। वह क्रोध-वेदनीय कर्म-बन्धन नहीं करता और पूर्व-बद्ध तन्निमित्तक कर्म को क्षीण करता है।

सू०६८—माणविजएणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

माणविजएणं मद्दवं जणयइ माणवेयणिज्जं कम्मं न बन्धइ पुव्वबद्धं च निज्जरेइ ।।

सू०६८—मान-विजयेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ?

मान-विजयेन मार्दवं जनयति । मान-वेदनीयं कर्म न बध्नाति । पूर्व-बद्धं च निर्जरयति ।।

सू०६८—भन्ते ! मान-विजय से जीव क्या प्राप्त करता है ?

मान-विजय से वह मृदुता को उत्पन्न करता है। वह मान-वेदनीय कर्म-बन्धन नहीं करता और पूर्व-बद्ध तन्निमित्तक कर्म को क्षीण करता है।

सू०६९—मायाविजएणं भन्ते! जीवे किं जणयइ ?

मायाविजएणं उज्जुभावं जणयइ मायावेयणिज्जं कम्मं न बन्धइ पुव्वबद्धं च निज्जरेइ ।।

सू०६९—माया-विजयेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ?

माया-विजयेन ऋजुभावं जनयति । माया-वेदनीयं कर्म न बध्नाति । पूर्व-बद्धं च निर्जरयति ।।

सू०६९—भन्ते ! माया-विजय से जीव क्या प्राप्त करता है ?

माया-विजय से वह ऋजुता को उत्पन्न करता है। वह माया-वेदनीय कर्म-बन्धन नहीं करता और पूर्व-बद्ध तन्निमित्तक कर्म को क्षीण करता है।

सू०७०—लोभविजएणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

लोभविजएणं संतोसीभावं जणयइ लोभवेयणिज्जं कम्मं न बन्धइ पुव्वबद्धं च निज्जरेइ ।।

सू०७०—लोभ-विजयेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ?

लोभ-विजयेन सन्तोषीभावं जनयति । लोभ-वेदनीयं कर्म न बध्नाति । पूर्व-बद्धं च निर्जरयति ।।

सू० ७०—भन्ते ! लोभ-विजय से जीव क्या प्राप्त करता है ?

लोभ-विजय से वह सन्तोष को उत्पन्न करता है। वह लोभ-वेदनीय कर्म-बन्धन नहीं करता और पूर्व-बद्ध तन्निमित्तक कर्म को क्षीण करता है।

सू०७१—पेज्जदोसमिच्छादंसणविजएणं भन्ते! जीवे किं जणयइ ?

सू०७१—प्रेयो-दोष-मिथ्यादर्शन-विजयेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ?

सू०७१—भन्ते ! प्रेम, द्वेष और मिथ्या-दर्शन के विजय से जीव क्या प्राप्त करता है ?

पेज्जदोसमिच्छादंसणविजएणं नाणदंसणचरित्ताराहणयाए अब्भुट्ठेइ । 'अट्ठविहस्स कम्मस्स कम्मगण्ठिविमोयणयाए'[1] तप्पढमयाए जहाणुपुव्विं अट्ठवीसइविहं मोहणिज्जं कम्मं उग्घाएइ पंचविहं नाणावरणिज्जं नवविहं दंसणावरणिज्जं[2] पंचविहं अन्तरायं एए तिन्नि वि कम्मंसे जुगवं खवेइ । तओ पच्छा अणुत्तरं अणंतं कसिणं पडिपुण्णं निरावरणं वितिमिरं विसुद्धं लोगालोगप्पभावगं[3] केवल-वरनाणदंसणं समुप्पाडेइ । जाव सजोगी भवइ ताव य इरियावहियं कम्मं बन्धइ सुहफरिसं दुसमयठिइयं । तं पढमसमए बद्धं बिइयसमए वेइयं तइयसमए निज्जिण्णं[4] तं बद्धं पुट्ठं उदीरियं वेइयं निज्जिण्णं सेयाले य अकम्मं चावि भवइ ॥

प्रेयो-दोष-मिथ्यादर्शन-विजयेन ज्ञान-दर्शन-चारित्राराधनायां अभ्युत्तिष्ठते । अष्टविधस्य कर्मणः कर्म-ग्रन्थि-विमोचनाय तत्प्रथमतया यथानुपूर्वि अष्टाविंशतिविधं मोहनीयं कर्मोद्घातयति । पंचविधं ज्ञानावरणीयम् नवविधं दर्शनावरणीयं पंचविधमन्तरायं एतान् त्रीनपि कर्मांशान् युगपत् क्षपयति । ततः पश्चादनुत्तरं अनन्तं कृत्स्नं प्रतिपूर्णं निरावरणं वितिमिरं विशुद्धं लोकालोक-प्रभावकं केवलवरज्ञान-दर्शनं समुत्पादयति । यावत्-सयोगी भवति तावदैर्यापथिकं कर्म बध्नाति सुख-स्पर्शं द्विसमय-स्थितिकम् । तत् प्रथम-समये बद्धं द्वितीय-समये वेदितं तृतीय-समये निर्जीर्णं तद् बद्धं स्पृष्टमुदीरितं वेदितं निर्जीर्णं एष्यत्काले चाकर्मचापि भवति ॥

प्रेम, द्वेष और मिथ्या-दर्शन के विजय से वह ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना के लिए उद्यत होता है । आठ कर्मों में जो कर्म-ग्रन्थि (घात्य-कर्म) है, उसे खोलने के लिए वह उद्यत होता है । वह जिसे पहले कभी भी पूर्णतः क्षीण नहीं कर पाया उस अट्ठाईस प्रकार वाले मोहनीय कर्म को क्रमशः सर्वथा क्षीण करता है, फिर वह पाँच प्रकार वाले ज्ञानावरणीय, नौ प्रकार वाले दर्शनावरणीय और पाँच प्रकार वाले अन्तराय—इन तीनों विद्यमान कर्मों को एक साथ क्षीण करता है । उसके पश्चात् वह अनुत्तर, अनन्त, कृत्स्न, प्रतिपूर्ण, निरावरण, तिमिर रहित, विशुद्ध, लोक और अलोक को प्रकाशित करने वाले केवल ज्ञान और केवल दर्शन को उत्पन्न करता है । जब तक वह सयोगी होता है तब तक उसके ईर्या-पथिक-कर्म का बन्ध होता है । वह बन्ध सुख-स्पर्श (पुण्य-मय) होता है । उसकी स्थिति दो समय की होती है और तीसरे समय में वह निर्जीर्ण हो जाता है । वह कर्म बद्ध होता है, स्पृष्ट होता है, उदय में आता है, भोगा जाता है, नष्ट हो जाता है और अन्त में अकर्म भी हो जाता है ।

१. अट्ठविहकम्म विमोयणाए (बृ० पा०) ।
२. दंसणावरणं (उ, ऋ०) ।
३. लोगालोगसभावं (बृ० पा०) ।
४. निविण्णं (अ) ।

सू० ७२—अहाउयं पालइत्ता अन्तोमुहुत्तद्धावसेसाउए[1] जोगनिरोहं करेमाणे सुहुमकिरियं अप्पडिवाइ सुक्कज्झाणं झायमाणे तप्पढमयाए 'मणजोगं निरुम्भइ २ त्ता वइजोगं निरुम्भइ २ त्ता आणापाणुनिरोहं'[2] करेइ २ त्ता ईसि पंचरहस्सक्खरुच्चारद्धाए य णं अणगारे समुच्छिन्नकिरियं अनियट्टिसुक्कज्झाणं झियायमाणे वेयणिज्जं आउयं नामं गोत्तं च एए चत्तारि वि[3] कम्मंसे जुगवं[4] खवेइ ॥

सू० ७२—अथ आयुष्कं पालयित्वाऽन्तर्मुहूर्ताध्वावशेषायुष्कः योग-निरोधं कुर्वाणः सूक्ष्मक्रियमप्रतिपाति शुक्ल-ध्यानं ध्यायन् तत्प्रथमतया मनो-योगं निरुणद्धि निरुध्य वाग्-योगं निरुणद्धि निरुध्य आनापान-निरोधं करोति कृत्वा ईषत् पंच ह्रस्वाक्षरोच्चारणाध्वनि च अनगारः समुच्छिन्नक्रियं अनिवृत्ति शुक्लध्यानं ध्यायन् वेदनीयमायुष्कं नाम गोत्रञ्च तान् चतुरः कर्मांशान युगपत् क्षपयति ॥

सू०७२—केवली होने के पश्चात् वह शेष आयुष्य का निर्वाह करता है। जब अन्तर-मुहूर्त परिमाण आयु शेष रहती है, तब वह योग-निरोध करने में प्रवृत्त होता है। उस समय सूक्ष्म-क्रिय अप्रतिपाति नामक शुक्ल ध्यान में लीन बना हुआ वह सबसे पहले मनो-योग का निरोध करता है। फिर वचन-योग का निरोध करता है, उसके पश्चात् आनापान (उच्छ्वासनिश्वास) का निरोध करता है। उसके पश्चात् स्वल्पकाल तक पाँच ह्रस्वाक्षरों अ इ उ ऋ ऌ का उच्चारण किया जाए उतने काल तक समुच्छिन्न-क्रिय अनिवृत्ति नामक शुक्ल ध्यान में लीन बना हुआ अनगार वेदनीय, आयुष्य, नाम और गोत्र—इन चारों सत्कर्मों को एक साथ क्षीण करता है।

सू०७३—तओ ओरालियकम्माइं च सव्वाहिं विप्पजहणाहिं विप्पजहित्ता उज्जुसेढिपत्ते अफुसमाणगई उड्ढं एगसमएणं अविग्गहेणं तत्थ गन्ता सागारोवउत्ते सिज्झइ बुज्झइ मुच्चइ परिनिव्वाएइ सव्वदुक्खाणमन्तं करेइ[5] ॥

सू०७३—ततः औदारिक-कार्मणे च सर्वाभिः विप्रहाणिभिः विप्रहाय ऋजु-श्रेणिप्राप्तो स्पृशद्-गतिरूर्ध्वं एक समयेन अविग्रहेण तत्र गत्वा साकारोपयुक्तः सिध्यति बुध्यते मुच्यते परिनिर्वाति सर्वदुःखानामन्तं करोति ॥

सू०७३—उसके अनन्तर ही औदारिक और कार्मण शरीर को पूर्ण अनस्तित्व के रूप में छोड़ कर वह मोक्ष स्थान में पहुँच साकारोपयुक्त (ज्ञान प्रवृत्ति काल) में सिद्ध होता है, बुद्ध होता है, मुक्त होता है, परिनिर्वाण होता है और सब दुःखों का अन्त करता है। सिद्ध होने से पूर्व वह ऋजुश्रेणी (आकाश-प्रदेशों की सीधी पंक्ति) से गति करता है। उसकी गति ऊपर को होती है, आत्म-प्रदेश जितने हों आकाश-प्रदेशों का स्पर्श करने वाली होती है और एक समय की होती है—ऋजु होती है।

एस खलु सम्मत्तपरक्कमस्स अज्झयणस्स अट्ठे समणेणं भगवया महावीरेणं आघविए पन्नविए परूविए दंसिए[6] उवदंसिए ॥

—त्ति बेमि।

एष खलु सम्यक्त्वपराक्रमस्याध्ययनस्यार्थः श्रमणेन भगवता महावीरेणाख्यातः प्रज्ञापितः प्ररूपितः दर्शितः उपदर्शितः ॥

—इति ब्रवीमि।

सम्यक्त्व-पराक्रम अध्ययन का यह पूर्वोक्त अर्थ श्रमण भगवान् महावीर के द्वारा आख्यात, प्रज्ञापित, प्ररूपित, दर्शित और उपदर्शित है।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

---

१. अन्तोमुहुत्तअद्धावसेसाए (बृ० पा०); अन्तोमुहुत्तावसेसाउए (उ, ऋ०, बृ० पा०)।
२. मणजोगं निरुम्भइ वइजोगं निरुम्भइ आणापाणुनिरोहं करेइ (बृ०); मणजोगं निरुम्भइ, वइजोगं निरुम्भइ, आणापाण" (आ, इ)।
३. × (उ, ऋ०)।
४. × (उ, ऋ०)।
५. (क) इह च चूर्णिकृता—"सेलेसीए णं भन्ते! जीवे किं जणयइ? अकम्मयं जणति, अकम्मयाए जीवा सिज्झन्ति" इति पाठः, पूर्वत्र च क्वचित्किञ्चित्पाठभेदेनाल्पा एव प्रश्ना आश्रिताः, अस्माभिस्तु भूयसीषु प्रतिषु यथाव्याख्यातपाठदर्शनादित्थमुन्नीतमिति (बृ० पा०)।
(ख) सेलेसीएणं भन्ते! जीवे किं जणयइ? अकम्मयं जणति अकम्मयाए जीवा सिज्झंति बुज्झंति मुच्चंति परिनिव्वायंति सव्वदुक्खाणं अंतं करेंति (चू०)।
६. दंसिए निदंसिए (बृ०)।

तीसइमं अज्झयणं :
तवमग्गगई

त्रिंशम अध्ययन :
तपो-मार्ग-गति

आमुख

तपस्या मोक्ष का मार्ग है। उससे तपस्वी की मोक्ष की ओर गति होती है—यह इस अध्ययन का प्रतिपाद्य विषय है। इसलिए इस अध्ययन का नाम 'तवमग्गगई'—'तपो-मार्ग-गति' है।[1]

प्रत्येक संसारी जीव प्रतिक्षण कुछ-न-कुछ प्रवृत्ति अवश्य करता है। जब वह अक्रिय होता है तब वह मुक्त हो जाता है। जहाँ प्रवृत्ति है वहाँ कर्म-पुद्गलों का आकर्षण और निर्जरण होता है। प्रवृत्ति दो प्रकार की होती है—शुभ और अशुभ। शुभ प्रवृत्ति से अशुभ कर्मों का निर्जरण और शुभ-कर्म (पुण्य) का बन्ध होता है। अशुभ प्रवृत्ति से अशुभ-कर्म (पाप) का बन्ध होता है।

तपस्या कर्म-निर्जरण का मुख्य साधन है। इससे आत्मा पवित्र होती है।

भारतीय साधना-पद्धति में तपस्या का प्रमुख स्थान रहा है। जैन और वैदिक मनीषियों ने उसे साधना का अपरिहार्य अंग माना है। बौद्ध तत्त्व-द्रष्टा उससे उदासीन ही रहे हैं।

महात्मा बुद्ध अपनी साधना के प्रथम चरण में उग्र तपस्वी थे। उन्होंने कई वर्षों तक कठोर तपस्या की थी, परन्तु जब उन्हें सफलता नहीं मिली तब उन्होंने उसे अपनी साधना में स्थान नहीं दिया।

जैन-साधना के अनुसार तपस्या का अर्थ काय-क्लेश या उपवास ही नहीं है। स्वाध्याय, ध्यान, विनय आदि सब तपस्या के विभाग हैं।

काय-क्लेश और उपवास अकरणीय नहीं हैं और उनकी सबके लिए कोई समान मर्यादा भी नहीं है। अपनी रुचि और शक्ति के अनुसार जो जितना कर सके उसके लिए उतना ही विहित है।

जैन-दृष्टि से तपस्या दो प्रकार की है—बाह्य और आभ्यन्तर।

बाह्य तप के छह प्रकार हैं—

१—अनशन,

२—अवमोदरिका,

३—भिक्षा-चर्या,

४—रस-परित्याग,

५—काय-क्लेश और

६—प्रतिसंलीनता।

इनके आचरण से देहाध्यास छूट जाता है। देहासक्ति साधना का विघ्न है। इसीलिए मनीषियों ने देह के ममत्व-त्याग का उपदेश दिया है। शरीर धर्म-साधना का साधन है इसलिए उसकी नितान्त उपेक्षा भी नहीं की जा सकती। देहासक्ति विलासिता और प्रमाद को जन्म देती है। परन्तु धर्म-साधना के लिए देह की सुरक्षा करना भी नितान्त अपेक्षित है। जैन-मुनि का 'वोसट्ठचत्तदेहे'—यह विशेषण देहासक्ति के त्याग का परिचायक है।

१—उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा ५१२ :

दुविहतवोमग्गगई, वण्णिज्जइ जम्ह इत्थ अज्झयणे।
तम्हा एअज्झयणं, तवमग्गगइत्ति नायव्वं ॥

१-२—अनशन और अवमोदरिका से भूख और प्यास पर विजय पाने की ओर गति होती है।

३-४—भिक्षा-चर्या और रस-परित्याग से आहार की लालसा सीमित होती है। जिह्वा की लोलुपता मिटती है और निद्रा, प्रमाद, उन्माद आदि को प्रोत्साहन नहीं मिलता।

५—काय-क्लेश से सहिष्णुता का विकास होता है। देह में उत्पन्न दुःखों को समभाव से सहने की वृत्ति बनती है।

६—प्रतिसंलीनता से आत्मा की सन्निधि में रहने का अभ्यास बढ़ता है।

आभ्यन्तर तप के छह भेद हैं—

१—प्रायश्चित्त,

२—विनय,

३—वैयावृत्त्य,

४—स्वाध्याय,

५—ध्यान और

६—व्युत्सर्ग।

१—प्रायश्चित्त से अतिचार-भीरुता और साधना के प्रति जागरूकता विकसित होती है।

२—विनय से अभिमान-मुक्ति और परस्परोपग्रह का विकास होता है।

३—वैयावृत्त्य से सेवाभाव पनपता है।

४—स्वाध्याय से विकथा त्यक्त हो जाती है।

५—ध्यान से एकाग्रता, एकाग्रता से मानसिक विकास एवं मन तथा इन्द्रियों पर नियंत्रण पाने की क्षमता बढ़ती है और अन्त में उनका पूर्ण निरोध हो जाता है।

६—व्युत्सर्ग से शरीर, उपकरण आदि पर होने वाले ममत्व का विसर्जन होता है।

अथवा तप दो प्रकार का है सकाम और अकाम। एकमात्र मोक्ष-साधना की दृष्टि से किया जाने वाला तप सकाम होता है। और इसके अतिरिक्त अन्यान्य उपलब्धियों के लिए किया जाने वाला अकाम। जैन साधना-पद्धति में सकाम तप की उपासना है और उसे ही पूर्ण पवित्र माना गया है।

तप के तीन प्रकार भी किए गए हैं—कायिक, वाचिक और मानसिक। शौच, आर्जव, ब्रह्मचर्य आदि का पालन करना कायिक तप है। प्रिय, हितकर, सत्य और अनुद्विग्न वचन बोलना, स्वाध्याय में रत रहना वाचिक तप है। आत्म-निग्रह, मौन-भाव, सौम्यता आदि मानसिक तप है।

शिष्य ने पूछा—"भन्ते! तप से जीव क्या प्राप्त करता है?"

भगवान् ने कहा—"तप से वह पूर्व-संचित कर्मों का क्षय कर विशुद्धि को प्राप्त होता है। इस विशुद्धि से वह मन, वचन और शरीर की प्रवृत्ति के पूर्ण निरोध को प्राप्त होता है। अक्रियावान् होकर वह सिद्ध होता है, बुद्ध होता है, मुक्त होता है, परिनिर्वाण होता है और दुःखों का अन्त करता है।"[1]

भगवान् ने कहा—"इहलोक के निमित्त तप मत करो। परलोक के लिए तप मत करो। श्लाघा-प्रशंसा के लिए तप मत करो। केवल निर्जरा के लिए—आत्म-विशुद्धि के लिए तप करो।[2]

तपस्या के अवान्तर भेदों का निरूपण आगमों तथा व्याख्या-ग्रन्थों में प्रचुरता से हुआ है।

१—उत्तराध्ययन, २९।सू०२७,२८।

२—दशवैकालिक, ९।४। सू० ६।

तीसइमं अज्झयणं : त्रिंश अध्ययन

तवमग्गगई : तपो-मार्ग-गति

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
१—जहा उ पावगं कम्मं रागदोससमज्जियं । खवेइ तवसा भिक्खू तमेगग्गमणो सुण ॥	यथा तु पापकं कर्म राग-दोष-सर्माजितम् । क्षपयति तपसा भिक्षुः तमेकाग्र-मनाः शृणु ॥	१—राग-द्वेष से अर्जित पाप-कर्म को भिक्षु तपस्या से जिस प्रकार क्षीण करता है, उसे एकाग्र-मन होकर सुन ।
२—पाणवहमुसावाया[1] अदत्तमेहुणपरिग्गहा विरओ । राईभोयणविरओ जीवो भवइ अणासवो ॥	प्राणवध-मृषावादा- ऽदत्त-मैथुन-परिग्रहेभ्यो विरतः । रात्रिभोजन-विरतो जीवो भवति अनाश्रवः ॥	२—प्राण-वध, मृषावाद, अदत्त-ग्रहण, मैथुन, परिग्रह और रात्रि-भोजन से विरत जीव अनाश्रव होता है ।
३—पंचसमिओ तिगुत्तो अकसाओ जिइन्दिओ । अगारवो य निस्सल्लो जीवो होइ अणासवो ॥	पंच-समितस्त्रि-गुप्तः अकषायो जितेन्द्रियः । अगौरवश्च निःशल्यः जीवो भवत्यनाश्रवः ॥	३—पाँच समितियों से समित, तीन गुप्तियों से गुप्त, अकषाय, जितेन्द्रिय, अगौरव (गर्व रहित) और निःशल्य- जीव अनाश्रव होता है ।
४—एएसिं तु विवच्चासे[2] रागद्दोससमज्जियं । 'जहा खवयइ भिक्खू'[3] 'तं मे एगमणो'[4] सुण ॥	एतेषां तु विव्यत्यासे राग-दोष-सर्माजितम् । यथा क्षपयति भिक्षुः तन्मे एक-मनाः शृणु ॥	४—इनसे विपरीत आचरण में राग-द्वेष से जो कर्म उपार्जित होता है, उसे भिक्षु जिस प्रकार क्षीण करता है, उसे एकाग्र-मन होकर सुन ।
५—जहा महातलायस्स सन्निरुद्धे जलागमे । उस्सिचणाए तवणाए कमेणं सोसणा भवे ॥	यथा महातडागस्य सन्निरुद्धे जलागमे । उत्सेचनेन तपनेन क्रमेण शोषणं भवेत् ॥	५—जिस प्रकार कोई बड़ा तालाब जल आने के मार्ग का निरोध करने से, जल को उलीचने से, सूर्य के ताप से क्रमशः सूख जाता है—

१. पाणिवह मुसावाए (उ, ऋ०) ।
२. विवज्जासे (बृ०) ।
३. खवेइ अं जहा कम्मं (उ, ऋ०) ; खवेइ तं जहा भिक्खू (बृ०) ।
४. तं मे एगमणा (स) ; तमेगग्गमणो (वृ०) ।

६—'एवं तु'[1] संजयस्सावि
पावकम्मनिरासवे ।
भवकोडीसंचियं कम्मं
तवसा निज्जरिज्जइ ॥

एवं तु संयतस्यापि
पापकर्म-निराश्रवे ।
भव-कोटी-सञ्चितं कर्म
तपसा निर्जीर्यते ॥

६—उसी प्रकार संयमी पुरुष के पाप-कर्म आने के मार्ग का निरोध होने से करोड़ों भवों के संचित कर्म तपस्या के द्वारा निर्जीर्ण हो जाते हैं ।

७—सो तवो दुविहो वुत्तो
बाहिरब्भन्तरो तहा ।
बाहिरो छव्विहो वुत्तो
एवमब्भन्तरो तवो ॥

तत्तपो द्विविधमुक्तं
बाह्यमाभ्यन्तरं तथा ।
बाह्यं षड्विधमुक्तं
एवमाभ्यन्तरं तपः ॥

७—वह तप दो प्रकार का कहा है—(१) बाह्य और (२) आभ्यन्तर ।

बाह्य तप छह प्रकार का है, उसी प्रकार आभ्यन्तर तप भी छह प्रकार का है ।

८—अणसणमूणोयरिया
भिक्खायरिया य रसपरिच्चाओ ।
कायकिलेसो संलीणया य
बज्झो तवो होइ ॥

अनशनमूनोदरिका
भिक्षा-चर्या च रस-परित्यागः ।
काय-क्लेशः संलीनता
च बाह्यं तपो भवति ॥

८—(१) अनशन, (२) ऊनोदरिका, (३) भिक्षा-चर्या, (४) रस-परित्याग, (५) काय-क्लेश और (६) संलीनता—यह बाह्य तप है ।

९—इत्तिरिया मरणकाले[2]
'दुविहा अणसणा'[3] भवे ।
इत्तिरिया सावकंखा
निरवकंखा[4] बिइज्जिया ॥

इत्वरकं मरण-कालं
अनशनं द्विविधं भवेत् ।
इत्वरकं सावकाङ्क्षं
निरवकाङ्क्षं द्वितीयम् ॥

९—अनशन दो प्रकार का होता है—(१) इत्वरिक, (२) मरण-काल । इत्वरिक सावकांक्ष (अनशन के पश्चात् भोजन की इच्छा से युक्त) और दूसरा निरवकांक्ष (भोजन की इच्छा से मुक्त) होता है ।

१०—जो सो इत्तरियतवो
सो समासेण छव्विहो ।
सेढितवो पयरतवो
घणो य 'तह होइ वग्गो य'[5] ॥

यत्तदित्वरकं तपः
तत्समासेन षड्विधम् ।
श्रेणि-तपः प्रतर-तपः
घनश्च तथा भवति वर्गश्च ॥

१०—जो इत्वरिक तप है, वह संक्षेप में छह प्रकार का है—(१) श्रेणि-तप, (२) प्रतर-तप, (३) घन तप, (४) वर्ग-तप,

११—तत्तो य वग्गवग्गो उ
पंचमो छट्ठओ पइण्णतवो ।
मणइच्छियचित्तत्थो
नायव्वो होइ इत्तरिओ ॥

ततश्च वर्गवर्गस्तु
पंचमं षष्ठकं प्रकीर्णतपः ।
मनईप्सितचित्रार्थं
ज्ञातव्यं भवति इत्वरकम् ॥

११—(५) वर्ग-वर्ग-तप, (६) प्रकीर्ण-तप ।

इत्वरिक तप नाना प्रकार के मनो-वांछित फल देने वाला होता है ।

---

१. एमेव (अ) ।
२. °काला य (उ, ऋ°) ।
३. अणसणा दुविहा (उ, ऋ°, बृ°) ।
४. निरकंखा उ (बृ°) ; निरवकंखा उ (सु°) ; निरवकंखा (बृ° पा°) ।
५. वग्गो चउत्थो उ (अ) ।

१२—जा सा अणसणा मरणे
दुविहा सा वियाहिया।
सवियारअवियारा[1]
कायचिट्ठं पई भवे॥

यत्तदनशनं मरणे
द्विविधं तद्व्याख्यातम्।
सविचारमविचारं
काय-चेष्टां प्रति भवेत्॥

१२—मरण-काल अनशन के काय-चेष्टा के आधार पर सविचार और अविचार—ये दो भेद होते हैं।

१३—अहवा 'सपरिकम्मा
अपरिकम्मा'[2] य आहिया।
नीहारिमणीहारी
आहारच्छेओ य दोसु वि॥

अथवा सपरिकर्म
अपरिकर्म चाख्यातम्।
निर्हारि अनिर्हारि
आहारच्छेदश्च द्वयोरपि॥

१३—अथवा इसके दो भेद ये होते हैं—(१) सपरिकर्म और (२) अपरिकर्म।

१४—ओमोयरियं[3] पंचहा
समासेण वियाहियं।
दव्वओ खेत्तकालेणं[4]
भावेणं[5] पज्जवेहि य॥

अवमौदर्यं पंचधा
समासेन व्याख्यातम्।
द्रव्यतः क्षेत्र-कालेन
भावेन पर्यवैश्च॥

१४—अविचार अनशन के (१) निर्हारी और (२) अनिर्हारी—ये दो भेद होते हैं। आहार का त्याग दोनों (सविचार और अविचार तथा सपरिकर्म और अपरिकर्म) में होता है।

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और पर्यायों की दृष्टि से अवमौदर्य (ऊनोदरिका) संक्षेप में पाँच प्रकार का है।

१५—जो जस्स उ आहारो
तत्तो ओमं[6] तु जो करे।
जहन्नेणेगसित्थाई
एवं दव्वेण ऊ भवे॥

यो यस्य त्वाहारः
ततोऽवमं तु यः कुर्यात्।
जघन्येनैकसिक्थादि
एवं द्रव्येण तु भवेत्॥

१५—जिसका जितना आहार है उससे कम खाता है, कम से कम एक सिक्थ (धान्य कण) खाता है और उत्कृष्टतः एक कवल कम खाता है, वह द्रव्य से अवमौदर्य तप होता है।

१६—गामे नगरे तह रायहाणि-
निगमे य आगरे पल्ली।
खेडे कब्बडदोणमुह-
पट्टणमडम्बसंबाहे॥

ग्रामे नगरे तथा राजधान्यां
निगमे चाऽऽकरे पल्ल्याम्।
खेटे कर्वट-द्रोणमुख-
पत्तन-मडंब-सम्बाधे॥

१६—ग्राम, नगर, राजधानी, निगम, आकर, पल्ली, खेडा, कर्वट, द्रोणमुख, पत्तन, मण्डप, संबाध,

---

१. सवियारमवियारा (उ, ऋ०, बृ०, सु०)।
२. सपडिकम्मा अपडिकम्मा (अ)।
३. ओमोयरणं (अ, बृ०पा०, ऋ०)।
४. खित्तओ काले (ऋ०); खेत्त काले य (अ)।
५. भावओ (अ)।
६. ऊणं (अ)।

१७—आसमपए विहारे
सन्निवेसे समायघोसे य।
थलिसेणाखन्धारे
सत्थे संवट्टकोट्टे य ॥

आश्रम-पदे विहारे
सन्निवेशे समाज-घोषे च।
स्थली-सेना-स्कन्धावारे
सार्थेसंवर्त-कोट्टे च ॥

१७—आश्रम-पद, विहार, सन्निवेश, समाज, घोष, स्थली, सेना का शिविर, सार्थ, संवर्त, कोट,

१८—वाडेसु व रच्छासु व
घरेसु वा एवमित्तियं खेत्तं।
कप्पइ उ एवमाई
एवं खेत्तेण ऊ भवे ॥

वाटेषु वा रथ्यासु वा
गृहेषु वैवमेतावत् क्षेत्रम्।
कल्पते त्वेवमादि
एवं क्षेत्रेण तु भवेत् ॥

१८—पाड़ा, गलियाँ, घर—इनमें अथवा इस प्रकार के अन्य क्षेत्रों में से पूर्व निश्चय के अनुसार निर्धारित क्षेत्र में भिक्षा के लिए जा सकता है। इस प्रकार यह क्षेत्र से अवमौदर्य तप होता है।

१९—पेडा य अद्धपेडा
गोमुत्तिपयंगवीहिया चेव।
सम्बुक्कावट्टाऽऽययगन्तुं
पच्चागया छट्ठा ॥

पेटा चार्ध-पेटा
गोमूत्रिका पतंग-वीथिका चैव।
शम्बूकावर्ता
आयतं-गत्वा-प्रत्यागता षष्ठी ॥

१९—(प्रकारान्तर से) पेटा, अर्द्ध-पेटा, गोमूत्रिका, पतंग-वीथिका, शम्बूकावर्ता और आयतं-गत्वा-प्रत्यागता - यह छह प्रकार का क्षेत्र से अवमौदर्य तप होता है।

२०—दिवसस्स पोरुसीणं
चउण्हं पि उ जत्तिओ भवे कालो।
एवं चरमाणो खलु
कालोमाणं मुणेयव्वो[1] ॥

दिवसस्य पौरुषीणां
चतसृणामपि तु यावान् भवेत् कालः।
एवं चरतः खलु
कालावमानं ज्ञातव्यम् ॥

२०—दिवस के चार प्रहरों में जितना अभिग्रह-काल हो उसमें भिक्षा के लिए जाऊँगा, अन्यथा नहीं—इस प्रकार चर्या करने वाले मुनि के काल से अवमौदर्य तप होता है।

२१—अहवा तइयाए पोरिसीए
ऊणाइ घासमेसन्तो।
चउभागूणाए वा
एवं कालेण ऊ भवे ॥

अथवा तृतीयायां पौरुष्यां
ऊनायां ग्रासमेषयन्।
चतुर्भागोनायां वा
एवं कालेन तु भवेत् ॥

२१—अथवा कुछ न्यून तीसरे प्रहर (चतुर्थ भाग आदि न्यून प्रहर) में जो भिक्षा की एषणा करता है, उसे (इस प्रकार) काल से अवमौदर्य तप होता है।

२२—इत्थी वा पुरिसो वा
अलंकिओ वाऽणलंकिओ वा वि।
अन्नयरवयत्थो वा
अन्नयरेणं व वत्थेणं ॥

स्त्री वा पुरुषो वा
अलङ्कृतो वाऽनलङ्कृतो वापि।
अन्यतर-वयस्थो वा
अन्यतरेण वा वस्त्रेण ॥

२२—स्त्री अथवा पुरुष, अलंकृत अथवा अनलंकृत, अमुक वय वाले, अमुक वस्त्र वाले—

---

१. मुणेयव्वं (ड, आ०)।

२३—अन्नेण विसेसेणं
वण्णेणं भावमणुमुयन्ते उ।
एवं चरमाणो खलु
भावोमाणं मुणेयव्वो[1] ॥

अन्येन विशेषेण
वर्णेन भावमनुन्मुंचन् तु।
एवं चरतः खलु
भावावमानं ज्ञातव्यम् ॥

२३—अमुक विशेष प्रकार की दशा वर्ण या भाव से युक्त दाता से भिक्षा ग्रहण करूँगा, अन्यथा नहीं—इस प्रकार चर्या करने वाले मुनि के भाव से अवमौदर्य तप होता है।

२४—दव्वे खेत्ते काले
भावम्मि य आहिया उ जे भावा।
एएहि ओमचरओ
पज्जवचरओ भवे भिक्खू ॥

द्रव्ये क्षेत्रे काले
भावे चाख्यातास्तु ये भावाः।
एतैरवमचरकः
पर्यवचरको भवेद् भिक्षुः ॥

२४—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव में जो पर्याय (भाव) कहे गए हैं, उन सबके द्वारा अवमौदर्य करने वाला भिक्षु पर्यवचरक होता है।

२५—अट्ठविहगोयरग्गं तु
तहा सत्तेव एसणा।
अभिग्गहा य जे अन्ने
भिक्खायरियमाहिया ॥

अष्टविधाग्रगोचरस्तु
तथा सप्तैवैषणा।
अभिग्रहाश्च ये अन्ये
भिक्षा-चर्या आख्याता ॥

२५—आठ प्रकार के गोचराग्र तथा सात प्रकार की एषणाएँ और जो अन्य अभिग्रह हैं, उन्हें भिक्षा-चर्या कहा जाता है।

२६—खीरदहिसप्पिमाई
पणीयं पाणभोयणं।
परिवज्जणं रसाणं तु
भणियं रसविवज्जणं ॥

क्षीर-दधि-सर्पिरादि
प्रणीतं पान-भोजनं।
परिवर्जनं रसानां तु
भणितं रस-विवर्जनम् ॥

२६—दूध, दही, घृत आदि तथा प्रणीत पान-भोजन और रसों के वर्जन को रस-विवर्जन तप कहा जाता है।

२७—ठाणा वीरासणाईया
जीवस्स उ सुहावहा।
उग्गा जहा धरिज्जन्ति
कायकिलेसं तमाहियं ॥

स्थानानि वीरासनादिकानि
जीवस्य तु सुखावहानि।
उग्राणि यथा धार्यन्ते
काय-क्लेशः स आख्यातः ॥

२७—आत्मा के लिए सुखकर वीरासन आदि उत्कट आसनों का जो अभ्यास किया जाता है, उसे कायक्लेश कहा जाता है।

२८—एगन्तमणावाए
इत्थीपसुविवज्जिए।
सयणासणसेवणया
विवित्तसयणासणं ॥

एकान्तेऽनापाते
स्त्री-पशु-विवर्जिते।
शयनासन-सेवनं
विविक्त-शयनासनम् ॥

२८—एकान्त, अनापात (जहाँ कोई आता-जाता न हो) और स्त्री-पशु आदि से रहित शयन और आसन का सेवन करना विविक्त-शयनासन (संलीनता) तप है।

---

१. मुणेयव्वं (उ, ऋ०)।

२९—एसो बाहिरगतवो
समासेण वियाहिओ।
अब्भिन्तरं 'तवं एत्तो'[1]
वुच्छामि अणुपुव्वसो॥

एतद्बाह्यकं तपः
समासेन व्याख्यातम्।
आभ्यन्तरं तप इतो
वक्ष्याम्यनुपूर्वशः॥

२९—यह बाह्य तप संक्षेप में कहा गया है। अब मैं अनुक्रम से आभ्यन्तर तप को कहूँगा।

३०—पायच्छित्तं विणओ
वेयावच्चं तहेव सज्झाओ।
'झाणं च विउस्सग्गो'[2]
'एसो अब्भिन्तरो तवो'[3]॥

प्रायश्चित्तं विनयः
वैयावृत्यं तथैव स्वाध्यायः।
ध्यानं च व्युत्सर्गः
एतदाभ्यन्तरं तपः॥

३०—प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान और व्युत्सर्ग—यह आभ्यन्तर तप है।

३१—आलोयणारिहाईयं
पायच्छित्तं तु दसविहं।
जे भिक्खू वहई सम्मं
पायच्छित्तं तमाहियं॥

आलोचनार्हादिकं
प्रायश्चित्तं तु दशविधम्।
यद् भिक्षुर्वहति सम्यक्
प्रायश्चित्तं तदाख्यातम्॥

३१—आलोचनार्ह आदि जो दस प्रकार का प्रायश्चित्त है, जिसका भिक्षु सम्यक प्रकार से पालन करता है, उसे प्रायश्चित्त कहा जाता है।

३२—अब्भुट्ठाणं अंजलिकरणं
तहेवासणदायणं।
गुरुभत्तिभावसुस्सूसा
विणओ एस वियाहिओ॥

अभ्युत्थानमञ्जलि-करणं
तथैव आसन-दानम्।
गुरु-भक्तिः भाव-शुश्रूषा
विनय एष व्याख्यातः॥

३२—अभ्युत्थान (खड़े होना), हाथ जोड़ना, आसन देना, गुरुजनों की भक्ति करना, और भावपूर्वक शुश्रूषा करना विनय कहलाता है।

३३—आयरियमाइयम्मि[4] य
वेयावच्चम्मि दसविहे।
आसेवणं जहाथामं
वेयावच्चं तमाहियं॥

आचार्यादिके च
वैयावृत्त्ये दशविधे।
आसेवनं यथास्थाम
वैयावृत्त्यं तदाख्यातम्॥

३३—आचार्य आदि सम्बन्धी दस प्रकार के वैयावृत्य का यथाशक्ति आसेवन करने को वैयावृत्य कहा जाता है।

३४—वायणा पुच्छणा चेव
तहेव परियट्टणा।
अणुप्पेहा धम्मकहा
सज्झाओ पंचहा भवे॥

वाचना प्रच्छना चैव
तथैव परिवर्तना।
अनुप्रेक्षा धर्म-कथा
स्वाध्यायः पञ्चधा भवेत्॥

३४—स्वाध्याय पाँच प्रकार का होता है—
(१) वाचना (अध्यापन)
(२) पृच्छना
(३) परिवर्तना (पुनरावृत्ति)
(४) अनुप्रेक्षा (अर्थ-चिन्तन) और (५) धर्म-कथा।

१. तवो इत्तो (उ, ऋ०)।
२. झाणं उस्सग्गो वि य (उ, ऋ०, स)।
३. अब्भिन्तरओ तवो होइ (उ, ऋ०, स)।
४. आयरिमाईए (उ, ऋ०)।

३५—अट्टरुद्दाणि वज्जित्ता
झाएज्जा सुसमाहिए ।
धम्मसुक्काइं झाणाइं
झाणं तं तु बुहा वए ॥

आर्त्त-रौद्रे वर्जयित्वा
ध्यायेत् सुसमाहितः ।
धर्म-शुक्ले ध्याने
ध्यानं तत्तु बुधा वदन्ति ॥

३५—सुसमाहित मुनि आर्त्त और रौद्र ध्यान को छोड़ कर धर्म और शुक्ल ध्यान का अभ्यास करे । बुध-जन उसे ध्यान कहते हैं ।

३६—सयणासणठाणे वा
जे उ भिक्खू न वावरे ।
कायस्स विउस्सग्गो
छट्ठो सो परिकित्तिओ ॥

शयनासन-स्थाने वा
यस्तु भिक्षुर्न व्याप्रियते ।
कायस्य व्युत्सर्गः
षष्ठः स परिकीर्तितः ॥

३६—सोने, बैठने या खड़े रहने के समय जो भिक्षु व्यापृत नहीं होता (काया को नहीं हिलाता-डुलाता) उसके काया की चेष्टा का जो परित्याग होता है, उसे व्युत्सर्ग कहा जाता है । वह आभ्यन्तर तप का छठा प्रकार है ।

३७—एयं तवं तु दुविहं
जे सम्मं आयरे मुणी ।
'से खिप्पं सव्वसंसारा
विप्पमुच्चइ पण्डिए'[1] ॥
—त्ति बेमि ।

एवं तपस्तु द्विविधं
यत्सम्यगाचरेन्मुनिः ।
स क्षिप्रं सर्व-संसारात्
विप्रमुच्यते पण्डितः ॥
—इति ब्रवीमि ।

३७—इस प्रकार जो पण्डित मुनि दोनों प्रकार के तपों का सम्यक् रूप से आचरण करता है, वह शीघ्र ही समस्त संसार से मुक्त हो जाता है ।

—ऐसा मैं कहता हूँ ।

---

१. सो खवेत्तुरयं अरओ
नीरयं तु गइं गए ॥ (वृ० पा०)।

इस अध्ययन के आदि के दो श्लोकों तथा अन्त के एक श्लोक को छोड़ कर शेष १८ श्लोकों में "जे भिक्खू चयइ निच्चं, से न अच्छइ मण्डले"—ये दो चरण समान हैं। इनके अध्ययन से भिक्षु के स्वरूप का सहज ज्ञान हो जाता है। साथ-साथ संसार-मुक्ति के साधनों का भी ज्ञान होता है।

इस अध्ययन में एक से तेईस तक की संख्या में अनेक विषयों का ग्रहण हुआ है। उनमें से कुछ शब्दों का विस्तार अन्य अध्ययनों में प्राप्त होता है। जैसे—कषाय का २९।६७-७० में, ध्यान का ३०।३५ में, व्रत का २१।१२ में, इन्द्रिय-अर्थ का ३२।२३,३६,४९,६२,७५ में, समिति का २४।२ में, लेश्या का ३४।३ में, छह जीवनिकाय का ३६।६९,१०७ में, आहार के छह कारण का २६।३२-३४ में और ब्रह्मचर्य गुप्ति का १६ में।

इसे पन्द्रहवें अध्ययन 'सभिक्खु' का परिशेष भी माना जा सकता है। समवायांग (३३) तथा आवश्यक (४) में भी इस अध्ययन में वर्णित विषयों का उल्लेख हुआ है।

सातवें श्लोक से २१ वें श्लोक तक 'यतते' का प्रयोग हुआ है। इसका सामान्य अर्थ 'यत्न करता है' होता है। प्रसंगानुसार यत्न का अर्थ है—पालनीय का पालन, परिहरणीय का परिहार, ज्ञेय का ज्ञान और उपदेष्टव्य का उपदेश।

एगतीसइमं अज्झयणं :
चरणविही

एकत्रिंश अध्ययन :
चरण-विधि

एगतीसइमं अज्झयणं : एकत्रिंश अध्ययन

चरणविही : चरण-विधिः

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
१—चरणविहिं पवक्खामि जीवस्स उ सुहावहं । जं चरित्ता बहू जीवा तिण्णा संसारसागरं ॥	चरण-विधिं प्रवक्ष्यामि जीवस्य तु सुखावहम् । यं चरित्वा बहवो जीवाः तीर्णाः संसार-सागरम् ॥	१—अब मैं जीव को सुख देने वाली उस चरण-विधि का कथन करूँगा जिसका आचरण कर बहुत से जीव संसार-सागर को तर गए ।
२—एगओ विरइं कुज्जा एगओ य पवत्तणं । असंजमे नियत्तिं च संजमे य पवत्तणं ॥	एकतो विरतिं कुर्यात् एकतश्च प्रवर्तनम् । असंयमान्निवृत्तिं च संयमे च प्रवर्तनम् ॥	२—भिक्षु एक स्थान से निवृत्ति करे और एक स्थान में प्रवृत्ति करे । असंयम से निवृत्ति करे और संयम में प्रवृत्ति करे ।
३—रागद्दोसे य दो पावे पावकम्मपवत्तणे । जे भिक्खू रुम्भई निच्चं से न अच्छइ[1] मण्डले ॥	राग-दोषौ च द्वौ पापौ पाप-कर्म-प्रवर्तकौ । यो भिक्षुः रुणद्धि नित्यं स न आस्ते मण्डले ॥	३—राग और द्वेष—ये दो पाप पाप-कर्म के प्रवर्तक हैं । जो भिक्षु इनका सदा निरोध करता है, वह संसार में नहीं रहता ।
४—दण्डाणं गारवाणं च सल्लाणं च तियं तियं । जे भिक्खू चयई निच्चं से न अच्छइ[2] मण्डले ॥	दण्डानां गौरवाणां च शल्यानां च त्रिकं त्रिकम् । यो भिक्षुस्त्यजति नित्यं स न आस्ते मण्डले ॥	४—जो भिक्षु तीन-तीन दण्डों, गौरवों और शल्यों का सदा त्याग करता है, वह संसार में नहीं रहता ।
५—दिव्वे य जे[3] उवसग्गे तहा तेरिच्छमाणुसे । जे भिक्खू सहई निच्चं से न अच्छइ[4] मण्डले ॥	दिव्यांश्च यानुपसर्गान् तथा तैरश्चांश्चमानुषान् । यो भिक्षुः सहते नित्यं स न आस्ते मण्डले ॥	५—जो भिक्षु देव, तिर्यञ्च और मनुष्य सम्बन्धी उपसर्गों को सदा सहता है, वह संसार में नहीं रहता ।

१, २. अच्छइ (अ, बृ०पा०) ।
३. × (ब, बृ०) ।
४. अच्छई (अ, बृ०पा०) ।

आमुख

इस अध्ययन में मुनि की चरण-विधि का निरूपण हुआ है, इसलिए इसका नाम 'चरणविही' — 'चरण-विधि' है। चरण का प्रारम्भ यतना से होता है और उसका अन्त पूर्ण निवृत्ति (अक्रिया) में होता है। निवृत्ति के इस उत्कर्ष को प्राप्त करने के लिए जो मध्यवर्ती साधना की जाती है, वह चरण है। मोक्ष प्राप्ति की चार साधनाओं में यह तीसरी साधना है।[1]

प्रवृत्ति और निवृत्ति—ये दोनों साधना के अंग हैं। मन, वचन और काया को गुप्ति का अर्थ है निवृत्ति। मन, वचन और काया के सम्यक् प्रयोग का अर्थ है प्रवृत्ति। चौबीसवें अध्ययन (श्लोक २६) में बतलाया गया है कि समितियों से चरण का प्रवर्तन होता है और गुप्तियों से अशुभ-अर्थों का निवर्तन होता है—

एयाओ पंच समिईओ, चरणस्स य पवत्तणे।
गुत्ती नियत्तणे वुत्ता, असुभत्थेसु सव्वसो॥

प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों सापेक्ष शब्द हैं। निवृत्ति का अर्थ पूर्ण निषेध नहीं है और प्रवृत्ति का अर्थ पूर्ण विधि नहीं है। प्रत्येक निवृत्ति में प्रवृत्ति और प्रत्येक प्रवृत्ति में निवृत्ति रहती है। इसके अनुसार निवृत्ति का अर्थ होता है—एक कार्य का निषेध और दूसरे कार्य की विधि तथा प्रवृत्ति का अर्थ होता है—एक कार्य की विधि और दूसरे कार्य का निषेध। इसी तथ्य को प्रस्तुत अध्ययन के दूसरे श्लोक में प्रतिपादित किया गया है—

एगओ विरइं कुज्जा, एगओ य पवत्तणं।
असंजमे नियत्तिं च, संजमे य पवत्तणं॥

इससे एक यह तथ्य निष्पन्न होता है कि प्रत्येक प्रवृत्ति सम्यक् नहीं होती। किन्तु निवृत्ति में से जो प्रवृत्ति फलित होती है, वही सम्यक् होती है। उसी का नाम चरण-विधि है। इसे साधना-पद्धति भी कहा जा सकता है।

भगवान् महावीर की चरण-विधि का प्रारम्भ संयम से होता है। उसका आचरण करते हुए जिन विषयों को स्वीकार या अस्वीकार करना चाहिए, उन्हीं का इस अध्ययन में सांकेतिक उल्लेख है। किन्तु कुछ विषय ऐसे भी हैं, जिनका संयम-पालन से सम्बन्ध नहीं किन्तु वे ज्ञेयमात्र हैं। जैसे—परमाधार्मिकों के पन्द्रह प्रकार (श्लोक १२) तथा देवताओं के चौबीस प्रकार (श्लोक १६)।

ग्यारह उपासक-प्रतिमाओं का भी मुनि के चरण से प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है। सम्भव है संख्या-पूर्ति की दृष्टि से इन्हें सम्मिलित किया गया हो।

छेद-सूत्रों की रचना श्रुत-केवली भद्रबाहु ने की। उनका सत्रहवें और अठारहवें श्लोक में नामोल्लेख हुआ है। इससे दो सम्भावनाओं की ओर ध्यान जाता है—

१—उत्तराध्ययन की रचना छेद-सूत्रों की रचना के पश्चात् हुई है।

२—उत्तराध्ययन की रचना एक साथ नहीं हुई है।

दूसरा विकल्प ही अधिक सम्भव है।

---

१. उत्तराध्ययन, २८।२।

६—विगहाकसायसन्नाणं
झाणाणं च दुयं तहा ।
जे भिक्खू वज्जई निच्चं
से न अच्छइ[1] मण्डले ॥

विकथा-कषाय-संज्ञानां
ध्यानयोश्च द्विकं तथा ।
यो भिक्षुर्वर्जयति नित्यं
स न आस्ते मण्डले ॥

६—जो भिक्षु विकथाओं, कषायों, संज्ञाओं तथा आर्त्त और रौद्र—इन दो ध्यानों का सदा वर्जन करता है, वह संसार में नहीं रहता ।

७—वएसु इन्दियत्थेसु
'समिईसु किरियासु य'[2] ।
जे भिक्खू जयई निच्चं
से न अच्छइ मण्डले ॥

व्रतेष्विन्द्रियार्थेषु
समितिषु क्रियासु च ।
यो भिक्षुर्यतते नित्यं
स न आस्ते मण्डले ॥

७—जो भिक्षु व्रतों और समितियों के पालन में, इन्द्रिय-विषयों और क्रियाओं के परिहार में सदा यत्न करता है, वह संसार में नहीं रहता ।

८—लेसासु छसु काएसु
छक्के आहारकारणे ।
जे भिक्खू जयई निच्चं
से न अच्छइ मण्डले ॥

लेश्यासु षट्सु कायेषु
षट्के आहार-कारणे ।
यो भिक्षुर्यतते नित्यं
स न आस्ते मण्डले ॥

८—जो भिक्षु छह लेश्याओं, छह कायों और आहार के (विधि-निषेध के) छह कारणों में सदा यत्न करता है, वह संसार में नहीं रहता ।

९—पिण्डोग्गहपडिमासु
भयट्ठाणेसु सत्तसु ।
जे भिक्खू जयई निच्चं
से न अच्छइ मण्डले ॥

पिण्डावग्रह-प्रतिमासु
भय-स्थानेषु सप्तषु ।
यो भिक्षुर्यतते नित्यं
स न आस्ते मण्डले ॥

९—जो भिक्षु, आहार-ग्रहण की सात प्रतिमाओं में और सात भय-स्थानों में सदा यत्न करता है, वह संसार में नहीं रहता ।

१०—मयेसु बम्भगुत्तीसु
भिक्खुधम्मंमि दसविहे ।
जे भिक्खू जयई निच्चं
से न अच्छइ मण्डले ॥

मदेषु ब्रह्म-गुप्तिषु
भिक्षु-धर्मे दशविधे ।
यो भिक्षुर्यतते नित्यं
स न आस्ते मण्डले ॥

१०—जो भिक्षु आठ मद-स्थानों में, ब्रह्मचर्य की नौ गुप्तियों में और दस प्रकार के भिक्षु-धर्म में सदा यत्न करता है, वह संसार में नहीं रहता ।

११—उवासगाणं पडिमासु
भिक्खूणं पडिमासु य ।
जे भिक्खू जयई निच्चं
से न अच्छइ मण्डले ॥

उपासकानां प्रतिमासु
भिक्षूणां प्रतिमासु च ।
यो भिक्षुर्यतते नित्यं
स न आस्ते मण्डले ॥

११—जो भिक्षु उपासकों की ग्यारह प्रतिमाओं तथा भिक्षुओं की बारह प्रतिमाओं में सदा यत्न करता है, वह संसार में नहीं रहता ।

---

१. गच्छइ (अ, बृ० पा०) ।
२. समीतीसु य तहेव य (बृ० पा०) ।

१२—किरियासु भूयगामेसु
परमाहम्मिएसु य।
जे भिक्खू जयई निच्चं
से न अच्छइ मण्डले ॥

क्रियासु भूत-ग्रामेषु
परमाधार्मिकेषु च।
यो भिक्षुर्यतते नित्यं
स न आस्ते मण्डले ॥

१२—जो भिक्षु तेरह क्रियाओं, चौदह जीव-समुदायों और पन्द्रह परमाधार्मिक देवों में सदा यत्न करता है, वह संसार में नहीं रहता।

१३—गाहासोलसएहिं
तहा अस्संजमम्मि य।
जे भिक्खू जयई निच्चं
से न अच्छइ मण्डले ॥

गाथा-षोडशकेषु
तथाऽसंयमे च।
यो भिक्षुर्यतते नित्यं
स न आस्ते मण्डले ॥

१३—जो भिक्षु गाथा-षोडशक (सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के सोलह अध्ययनों) और सत्रह प्रकार के असंयम में सदा यत्न करता है, वह संसार में नहीं रहता।

१४—बम्भम्मि नायज्झयणेसु
ठाणेसु यऽसमाहिए।
जे भिक्खू जयई निच्चं
से न अच्छइ मण्डले ॥

ब्रह्मणि ज्ञाताध्ययनेषु
स्थानेषु चाऽसमाधेः।
यो भिक्षुर्यतते नित्यं
स न आस्ते मण्डले ॥

१४—जो भिक्षु अठारह प्रकार के ब्रह्मचर्य, उन्नीस ज्ञात-अध्ययनों और बीस असमाधि-स्थानों में सदा यत्न करता है, वह संसार में नहीं रहता।

१५—एगवीसाए सबलेसु
बावीसाए परीसहे।
जे भिक्खू जयई निच्चं
से न अच्छइ मण्डले ॥

एकविंशतौ शबलेषु
द्वाविंशतौ परीषहेषु।
यो भिक्षुर्यतते नित्यं
स न आस्ते मण्डले ॥

१५—जो भिक्षु इक्कीस प्रकार के सबल-दोषों और बाईस परीषहों में सदा यत्न करता है, वह संसार में नहीं रहता।

१६—तेवीसइ सूयगडे
रूवाहिएसु सुरेसु[1] अ।
जे भिक्खू जयई निच्चं
से न अच्छइ मण्डले ॥

त्रयोविंशतौ सूत्रकृतेषु
रूपाधिकेषु सुरेषु च।
यो भिक्षुर्यतते नित्यं
स न आस्ते मण्डले ॥

१६—जो भिक्षु सूत्रकृतांग के तेईस अध्ययनों और चौबीस प्रकार के देवों में सदा यत्न करता है, वह संसार में नहीं रहता।

१७—पणवीसभावणाहिं[2]
उद्देसेसु दसाइणं।
जे भिक्खू जयई निच्चं
से न अच्छइ मण्डले ॥

पंचविंशति-भावनासु
उद्देशेषु दशादीनाम्।
यो भिक्षुर्यतते नित्यं
स न आस्ते मण्डले ॥

१७—जो भिक्षु पचीस भावनाओं और दशाश्रुतस्कंध, व्यवहार और बृहत्कल्प के छब्बीस उद्देशों में सदा यत्न करता है, वह संसार में नहीं रहता।

---

१. देवेसु (बृ० पा०)।
२. पणु° (अ)।

१८—अणगारगुणेहिं च
पकप्पम्मि तहेव य[1]।
जे भिक्खू जयई निच्चं
से न अच्छइ मण्डले ॥

अनगार-गुणेषु च
प्रकल्पे तथैव च।
यो भिक्षुर्यतते नित्यं
स न आस्ते मण्डले ॥

१८—जो भिक्षु साधु के सत्ताईस गुणों और अठाईस आचार-प्रकल्पों में सदा यत्न करता है, वह संसार में नहीं रहता।

१९—पावसुयपसंगेसु
मोहट्ठाणेसु चेव य।
जे भिक्खू जयई निच्चं
से न अच्छइ मण्डले ॥

पाप-श्रुत-प्रसंगेषु
मोह-स्थानेषु चैव च।
यो भिक्षुर्यतते नित्यं
स न आस्ते मण्डले ॥

१९—जो भिक्षु उनतीस पाप-श्रुत प्रसंगों और तीस मोह के स्थानों में सदा यत्न करता है, वह संसार में नहीं रहता।

२०—सिद्धाइगुणजोगेसु
तेत्तीसासायणासु[2] य।
जे भिक्खू जयई निच्चं
से न अच्छइ मण्डले ॥

सिद्धादिगुण-योगेषु
त्रयस्त्रिंशदाशातनासु च।
यो भिक्षुर्यतते नित्यं
स न आस्ते मण्डले ॥

२०—जो भिक्षु सिद्धों के इकतीस आदि गुणों, बत्तीस योग-संग्रहों तथा तेतीस आशातनाओं में सदा यत्न करता है, वह संसार में नहीं रहता।

२१—इइ एएसु ठाणेसु
जे भिक्खू जयई सया।
खिप्पं से सव्वसंसारा
विप्पमुच्चइ पण्डिओ ॥
—त्ति बेमि।

इत्येतेषु स्थानेषु
यो भिक्षुर्यतते सदा।
क्षिप्रं स सर्व-संसाराद्
विप्रमुच्यते पण्डितः ॥
—इति ब्रवीमि।

२१—जो पण्डित भिक्षु इस प्रकार इन स्थानों में सदा यत्न करता है, वह शीघ्र ही समस्त संसार से मुक्त हो जाता है।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

---

१. च (उ, चू०, बृ०)।
२. ०णाणि (अ)।

बत्तीसइमं अज्झयणं :
पमायट्ठाणं

द्वात्रिंश अध्ययन :
प्रमाद-स्थान

आमुख

इस अध्ययन में प्रमाद के कारण तथा उनके निवारण के उपायों का प्रतिपादन किया गया है। इसलिए इसका नाम 'पमायट्ठाणं'—'प्रमाद-स्थान' है। प्रमाद साधना का विघ्न है। उसका निवारण कर साधक जितेन्द्रिय बनता है। प्रमाद के प्रकारों का विभिन्न क्रमों में संकलन हुआ है :

१—प्रमाद के पाँच प्रकार[1]—

मद्य, विषय, कषाय, निद्रा और विकथा।

२—प्रमाद के छह प्रकार[2]—

मद्य, निद्रा, विषय, कषाय, द्यूत और प्रतिलेखना।

३—प्रमाद के आठ प्रकार[3]—

अज्ञान, संशय, मिथ्या-ज्ञान, राग, द्वेष, स्मृति-भ्रंश, धर्म में अनादर, मन, वचन और काया का दुष्प्रणिधान।

मानसिक, वाचिक और कायिक—इन सभी दुःखों का मूल है विषयों की सतत आकांक्षा।

विषय आपात-भद्र (सेवन काल में सुखद) होते हैं किन्तु उनका परिणाम विरस होता है। शास्त्रकारों ने उन्हें 'किंपाक फल' की उपमा से उपमित किया है। (श्लो० १९, २०)

आकांक्षा के मूल हैं—राग और द्वेष। वे संसार-भ्रमण के हेतु हैं। उनकी विद्यमानता में वीतरागता नहीं आती। वीतराग-भाव के बिना जितेन्द्रियता सम्पन्न नहीं होती।

जितेन्द्रियता का पहला साधन है—आहार-विवेक। साधक को प्रणीत आहार नहीं करना चाहिए। अति-मात्रा में भोजन नहीं करना चाहिए। बार-बार नहीं खाना चाहिए। प्रणीत या अति-मात्रा मे किया हुआ आहार उद्दीपन करता है, उससे वासनाएँ उभरती हैं और मन चंचल हो जाता है।

इसी प्रकार एकांतवास, अल्पभोजन, विषयों में अननुरक्ति, दृष्टि-संयम, मन, वाणी और काया का संयम, चिन्तन की पवित्रता—ये भी जितेन्द्रिय बनने के साधन हैं।

प्रथम २१ श्लोकों में इन उपायों का विशद निरूपण हुआ है। पाँच इन्द्रियों के विषयों में आसक्त होने से क्या-क्या दोष उत्पन्न होते हैं? उनके उत्पादन, संरक्षण और व्यापरण से क्या-क्या दुःख उत्पन्न होते हैं?—इन प्रश्नों का स्पष्ट समाधान मिलता है।

१—उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा ५२० :

२—स्थानांग ६, सूत्र ५०२ :

छव्विहे पमाए पण्णते—तं जहा—मज्जपमाए, णिद्दापमाए, विसयपमाए, कसायपमाए, जूयपमाए, पडिलेहणापमाए।

३—प्रवचन सारोद्धार, द्वार २०७, गाथा ११२२, ११२३ :

पमाओ य मुणिंदेहिं, भणिओ अट्ठभेयओ।
अन्नाणं संसओ चेव, मिच्छानाणं तहेव य॥
रागो दोसो मइब्भंसो, धम्मम्मि य अणायरो।
जोगाणं दुप्पणीहाणं, अट्ठहा वज्जियव्वओ॥

जब तक व्यक्ति इन सब उपायों को जान कर अपने आचरण में नहीं उतार लेता तब तक वह दुःखों के दारुण परिणामों से नहीं छूट सकता।

विषय अपने आप में अच्छा या बुरा कुछ भी नहीं है। वह व्यक्ति के राग-द्वेष से सम्मिश्रित होकर अच्छा या बुरा बनता है। इन्द्रिय तथा मन के विषय वीतराग के लिए दुःख के हेतु नहीं हैं, राग-ग्रस्त व्यक्ति के लिए वे परम दारुण परिणाम वाले हैं। इसलिए बन्धन और मुक्ति अपनी ही प्रवृत्ति पर अवलम्बित है।

जो साधक इन्द्रियों के विषयों के प्रति विरक्त है, उसे उनकी मनोज्ञता या अमनोज्ञता नहीं सताती। उसमें समता का विकास होता है। साम्य के विकास से काम-गुणों की तृष्णा का नाश हो जाता है और साधक उत्तरोत्तर गुणस्थानों में आरोह करता हुआ लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है। (श्लो० १०६, १०७, १०८)

साधना की दृष्टि से इस अध्ययन का बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। अप्रमाद ही साधना है। साधक को प्रतिपल अप्रमत्त या जागरूक रहना चाहिए। निर्युक्तिकार ने बताया है कि भगवान् ऋषभ साधना में प्रायः अप्रमत्त रहे। उनका साधना-काल हजार वर्ष का था। उसमें प्रमाद-काल एक दिन-रात का था। भगवान् महावीर ने बारह वर्ष और तेरह पक्ष तक साधना की। उसमें प्रमाद-काल एक अन्तर्मुहूर्त का था। दोनों तीर्थङ्करों के प्रमाद-काल को निर्युक्तिकार ने 'संकलित-काल' कहा है। इसका तात्पर्य यह है कि एक दिन-रात और एक अन्तर्मुहूर्त का प्रमाद एक साथ नहीं हुआ था। किन्तु उनके साधना-काल में जो प्रमाद हुआ, उसे संकलित किया जाए तो वह एक दिन-रात और एक अन्तर्मुहूर्त का होता है।[1]

शान्त्याचार्य ने बताया है कि कुछ आचार्य अनुपपत्ति के भय से भगवान् ऋषभ और महावीर के प्रमाद को केवल निद्रा-प्रमाद मानते हैं।[2] किन्तु निर्युक्तिकार और शान्त्याचार्य का यह अभिमत नहीं है और वह संगत भी है। निर्युक्तिकार के निरूपण का उद्देश्य यह है कि जिस प्रकार भगवान् ऋषभ और महावीर अधिक से अधिक अप्रमत्त रहे हैं, उसी प्रकार सब श्रमण भी अधिक से अधिक अप्रमत्त रहें।

१—(क) उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा ५२३, ५२४ :

वाससहस्सं उग्गं, तवमाइगरस्स आयरंतस्स।
जो किर पमायकालो, अहोरत्तं तु संकलिअं॥
बारसवासे अहिए, तवं चरंतस्स वद्धमाणस्स।
जो किर पमायकालो, अंतमुहुत्तं तु संकलिअं॥

(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ६२० :

किमयमेकावस्थाभाविनः प्रमादस्य काल उतान्यथेत्याशङ्कयाह—सङ्कलितः, किमुक्तं भवति ?—अप्रमादगुणस्थानस्यान्तर्मौहूर्त्तिकत्वेनानेकशोऽपि प्रमादप्राप्तौ तदवस्थितिविषयभूतस्यान्तर्मुहूर्त्तस्यासङ्ख्येयभेदत्वात्तेषामतिसूक्ष्मतया सर्वकालसङ्कलनायामप्यहोरात्रमेवाभूत् तथा द्वादश वर्षाण्यधिकानि तपश्चरतो वर्द्धमानस्य यः किल प्रमादकालः, प्राग्वत्सोऽन्तर्मुहूर्त्तमेव सङ्कलितः, इहाप्यन्तर्मुहूर्त्तानामसङ्ख्येयभेदत्वात्प्रमादस्थितिविषयान्तर्मुहूर्त्तानां सूक्ष्मत्वं, सङ्कलनान्तर्मुहूर्त्तस्य च बृहत्तरत्वमिति भावनीयम्।

२—बृहद्वृत्ति, पत्र ६२० :

अन्ये त्वेतदनुपपत्तिभीत्या निद्राप्रमाद एवायं विवक्षित इति व्याचक्षत इति।

बत्तीसइमं अज्झयणं : द्वात्रिंश अध्ययन

पमायट्ठाणं : प्रमाद-स्थानम्

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
१—अच्चन्तकालस्स समूलगस्स सव्वस्स दुक्खस्स उ जो पमोक्खो। तं भासओ मे पडिपुण्णचित्ता सुणेह एगग्गहियं[1] हियत्थं ॥	अत्यन्त-कालस्य समूलकस्य सर्वस्य दुःखस्य तु यः प्रमोक्षः । तं भाषमाणस्य मे प्रतिपूर्ण-चित्ताः शृणुतैकाग्र्य-हितं हितार्थम् ॥	१—अनादि-कालीन सब दुःखों और उनके कारणों (कषाय आदि) के मोक्ष का जो उपाय है वह मैं कह रहा हूँ। वह ऐकाग्र्य-हित (ध्यान के लिए हितकर) है, अतः तुम प्रतिपूर्ण चित्त होकर हित (मोक्ष) के लिए सुनो ।
२—नाणस्स सव्वस्स[2] पगासणाए अन्नाणमोहस्स विवज्जणाए । रागस्स दोसस्स य संखएणं एगन्तसोक्खं समुवेइ मोक्खं ॥	ज्ञानस्य सर्वस्य प्रकाशनया अज्ञान-मोहस्य विवर्जनया । रागस्य दोषस्य च संक्षयेण एकान्त-सौख्यं समुपैति मोक्षम् ॥	२—सम्पूर्ण ज्ञान का प्रकाश, अज्ञान और मोह का नाश तथा राग और द्वेष का क्षय होने से आत्मा एकान्त सुखमय मोक्ष को प्राप्त होता है ।
३—तस्सेस मग्गो गुरुविद्धसेवा विवज्जणा बालजणस्स दूरा । 'सज्झायएगन्तनिसेवणा य'[3] सुत्तत्थसंचिन्तणया धिई य ॥	तस्यैष मार्गो गुरु-वृद्ध-सेवा विवर्जना बाल-जनस्य दूरात् । स्वाध्यायैकान्त-निषेवणा च सूत्रार्थ-संचिन्तना धृतिश्च ॥	३—गुरु और वृद्धों (स्थविर मुनियों) की सेवा करना, अज्ञानी-जनों का दूर से ही वर्जन करना, स्वाध्याय करना, एकान्तवास करना, सूत्र और अर्थ का चिन्तन करना तथा धैर्य रखना, यह मोक्ष का मार्ग है ।
४—आहारमिच्छे मियमेसणिज्जं सहायमिच्छे निउणत्थबुद्धिं[4] । निकेयमिच्छेज्ज विवेगजोग्गं समाहिकामे समणे तवस्सी ॥	आहारमिच्छेन्मितमेषणीयं सहायमिच्छेन्निपुणार्थ-बुद्धिम् । निकेतमिच्छेद् विवेक-योग्यं समाधिकामः श्रमणस्तपस्वी ॥	४—समाधि चाहने वाला तपस्वी श्रमण परिमित और एषणीय आहार की इच्छा करे। जीव आदि पदार्थ के प्रति निपुण बुद्धि वाले गीतार्थ को सहायक बनाए और विविक्त (स्त्री, पशु, नपुंसक से रहित) घर में रहे ।
५—न वा लभेज्जा निउणं सहायं गुणाहियं वा गुणओ समं वा । एक्को वि पावाइ विवज्जयन्तो[5] विहरेज्ज कामेसु असज्जमाणो ॥	न वा लभेत निपुणं सहायं गुणाधिकं वा गुणतः समं वा । एकोऽपि पापानि विवर्जयन् विहरेत् कामेष्वसजन् ॥	५—यदि अपने से अधिक गुणवान् या अपने समान निपुण सहायक न मिले तो वह पापों का वर्जन करता हुआ, विषयों में अनासक्त रह कर अकेला ही विहार करे ।

१. एगन्त° (बृ॰पा॰, चु॰)।
२. सव्वस्स (बृ॰पा॰, चु॰, आ)।
३. ° निसेवणाए (बृ॰पा॰); °निवेसणा य (बृ॰)।
४. निउणेह° (बृ॰पा॰)।
५. अणायरन्तो (बृ॰पा॰)।

६—जहा य अण्डप्पभवा बलागा
अण्डं बलागप्पभवं जहा य।
एमेव मोहाययणं खु तण्हं[1]
मोहं च तण्हाययणं वयन्ति॥

यथा चाण्ड-प्रभवा बलाका
अण्डं बलाका-प्रभवं यथा च।
एवमेव मोहायतनं खलु तृष्णां
मोहं च तृष्णायतनं वदन्ति॥

६—जैसे बलाका अण्डे से उत्पन्न होती है और अण्डा बलाका से उत्पन्न होता है, उसी प्रकार तृष्णा मोह से उत्पन्न होती है और मोह तृष्णा से उत्पन्न होता है।

७—रागो य दोसो वि य कम्मबीयं
कम्मं च मोहप्पभवं वयन्ति।
कम्मं च जाईमरणस्स मूलं
दुक्खं च जाईमरणं वयन्ति॥

रागश्च दोषोऽपि च कर्म-बीजं
कर्म च मोह-प्रभवं वदन्ति।
कर्म च जाति-मरणस्य मूलं
दुःखं च जाति-मरणं वदन्ति॥

७—राग और द्वेष कर्म के बीज हैं। कर्म मोह से उत्पन्न होता है और वह जन्म-मरण का मूल है। जन्म-मरण को दुःख का मूल कहा गया है।

८—दुक्खं हयं जस्स न होइ मोहो
मोहो हओ जस्स न होइ तण्हा।
तण्हा हया जस्स न होइ लोहो
लोहो हओ जस्स न किंचणाइं[2]॥

दुःखं हतं यस्य न भवति मोहो
मोहो हतो यस्य न भवति तृष्णा।
तृष्णा हता यस्य न भवति लोभः
लोभो हतो यस्य न किञ्चनानि॥

८—जिसके मोह नहीं है, उसने दुःख का नाश कर दिया। जिसके तृष्णा नहीं है, उसने मोह का नाश कर दिया। जिसके लोभ नहीं है, उसने तृष्णा का नाश कर दिया। जिसके पास कुछ नहीं है, उसने लोभ का नाश कर दिया।

९—रागं च दोसं च तहेव मोहं
उद्धत्तुकामेण समूलजालं।
जे जे 'उवाया पडिवज्जियव्वा'[3]
ते कित्तइस्सामि अहाणुपुव्विं॥

रागं च दोषं च तथैव मोहं
उद्धर्तुकामेन समूलजालम्।
ये ये उपायाः प्रतिपत्तव्याः
तान् कीर्तयिष्यामि यथानुपूर्वि॥

९—राग, द्वेष और मोह का समूल उन्मूलन चाहने वाले मुनि को जिन-जिन उपायों का आलम्बन लेना चाहिए उन्हें मैं क्रमशः कहूँगा।

१०—रसा पगामं न निसेवियव्वा
पायं रसा दित्तिकरा[4] नराणं।
दित्तं च कामा समभिद्दवन्ति
दुमं जहा साउफलं व पक्खी॥

रसाः प्रकामं न निषेवितव्याः
प्रायो रसा दृप्तिकरा नराणाम्।
दृप्तं च कामाः समभिद्रवन्ति
द्रुमं यथा स्वादुफलमिव पक्षिणः॥

१०—रसों का प्रकाम (अधिक मात्रा में) सेवन नहीं करना चाहिए। वे प्रायः मनुष्य की धातुओं को उद्दीप्त करते हैं। जिसकी धातुएँ उद्दीप्त होती हैं उसे काम-भोग सताते हैं, जैसे स्वादिष्ट फल वाले वृक्ष को पक्षी।

११—जहा दवग्गी पउरिन्धणे वणे
समारुओ नोवसमं उवेइ।
एविन्दियग्गी वि पगामभोइणो
न बम्भयारिस्स हियाय कस्सई॥

यथा दवाग्निः प्रचुरेन्धने वने
स-मारुतो नोपशममुपैति।
एवमिन्द्रियाग्निरपि प्रकामभोजिनो
न ब्रह्मचारिणो हिताय कस्यचित्॥

११—जैसे पवन के झोकों के साथ प्रचुर इन्धन वाले वन में लगा हुआ दावानल उपशान्त नहीं होता, उसी प्रकार प्रकाम-भोजी (ठूंस-ठूंस कर खाने वाले) की इन्द्रियाग्नि (कामाग्नि) शान्त नहीं होती। इसलिए प्रकाम-भोजन किसी भी ब्रह्मचारी के लिए हितकर नहीं होता।

---

१. तण्हा (अ)।
२. किंचणत्थि (बृ० पा०)।
३. अपाया परि० (बृ० पा०)।
४. दित्तकरा (बृ० पा०)।

१२—विवित्तसेज्जासणजन्तियाणं
ओमासणाणं[1] दमिइन्दियाणं ।
न रागसत्तू धरिसेइ चित्तं
पराइओ वाहिरिवोसहेहिं ॥

विविक्त शय्यासन-यन्त्रितानां
अवमाशनानां दमितेन्द्रियाणाम् ।
न राग-शत्रु धर्षयति चित्तं
पराजितो व्याधिरिवौषधैः ॥

१२—जो विविक्त-शय्या और आसन से नियंत्रित होते हैं, जो कम खाते हैं और जितेन्द्रिय होते हैं, उनके चित्त को राग-शत्रु वैसे ही आक्रान्त नहीं कर सकता—जैसे औषध से पराजित रोग देह को ।

१३—जहा बिरालावसहस्स मूले
न मूसगाणं वसही पसत्था ।
एमेव इत्थीनिलयस्स मज्झे
न बम्भयारिस्स खमो निवासो ॥

यथा बिडालावसथस्य मूले
न मूषकाणां वसतिः प्रशस्ता ।
एवमेव स्त्री-निलयस्य मध्ये
न ब्रह्मचारिणः क्षमो निवासः ॥

१३—जैसे बिल्ली की बस्ती के पास चूहों का रहना अच्छा नहीं होता, उसी प्रकार स्त्रियों की बस्ती के पास ब्रह्मचारी का रहना अच्छा नहीं होता ।

१४—न रूवलावण्णविलासहासं
न जंपियं इंगियपेहियं[2] वा ।
इत्थीण चित्तंसि निवेसइत्ता
दट्ठुं ववस्से समणे तवस्सी ॥

न रूप-लावण्य-विलास-हासं
न जल्पितमिंगितं वीक्षितं वा ।
स्त्रीणां चित्ते निवेश्य
द्रष्टुं व्यवस्येत् श्रमणस्तपस्वी ॥

१४—तपस्वी श्रमण स्त्रियों के रूप, लावण्य, विलास, हास्य, मधुर आलाप, इङ्गित और चितवन को चित्त में रमा कर उन्हें देखने का संकल्प न करे ।

१५—अदंसणं चेव अपत्थणं च
अचिन्तणं चेव अकित्तणं च ।
इत्थीजणस्सारियझाणजोग्गं
हियं सया बम्भवए[3] रयाणं ॥

अदर्शनं चैवाप्रार्थनं च
अचिन्तनं चैवाकीर्तनं च ।
स्त्रीजनस्यार्यध्यान-योग्यं
हितं सदा ब्रह्मव्रतेरतानाम् ॥

१५—जो सदा ब्रह्मचर्य में रत हैं, उनके लिए स्त्रियों को न देखना, न चाहना, न चिन्तन करना और न वर्णन करना हितकर है तथा धर्म-ध्यान के लिए उपयुक्त है ।

१६—कामं तु देवीहि विभूसियाहिं
न चाइया खोभइउं तिगुत्ता ।
तहा वि एगन्तहियं ति नच्चा
विवित्तवासो[4] मुणिणं[5] पसत्थो ॥

कामं तु देवीभिर्विभूषिताभिः
न शकिताः क्षोभयितुं त्रिगुप्ताः ।
तथाप्येकान्तहितमिति ज्ञात्वा
विविक्त-वासो मुनीनां प्रशस्तः ॥

१६—यह ठीक है कि तीन गुप्तियों से गुप्त मुनियों को विभूषित देवियाँ भी विचलित नहीं कर सकतीं, फिर भी भगवान् ने एकान्त हित की दृष्टि से उनके विविक्त-वास को प्रशस्त कहा है ।

---

१. ओमासणाए, ओमासणाई (बृ०, पा०) ।
२. °वीहियं (बृ०, सु०) ।
३. बंभचेरे (उ, बृ०पा०, ऋ०) ।
४. °भावो (उ, ऋ०) ।
५. मणिणो (अ) ।

१७—मोक्खाभिकंखिस्स वि माणवस्स
संसारभीरुस्स ठियस्स धम्मे ।
नेयारिसं[1] दुत्तरमत्थि लोए
जहित्थिओ बालमणोहराओ ॥

मोक्षाभिकांक्षिणोपि मानवस्य
संसार-भीरोः स्थितस्यधर्मे ।
नैतादृशं दुस्तरमस्ति लोके
यथा स्त्रियो बाल-मनोहराः ॥

१७—मोक्ष चाहने वाले संसार-भीरु एवं धर्म में स्थित मनुष्य के लिए लोक में और कोई वस्तु ऐसी दुस्तर नहीं है, जैसी दुस्तर अज्ञानियों के मन को हरने वाली स्त्रियाँ हैं ।

१८—एए य संगे समइक्कमित्ता
सुहुत्तरा चेव भवन्ति सेसा ।
जहा महासागरमुत्तरित्ता
नई भवे अवि गंगासमाणा ॥

एतांश्च सङ्गान् समतिक्रम्य
सुखोत्तराश्चैव भवन्ति शेषाः ।
यथा महासागरमुत्तीर्य
नदी भवेदपि गंगा-समाना ॥

१८—जो मनुष्य इन स्त्री-विषयक आसक्तियों का पार पा जाता है, उसके लिए शेष सारी आसक्तियाँ वैसे ही सुतर (सुख से पार पाने योग्य) हो जाती हैं जैसे महासागर का पार पाने वाले के लिए गंगा जैसी बड़ी नदी ।

१९—कामाणुगिद्धिप्पभवं खु दुक्खं
सव्वस्स लोगस्स सदेवगस्स ।
जं काइयं माणसियं च किंचि
तस्सऽन्तगं गच्छइ वीयरागो ॥

कामानुगृद्धि-प्रभवं खलु दुःखं
सर्वस्य लोकस्य सदेवकस्य ।
यत्कायिकं मानसिकं च किंचित्
तस्यान्तकं गच्छति वीतरागः ॥

१९—सब जीवों के, और क्या देवताओं के भी जो कुछ कायिक और मानसिक दुःख हैं, वह काम-भोगों की सतत अभिलाषा से उत्पन्न होता है । वीतराग उस दुःख का अन्त पा जाता है ।

२०—जहा य किंपागफला मणोरमा
रसेण वण्णेण य भुज्जमाणा ।
'ते खुड्डए जीविय'[2] पच्चमाणा
एओवमा कामगुणा विवागे ॥

यथा च किम्पाक-फलानि मनोरमाणि
रसेन वर्णेन च भुज्यमानानि ।
तानि क्षुद्रके जीविते पच्यमानानि
एतदुपमाः काम-गुणाविपाके ॥

२०—जैसे किंपाक फल खाने के समय रस और वर्ण से मनोरम होते हैं और परिपाक के समय क्षुद्र-जीवन का अन्त कर देते हैं, काम-गुण भी विपाक काल में ऐसे ही होते हैं ।

२१—जे इन्दियाणं विसया मणुन्ना
न तेसु[3] भावं निसिरे कयाइ ।
न याऽमणुन्नेसु मणं पि[4] कुज्जा
समाहिकामे समणे तवस्सी ॥

ये इन्द्रियाणां विषया मनोज्ञाः
न तेषु भावं निसृजेत् कदापि ।
न चामनोज्ञेषु मनोऽपि कुर्यात्
समाधि-कामः श्रमणस्तपस्वी ॥

२१—समाधि चाहने वाला तपस्वी श्रमण इन्द्रियों के जो मनोज्ञ विषय हैं उनकी ओर भी मन न करे—राग न करे और जो अमनोज्ञ विषय हैं उनकी ओर भी मन न करे—द्वेष न करे ।

---

१. न तारिसं (आ, इ, उ, ऋ०)।
२. ते जीवियं खुडए (अ); ते जीवियं कंदति (बृ० पा०); ते खुडए जीवियं (बृ०)।
३. तेसि (अ)।
४. तु (अ)।

२२—चक्खुस्स रूवं गहणं वयन्ति
तं रागहेउं तु मणुन्नमाहु।
तं दोसहेउं अमणुन्नमाहु
समो य जो तेसु स वीयरागो॥

चक्षुषो रूपं ग्रहणं वदन्ति
तद् राग-हेतु तु मनोज्ञमाहुः।
तद् दोष हेतु अमनोज्ञमाहुः
समश्च यस्तयोः स वीतरागः॥

२२—चक्षु का विषय रूप है। जो रूप राग का हेतु होता है उसे मनोज्ञ कहा जाता है, जो द्वेष का हेतु होता है, उसे अमनोज्ञ कहा जाता है। जो मनोज्ञ और अमनोज्ञ रूपों में समान रहता है, वह वीतराग होता है।

२३—रूवस्स चक्खुं गहणं वयन्ति
चक्खुस्स रूवं गहणं वयन्ति।
रागस्स हेउं समणुन्नमाहु[1]
दोसस्स हेउं अमणुन्नमाहु[2]॥

रूपस्य चक्षुर्ग्रहणं वदन्ति
चक्षुषो रूपं ग्रहणं वदन्ति।
रागस्य हेतु समनोज्ञमाहुः
दोषस्य हेतु अमनोज्ञमाहुः॥

२३—चक्षु रूप का ग्रहण करता है। रूप चक्षु का ग्राह्य है। जो रूप राग का हेतु होता है उसे मनोज्ञ कहा जाता है, जो द्वेष का हेतु होता है, उसे अमनोज्ञ कहा जाता है।

२४—रूवेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं[3]
अकालियं पावइ से विणासं[4]।
रागाउरे से जह वा पयंगे
आलोयलोले समुवेइ मच्चुं॥

रूपेषु यो गृद्धिमुपैति तीव्रां
अकालिकं प्राप्नोति स विनाशम्।
रागातुरः स यथा वा पतङ्गः
आलोक-लोलः समुपैति मृत्युम्॥

२४—जो मनोज्ञ रूपों में तीव्र आसक्ति करता है, वह अकाल में ही विनाश को प्राप्त होता है, जैसे प्रकाश-लोलुप पतंगा रूप में आसक्त होकर मृत्यु को प्राप्त होता है।

२५—जे यावि दोसं समुवेइ तिव्वं[5]
तंसि क्खणे से उ उवेइ दुक्खं[6]।
दुद्दन्तदोसेण सएण जन्तू
न किंचि रूवं अवरज्झई से॥

यश्चापि दोष समुपैति तीव्रं
तस्मिन्क्षणे स तूपैति दुःखम्।
दुर्दान्त-दोषेण स्वकेन जन्तुः
न किंचिद्रूपमपराध्यति तस्य॥

२५—जो मनोज्ञ रूपों में तीव्र द्वेष करता है, वह अपने दुर्दम दोष से उसी क्षण दुःख को प्राप्त होता है। रूप उसका कोई अपराध नहीं करता।

२६—एगन्तरत्ते[7] रुइरंसि रूवे
अतालिसे से कुणई पओसं।
दुक्खस्स संपीलमुवेइ बाले
न लिप्पई तेण मुणी विरागो॥

एकान्तरक्तो रुचिरे रूपे
अतादृशे स करोति प्रदोषम्।
दुःखस्य सम्पीडामुपैति बालः
न लिप्यते तेन मुनिर्विरागः॥

२६—जो मनोहर रूप में एकान्त अनुरक्त होता है और अमनोहर रूप में द्वेष करता है, वह अज्ञानी दुःखात्मक पीड़ा को प्राप्त होता है। इसलिए विरक्त मुनि उनमें लिप्त नहीं होता।

---

१. तमणुण्णमाहु (बृ० पा०)।
२. तऽमणुण्णमाहु (बृ०पा०)।
३. मिच्चं (अ)।
४. किलेसं (बृ० पा०)।
५. मिच्चं (बृ०, अ)।
६. समुवेति सव्वं (बृ० पा०)।
७. °रत्तो (अ)।

२७—रूवाणुगासाणुगए[1] य जीवे
चराचरे हिंसइ ऽणेगरूवे।
चित्तेहि ते परितावेइ बाले
पीलेइ अत्तट्ठगुरू किलिट्ठे॥

रूपानुगाशानुगतश्च जीवान्
चराचरान् हिनस्त्यनेक-रूपान्।
चित्रैस्तान्परितापयति बालः
पीडयत्यात्मार्थ-गुरुः क्लिष्टः॥

२७—मनोज्ञ रूप की अभिलाषा के पीछे चलने वाला पुरुष अनेक प्रकार के त्रस-स्थावर जीवों की हिंसा करता है। अपने प्रयोजन को प्रधान मानने वाला वह क्लेश-युक्त अज्ञानी पुरुष नाना प्रकार से उन चराचर जीवों को परितप्त और पीड़ित करता है।

२८—रूवाणुवाएण[2] परिग्गहेण
उप्पायणे रक्खणसन्निओगे[3]।
वए विओगे य कहिं सुहं से?
संभोगकाले य अतित्तिलाभे[4]॥

रूपानुपातेन परिग्रहेण
उत्पादने रक्षण-सन्नियोगे।
व्यये वियोगे च क्व सुखं तस्य?
सम्भोग-काले चातृप्ति-लाभः॥

२८—रूप में अनुराग और ममत्व का भाव होने के कारण मनुष्य उसका उत्पादन, रक्षण और व्यापार करता है। उसका व्यय और वियोग होता है। इन सब में उसे सुख कहाँ है? और क्या, उसके उपभोग-काल में भी उसे तृप्ति नहीं मिलती।

२९—रूवे अतित्ते य परिग्गहे य
सत्तोवसत्तो न उवेइ तुट्ठिं।
अतुट्ठिदोसेण दुही परस्स
लोभाविले आययई अदत्तं॥

रूपेऽतृप्तश्च परिग्रहे च
सक्तोपसक्तो नोपैति तुष्टिम्।
अतुष्टि-दोषेण दुःखी परस्य
लोभाविल आदत्तेऽदत्तम्॥

२९—जो रूप में अतृप्त होता है और उसके परिग्रहण में आसक्त-उपसक्त होता है, उसे सन्तुष्टि नहीं मिलती। वह असन्तुष्टि के दोष से दुःखी और लोभग्रस्त होकर दूसरों की रूपवान् वस्तुएँ चुरा लेता है।

३०—तण्हाभिभूयस्स अदत्तहारिणो
रूवे अतित्तस्स परिग्गहे य।
मायामुसं वड्ढइ लोभदोसा
तत्थाऽवि दुक्खा न विमुच्चई से॥

तृष्णाभिभूतस्याऽदत्तहारिणः
रूपेऽतृप्तस्य परिग्रहे च।
माया-मृषा वर्द्धते लोभ-दोषात्
तत्रापि दुःखान्न विमुच्यते सः॥

३०—वह तृष्णा से पराजित होकर चोरी करता है और रूप-परिग्रहण में अतृप्त होता है। अतृप्ति-दोष के कारण उसके माया-मृषा की वृद्धि होती है। माया-मृषा का प्रयोग करने पर भी वह दुःख से मुक्त नहीं होता।

३१—मोसस्स पच्छा य पुरत्थओ य
पओगकाले य दुही दुरन्ते।
एवं अदत्ताणि समाययन्तो
रूवे अतित्तो दुहिओ अणिस्सो॥

मृषा पश्चाच्च पुरस्ताच्च
प्रयोग-काले च दुःखी दुरन्तः।
एवमदत्तानि समाददानः
रूपेऽतृप्तो दुःखितोऽनिश्रः॥

३१—असत्य बोलने के पश्चात्, पहले और बोलते समय वह दुःखी होता है। उसका पर्यवसान भी दुःखमय होता है। इस प्रकार वह रूप में अतृप्त होकर चोरी करता हुआ, दुःखी और आश्रय-हीन हो जाता है।

---

१. °वायाणुगए (वृ० पा०)।
२. °वाए य (अ); °रागेण (वृ० पा०); °वाए ण (इ०)।
३. °सन्निओगे (उ)।
४. अतित्त° (वृ०); अतित्ति° (वृ० पा०)।

३२—रूवाणुरत्तस्स नरस्स एवं
कत्तो सुहं होज्ज कयाइ किंचि?।
तत्थोवभोगे वि किलेसदुक्खं
निव्वत्तई जस्स कएण दुक्खं ॥

रूपानुरक्तस्य नरस्यैवं
कुतः सुखं भवेत्कदापि किंचित् ?।
तत्रोपभोगेऽपि क्लेश-दुःखं
निर्वर्तयति यस्य कृते दुःखम् ॥

३२—रूप में अनुरक्त पुरुष को उक्त कथनानुसार कदाचित् किंचित् सुख भी कहाँ से होगा ? जिस उपभोग के लिए वह दुःख प्राप्त करता है, उस उपभोग में भी क्लेश-दुःख (अतृप्ति का दुःख) बना रहता है।

३३—एमेव रूवम्मि गओ पओसं
उवेइ दुक्खोहपरंपराओ।
पदुट्ठचित्तो य[1] चिणाइ कम्मं
जं से पुणो होइ दुहं विवागे ॥

एवमेव रूपे गतः प्रदोषं
उपैति दुःखौघ-परम्पराः।
प्रदुष्ट-चित्तश्च चिनोति कर्म
यत्तस्य पुनर्भवति दुःखं विपाके ॥

३३—इसी प्रकार जो रूप में द्वेष रखता है, वह उत्तरोत्तर अनेक दुःखों को प्राप्त होता है। प्रद्वेष-युक्त चित्त वाला व्यक्ति कर्म का बंध करता है, वही परिणाम-काल में उसके लिए दुःख का हेतु बनता है।

३४—रूवे विरत्तो मणुओ विसोगो
एएण दुक्खोहपरंपरेण।
न लिप्पए भवमज्झे वि सन्तो
जलेण वा पोक्खरिणीपलासं ॥

रूपे विरक्तो मनुजो विशोकः
एतेन दुःखौघ-परम्परेण।
न लिप्यते भवमध्येऽपि सन्
जलेनेव पुष्करिणी-पलाशम् ॥

३४—रूप से विरक्त मनुष्य शोक-मुक्त बन जाता है। जैसे कमलिनी का पत्र जल से लिप्त नहीं होता, वैसे ही वह संसार में रह कर अनेक दुःखों की परम्परा से लिप्त नहीं होता।

३५—सोयस्स सद्दं गहणं वयन्ति
तं रागहेउं तु मणुन्नमाहु।
तं दोसहेउं अमणुन्नमाहु
समो य जो तेसु स वीयरागो ॥

श्रोत्रस्य शब्दं ग्रहणं वदन्ति
तं राग-हेतुं तु मनोज्ञमाहुः।
तं दोष-हेतुममनोज्ञमाहुः
समश्च यस्तेषु स वीतरागः ॥

३५—श्रोत्र का विषय शब्द है। जो शब्द राग का हेतु होता है, उसे मनोज्ञ कहा जाता है। जो द्वेष का हेतु होता है, उसे अमनोज्ञ कहा जाता है। जो मनोज्ञ और अमनोज्ञ शब्दों में समान रहता है, वह वीतराग होता है।

३६—सद्दस्स सोयं गहणं वयन्ति
सोयस्स सद्दं गहणं वयन्ति।
रागस्स हेउं समणुन्नमाहु
दोसस्स हेउं अमणुन्नमाहु ॥

शब्दस्य श्रोत्रं ग्रहणं वदन्ति
श्रोत्रस्य शब्दं ग्रहणं वदन्ति।
रागस्य हेतुं समनोज्ञमाहुः
दोषस्य हेतुममनोज्ञमाहुः ॥

३६—श्रोत्र शब्द का ग्रहण करता है। शब्द श्रोत्र का ग्राह्य है। जो शब्द राग का हेतु होता है, उसे मनोज्ञ कहा जाता है। जो द्वेष का हेतु होता है, उसे अमनोज्ञ कहा जाता है।

३७—सद्देसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं[2]
अकालियं पावइ से विणासं।
रागाउरे हरिणमिगे व[3] मुद्धे[4]
सद्दे अतित्ते समुवेइ मच्चुं ॥

शब्देषु यो गृद्धिमुपैति तीव्रां
अकालिकं प्राप्नोति स विनाशम्।
रागातुरः हरिण-मृग इव मुग्धः
शब्दे अतृप्तः समुपैति मृत्युम् ॥

३७—जो मनोज्ञ शब्दों में तीव्र आसक्ति करता है, वह अकाल में ही विनाश को प्राप्त होता है। जैसे—शब्द में अतृप्त बना हुआ रागातुर मुग्ध हरिण नामक पशु मृत्यु को प्राप्त होता है।

१. उ (अ)।
२. निच्चं (अ)।
३. व्व (उ, ऋ०)।
४. बुद्धे (अ)।

३८—जे यावि दोसं समुवेइ तिव्वं[1]
तंसि क्खणे से उ उवेइ दुक्खं।
दुद्दन्तदोसेण सएण जन्तू
न किंचि सद्दं अवरज्झई से ॥

यश्चापि दोषं समुपैति तीव्रं
तस्मिन् क्षणे स तूपैति दुःखम्।
दुर्दान्त-दोषेण स्वकेन जन्तुः
न किंचिच्छब्दोऽपराध्यति तस्य ॥

३८—जो मनोज्ञ शब्द में तीव्र द्वेष करता है, वह अपने दुर्दम दोष से उसी क्षण दुःख को प्राप्त होता है, शब्द उसका कोई अपराध नहीं करता।

३९—एगन्तरत्ते रुइरंसि सद्दे
अतालिसे से कुणई पओसं।
दुक्खस्स संपीलमुवेइ बाले
न लिप्पई तेण मुणी विरागो ॥

एकान्तरक्तो रुचिरे शब्दे
अतादृशे स कुरुते प्रदोषम्।
दुःखस्य सम्पीडामुपैति बालः
न लिप्यते तेन मुनिर्विरागः ॥

३९—जो मनोहर शब्द में एकान्त अनुरक्त होता है और अमनोहर शब्द में द्वेष करता है, वह अज्ञानी दुःखात्मक पीड़ा को प्राप्त होता है। इसलिए विरक्त मुनि उनमें लिप्त नहीं होता।

४०—सद्दाणुगासाणुगए य जीवे
चराचरे हिंसइ ऽणेगरूवे।
चित्तेहि ते परियावेइ बाले
पीलेइ अत्तट्ठगुरू किलिट्ठे ॥

शब्दानुगाशानुगतश्च जीवः
चराचरान् हिनस्त्यनेक-रूपान्।
चित्रैस्तान् परितापयति बालः
पीडयत्यात्मार्थ-गुरुः क्लिष्टः ॥

४०—मनोहर शब्द की अभिलाषा के पीछे चलने वाला पुरुष अनेक प्रकार के त्रस-स्थावर जीवों की हिंसा करता है। अपने प्रयोजन को प्रधान मानने वाला व क्लेश-युक्त अज्ञानी पुरुष नाना प्रकार से उन चराचर जीवों को परितप्त और पीड़ित करता है।

४१—सद्दाणुवाएण[2] परिग्गहेण
उप्पायणे रक्खणसन्निओगे।
वए विओगे य कहिं सुहं से?
संभोगकाले य अतित्तिलाभे[3] ॥

शब्दानुपातेन परिग्रहेण
उत्पादने रक्षण-सन्नियोगे।
व्यये वियोगे च क्व सुखं तस्य?
सम्भोग-काले चाऽतृप्ति-लाभः ॥

४१—शब्द में अनुराग और ममत्व का भाव होने के कारण मनुष्य उसका उत्पादन, रक्षण और व्यापार करता है। उसका व्यय और वियोग होता है, इन सबमें उसे सुख कहाँ है? और क्या, उसके उपभोग काल में भी उसे तृप्ति नहीं मिलती।

४२—सद्दे अतित्ते य परिग्गहे य
सत्तोवसत्तो न उवेइ तुट्ठिं।
अतुट्ठिदोसेण दुही परस्स
लोभाविले आययई अदत्तं ॥

शब्देऽतृप्तश्च परिग्रहे च
सक्तोपसक्तो नोपैति तुष्टिम्।
अतुष्टि-दोषेण दुःखी परस्य
लोभाविल आदत्तेऽदत्तम् ॥

४२—जो शब्द में अतृप्त होता है, उसके परिग्रहण में आसक्त-उपसक्त होता है, उसे संतुष्टि नहीं मिलती। वह असंतुष्टि के दोष से दुःखी और लोभग्रस्त होकर दूसरे की शब्दवान् वस्तुएं चुरा लेता है।

४३—तण्हाभिभूयस्स अदत्तहारिणो
सद्दे अतित्तस्स परिग्गहे य।
मायामुसं वड्ढइ लोभदोसा
तत्थावि दुक्खा न विमुच्चई से ॥

तृष्णाभिभूतस्याऽदत्त-हारिणः
शब्देऽतृप्तस्य परिग्रहे च।
माया-मृषा वर्धते लोभ-दोषात्
तत्रापि दुःखान्न विमुच्यते सः ॥

४३—वह तृष्णा से पराजित होकर चोरी करता है और शब्द परिग्रहण में अतृप्त होता है। अतृप्ति-दोष के कारण उसके माया-मृषा की वृद्धि होती है। माया-मृषा का प्रयोग करने पर भी वह दुःख से मुक्त नहीं होता।

१. तिव्वं (अ, बृ०)।
२. °वाए य (अ) ; रागेण (बृ० पा०) ; वाए ण (बृ०)।
३. अतित्त (बृ०) ; अतित्ति (बृ० पा०)।

४४—मोसस्स पच्छा य पुरत्थओ य
पओगकाले य दुही दुरन्ते।
एवं अदत्ताणि समाययन्तो
सद्दे अतित्तो दुहिओ अणिस्सो ॥

मृषा पश्चाच्च पुरस्ताच्च
प्रयोग-काले च दुःखी दुरन्तः।
एवमदत्तानि समाददानः
शब्दे अतृप्तो दुःखितोऽनिश्रः ॥

४४—असत्य बोलने के पश्चात्, पहले और बोलते समय वह दुःखी होता है। उसका पर्यवसान भी दुःखमय होता है। इस प्रकार वह शब्द में अतृप्त होकर चोरी करता हुआ, दुःखी और आश्रय हीन हो जाता है।

४५—सद्दाणुरत्तस्स नरस्स एवं
कत्तो सुहं होज्ज कयाइ किंचि?।
तत्थोवभोगे वि किलेसदुक्खं
निव्वत्तई जस्स कएण दुक्खं ॥

शब्दानुरक्तस्य नरस्यैवं
कुतः सुखं भवेत् कदापि किंचित्?
तत्रोपभोगेऽपि क्लेश-दुःखं
निर्वर्तयति यस्य कृते दुःखम् ॥

४५—शब्द में अनुरक्त पुरुष को उक्त कथनानुसार कदाचित् किंचित् सुख भी कहाँ से होगा? जिस उपभोग के लिए वह दुःख प्राप्त करता है, उस उपभोग में भी क्लेश-दुःख (अतृप्ति का दुःख) बना रहता है।

४६—एमेव सद्दम्मि गओ पओसं
उवेइ दुक्खोहपरंपराओ।
पदुट्ठचित्तो य[1] चिणाइ कम्मं
जं से पुणो होइ दुहं विवागे ॥

एवमेव शब्दे गतः प्रदोषं
उपैति दुःखौघ-परम्पराः।
प्रदुष्ट-चित्तश्च चिनोति कर्म
यत्तस्य पुनर्भवति दुःखं विपाके ॥

४६—इसी प्रकार जो शब्द में द्वेष रखता है, वह उत्तरोत्तर अनेक दुःखों को प्राप्त होता है। प्रद्वेष-युक्त चित्तवाला व्यक्ति कर्म का बन्ध करता है, वही परिणाम-काल में उसके लिए दुःख का हेतु बनता है।

४७—सद्दे विरत्तो मणुओ विसोगो[2]
एएण दुक्खोहपरंपरेण।
न लिप्पए भवमज्झे वि सन्तो
जलेण वा पोक्खरिणीपलासं ॥

शब्दो विरक्तो मनुजो विशोकः
एतेन दुःखौघ-परम्परेण।
न लिप्यते भवमध्येऽपि सन्
जलेनेव पुष्करिणी-पलाशम् ॥

४७—शब्द से विरक्त मनुष्य शोक-मुक्त बन जाता है। जैसे कमलिनी का पत्र जल में लिप्त नहीं होता, वैसे ही वह संसार में रह कर अनेक दुःखों की परम्परा से लिप्त नहीं होता।

४८—घाणस्स गन्धं गहणं वयन्ति
तं रागहेउं तु मणुन्नमाहु।
तं दोसहेउं अमणुन्नमाहु
समो य जो तेसु स वीयरागो ॥

घ्राणस्य गन्धं ग्रहणं वदन्ति
तं राग-हेतुं तु मनोज्ञमाहुः।
तं दोष-हेतुममनोज्ञमाहुः
समश्च यस्तेषु स वीतरागः ॥

४८—घ्राण का विषय गन्ध है। जो गन्ध राग का हेतु होता है, उसे मनोज्ञ कहा जाता है। जो द्वेष का हेतु होता है, उसे अमनोज्ञ कहा जाता है। जो मनोज्ञ और अमनोज्ञ गन्धों में समान रहता है, वह वीतराग होता है।

४९—गन्धस्स घाणं गहणं वयन्ति
घाणस्स गन्धं गहणं वयन्ति।
रागस्स हेउं समणुन्नमाहु
दोसस्स हेउं अमणुन्नमाहु ॥

गन्धस्य घ्राणं ग्रहणं वदन्ति
घ्राणस्य गन्धं ग्रहणं वदन्ति।
रागस्य हेतुं समनोज्ञमाहुः
दोषस्य हेतुममनोज्ञमाहुः ॥

४९—घ्राण गन्ध का ग्रहण करता है। गन्ध घ्राण का ग्राह्य है। जो गन्ध राग का हेतु होता है, उसे मनोज्ञ कहा जाता है। जो द्वेष का हेतु होता है, उसे अमनोज्ञ कहा जाता है।

---
१. उ (अ)।
२. असोगो (अ)।

५०—गन्धेसु[1] जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं[2]
अकालियं पावइ से विणासं।
रागाउरे ओसहिगन्धगिद्धे
सप्पे बिलाओ विव निक्खमन्ते॥

गन्धेषु यो गृद्धिमुपैति तीव्रां
अकालिकं प्राप्नोति स विनाशम्।
रागातुर औषधि-गन्ध-गृद्धः
सर्पो बिलादिव निष्क्रामन्॥

५०—जो मनोज्ञ गन्ध में तीव्र आसक्ति करता है, वह अकाल में ही विनाश को प्राप्त होता है। जैसे नाग-दमनी आदि औषधियों के गन्ध में गृद्ध बिल से निकलता हुआ रागातुर सर्प।

५१—जे यावि दोसं समुवेइ तिव्वं[3]
तंसि क्खणे से उ उवेइ दुक्खं।
दुद्दन्तदोसेण सएण जन्तू
न किंचि गन्धं अवरज्झई से॥

यश्चापि दोषं समुपैति तीव्रं
तस्मिन् क्षणे स तूपैति दुःखम्।
दुर्दान्त-दोषेण स्वकेन जन्तुः
न किञ्चिद् गन्धोऽपराध्यति तस्य॥

५१—जो अमनोज्ञ गन्ध में तीव्र द्वेष करता है, वह अपने दुर्दम दोष से उसी क्षण दुःख को प्राप्त होता है। गन्ध उसका कोई अपराध नहीं करता।

५२—एगन्तरत्ते रुइरंसि गन्धे
अतालिसे से कुणई पओसं।
दुक्खस्स संपीलमुवेइ बाले
न लिप्पई तेण मुणी विरागो॥

एकान्तरक्तो रुचिरे गन्धे
अतादृशे स करोति प्रदोषम्।
दुःखस्य सम्पीडामुपैति बालः
न लिप्यते तेन मुनिर्विरागः॥

५२—जो मनोहर गन्ध में एकान्त अनुरक्त होता है और अमनोहर गन्ध में द्वेष करता है, वह अज्ञानी दुःखात्मक पीडा को प्राप्त होता है। इसलिए विरक्त मुनि उनमें लिप्त नहीं होता।

५३—गन्धाणुगासाणुगए य जीवे
चराचरे हिंसइ ऽणेगरूवे।
चित्तेहि ते परितावेइ बाले
पीलेइ अत्तट्ठगुरू किलिट्ठे॥

गन्धानुगाशानुगतश्च जीवः
चराचरान् हिनस्त्यनेक-रूपान्।
चित्रैस्तान् परितापयति बालः
पीडयत्यात्मार्थ-गुरुः क्लिष्टः॥

५३—मनोज्ञ गन्ध की अभिलाषा के पीछे चलने वाला पुरुष अनेक प्रकार के त्रस-स्थावर जीवों की हिंसा करता है। अपने प्रयोजन को प्रधान मानने वाला वह क्लेश-युक्त अज्ञानी पुरुष नाना प्रकार के उन चराचर जीवों को परितप्त और पीड़ित करता है।

५४—गन्धाणुवाएण[4] परिग्गहेण
उप्पायणे रक्खणसन्निओगे।
वए विओगे य कहिं सुहं से?
संभोगकाले य अतित्तिलाभे[5]॥

गन्धानुपातेन परिग्रहेण
उत्पादने रक्षण-सन्नियोगे।
व्यये वियोगे च क्व सुखं तस्य?
सम्भोग-काले चाऽतृप्ति-लाभः॥

५४—गन्ध में अनुराग और ममत्व का भाव होने के कारण मनुष्य, उसका उत्पादन, रक्षण और व्यापार करता है। उसका व्यय और वियोग होता है। इन सबमें उसे सुख कहाँ है? और क्या, उसके उपभोग-काल में भी उसे तृप्ति नहीं मिलती।

---

१. गंधस्स (अ, वृ०)।
२. तिव्वं (अ)।
३. तिव्वं (वृ०, अ)।
४. °वाए य (अ); °रागेण (वृ० पा०); °वाए ण (उ०)।
५. अतिस° (वृ०); अतित्ति° (वृ० पा०)।

५५—गन्धे अतित्ते य परिग्गहे य
सत्तोवसत्तो न उवेइ तुट्ठिं।
अतुट्ठिदोसेण दुही परस्स
लोभाविले आययई अदत्तं॥

गन्धेऽतृप्तश्च परिग्रहे च
सक्तोपसक्तो नोपैति तुष्टिम्।
अतुष्टि-दोषेण दुःखी परस्य
लोभाविल आदत्ते ऽदत्तम्॥

५५—जो गन्ध में अतृप्त होता है, उसके परिग्रहण में आसक्त-उपसक्त होता है, उसे संतुष्टि नहीं मिलती। वह असंतुष्टि के दोष से दुःखी और लोभ-ग्रस्त होकर दूसरे की गन्धवान् वस्तुएँ चुरा लेता है।

५६—तण्हाभिभूयस्स अदत्तहारिणो
गन्धे अतित्तस्स परिग्गहे य।
मायामुसं वड्ढइ लोभदोसा
तत्थावि दुक्खा न विमुच्चई से॥

तृष्णाभिभूतस्याऽदत्त-हारिणः
गन्धेऽतृप्तस्य परिग्रहे च।
माया-मृषा वर्धते लोभ-दोषात्
तत्रापि दुःखान्न विमुच्यते सः॥

५६—वह तृष्णा से पराजित होकर चोरी करता है और गन्ध-परिग्रहण में अतृप्त होता है। अतृप्ति-दोष के कारण उसके माया-मृषा की वृद्धि होती है। माया-मृषा का प्रयोग करने पर भी वह दुःख से मुक्त नहीं होता।

५७—मोसस्स पच्छा य पुरत्थओ य
पओगकाले य दुही दुरन्ते।
एवं अदत्ताणि समाययन्तो
गन्धे अतित्तो दुहिओ अणिस्सो॥

मृषा पश्चाच्च पुरस्ताच्च
प्रयोग-काले च दुःखी दुरन्तः।
एवमदत्तानि समाददानः
गन्धेऽतृप्तो दुःखितोऽनिश्रः॥

५७—असत्य बोलने के पश्चात्, पहले और बोलते समय वह दुःखी होता है। उसका पर्यवसान भी दुःखमय होता है। इस प्रकार वह गन्ध से अतृप्त होकर चोरी करता हुआ दुःखी और आश्रयहीन हो जाता है।

५८—गन्धाणुरत्तस्स नरस्स एवं
कत्तो सुहं होज्ज कयाइ किंचि?।
तत्थोवभोगे वि किलेसदुक्खं
निव्वत्तई जस्स कएण दुक्खं॥

गन्धानुरक्तस्य नरस्यैवं
कुतः सुखं भवेत्कदापि किञ्चित्?।
तत्रोपभोगेऽपि क्लेश-दुःखं
निर्वर्तयति यस्य कृते दुःखम्॥

५८—गन्ध में अनुरक्त पुरुष को उक्त कथनानुसार कदाचित् किंचित् सुख भी कहाँ से होगा? जिस उपभोग के लिए वह दुःख प्राप्त करता है, उस उपभोग में भी क्लेश-दुःख (अतृप्ति का दुःख) बना रहता है।

५९—एमेव गन्धम्मि गओ पओसं
उवेइ दुक्खोहपरंपराओ।
पदुट्ठचित्तो य[1] चिणाइ कम्मं
जं से पुणो होइ दुहं विवागे॥

एवमेव गन्धे गतः प्रद्वेषं
उपैति दुःखौघ-परम्पराः।
प्रदुष्ट-चित्तश्च चिनोति कर्म
यत्तस्य पुनर्भवति दुःखं विपाके॥

५९—इसी प्रकार जो गन्ध में द्वेष रखता है, वह उत्तरोत्तर अनेक दुःखों को प्राप्त होता है। प्रद्वेषयुक्त चित्त वाला व्यक्ति कर्म का बन्ध करता है, वही परिणाम काल में उसके लिए दुःख का हेतु बनता है।

६०—गन्धे विरत्तो मणुओ विसोगो
एएण दुक्खोहपरंपरेण।
न लिप्पई भवमज्झे वि सन्तो
जलेण वा पोक्खरिणीपलासं॥

गन्धे विरक्तो मनुजो विशोकः
एतेन दुःखौघ-परम्परेण।
न लिप्यते भवमध्येऽपि सन्
जलेनेव पुष्करिणी-पलाशम्॥

६०—गन्ध से विरक्त मनुष्य शोक-मुक्त बन जाता है। जैसे कमलिनी का पत्र जल में लिप्त नहीं होता, वैसे ही वह संसार में रहकर अनेक दुःखों की परम्परा से लिप्त नहीं होता।

---

१. उ (अ)।

६१—जिहाए रसं गहणं वयन्ति
तं रागहेउं तु मणुन्नमाहु।
तं दोसहेउं अमणुन्नमाहु
समो य जो तेसु स वीयरागो॥

जिह्वायाः रसं ग्रहणं वदन्ति
तं राग-हेतुं तु मनोज्ञमाहुः।
तं दोष-हेतुममनोज्ञमाहुः
समश्च यस्तेषु स वीतरागः॥

६१—रसना का विषय रस है। जो रस राग का हेतु होता है, उसे मनोज्ञ कहा जाता है। जो द्वेष का हेतु होता है, उसे अमनोज्ञ कहा जाता है। जो मनोज्ञ और अमनोज्ञ रसों में समान रहता है, वह वीतराग होता है।

६२—रसस्स जिब्भं[1] गहणं वयन्ति
जिब्भाए रसं गहणं वयन्ति।
रागस्स हेउं समणुन्नमाहु
दोसस्स हेउं अमणुन्नमाहु॥

रसस्य जिह्वां ग्रहणं वदन्ति
जिह्वाया रसं ग्रहणं वदन्ति।
रागस्य हेतुं समनोज्ञमाहुः
दोषस्य हेतुममनोज्ञमाहुः॥

६२—रसना रस का ग्रहण करती है। रस रसना का ग्राह्य है। जो रस राग का हेतु होता है, उसे मनोज्ञ कहा जाता है। जो द्वेष का हेतु होता है, उसे अमनोज्ञ कहा जाता है।

६३—रसेसु[2] जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं[3]
अकालियं पावइ से विणासं।
रागाउरे बडिसविभिन्नकाए
मच्छे जहा आमिसभोगगिद्धे[4]॥

रसेषु यो गृद्धिमुपैति तीव्रां
अकालिकं प्राप्नोति स विनाशम्।
रागातुरो बडिश-विभिन्न-कायः
मत्स्यो यथाऽऽमिष-भोग-गृद्धः॥

६३—जो मनोज्ञ रसों में तीव्र आसक्ति करता है, वह अकाल में ही विनाश को प्राप्त होता है, जैसे मांस खाने में गृद्ध बना हुआ रागातुर मत्स्य काँटे से बींधा जाता है।

६४—जे यावि दोसं समुवेइ तिव्वं[5]
तंसि क्खणे से उ उवेइ दुक्खं।
दुद्दन्तदोसेण सएण जन्तू
'रसं न किंचि'[6]अवरज्झई से॥

यश्चापि दोषं समुपैति तीव्रं
तस्मिन्क्षणे स तूपैति दुःखम्।
दुर्दान्त-दोषेण स्वकेन जन्तुः
रसो न किंचिदपराध्यति तस्य॥

६४—जो मनोज्ञ रस में तीव्र द्वेष करता है, वह अपने दुर्दम दोष से उसी क्षण दुःख को प्राप्त होता है। रस उसका कोई अपराध नहीं करता।

६५—एगन्तरत्ते रुइरे रसम्मि
अतालिसे से कुणई पओसं।
दुक्खस्स संपीलमुवेइ बाले
न लिप्पई तेण मुणी विरागो॥

एकान्तरक्तो रुचिरे रसे
अतादृशे स करोति प्रद्वेषम्।
दुःखस्य सम्पीडामुपैति बालः
न लिप्यते तेन मुनिर्विरागः॥

६५—जो मनोहर रस में एकान्त अनुरक्त रहता है और अमनोहर रस में द्वेष करता है, वह अज्ञानी दुःखात्मक पीड़ा को प्राप्त होता है। इसलिए विरक्त मुनि उनमें लिप्त नहीं होता।

---

१. जीहा (उ, ऋ०)।
२. रसस्स (अ, ऋ०)।
३. निच्चं (अ)।
४. °लोभगिद्धे (अ)।
५. निच्चं (बृ०, अ)।
६. न किंचि रस्सं (अ)।

६६—रसाणुगासाणुगए य जीवे
चराचरे हिंसइ ऽणेगरूवे।
चित्तेहि ते परितावेइ बाले
पीलेइ अत्तट्ठगुरू किलिट्ठे॥

रसानुगाशानुगतश्च जीवः
चराचरान् हिनस्त्यनेक-रूपान्।
चित्रैस्तान् परितापयति बालः
पीडयत्यात्मार्थ-गुरुः क्लिष्टः॥

६६—मनोहर रस की अभिलाषा के पीछे चलने वाला पुरुष अनेक प्रकार के त्रस-स्थावर जीवों की हिंसा करता है। अपने प्रयोजन को प्रधान मानने वाला वह क्लेश-युक्त अज्ञानी पुरुष नाना प्रकार के उन चराचर जीवों को परितप्त और पीड़ित करता है।

६७—रसाणुवाएण[1] परिग्गहेण
उप्पायणे रक्खणसन्निओगे।
वए विओगे य कहिं सुहं से?
संभोगकाले य अतित्तिलाभे[2]॥

रसानुपातेन परिग्रहेण
उत्पादने रक्षण-सन्नियोगे।
व्यये वियोगे च क्व सुखं तस्य?
सम्भोग-काले चातृप्ति-लाभः॥

६७—रस में अनुराग और ममत्व का भाव होने के कारण मनुष्य उसका उत्पादन, रक्षण और व्यापार करता है। उसका व्यय और वियोग होता है। इन सबमें उसे सुख कहाँ है? और क्या उसके उपभोग-काल में भी उसे तृप्ति नहीं मिलती।

६८—रसे अतित्ते य परिग्गहे य
सत्तोवसत्तो न उवेइ तुट्ठिं।
अतुट्ठिदोसेण दुही परस्स
लोभाविले आययई अदत्तं॥

रसेऽतृप्तश्च परिग्रहे च
सक्तोपसक्तो नोपैति तुष्टिम्।
अतुष्टि-दोषेण दुःखी परस्य
लोभाविल आदत्तेऽदत्तम्॥

६८—जो रस में अतृप्त होता है और उसके परिग्रहण में आसक्त-उपसक्त होता है, उसे संतुष्टि नहीं मिलती। वह असंतुष्टि के दोष से दुःखी और लोभ-ग्रस्त होकर दूसरे की रसवान् वस्तुएं चुरा लेता है।

६९—तण्हाभिभूयस्स अदत्तहारिणो
रसे अतित्तस्स परिग्गहे य।
मायामुसं वड्ढइ लोभदोसा
तत्थावि दुक्खा न विमुच्चई से॥

तृष्णाभिभूतस्याऽदत्तहारिणः
रसेऽतृप्तस्य परिग्रहे च।
माया-मृषा वर्धते लोभ-दोषात्
तत्रापि दुःखान्न विमुच्यते सः॥

६९—वह तृष्णा से पराजित होकर चोरी करता है और रस-परिग्रह में अतृप्त होता है। अतृप्ति-दोष के कारण उसके माया-मृषा की वृद्धि होती है। माया-मृषा का प्रयोग करने पर भी वह दुःख से मुक्त नहीं होता।

७०—मोसस्स पच्छा य पुरत्थओ य
पओगकाले य दुही दुरन्ते।
एवं अदत्ताणि समाययन्तो
रसे अतित्तो दुहिओ अणिस्सो॥

मृषा पश्चाच्च पुरस्ताच्च
प्रयोग-काले च दुःखी दुरन्तः।
एवमदत्तानि समाददानः
रसेऽतृप्तो दुःखितोऽनिश्रः॥

७०—असत्य बोलने के पश्चात्, पहले और बोलते समय वह दुःखी होता है। उसका पर्यवसान भी दुःखमय होता है। इस प्रकार वह रस में अतृप्त होकर चोरी करता हुआ दुःखी और आश्रय-हीन हो जाता है।

७१—रसाणुरत्तस्स नरस्स एवं
कत्तो सुहं होज्ज कयाइ किंचि?।
तत्थोवभोगे वि किलेसदुक्खं
निव्वत्तई जस्स कए ण दुक्खं?॥

रसानुरक्तस्य नरस्यैवं
कुतः सुखं भवेत् कदापि किंचित्?।
तत्रोपभोगेऽपि क्लेश-दुःखं
निर्वर्त्तयति यस्य कृते दुःखम्॥

७१—रस में अनुरक्त पुरुष को उक्त कथनानुसार कदाचित् किंचित् सुख भी कहाँ से होगा? जिस उपभोग के लिए वह दुःख प्राप्त करता है, उस उपभोग में भी क्लेश-दुःख (अतृप्ति का दुःख) बना रहता है।

---

१. ०वाए य (अ); ०रागेण (बृ० पा०); ०वाए ण (बृ०)।
२. अतित्त० (बृ०); अतित्ति० (बृ० पा०)।

७२—एमेव रसम्मि गओ पओसं
उवेइ दुक्खोहपरंपराओ।
पदुट्ठचित्तो य[1] चिणाइ कम्मं
जं से पुणो होइ दुहं विवागे॥

एवमेव रसे गतः प्रदोषम्
उपैति दुःखौघ-परम्पराः।
प्रदुष्ट-चित्तश्च चिनोति कर्म
यत्तस्य पुनर्भवति दुःखं विपाके॥

७२—इसी प्रकार जो रस में द्वेष रखता है, वह उत्तरोत्तर अनेक दुःखों को प्राप्त होता है। प्रद्वेष-युक्त चित्त वाला व्यक्ति कर्म का बन्ध करता है। वही परिणाम-काल में उसके लिए दुःख का हेतु बनता है।

७३—रसे विरत्तो मणुओ विसोगो
एएण दुक्खोहपरंपरेण।
न लिप्पई भवमज्झे वि सन्तो
जलेण वा पोक्खरिणीपलासं॥

रसे विरक्तो मनुजो विशोकः
एतेन दुःखौघ-परम्परेण।
न लिप्यते भवमध्येऽपि सन्
जलेनेव पुष्करिणी-पलाशम्॥

७३—रस से विरक्त मनुष्य शोक-मुक्त बन जाता है, जैसे कमलिनी का पत्र जल में लिप्त नहीं होता, वैसे ही वह संसार में रह कर अनेक दुःखों की परम्परा से लिप्त नहीं होता।

७४—कायस्स फासं गहणं वयन्ति
तं रागहेउं तु मणुन्नमाहु।
तं दोसहेउं अमणुन्नमाहु
समो य जो तेसु स वीयरागो॥

कायस्य स्पर्शं ग्रहणं वदन्ति
तं राग-हेतुं तु मनोज्ञमाहुः।
तं दोष-हेतुममनोज्ञमाहुः
समश्च यस्तेषु सवीतरागः॥

७४—काय का विषय स्पर्श है। जो स्पर्श राग का हेतु होता है, उसे मनोज्ञ कहा जाता है। जो द्वेष का हेतु होता है, उसे अमनोज्ञ कहा जाता है। जो मनोज्ञ और अमनोज्ञ स्पर्शों में समान रहता है, वह वीतराग होता है।

७५—फासस्स कायं गहणं वयन्ति
कायस्स फासं गहणं वयन्ति।
'रागस्स हेउं समणुन्नमाहु'[2]
'दोसस्स हेउं'[3] अमणुन्नमाहु॥

स्पर्शस्य कायं ग्रहणं वदन्ति
कायस्य स्पर्शं ग्रहणं वदन्ति।
रागस्य हेतुं समनोज्ञमाहुः
दोषस्य हेतुममनोज्ञमाहुः॥

७५—काय स्पर्श का ग्रहण करता है। स्पर्श काय का ग्राह्य है। जो स्पर्श राग का हेतु होता है, उसे मनोज्ञ कहा जाता है। जो द्वेष का हेतु होता है, उसे अमनोज्ञ कहा जाता है।

७६—फासेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं[4]
अकालियं पावइ से विणासं।
रागाउरे सीयजलावसन्ने
गाहग्गहीए महिसे व ऽरन्ने॥

स्पर्शेषु यो गृद्धिमुपैति तीव्रां
अकालिकं प्राप्नोति स विनाशम्।
रागातुरः शीतजलावसन्नः
ग्राह-गृहीतो महिष इवारण्ये॥

७६—जो मनोज्ञ स्पर्शों में तीव्र आसक्ति करता है, वह अकाल में ही विनाश को प्राप्त होता है। जैसे घड़ियाल के द्वारा पकड़ा हुआ, अरण्य-जलाशय के शीतल जल के स्पर्श में मग्न बना रागातुर भैंसा।

---

१. ड (अ)।
२. तं राग हेउं तु मणुन्नमाहु (अ)।
३ तं दोस हेउस्स (अ)।
४. निच्चं (अ)।

७७—जे यावि दोसं समुवेइ तिव्वं[1]
तंसि क्खणे से उ उवेइ दुक्खं।
दुद्दन्तदोसेण सएण जन्तू
न किंचि फासं अवरज्झई से॥

यश्चापि दोषं समुपैति तीव्रं
तस्मिन्क्षणे स तूपैति दुःखम्।
दुर्दान्त-दोषेण स्वकेन जन्तुः
न किञ्चित्स्पर्शोऽपराध्यति तस्य॥

७७—जो अमनोज्ञ स्पर्श में तीव्र द्वेष करता है, वह अपने दुर्दम दोष से उसी क्षण दुःख को प्राप्त होता है। स्पर्श उसका कोई अपराध नहीं करता।

७८—एगन्तरत्ते रुइरंसि फासे
अतालिसे से कुणई पओसं।
दुक्खस्स संपीलमुवेइ बाले
न लिप्पई तेण मुणी विरागो॥

एकान्तरक्तो रुचिरे स्पर्शे
अतादृशे स करोति प्रदोषम्।
दुःखस्य सम्पीडामुपैति बालः
न लिप्यते तेन मुनिर्विरागः॥

७८—जो मनोहर स्पर्श में एकान्त अनुरक्त होता है और अमनोहर स्पर्श से द्वेष करता है, वह अज्ञानी दुःखात्मक पीड़ा को प्राप्त होता है। इसलिए विरक्त मुनि उनमें लिप्त नहीं होता।

७९—फासाणुगासाणुगए य जीवे
चराचरे हिंसइ ऽणेगरूवे।
चित्तेहि ते परितावेइ बाले
पीलेइ अत्तट्ठगुरू किलिट्ठे॥

स्पर्शानुगाशानुगतश्च जीवः
चराचरान् हिनस्त्यनेक-रूपान्।
चित्रैस्तान् परितापयति बालः
पीडयत्यात्मार्थ-गुरुः क्लिष्टः॥

७९—मनोहर स्पर्श की अभिलाषा के पीछे चलने वाला पुरुष अनेक प्रकार के त्रस-स्थावर जीवों की हिंसा करता है। अपने प्रयोजन को प्रधान मानने वाला वह क्लेश-युक्त अज्ञानी पुरुष नाना प्रकार के उन चराचर जीवों को परितप्त और पीड़ित करता है।

८०—फासाणुवाएण[2] परिग्गहेण
उप्पायणे रक्खणसन्निओगे।
वए विओगे य कहिं सुहं से?
संभोगकाले य अतित्तिलाभे[3]॥

स्पर्शानुपातेन परिग्रहेण
उत्पादने रक्षण-सन्नियोगे।
व्यये वियोगे च क्व सुखं तस्य?
सम्भोग-काले चातृप्ति-लाभः॥

८०—स्पर्श में अनुराग और ममत्व का भाव होने के कारण मनुष्य उसका उत्पादन, रक्षण और व्यापार करता है। उसका व्यय और वियोग होता है। इन सबमें उसे सुख कहाँ है? और क्या उसके उपभोग-काल में भी उसे तृप्ति नहीं मिलती।

८१—फासे अतित्ते य परिग्गहे य
सत्तोवसत्तो न उवेइ तुट्ठिं।
अतुट्ठिदोसेण दुही परस्स
लोभाविले आययई अदत्तं॥

स्पर्शेऽतृप्तश्च परिग्रहे च
सक्तोपसक्तो नोपैति तुष्टिम्।
अतुष्टि-दोषेण दुःखी परस्य
लोभाविल आदत्तेऽदत्तम्॥

८१—जो स्पर्श में अतृप्त होता है और उसके परिग्रहण में आसक्त-उपसक्त होता है, उसे संतुष्टि नहीं मिलती। वह असन्तुष्टि के दोष से दुःखी और लोभ-ग्रस्त होकर दूसरे की स्पर्शवान् वस्तुएँ चुरा लेता है।

८२—तण्हाभिभूयस्स अदत्तहारिणो
फासे अतित्तस्स परिग्गहे य।
मायामुसं वड्ढइ लोभदोसा
तत्थावि दुक्खा न विमुच्चई से॥

तृष्णाभिभूतस्याऽदत्तहारिणः
स्पर्शेऽतृप्तस्य परिग्रहे च।
माया-मृषा वर्धते लोभ-दोषात्
तत्रापि दुःखान्न विमुच्यते सः॥

८२—वह तृष्णा से पराजित होकर चोरी करता है और स्पर्श-परिग्रहण में अतृप्त होता है। अतृप्ति-दोष के कारण उसके माया-मृषा की वृद्धि होती है। माया-मृषा का प्रयोग करने पर भी वह दुःख से मुक्त नहीं होता।

---

१. तिव्वं (बृ०, अ)।
२. °वाए य (अ); °रागेण (बृ० पा०); °वाए ण (बृ०)।
३. अतित्त° (बृ०); अतित्ति° (बृ० पा०)।

८३—मोसस्स पच्छा य पुरत्थओ य
पओगकाले य दुही दुरन्ते।
एवं अदत्ताणि समाययन्तो
फासे अतित्तो दुहिओ अणिस्सो॥

मृषा पश्चाच्च पुरस्ताच्च
प्रयोग-काले च दुःखी दुरन्तः।
एवमदत्तानि समाददानः
स्पर्शेऽतृप्तो दुःखितोऽनिश्रः॥

८३—असत्य बोलने के पश्चात्, पहले और बोलते समय वह दुःखी होता है। उसका पर्यवसान भी दुःखमय होता है। इस प्रकार वह स्पर्श में अतृप्त होकर चोरी करता हुआ दुःखी और आश्रयहीन हो जाता है।

८४—फासाणुरत्तस्स नरस्स एवं
कत्तो सुहं होज्ज कयाइ किंचि ?।
तत्थोवभोगे वि किलेसदुक्खं
निव्वत्तई जस्स कएण दुक्खं॥

स्पर्शानुरक्तस्य नरस्यैवं
कुतः सुखं भवेत् कदापि किंचित् ?।
तत्रोपभोगेऽपि क्लेश-दुःखं
निर्वर्त्तयति यस्य कृते दुःखम्॥

८४—स्पर्श में अनुरक्त पुरुष को उक्त कथनानुसार कदाचित् किंचित् सुख भी कहाँ से होगा ? जिस उपभोग के लिए वह दुःख प्राप्त करता है, उस उपभोग में भी क्लेश-दुःख (अतृप्ति का दुःख) बना रहता है।

८५—एमेव फासम्मि गओ पओसं
उवेइ दुक्खोहपरंपराओ।
पदुट्ठचित्तो य[1] चिणाइ कम्मं
जं से पुणो होइ दुहं विवागे॥

एवमेव स्पर्शे गतः प्रदोषम्
उपैति दुःखौघ-परम्पराः।
प्रदुष्ट-चित्तश्च चिनोति कर्म
यत्तस्य पुनर्भवति दुःखं विपाके॥

८५—इसी प्रकार जो स्पर्श में द्वेष रखता है, वह उत्तरोत्तर अनेक दुःखों को प्राप्त होता है। प्रद्वेष युक्त चित्त वाला व्यक्ति कर्म का बन्ध करता है। वही परिणाम-काल में उसके लिए दुःख का हेतु बनता है।

८६—फासे विरत्तो मणुओ विसोगो
एएण दुक्खोहपरंपरेण।
न लिप्पई भवमज्झे वि सन्तो
जलेण वा पोक्खरिणीपलासं॥

स्पर्शे विरक्तो मनुजो विशोकः
एतेन दुःखौघ-परम्परेण।
न लिप्यते भवमध्येऽपि सन्
जलेनेव पुष्करिणी-पलाशम्॥

८६—स्पर्श से विरक्त मनुष्य शोक-मुक्त बन जाता है। जैसे कमलिनी का पत्र जल में लिप्त नहीं होता, वैसे ही वह संसार में रह कर अनेक दुःखों की परम्परा से लिप्त नहीं होता।

८७—मणस्स भावं गहणं वयन्ति
तं रागहेउं तु मणुन्नमाहु।
तं दोसहेउं अमणुन्नमाहु
समो य जो तेसु स वीयरागो॥

मनसो भावं ग्रहणं वदन्ति
तं राग-हेतुं तु मनोज्ञमाहुः।
तं दोष-हेतुममनोज्ञमाहुः
समश्च यस्तेषु स वीतरागः॥

८७—मन का विषय भाव (अभिप्राय) है। जो भाव राग का हेतु होता है, उसे मनोज्ञ कहा जाता है। जो द्वेष का हेतु होता है, उसे अमनोज्ञ कहा जाता है। जो मनोज्ञ और अमनोज्ञ भावों में समान रहता है, वह वीतराग होता है।

८८—भावस्स मणं गहणं वयन्ति
मणस्स भावं गहणं वयन्ति।
रागस्स हेउं समणुन्नमाहु
दोसस्स हेउं अमणुन्नमाहु॥

भावस्य मनो ग्रहणं वदन्ति
मनसः भावं ग्रहणं वदन्ति।
रागस्य हेतुं समनोज्ञमाहुः
दोषस्य हेतुममनोज्ञमाहुः॥

८८—मन भाव का ग्रहण करता है। भाव मन का ग्राह्य है। जो भाव राग का हेतु होता है उसे मनोज्ञ कहा जाता है। जो द्वेष का हेतु होता है उसे अमनोज्ञ कहा जाता है।

---
१. उ (अ)।

८९—भावेसु[1] जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं[2]
अकालियं पावइ से विणासं ।
रागाउरे कामगुणेसु गिद्धे
करेणुमग्गावहिए 'व नागे'[3] ॥

भावेषु यो गृद्धिमुपैति तीव्रां
अकालिकं प्राप्नोति विनाशम् ।
रागातुरः काम-गुणेषु गृद्धः
करेणुमार्गापहृत इव नागः ॥

८९—जो मनोज्ञ भावों में तीव्र आसक्ति करता है, वह अकाल में ही विनाश को प्राप्त होता है, जैसे हथिनी के पथ में आकृष्ट काम-गुणों में गृद्ध बना हुआ हाथी ।

९०—जे यावि दोसं समुवेइ तिव्वं[4]
तंसि क्खणे से उ उवेइ दुक्खं ।
दुद्दन्तदोसेण सएण जन्तू
न किंचि भावं अवरज्झई से ॥

यश्चापि दोषं समुपैति तीव्रं
तस्मिन्क्षणे स तूपैति दुःखम् ।
दुर्दान्त-दोषेण स्वकेन जन्तुः
न किंचिद्भावोऽपराध्यति तस्य ।

९०—जो मनोज्ञ भाव में तीव्र द्वेष करता है, वह अपने दुर्दम दोष से उसी क्षण दुःख को प्राप्त होता है । भाव उसका कोई अपराध नहीं करता ।

९१—एगन्तरत्ते रुइरंसि भावे
अतालिसे से कुणई पओसं ।
दुक्खस्स संपीलमुवेइ बाले
न लिप्पई तेण मुणी विरागो ॥

एकान्तरक्तो रुचिरे भावे
अतादृशे स कुरुते प्रदोषम् ।
दुःखस्य सम्पीडामुपैति बालः
न लिप्यते तेन मुनिर्विरागः ॥

९१—जो मनोहर भाव में एकान्त अनुरक्त होता है और अमनोहर भाव में द्वेष करता है, वह अज्ञानी दुःखात्मक पीड़ा को प्राप्त होता है । इसलिए विरक्त मुनि उनमें लिप्त नहीं होता ।

९२—भावाणुगासाणुगए य जीवे
चराचरे हिंसइ ऽणेगरूवे ।
चित्तेहि ते परितावेइ बाले
पीलेइ अत्तट्ठगुरू किलिट्ठे ॥

भावानुगाशानुगतश्च जीवः
चराचरान् हिनस्त्यनेक-रूपान् ।
चित्रैस्तान् परितापयति बालः
पीडयत्यात्मार्थ-गुरुः क्लिष्टः ॥

९२—मनोहर भाव की अभिलाषा के पीछे चलने वाला पुरुष अनेक प्रकार के त्रस-स्थावर जीवों की हिंसा करता है । अपने प्रयोजन को प्रधान मानने वाला वह क्लेश-युक्त अज्ञानी पुरुष नाना प्रकार के उन चराचर जीवों को परितप्त और पीड़ित करता है ।

९३—भावाणुवाएण[5] परिग्गहेण
उप्पायणे रक्खणसन्निओगे ।
वए विओगे य कहिं सुहं से ?
संभोगकाले य अतित्तिलाभे[6] ॥

भावानुपातेन परिग्रहेण
उत्पादने रक्षण-सन्नियोगे ।
व्यये वियोगे च क्व सुखं तस्य ?
सम्भोग-काले चातृप्ति-लाभः ॥

९३—भाव में अनुरक्त और ममत्व का भाव होने के कारण मनुष्य उसका उत्पादन, रक्षण और व्यापार करता है । उसका व्यय और वियोग होता है । इन सबमें उसे सुख कहाँ है ? और क्या, उसके उपभोग-काल में भी उसे तृप्ति नहीं मिलती ।

---

१. मणेण (अ) ; भावस्स (बृ०) ।
२. निच्चं (अ) ।
३. गए व्व (अ) ।
४. निच्चं (बृ०, अ) ।
५. °वाए य (अ) ; °रागेण (बृ० पा०) ; °वाए ण (उ०) ।
६. अतित्त° (बृ०) ; अतित्ति° (बृ० पा०) ।

९४—भावे अतित्ते य परिग्गहे य
सत्तोवसत्तो न उवेइ तुट्ठिं।
अतुट्ठिदोसेण दुही परस्स
लोभाविले आययई अदत्तं ॥

भावेऽतृप्तश्च परिग्रहे च
सक्तोपसक्तो नोपैति तुष्टिम्।
अतुष्टि-दोषेण दुःखी परस्य
लोभाविल आदत्तेऽदत्तम् ॥

९४—जो भाव में अतृप्त होता है और उसके परिग्रहण में आसक्त-उपसक्त होता है, उसे सन्तुष्टि नहीं मिलती। वह असन्तुष्टि के दोष से दुःखी और लोभ-ग्रस्त होकर दूसरे की वस्तुएं चुरा लेता है।

९५—तण्हाभिभूयस्स अदत्तहारिणो
भावे अतित्तस्स परिग्गहे य।
मायामुसं वड्ढइ लोभदोसा
तत्थावि दुक्खा न विमुच्चई से ॥

तृष्णाभिभूतस्याऽदत्तहारिणः
भावेऽतृप्तस्य परिग्रहे च।
माया-मृषा वर्धते लोभ-दोषात्
तत्रापि दुःखान्न विमुच्यते सः ॥

९५—वह तृष्णा से पराजित होकर चोरी करता है और भाव-परिग्रहण में अतृप्त होता है। अतृप्ति-दोष के कारण उसके माया-मृषा की वृद्धि होती है। माया-मृषा का प्रयोग करने पर भी वह दुःख से मुक्त नहीं होता।

९६—मोसस्स पच्छा य पुरत्थओ य
पओगकाले य दुही दुरन्ते।
एवं अदत्ताणि समाययन्तो
भावे अतित्तो दुहिओ अणिस्सो ॥

मृषा पश्चाच्च पुरस्ताच्च
प्रयोग-काले च दुःखी दुरन्तः।
एवमदत्तानि समाददानः
भावेऽतृप्तो दुःखितोऽनिश्रः ॥

९६—असत्य बोलने के पश्चात्, पहले और बोलते समय वह दुःखी होता है। उसका पर्यवसान भी दुःखमय होता है। इस प्रकार वह भाव में अतृप्त होकर चोरी करता हुआ दुःखी और आश्रयहीन हो जाता है।

९७—भावाणुरत्तस्स नरस्स एवं
कत्तो सुहं होज्ज कयाइ किंचि ?।
तत्थोवभोगे वि किलेसदुक्खं
निव्वत्तई जस्स कएण दुक्खं ॥

भावानुरक्तस्य नरस्यैवं
कुतः सुखं भवेत् कदापि किंचित् ?।
तत्रोपभोगेऽपि क्लेश-दुःखं
निर्वर्त्तयति यस्य कृते दुःखम् ॥

९७—भाव में अनुरक्त पुरुष को उक्त कथनानुसार कदाचित् किंचित् सुख भी कहाँ से होगा ? जिस उपभोग के लिए वह दुःख प्राप्त करता है, उस उपभोग में भी क्लेश-दुःख (अतृप्ति का दुःख) बना रहता है।

९८—एमेव भावम्मि गओ पओसं
उवेइ दुक्खोहपरंपराओ।
पदुट्ठचित्तो य[1] चिणाइ कम्मं
जं से पुणो होइ दुहं विवागे ॥

एवमेव भावे गतः प्रदोषम्
उपैति दुःखौघ-परम्पराः।
प्रदुष्ट-चित्तश्च चिनोति कर्म
यत्तस्य पुनर्भवति दुःखं विपाके ॥

९८—इसी प्रकार जो भाव में द्वेष रखता है, वह उत्तरोत्तर अनेक दुःखों को प्राप्त होता है। प्रद्वेष-युक्त चित्त वाला व्यक्ति कर्म का बन्ध करता है, वही परिणाम-काल में उसके लिए दुःख का हेतु बनता है।

९९—भावे विरत्तो मणुओ विसोगो
एएण दुक्खोहपरंपरेण।
न लिप्पई भवमज्झे वि सन्तो
जलेण वा पोक्खरिणीपलासं ॥

भावे विरक्तो मनुजो विशोकः
एतेन दुःखौघ-परम्परेण।
न लिप्यते भवमध्येऽपि सन्
जलेनेव पुष्करिणी-पलाशम् ।

९९—भाव से विरक्त मनुष्य शोक-मुक्त बन जाता है। जैसे कमलिनी का पत्र जल में लिप्त नहीं होता, वैसे ही वह संसार में रह कर अनेक दुःखों की परम्परा से लिप्त नहीं होता।

---
१. उ (अ)।

१००—एविन्दियत्था य मणस्स अत्था
दुक्खस्स हेउं मणुयस्स रागिणो।
ते चेव थोवं पि कयाइ दुक्खं
न वीयरागस्स करेन्ति किंचि॥

एवमिन्द्रियार्थाश्च मनसोऽर्थाः
दुःखस्य हेतवो मनुजस्य रागिणः।
ते चैव स्तोकमपि कदापि दुःखं
न वीतरागस्य कुर्वन्ति किंचित्॥

१००—इस प्रकार इन्द्रिय और मन के विषय रागी मनुष्य के लिए दुःख के हेतु होते हैं। वे वीतराग के लिए कभी किंचित् भी दुःखदायी नहीं होते।

१०१—न कामभोगा समयं उवेन्ति
न यावि भोगा विगइं उवेन्ति।
जे तप्पओसी य परिग्गही य
सो तेसु मोहा विगइं उवेइ॥

न काम-भोगाः समतामुपयन्ति
न चापि भोगा विकृतिमुपयन्ति।
यस्तत्प्रदोषी च परिग्रही च
स तेषु मोहाद् विकृतिमुपैति॥

१०१—काम-भोग समता के हेतु भी नहीं होते और विकार के हेतु भी नहीं होते। जो पुरुष उनके प्रति द्वेष या राग करता है, वह तद्विषयक मोह के कारण विकार को प्राप्त होता है।

१०२—कोहं च माणं च तहेव मायं
लोहं दुगुंछं अरइं रइं च।
हासं भयं सोगपुमित्थिवेयं
नपुंसवेयं विविहे य भावे॥

क्रोधं च मानं च तथैव मायां
लोभं जुगुप्सामरतिं रतिं च।
हासं भयं शोक-पुंस्त्री-वेदं
नपुंसक-वेदं विविधांश्च भावान्॥

१०२—जो काम-गुणों में आसक्त होता है, वह क्रोध, मान, माया, लोभ, जुगुप्सा, अरति, रति, हास्य, भय, शोक, पुरुष-वेद, स्त्री-वेद, नपुंसक-वेद तथा हर्ष, विषाद आदि विविध भाव—

१०३—आवज्जई एवमणेगरूवे
एवंविहे कामगुणेसु सत्तो।
अन्ने य एयप्पभवे विसेसे
कारुण्णदीणे हिरिमे वइस्से॥

आपद्यते एवमनेक-रूपान्
एवं विधान् काम-गुणेषु सक्तः।
अन्यांश्चैतत्प्रभवान् विशेषान्
कारुण्य-दीनो ह्रीमान् द्वेष्यः॥

१०३—इस प्रकार अनेक प्रकार के विकारों को और उनसे उत्पन्न अन्य परिणामों को प्राप्त होता है और वह करुणास्पद, दीन, लज्जित और अप्रिय बन जाता है।

१०४—कप्पं न इच्छिज्ज सहायलिच्छू
पच्छाणुतावेय[1] तवप्पभावं।
एवं वियारे अमियप्पयारे
आवज्जई इन्दियचोरवस्से॥

कल्पं नेच्छेत्सहाय-लिप्सुः
पश्चादनुतापेन तपः प्रभावम्।
एवं विकारानमित-प्रकारान्
आपद्यते इन्द्रिय चोर-वश्यः॥

१०४—'यह मेरी शारीरिक सेवा करेगा'—इस लिप्सा से कल्प (योग्य शिष्य) की भी इच्छा न करे। साधु बनकर मैंने कितना कष्ट स्वीकार किया—इस प्रकार अनुतप्त व भोग-स्पृहयालु होकर तप के फल की इच्छा न करे। जो ऐसी इच्छा करता है वह इन्द्रियरूपी चोरों का वशवर्ती बना हुआ अपरिमित प्रकार के विकारों को प्राप्त होता है।

१०५—तओ से जायन्ति पओयणाइं
निमज्जिउं मोहमहण्णवम्मि।
सुहेसिणो दुक्खविणोयणट्ठा[2]
तप्पच्चयं[3] उज्जमए य रागी॥

ततस्तस्य जायन्ते प्रयोजनानि
निमज्जितुं मोह-महार्णवे।
सुखैषिणो दुःख-विनोदनार्थं
तत्प्रत्ययमुद्यच्छति च रागी॥

१०५—विकारों की प्राप्ति के पश्चात् उसके समक्ष उसे मोह-महार्णव में डुबोने वाले विषय-सेवन के प्रयोजन उपस्थित होते हैं। फिर वह सुख की प्राप्ति और दुःख के विनाश के लिए अनुरक्त बनकर उन प्रयोजनों की पूर्ति के लिए उद्यम करता है।

---

१. पच्छाणुतावेण (छ०)।
२. दुक्ख विमोयणाय (बृ० पा०)।
३. तप्पच्चया (बृ० पा०)।

१०६—विरज्जमाणस्स य इन्दियत्था
सद्दाइया[1] तावइयप्पगारा।
न तस्स सव्वे वि मणुन्नयं वा
निव्वत्तयन्ती अमणुन्नयं वा ॥

विरज्यमानस्य चेन्द्रियार्थाः
शब्दाद्यास्तावत्प्रकाशः।
न तस्य सर्वेऽपि मनोज्ञतां वा
निर्वर्त्तयन्ति अमनोज्ञतां वा ॥

१०६—जितने प्रकार के शब्द आदि इन्द्रिय-विषय हैं, वे सब विरक्त मनुष्य के मन में मनोज्ञता या अमनोज्ञता उत्पन्न नहीं करते।

१०७—एवं ससंकप्पविकप्पणासुं[2]
संजायई समयमुवट्ठियस्स।
'अत्थे य संकप्पयओ'[3] तओ से
पहीयए कामगुणेसु तण्हा ॥

एवं स्व-संकल्प-विकल्पनासु
संजायते समतोपस्थितस्य।
अर्थांश्च संकल्पयतस्ततस्तस्य
प्रहीयते काम-गुणेषु तृष्णा ॥

१०७—'अपने राग-द्वेषात्मक संकल्प ही सब दोषों के मूल हैं'—जो इस प्रकार के चिन्तन में उद्यत होता है तथा 'इन्द्रिय-विषय दोषों के मूल नहीं है'—इस प्रकार का संकल्प करता है, उसके मन में समता उत्पन्न होती है। उससे उसकी काम-गुणों में होने वाली तृष्णा प्रक्षीण हो जाती है।

१०८—स वीयरागो कयसव्वकिच्चो
खवेइ नाणावरणं खणेणं।
तहेव जं दंसणमावरेइ
जं चऽन्तरायं पकरेइ कम्मं ॥

स वीतरागः कृत-सर्व-कृत्यः
क्षपयति ज्ञानावरणं क्षणेन।
तथैव यत् दर्शनमावृणोति
यदन्तरायं प्रकरोति कर्म ॥

१०८—फिर वह वीतराग सब दिशाओं में कृतकृत्य होकर क्षण भर में ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म का क्षय कर देता है।

१०९—सव्वं तओ जाणइ पासए य
अमोहणे होइ निरन्तराए।
अणासवे झाणसमाहिजुत्ते
आउक्खए मोक्खमुवेइ सुद्धे ॥

सर्वं ततो जानाति पश्यति च
अमोहनो भवति निरन्तरायः।
अनाश्रवो ध्यान-समाधि-युक्तः
आयुः क्षये मोक्षमुपैति शुद्धः ॥

१०९—तत्पश्चात् वह सब कुछ जानता और देखता है तथा मोह और अन्तराय रहित हो जाता है। अन्त में वह आश्रव रहित और ध्यान के द्वारा समाधि में लीन और शुद्ध होकर आयुष्य का क्षय होने ही मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

११०—सो तस्स सव्वस्स दुहस्स मुक्को
जं बाहई सययं जन्तुमेयं।
दीहामयविप्पमुक्को पसत्थो
तो होइ अच्चन्तसुही कयत्थो ॥

स तस्मात् सर्वस्मात् दुःखाद् मुक्तः
यद् बाधते सततं जन्तुमेनम्।
दीर्घामय-विप्रमुक्तः प्रशस्तः
ततो भवत्यत्यन्त-सुखी कृतार्थः ॥

११० जो इस जीव को निरन्तर पीड़ित करता है, उस अशेष दुःख और दीर्घ-कालीन कर्म-रोग से वह मुक्त हो जाता है। इसलिए वह प्रशंसनीय, अत्यन्त सुखी और कृतार्थ हो जाता है।

१११ अणाइकालप्पभवस्स एसो
'सव्वस्स दुक्खस्स पमोक्खमग्गो'[4]।
वियाहिओ जं समुविच्च सत्ता
कमेण अच्चन्तसुही भवन्ति ॥
—त्ति बेमि।

अनादि-काल-प्रभवस्यैषः
सर्वस्य दुःखस्य प्रमोक्ष-मार्गः।
व्याख्यातः यं समुपेत्य सत्त्वाः
क्रमेणाऽत्यन्त-सुखिनो भवन्ति ॥
—इति ब्रवीमि।

१११ मैंने अनादि कालीन सब दुःखों से मुक्त होने का मार्ग बताया है, उसे स्वीकार कर जीव क्रमशः सुखी हो जाते हैं।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

१. वण्णाइया (बृ० पा०)।
२. °विकप्पणासो (बृ० पा०)
३. अत्थे असकप्पयतो (बृ० पा०)।
४. ससार चक्कस्स विमोक्खमग्गे (बृ० पा०)।

तेत्तीसइमं अज्झयणं :
कम्मपयडी

त्रयस्त्रिंश अध्ययन :
कर्म-प्रकृति

आमुख

इस अध्ययन में कर्म की प्रकृतियों का निरूपण है, इसलिए इसका नाम 'कम्मपयडी'—'कर्म-प्रकृति' है।

'कर्म' शब्द भारतीय दर्शन का बहु परिचित शब्द है। जैन, बौद्ध और वैदिक—सभी दर्शनों ने इसे मान्यता दी है। यह क्रिया की प्रतिक्रिया है। अतः इसे अस्वीकार भी नहीं किया जा सकता। वैदिक आदि दर्शन कर्म को संस्कार रूप में स्वीकार करते हैं। जैन-दर्शन की व्याख्या उनसे विलक्षण है। उसके अनुसार कर्म पौद्गलिक है। जब-जब जीव शुभ या अशुभ प्रवृत्ति में प्रवृत्त होता है तब-तब वह अपनी प्रवृत्ति से पुद्गलों का आकर्षण करता है। वे आकृष्ट पुद्गल आत्मा के परिपार्श्व में अपने विशिष्ट रूप और शक्ति का निर्माण करते हैं। उन्हें कर्म कहा जाता है।

कर्म की मूल प्रकृतियाँ आठ हैं—

१. ज्ञानावरण—जो पुद्गल ज्ञान को आवृत्त करते हैं।

२. दर्शनावरण—जो पुद्गल दर्शन को आवृत्त करते हैं।

३. वेदनीय—जो पुद्गल सुख-दुःख के हेतु बनते हैं।

४. मोहनीय—जो पुद्गल दृष्टिकोण और चारित्र में विकार उत्पन्न करते हैं।

५. आयुष्य—जो पुद्गल जीवन-काल को निष्पन्न करते हैं।

६. नाम—जो पुद्गल शरीर आदि विविध रूपों की प्राप्ति में हेतु होते हैं।

७. गोत्र—जो पुद्गल उच्चता या नीचता की अनुभूति में हेतु होते हैं।

८. अन्तराय—जो पुद्गल शक्ति-विकास में बाधक होते हैं।

१—ज्ञानावरण पाँच प्रकार का है—

(१) आभिनिबोधिक (मति) ज्ञानावरण,

(२) श्रुत ज्ञानावरण,

(३) अवधि ज्ञानावरण,

(४) मनःपर्यव ज्ञानावरण और

(५) केवल ज्ञानावरण।

२—दर्शनावरण नौ प्रकार का है—

(१) निद्रा,

(२) प्रचला,

(३) निद्रा-निद्रा,

(४) प्रचला-प्रचला,

(५) स्त्यानर्द्धि,

(६) चक्षुदर्शनावरण,

(७) अचक्षुदर्शनावरण,

(८) अवधिदर्शनावरण और

(९) केवलदर्शनावरण।

३—वेदनीय दो प्रकार का है—

(१) सात वेदनीय और

(२) असात वेदनीय।

४—मोहनीय दो प्रकार का है—

(१) दर्शन मोहनीय। इसके तीन भेद हैं—सम्यक्त्व मोहनीय, मिथ्यात्व मोहनीय और सम्यक्-मिथ्यात्व मोहनीय।

(२) चारित्र मोहनीय। यह दो प्रकार का है— कषाय मोहनीय और नो-कषाय मोहनीय।

कषाय मोहनीय १६ प्रकार का है—

अनन्तानुबन्धी चतुष्क—	क्रोध, मान, माया, लोभ।
अप्रत्याख्यान चतुष्क—	क्रोध, मान, माया, लोभ।
प्रत्याख्यान चतुष्क—	क्रोध, मान, माया, लोभ।
संज्वलन चतुष्क—	क्रोध, मान, माया, लोभ।

नो-कषाय मोहनीय नौ प्रकार का है—

हास्य, रति, अरति, भय, जुगुप्सा, पुंवेद, स्त्री वेद, नपुंसक वेद।

५—आयुष्य चार प्रकार का है—

(१) नैरयिक आयु,

(२) तिर्यग् आयु,

(३) मनुष्य आयु और

(४) देव आयु।

६—नाम दो प्रकार का है—

(१) शुभ और

(२) अशुभ।

इन दोनों के अनेक अवान्तर भेद हैं।

७—गोत्र दो प्रकार का है—

(१) उच्च गोत्र और

(२) नीच गोत्र।

उच्च गोत्र-कर्म के आठ भेद हैं—

(१) प्रशस्त जाति,

(२) प्रशस्त कुल,

(३) प्रशस्त बल,

(४) प्रशस्त रूप,

(५) प्रशस्त तपस्या,

(६) प्रशस्त श्रुत (ज्ञान),

(७) प्रशस्त लाभ और

(८) प्रशस्त ऐश्वर्य।

नीच गोत्र-कर्म के आठ भेद हैं—

(१) *अप्रशस्त जाति,*

(२) *अप्रशस्त कुल,*

(३) *अप्रशस्त बल,*

(४) *अप्रशस्त रूप*

(५) *अप्रशस्त तपस्या,*

(६) *अप्रशस्त (ज्ञान)*

(७) *अप्रशस्त लाभ*

(८) *अप्रशस्त ऐश्वर्य*

८—अन्तराय-कर्म पाँच प्रकार का है—

(१) *दानान्तराय,*

(२) *लाभान्तराय,*

(३) *भोगान्तराय,*

(४) *उपभोगान्तराय और*

(५) *वीर्यान्तराय*

१—कर्मों की प्रकृति—

कर्म की मूल प्रकृतियाँ उपर्युक्त आठ ही हैं। शेष सब उनकी उत्तर प्रकृतियाँ हैं। इनका विस्तृत वर्णन प्रज्ञापना (पद २३) में है।

२—कर्मों की स्थिति-

प्रत्येक कर्म की स्थिति होती है। स्थिति-काल के पूर्ण होने पर वह कर्म नष्ट हो जाता है। कई निमित्तों से स्थिति न्यून या अधिक भी होती है।

(१) *ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति तीस क्रोडाक्रोड सागर और जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की है।*

(२) *मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति ७० क्रोडाक्रोड सागर तथा जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की है।*

(३) *आयु कर्म की उत्कृष्ट स्थिति ३३ सागर तथा जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की है।*

(४) *नाम और गोत्र कर्म की उत्कृष्ट स्थिति २० क्रोडाक्रोड सागर तथा जघन्य स्थिति आठ मुहूर्त की है।*

३ - कर्मों का अनुभाव—

कर्म के विपाक को अनुभाग, अनुभाव, फल या रस कहा जाता है। विपाक दो प्रकार का है—तीव्र और मन्द। तीव्र परिणामों से बन्धे हुए कर्म का विपाक तीव्र और मन्द परिणामों से बन्धे हुए कर्म का मन्द होता है। विशेष प्रयत्न के द्वारा तीव्र मन्द और मन्द तीव्र हो जाता है।

४—कर्मों का प्रदेशाग्र -

कर्म प्रायोग्य पुद्गल जीव की शुभ-अशुभ प्रवृत्ति के द्वारा आकृष्ट होकर आत्मा के प्रदेशों के साथ चिपक जाते हैं। कर्म अनन्त-प्रदेशी पुद्गल-स्कन्ध होते हैं और आत्मा के असंख्य प्रदेशों के साथ एकीभाव हो जाते हैं।

तेतीसइमं अज्झयणं : त्रयस्त्रिंश अध्ययन

कम्मपयडी : कर्म-प्रकृतिः

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
१—अट्ठ कम्माइं वोच्छामि आणुपुव्वि जहक्कमं[1]। जेहिं बद्धो अयं जीवो संसारे परिवत्तए[2] ॥	अष्ट कर्माणि वक्ष्यामि आनुपूर्व्या यथाक्रमम् । यैर्बद्धोऽयं जीवः संसारे परिवर्तते ॥	१—मैं अनुपूर्वी से क्रमानुसार (पूर्वानुपूर्वी से) आठ कर्मों का निरूपण करूंगा, जिनसे बन्धा हुआ यह जीव संसार में परिवर्तन करता है ।
२—नाणस्सावरणिज्जं दंसणावरणं तहा । वेयणिज्जं तहा मोहं आउकम्मं तहेव य ॥	ज्ञानस्यावरणीयं दर्शनावरणं तथा । वेदनीयं तथा मोहः आयुः-कर्म तथैव च ॥	२—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोह, आयु,
३—नामकम्मं च गोयं च अन्तरायं तहेव य । एवमेयाइ कम्माइं अट्ठेव उ समासओ ॥	नाम कर्म च गोत्रं च अन्तरायस्तथैव च । एवमेतानि कर्माणि अष्टैव तु समासतः ॥	३—नाम, गोत्र और अन्तराय—इस प्रकार संक्षेप में ये आठ कर्म हैं ।
४—नाणावरणं पंचविहं सुयं आभिणिबोहियं । ओहिनाणं तइयं मणनाणं च केवलं ॥	ज्ञानावरणं पंचविधं श्रुतमाभिनिबोधिकम् । अवधि-ज्ञानं तृतीयं मनो-ज्ञानं च केवलम् ॥	४—ज्ञानावरण पाँच प्रकार का है—(१) श्रुत-ज्ञानावरण, (२) आभिनिबोधिक-ज्ञानावरण, (३) अवधि-ज्ञानावरण, (४) मनो-ज्ञानावरण और (५) केवल-ज्ञानावरण ।
५—निद्दा तहेव पयला निद्दानिद्दा य पयलपयला य । तत्तो य थीणगिद्धो उ पंचमा होइ नायव्वा ॥	निद्रा तथैव प्रचला निद्रा-निद्रा प्रचला-प्रचला च । ततश्च स्त्यान-गृद्धिस्तु पंचमी भवति ज्ञातव्या ॥	५—(१) निद्रा, (२) प्रचला, (३) निद्रा-निद्रा, (४) प्रचला-प्रचला, (५) स्त्यान-गृद्धि,

१. सुणेह मे (बृ० पा०)।
२. परिभम्मए (बृ० पा०)।

६—चक्खुमचक्खुओहिस्स
दंसणे केवले य आवरणे।
एवं[1] तु नवविगप्पं
नायव्वं दंसणावरणं॥

चक्षुरचक्षुरवधेः
दर्शने केवले चावरणे।
एवं तु नव-विकल्पं
ज्ञातव्यं दर्शनावरणम्॥

६—(६) चक्षु-दर्शनावरण, (७) अचक्षु-दर्शनावरण, (८) अवधि-दर्शनावरण और (६) केवल-दर्शनावरण—इस प्रकार दर्शनावरण नौ प्रकार का है।

७—वेयणीयं पि य[2] दुविहं
सायमसायं च आहियं।
सायस्स उ बहू भेया
एमेव असायस्स वि॥

वेदनीयमपि च द्विविधं
सातमसातं चाख्यातम्।
सातस्य तु बहवो भेदाः
एवमेवाऽसातस्यापि॥

७—वेदनीय दो प्रकार का है—(१) सात-वेदनीय और (२) असात-वेदनीय। इन दोनों वेदनीयों के अनेक प्रकार हैं।

८—मोहणिज्जं पि दुविहं
दंसणे चरणे तहा।
दंसणे तिविहं वुत्तं
चरणे दुविहं भवे॥

मोहनीयमपि द्विविधं
दर्शने चरणे तथा।
दर्शने त्रिविधमुक्तं
चरणे द्विविधं भवेत्॥

८—मोहनीय भी दो प्रकार का है—(१) दर्शन-मोहनीय और (२) चारित्र-मोहनीय। दर्शन-मोहनीय तीन प्रकार का और चारित्र-मोहनीय दो प्रकार का होता है।

९—सम्मत्तं चेव मिच्छत्तं
सम्मामिच्छत्तमेव य।
एयाओ तिन्नि पयडीओ
मोहणिज्जस्स दंसणे॥

सम्यक्त्वं चैव मिथ्यात्वं
सम्यङ्मिथ्यात्वमेव च।
एतास्तिस्रः प्रकृतयः
मोहनीयस्य दर्शने॥

९—(१) सम्यक्त्व, (२) मिथ्यात्व और (३) सम्यग्-मिथ्यात्व—दर्शन-मोहनीय की ये तीन प्रकृतियाँ हैं।

१०—'चरित्तमोहणं कम्मं
दुविहं तु वियाहियं'[3]।
'कसायमोहणिज्जं तु'[4]
नोकसायं तहेव य॥

चरित्र-मोहनं कर्म
द्विविधं तु व्याख्यातम्।
कषाय-मोहनीयं च
नोकषायं तथैव च॥

१०—चारित्र-मोहनीय दो प्रकार का है—(१) कषाय-मोहनीय और (२) नोकषाय-मोहनीय।

११—सोलसविहभेएणं
कम्मं तु कसायजं।
सत्तविहं नवविहं वा
कम्मं नोकसायजं॥

षोडशविधं भेदेन
कर्म तु कषायजम्।
सप्तविधं नवविधं वा
कर्म च नोकषायजम्॥

११—कषाय-मोहनीय कर्म के सोलह भेद होते हैं और नोकषाय-मोहनीय कर्म के सात या नौ भेद होते हैं।

---

१. एयं (अ)।
२. हु (बृ०)।
३. चरित्तमोहणिज्जं दुविहं वोच्छामि अणुपुव्वसो (बृ० पा०)।
४. °वेयणिज्जं च (बृ०)।

१२—नेरइयतिरिक्खाउ
मणुस्साउ तहेव य।
देवाउयं चउत्थं तु[1]
आउकम्मं चउव्विहं ॥

नैरयिक-तिर्यगायुः
मनुष्यायुस्तथैव च।
देवायुश्चतुर्थं तु
आयुः-कर्म चतुर्विधम् ॥

१२—आयु-कर्म चार प्रकार का है—(१) नैरयिक-आयु, (२) तिर्यग्-आयु, (३) मनुष्य-आयु और (४) देव-आयु।

१३—नामं कम्मं तु[2] दुविहं
सुहमसुहं 'च आहियं'[3]।
सुहस्स उ[4] बहू भेया
एमेव असुहस्स वि ॥

नाम कर्म द्विविधं
शुभमशुभं चाख्यातम्।
शुभस्य बहवो भेदाः
एवमेवाऽशुभस्यापि ॥

१३—नाम-कर्म दो प्रकार का है—(१) शुभ-नाम, और (२) अशुभनाम।
इन दोनों के अनेक प्रकार हैं।

१४—गोयं कम्मं दुविहं
उच्चं नीयं च आहियं।
उच्चं अट्ठविहं होइ
एवं नीयं पि आहियं ॥

गोत्रं कर्म द्विविधं
उच्चं नीचं चाख्यातम्।
उच्चमष्टविधं भवति
एवं नीचमप्याख्यातम् ॥

१४—गोत्र-कर्म दो प्रकार है—(१) उच्च गोत्र और (२) नीच गोत्र। इन दोनों के आठ-आठ प्रकार हैं।

१५—दाणे लाभे य भोगे य
उवभोगे वीरिए तहा।
पंचविहमन्तरायं
समासेण वियाहियं ॥

दाने लाभे च भोगे च
उपभोगे वीर्ये तथा।
पंचविधोन्तरायः
समासेन व्याख्यातः ॥

१५—अन्तराय-कर्म संक्षेप में पाँच प्रकार का है—(१) दानान्तराय, (२) लाभान्तराय, (३) भोगान्तराय, (४) उपभोगान्तराय और (५) वीर्यान्तराय।

१६—एयाओ मूलपयडीओ
उत्तराओ य आहिया।
पएसग्गं खेत्तकाले य
भावं चादुत्तरं सुण ॥

एता मूल-प्रकृतयः
उत्तराश्चाख्याताः।
प्रदेशाग्रं क्षेत्र-कालौ च
भावं चोत्तरं शृणु ॥

१६—कर्मों की ये ज्ञानावरण आदि आठ मूल प्रकृतियाँ और श्रुत-ज्ञानावरण आदि सत्तावन उत्तर प्रकृतियाँ कही गई हैं। इसके आगे तू उनके प्रदेशाग्र (परमाणुओं के परिमाण) क्षेत्र, काल और भाव (अनुभाग-पर्याय) को सुन।

१७—सव्वेसिं चेव कम्माणं
पएसग्गमणन्तगं।
गण्ठियसत्ताईयं[5]
अन्तो सिद्धाण आहियं ॥

सर्वेषां चैव कर्मणां
प्रदेशाग्रमनन्तकम्।
ग्रन्थिक-सत्त्वातीतम्
अन्तः सिद्धानामाख्यातम् ॥

१७—एक समय में ग्राह्य सब कर्मों का प्रदेशाग्र अनन्त है। वह अभव्य जीवों से अनन्त गुण अधिक और सिद्ध आत्माओं के अनन्तवें भाग जितना होता है।

---

१. २,—× (उ, ऋ०)।
३. वियाहियं (उ, ऋ०)।
४. य (उ, ऋ०)।
५. गण्ठि सत्ताणाइ (बृ० पा०)।

१८—सव्वजीवाण कम्मं तु
संगहे छद्दिसागयं ।
सव्वेसु वि पएसेसु
सव्वं सव्वेण बद्धगं ॥

सर्व-जीवानां कर्म तु
संग्रहे षड्दिशागतम् ।
सर्वेष्वपि प्रदेशेषु
सर्वं-सर्वेण बद्धकम् ॥

१८—सब जीवों के संग्रह-योग्य पुद्गल छहों दिशाओं—आत्मा से संलग्न सभी आकाश प्रदेशों में स्थित हैं। वे सब कर्म-परमाणु बन्ध-काल में एक आत्मा के सभी प्रदेशों के साथ सम्बद्ध होते हैं।

१९—उदहीसरिनामाणं
तीसई कोडिकोडिओ ।
उक्कोसिया ठिई होइ
अन्तोमुहुत्तं जहन्निया ॥

उदधि-सदृग्-नाम्नां
त्रिंशत्कोटि-कोटयः ।
उत्कृष्टा स्थितिर्भवति
अन्तर्मुहूर्तं जघन्यिका ॥

१९-२०—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय और अन्तराय-कर्म की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोटि-कोटि सागर और जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की होती है।

२०—आवरणिज्जाण दुण्हं पि
वेयणिज्जे तहेव य ।
अन्तराए य कम्मम्मि
ठिई एसा वियाहिया ॥

आवरणयोर्द्वयोरपि
वेदनीये तथैव च ।
अन्तराये च कर्मणि
स्थितरेषा व्याख्याता ॥

२०—

२१—उदहीसरिनामाणं
सत्तरिं कोडिकोडिओ ।
मोहणिज्जस्स उक्कोसा
अन्तोमुहुत्तं जहन्निया ॥

उदधि-सदृग्-नाम्नां
सप्ततिः कोटि-कोटयः ।
मोहनीयस्योत्कृष्टा
अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यिका ॥

२१—मोहनीय-कर्म की उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोटि-कोटि सागर और जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की होती है।

२२—तेत्तीस सागरोवमा
उक्कोसेण वियाहिया ।
ठिई उ आउकम्मस्स
अन्तोमुहुत्तं जहन्निया ॥

त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमा
उत्कर्षेण व्याख्याता ।
स्थितिस्त्वायुः-कर्मणः
अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यिका ॥

२२—आयु-कर्म की उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागर और जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की होती है।

२३—उदहीसरिनामाणं
वीसई कोडिकोडिओ ।
नामगोत्ताणं उक्कोसा
अट्ठ मुहुत्ता जहन्निया ॥

उदधि-सदृग्-नाम्नां
विंशति कोटि-कोटयः ।
नाम-गोत्रयोरुत्कृष्टा
अष्ट मुहूर्ता जघन्यिका ॥

२३—नाम और गोत्र कर्म की उत्कृष्ट स्थिति बीस कोटि-कोटि सागर और जघन्य स्थिति आठ मुहूर्त्त की होती है।

२४—सिद्धाणऽणन्तभागो य[1]
अणुभागा हवन्ति उ।
सव्वेसु वि पएसग्गं
सव्व जीवेसुऽइच्छियं[2] ॥

सिद्धानामनन्त-भागश्च
अनुभागा भवन्ति तु।
सर्वेष्वपि प्रदेशाग्रं
सर्वजीवेभ्योऽतिक्रान्तम् ॥

२४—कर्मों के अनुभाग सिद्ध आत्माओं के अनन्तवें भाग जितने होते हैं। सब अनुभागों का प्रदेश-परिमाण सब जीवों से अधिक होता है।

२५—तम्हा एएसि कम्माणं
अणुभागे वियाणिया।
एएसिं संवरे चेव
खवणे य जए बुहे ॥
—त्ति बेमि।

तस्मादेतेषां कर्मणाम्
अनुभागान् विज्ञाय।
एतेषां सम्वरे चैव
क्षपणे च यतेत बुधः ॥
—इति ब्रवीमि।

२५—इन कर्मों के अनुभागों को जानकर बुद्धिमान इनका निरोध और क्षय करने का यत्न करे।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

---

१. × (उ, ऋ०)।
२. जीवे स इच्छियं (अ, ऋ०); जीवे अइच्छियं (स)।

३—कर्म-निष्यन्द ।[1]

४—कार्मण शरीर की भाँति कर्म-वर्गणा निष्पन्न कर्म-द्रव्य ।[2]

इन शास्त्रीय परिभाषाओं के अनुसार लेश्या से जीव और कर्म पुद्गलों का सम्बन्ध होता है, कर्म की स्थिति निष्पन्न होती है और कर्म का उदय होता है। इन सारे अभिमतों से इतनी निष्पत्ति तो निश्चित है कि आत्मा को शुद्धि और अशुद्धि के साथ लेश्या जुड़ी हुई है ।

प्रभाववाद की दृष्टि से दोनों परम्पराएँ प्राप्त होती हैं—

१—पौद्गलिक लेश्या का मानसिक विचारों पर प्रभाव ।

२—मानसिक विचारों का लेश्या पर प्रभाव ।

कृष्णादिद्रव्यसाचिव्यात्, परिणामो य आत्मनः ।
स्फटिकस्येव तत्रायं, लेश्या-शब्दः प्रवर्तते ॥

इस प्रसिद्ध श्लोक की ध्वनि यही है—कृष्ण आदि लेश्या-पुद्गल जैसे होते हैं, वैसे ही मानसिक परिणति होती है । दूसरी धारा यह है—कषाय की मंदता से अध्यवसाय की शुद्धि होती है और अध्यवसाय की शुद्धि से लेश्या की शुद्धि होती है ।[3] प्रस्तुत अध्ययन से भी यही ध्वनित होता है ।

पाँच आश्रवों में प्रवृत्त मनुष्य कृष्ण-लेश्या में परिणत होता है अर्थात् उसकी आणविक-आभा (पर्यावरण) कृष्ण होती है । लेश्या के लक्षण गोम्मटसार (जीवकाण्ड ५०८-५१६) तथा तत्त्वार्थ-वार्तिक (४।२२) में मिलते हैं ।

मनुस्मृति (१२।२६-३८) में सत्त्व, रजस् और तमस् के जो लक्षण और कार्य बतलाए गए हैं, वे लेश्या के लक्षणों से तुलनीय हैं ।

१—बृहद्वृत्ति, पत्र ६५० ।

२—वही, पत्र ६५१ ।

३—(क) मूलाराधना, ७।१९११ :

लेस्सासोधी अज्झवसाणविसोधीए होइ जनस्स ।
अज्झवसाणविसोधी, मंदलेसायस्स णादव्वा ॥

(ख) मूलाराधना (अमितगति), ७।१९६७ :

अन्तर्विशुद्धितो जन्तोः, शुद्धिः सम्पद्यते बहिः ।
बाह्यो हि शुध्यते दोषः सर्वमन्तरदोषतः ॥

चउतीसइमं अज्झयणं :
लेसज्झयणं

चतुस्त्रिंश अध्ययन :
लेश्याध्ययन

चउतीसइमं अज्झयणं : चतुस्त्रिंश अध्ययन

लेसज्झयणं : लेश्याध्ययनम्

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
१—लेसज्झयणं पवक्खामि आणुपुव्विं जहक्कमं । छण्हं पि कम्मलेसाणं अणुभावे सुणेह मे ॥	लेश्याध्ययनं प्रवक्ष्यामि आनुपूर्व्या यथाक्रमम् । षण्णामपि कर्म-लेश्यानां अनुभावान् शृणुत मे ॥	१—मैं अनुपूर्वी से क्रमानुसार (पूर्वानुपूर्वी से) लेश्या-अध्ययन का निरूपण करूँगा। छहों कर्म-लेश्याओं के अनुभावों को तुम मुझ से सुनो।
२—नामाइं वण्णरसगन्ध- फासपरिणामलक्खणं । ठाणं ठिइं गइं चाउं लेसाणं तु सुणेह मे ॥	नामानि वर्ण-रस-गन्ध- स्पर्श-परिणाम-लक्षणानि । स्थानं स्थितिं गतिं चायुः लेश्यानां तु शृणुत मे ॥	२—लेश्याओं के नाम, वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श, परिणाम, लक्षण, स्थान, स्थिति, गति और आयुष्य को तुम मुझ से सुनो।
३—किण्हा नीला य काऊ य तेऊ पम्हा तहेव य । सुक्कलेसा य छट्ठा उ नामाइं तु जहक्कमं ॥	कृष्णा नीला च कापोती च तैजसी पद्मा तथैव च । शुक्ल-लेश्या च षष्ठी तु नामानि तु यथाक्रमम् ॥	३—यथाक्रम से लेश्याओं के ये नाम हैं—(१) कृष्ण, (२) नील, (३) कापोत, (४) तेजस्, (५) पद्म और (६) शुक्ल।
४—जीमूयनिद्धसंकासा गवलरिट्ठगसन्निभा । खंजणंजणनयणनिभा[1] किण्हलेसा उ वण्णओ ॥	स्निग्ध-जीमूत-संकाशा गवलारिष्टक-सन्निभा । खंजनाञ्जननयन-निभा कृष्ण-लेश्या तु वर्णतः ॥	४—कृष्ण लेश्या का वर्ण स्निग्ध मेघ, महिष-शृंग, द्रोण-काक, खञ्जन, अंजन व नयन-तारा के समान होता है।
५—नीलाऽसोगसंकासा चासपिच्छसमप्पभा । वेरुलियनिद्धसंकासा नीललेसा उ वण्णओ ॥	नीलाऽशोक-संकाशा चाषपिच्छ-समप्रभा । स्निग्धवैडूर्य-संकाशा नील-लेश्या तु वर्णतः ॥	५—नील-लेश्या का वर्ण नील, अशोक चाष पक्षी के परों व स्निग्ध वैडूर्य मणि के समान होता है।

१. च (ब, ऋ०)।

आमुख

इस अध्ययन का नाम 'लेसज्झयणं'—'लेश्याध्ययन' है। इसका अधिकृत विषय कर्म-लेश्या है।[1] इसमें कर्म-लेश्या के नाम, वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श, परिणाम, लक्षण, स्थान, स्थिति, गति और आयुष्य का निरूपण किया गया है। इसका विशद वर्णन प्रज्ञापना (पद १७) में मिलता है।

लेश्या एक प्रकार का पौद्गलिक पर्यावरण है। इसकी खोज जीव और पुद्गल के स्कन्धों का अध्ययन करते समय हुई है। जीव से पुद्गल और पुद्गल से जीव प्रभावित होते हैं। जीव को प्रभावित करने वाले पुद्गलों के अनेक वर्ग हैं। उनमें एक वर्ग का नाम लेश्या है। लेश्या शब्द का अर्थ आणविक-आभा, कान्ति, प्रभा या छाया है।[2] छाया पुद्गलों से प्रभावित होने वाले जीव-परिणामों को भी लेश्या कहा गया है।[3] प्राचीन साहित्य में शरीर के वर्ण, आणविक-आभा और उससे प्रभावित होने वाले विचार—इन तीनों अर्थों में लेश्या की मार्गणा की गई है।

शरीर के वर्ण और आणविक-आभा को द्रव्य-लेश्या[4] (पौद्गलिक-लेश्या) और विचार को भाव-लेश्या[5] (मानसिक-लेश्या) कहा गया है।

प्रस्तुत अध्ययन में कृष्ण, नील और कापोत—इस प्रथम त्रिक को 'अधर्म-लेश्या' कहा गया है। (श्लो० ५६, ५७)

अध्ययन के आरम्भ में छहों लेश्याओं को 'कर्म-लेश्या' कहा गया है। (श्लो० १)

आणविक-आभा कर्म-लेश्या का ही नामान्तर है। आठ कर्मों में छठा कर्म नाम है। उसका सम्बन्ध शरीर-रचना सम्बन्धी पुद्गलों से है। उसकी एक प्रकृति शरीर-नाम-कर्म है। शरीर-नाम-कर्म के पुद्गलों का ही एक वर्ग 'कर्म-लेश्या' कहलाता है।[6]

लेश्या की अनेक परिभाषाएँ मिलती हैं। जैसे—

१—योग-परिणाम।[7]

२—कषायोदय रञ्जित योग-प्रवृत्ति।[8]

१—उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा ५४१ :
अहिगारो कम्मलेसाए।

२—बृहद्वृत्ति, पत्र ६५० :
लेशयति—श्लेषयतीवात्मनि जननयनानीति लेश्या—अतीव चक्षुराक्षेपिका स्निग्धदीप्तरूपा छाया।

३—मूलाराधना, ७।१९०७ :
जह बाहिरलेस्साओ, किन्हादीओ हवंति पुरिसस्स।
अब्भन्तरलेस्साओ, तह किण्हादीय पुरिसस्स॥

४—(क) गोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ४९४ :
वण्णोदयेण जणिदो सरीरवण्णो दु दव्वदो लेस्सा।
सा सोढा कियहादी अणेयभेया सभेयेण॥
(ख) उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा ५३९।

५—उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा ५४०।

६—बृहद्वृत्ति, पत्र ६५०।

७—वही, पत्र ६५०।

८—गोम्मटसागर, जीवकाण्ड, गाथा ४९० :
जोगपउत्ती लेस्सा कसायउदयाणुरंजिया होइ।

६—अयसीपुप्फसंकासा
कोइलच्छदसन्निभा[1] ।
पारेवयगीवनिभा
काउलेसा उ वण्णओ ॥

अतसी पुष्प-संकाशा
कोकिलच्छद-सन्निभा ।
पारापतग्रीवा-निभा
कापोत-लेश्या तु वर्णतः ॥

६—कापोत लेश्या का वर्ण अलसी के पुष्प, तैल-कण्टक व कबूतर की ग्रीवा के समान होता है ।

७—हिंगुलुयधाउसंकासा
तरुणाइच्चसन्निभा ।
सुयतुण्डपईवनिभा[2]
तेउलेसा उ वण्णओ ॥

हिंगुलुक-धातु-संकाशा
तरुणादित्य-सन्निभा ।
शुकतुण्ड-प्रदीप-निभा
तेजो-लेश्या तु वर्णतः ॥

७—तेजो लेश्या का वर्ण हिंगुल, गेरु, नवोदित सूर्य, तोते की चोंच, प्रदीप की लौ के समान होता है ।

८—हरियालभेयसंकासा
हलिद्दाभेयसंनिभा[3] ।
सणासणकुसुमनिभा
पम्हलेसा उ[4] वण्णओ ॥

हरितालभेद-संकाशा
हरिद्राभेद-सन्निभा ।
सणासनकुसुम-निभा
पद्म-लेश्या तु वर्णतः ॥

८—पद्म लेश्या का वर्ण भिन्न हरिताल, भिन्न-हल्दी, सण और असन के पुष्प के समान होता है ।

९—संखंककुन्दसंकासा
खीरपूरसमप्पभा[5] ।
रययहारसंकासा
सुक्कलेसा उ वण्णओ ॥

शङ्खाङ्ककुन्द-संकाशा
क्षीरपूर-समप्रभा ।
रजतहार-संकाशा
शुक्ल-लेश्या तु वर्णतः ॥

९—शुक्ल लेश्या का वर्ण शंख, अंकमणि, कुन्द-पुष्प, दुग्ध-प्रवाह, चांदी व मुक्ताहार के समान होता है ।

१०—जह कडुयतुम्बगरसो
निम्बरसो कडुयरोहिणिरसो वा ।
एत्तो वि अणन्तगुणो
रसो उ[6] किण्हाए नायव्वो ॥

यथा कटुकतुम्बक-रसः
निम्ब-रसः कटुकरोहिणी-रसो वा ।
इतोऽप्यनन्त-गुणः
रसस्तु कृष्णाया ज्ञातव्यः ॥

१०—कडुवे तुम्बे, नीम व कटुक रोहिणी का रस जैसा कड़ुवा होता है, उससे भी अनन्त गुना कड़ुवा रस कृष्ण लेश्या का होता है ।

---

१. °च्छवि (बृ० पा०) ।
२. सुयतुंडगसंकासा, सुयतुण्डाकलदीवाभा (बृ० पा०) ;
३. °सप्पभा (अ, आ, इ) ।
४. य (ऋ०) ।
५. खीरतूल° (बृ०) ; खीरधार° ; खीरपूर° (बृ० पा०) ।
६. य (ऋ०) ।

११—जह तिगडुयस्स य रसो
तिक्खो जह हत्थिपिप्पलीए वा।
एत्तो वि अणन्तगुणो
रसो उ नीलाए नायव्वो ॥

यथा त्रिकटुकस्य च रसः
तीक्ष्णः यथा हस्तिपिप्पल्या वा ।
इतोऽप्यनन्तगुणः
रसस्तु नीलाया ज्ञातव्यः ॥

११—त्रिकटु और गजपीपल का रस जैसा तीखा होता है, उससे भी अनन्त गुना तीखा रस नील लेश्या का होता है ।

१२—जह तरुणअम्बगरसो
तुवरकविट्ठस्स[1] वावि जारिसओ।
एत्तो वि अणन्तगुणो
रसो उ काऊए नायव्वो ॥

यथा तरुणाम्रक-रसः
तुवर-कपित्थस्य वापि यादृशः ।
इतोऽप्यनन्तगुणः
रसस्तु कापोताया ज्ञातव्यः ॥

१२—कच्चे आम और कच्चे कपित्थ का रस जैसा कसैला होता है, उससे भी अनन्त गुना कसैला रस कापोत लेश्या का होता है ।

१३—जहपरिणयम्बगरसो
पक्ककविट्ठस्स वावि जारिसओ ।
एत्तो वि अणन्तगुणो
रसो उ[2] तेऊए नायव्वो ॥

यथा परिणताम्रक-रसः
पक्व-कपित्थस्य वापि यादृशः ।
इतोऽप्यनन्तगुणः
रसस्तु तेजो-लेश्याया ज्ञातव्यः ॥

१३—पके हुए आम और पके हुए कपित्थ का रस जैसा खट-मीठा होता है, उससे भी अनन्त गुना खट-मीठा रस तेजो लेश्या का होता है ।

१४—वरवारुणीए व रसो
विविहाण व आसवाण जारिसओ।
'महुमेरगस्स व रसो
एत्तो पम्हाए[3] परएणं'[4] ॥

वरवारुण्या इव रसः
विविधानामिवाऽऽसवानां यादृशः ।
मधु-मैरेयकस्येवरसः
इतः पद्मायाः परकेण ॥

१४—प्रधान सुरा, विविध आसवों, मधु और मैरेयक मदिरा का रस जैसा अम्ल—कसैला होता है, उससे भी अनन्त गुना अम्ल—कसैला रस पद्म लेश्या का होता है ।

१५—खज्जूरमुद्दियरसो
खीररसो खण्डसक्कररसो वा ।
एत्तो वि अणन्तगुणो
रसो उ[5] सुक्काए नायव्वो ॥

खर्जूर-मृद्वीका-रसः
क्षीर-रसः खण्ड-शर्करा-रसो वा ।
इतोऽप्यनन्तगुणः
रसस्तु शुक्लाया ज्ञातव्यः ॥

१५—खजूर, दाख, क्षीर, खांड और शक्कर का रस जैसा मीठा होता है, उससे भी अनन्त गुना मीठा रस शुक्ल लेश्या का होता है ।

१६—जह गोमडस्स गन्धो
सुणगमडगस्स[6] व जहा अहिमडस्स।
'एत्तो वि'[7] अणन्तगुणो
लेसाणं अप्पसत्थाणं ॥

यथा गो-मृतकस्य गन्धः
शुनक-मृतकस्य वा यथाऽहि-मृतकस्य ।
इतोऽप्यनन्तगुणो
लेश्यानामप्रशस्तानाम् ॥

१६—गाय, श्वान और सर्प के मृत कलेवर की जैसी गन्ध होती है, उससे भी अनन्त गुना गन्ध तीनों अप्रशस्त लेश्याओं की होती है ।

१. तुम्बर° (अ); तुंबरु° (उ); अह° (बृ० पा०)।
२. य (ऋ०)।
३. पम्हाउ (अ)।
४. एत्तो वि अणंत गुणो रसो उ पम्हाए नायव्वो (बृ० पा०)।
५. य (ऋ०)।
६. °मडस्स (उ, ऋ०)।
७. एत्तोउ (अ); इत्तो वि (उ, ऋ०)

१७—जह सुरहिकुसुमगन्धो
गन्धवासाण[1] पिस्समाणाणं[2]।
'एत्तो वि'[3] अणन्तगुणो
पसत्थलेसाण तिण्हं पि ॥

यथा सुरभिकुसुम-गन्धः
गन्ध-वासानां पिष्यमाणानाम्।
इतोऽप्यनन्तगुणः
प्रशस्त-लेश्यानां तिसृणामपि ॥

१७—सुगन्धित पुष्पों और पीसे जा रहे सुगन्धित पदार्थों की जैसी गन्ध होती है, उससे भी अनन्त गुण गन्ध तीनों प्रशस्त लेश्याओं की होती है।

१८—जह करगयस्स फासो
गोजिब्भाए व सागपत्ताणं।
एत्तो वि अणन्तगुणो
लेसाणं अप्पसत्थाणं ॥

यथा क्रकचस्य स्पर्शः
गो-जिह्वायाश्च शाक-पत्राणाम्।
इतोऽप्यनन्तगुणो
लेश्यानामप्रशस्तानाम् ॥

१८—करवत, गाय की जीभ और शाक वृक्ष के पत्रों का स्पर्श जैसा कर्कश होता है, उससे भी अनन्त गुण कर्कश स्पर्श तीनों अप्रशस्त लेश्याओं का होता है।

१९—जह बूरस्स व फासो
नवणीयस्स व सिरीसकुसुमाणं।
एत्तो वि अणन्तगुणो
पसत्थलेसाण तिण्हं पि ॥

यथा बूरस्य वा स्पर्शः
नवनीतस्य वा शिरीष-कुसुमानाम्।
इतोऽप्यनन्तगुणः
प्रशस्त-लेश्यानां तिसृणामपि ॥

१९—बूर, नवनीत और सिरीष के पुष्पों का स्पर्श जैसा मृदु होता है, उससे भी अनन्त गुण मृदु स्पर्श तीनों प्रशस्त लेश्याओं का होता है।

२०—तिविहो व नवविहो वा
सत्तावीसइविहेक्कसीओ वा।
दुसओ तेयालो वा
लेसाणं होइ परिणामो ॥

त्रिविधो वा नवविधो वा
सप्तविंशतिविध एकाशीतिविधो वा।
त्रिचत्वारिंशदधिकद्विशतविधो वा
लेश्यानां भवति परिणामः ॥

२०—लेश्याओं के तीन, नौ, सत्ताईस, इक्यासी या दो सौ तैंतालीस प्रकार के परिणाम होते हैं।

२१—पंचासवप्पवत्तो[4]
तीहिं अगुत्तो छसुं अविरओ य।
'तिव्वारम्भपरिणओ
खुद्दो साहसिओ नरो'[5] ॥

पंचाश्रव-प्रवृत्तः
तिसृभिरगुप्तः षट्स्वविरतश्च।
तीव्रारम्भ-परिणतः
क्षुद्रः साहसिको नरः ॥

२१—जो मनुष्य पाँचों आश्रवों में प्रवृत्त है, तीन गुप्तियों से अगुप्त है, षट्काय में अविरत है, तीव्र आरम्भ (सावद्य-व्यापार) में संलग्न है, क्षुद्र है, बिना विचारे कार्य करने वाला है,

२२—'निद्धन्धसपरिणामो
निस्संसो अजिइन्दिओ'[6]।
एयजोगसमाउत्तो
किण्हलेसं तु परिणमे ॥

निश्शङ्क-परिणामः
नृशंसोऽजितेन्द्रियः।
एतद्योगसमायुक्तः
कृष्ण-लेश्यां तु परिणमेत् ॥

२२—लौकिक और पारलौकिक दोषों की शंका से रहित मन वाला है, नृशंस है, अजितेन्द्रिय है—जो इन सभी से युक्त है, वह कृष्ण लेश्या में परिणत होता है।

---

१. गंधाण य (बृ० पा०)।
२. पिस्समाणेणं (अ)।
३. एत्तोउ (अ); इत्तो वि (उ, ऋ०)।
४. °प्पमत्तो (बृ०); °प्पवत्तो (बृ० पा०)।
५ निद्धन्धसपरिणामो निस्संसो अजिइन्दिओ (बृ० पा०)।
६. तिव्वारंभ परिणओ खुद्दो साहसिओ नरो (बृ० पा०)।

२३—इस्साअमरिसअतवो
अविज्जमाया 'अहोरिया य'[1] ।
गेद्धी पओसे य सढे
पमत्ते[2] रसलोलुए साय
गवेसए य ॥

ईर्ष्याऽमर्षातपः
अविद्या मायाऽह्रीकता च ।
गृद्धिः प्रदोषश्च शठः
प्रमत्तो रस-लोलुपः सात-गवेषकश्च ॥

२३—जो मनुष्य ईर्ष्यालु है, कदाग्रही है, अतपस्वी है, अज्ञानी है, मायावी है, निर्लज्ज है, गृद्ध है, प्रद्वेष करने वाला है, शठ है, प्रमत्त है, रस-लोलुप है, सुख का गवेषक है,

२४—आरम्भाओ[3] अविरओ
खुद्दो साहस्सिओ नरो ।
एयजोगसमाउत्तो
नीललेसं तु परिणमे ॥

आरम्भादविरतः
क्षुद्रः साहसिको नरः ।
एतद्योग-समायुक्तो
नील-लेश्यां तु परिणमेत् ॥

२४—आरम्भ से अविरत है, क्षुद्र है, बिना विचारे कार्य करने वाला है—जो इन सभी से युक्त है, वह नील लेश्या में परिणत होता है ।

२५—वंके वंकसमायारे
नियडिल्ले अणुज्जुए ।
पलिउंचग ओवहिए
मिच्छदिट्ठी अणारिए ॥

वक्रो वक्र-समाचारः
निष्कृतिमान् अनृजुकः ।
परिकुंचक औपधिकः
मिथ्या-दृष्टिरनार्यः ॥

२५—जो मनुष्य वचन से वक्र है, जिसका आचरण वक्र है, कपट करता है, सरलता से रहित है, अपने दोषों को छुपाता है, छद्म का आचरण करता है, मिथ्या-दृष्टि है, अनार्य है,

२६—'उप्फालगदुट्ठवाई य'[4]
तेणे यावि य मच्छरी ।
एयजोगसमाउत्तो
काउलेसं तु परिणमे ॥

उत्प्रासक-दुष्टवादी च
स्तेनश्चापि च मत्सरी ।
एतद्योग-समायुक्तः
कापोत-लेश्यां तु परिणमेत् ॥

२६—हंसोड़ है, दुष्ट वचन बोलने वाला है, चोर है, मत्सरी है—जो इन सभी प्रवृत्तियों से युक्त है, वह कापोत लेश्या में परिणत होता है ।

२७—नीयावित्ती अचवले
अमाई अकुऊहले ।
विणीयविणए दन्ते
जोगवं उवहाणवं ॥

नीचैर्वृत्तिरचपलः
अमाय्यकुतूहलः ।
विनीत-विनयः दान्तः
योगवानुपधानवान् ॥

२७—जो मनुष्य नम्रता से वर्ताव करता है, अचपल है, माया से रहित है, अकुतूहली है, विनय करने में निपुण है, दान्त है, समाधि-युक्त है, उपधान (श्रुत अध्ययन करते समय तप) करने वाला है,

२८—पियधम्मे दढधम्मे
वज्जभीरू हिएसए[5] ।
एयजोगसमाउत्तो
तेउलेसं तु परिणमे ॥

प्रियधर्मा दृढधर्मा
अवद्य-भीरुर्हितैषकः ।
एतद्योग-समायुक्तः
तेजो-लेश्यां तु परिणमेत् ॥

२८—धर्म में प्रेम रखता है, धर्म में दृढ़ है, पाप-भीरु है, मुक्ति का गवेषक है—जो इन सभी प्रवृत्तियों से युक्त है, वह तेजो लेश्या में परिणत होता है ।

---

१. अहीरियमयाय (अ) ।
२. य मत्ते (बृ० पा०) ।
३. आरम्भओ (अ) ; आरम्भा (उ, ऋ०) ।
४. उफालदुट्ठवाई (अ) ; उप्फासग° (उ) ; उप्फाडग° (ऋ०) ।
५. हियासए, अणासए (बृ० पा०) ।

२९—पयणुक्कोहमाणे य
मायालोभे य पयणुए।
पसन्तचित्ते दन्तप्पा
जोगवं उवहाणवं ॥

प्रतनु-क्रोध-मानश्च
माया-लोभश्च प्रतनुकः।
प्रशान्त-चित्तो दान्तात्मा
योगवानुपधानवान् ॥

२९—जिस मनुष्य के क्रोध, मान, माया और लोभ अत्यन्त अल्प हैं, जो प्रशान्त-चित्त है, अपनी आत्मा का दमन करता है, समाधि युक्त है, उपधान करने वाला है,

३०—तहा पयणुवाई[1] य
उवसन्ते जिइन्दिए।
एयजोगसमाउत्तो
पम्हलेसं तु परिणमे ॥

तथा प्रतनुवादी च
उपशान्तो जितेन्द्रियः।
एतद्योग-समायुक्तः
पद्म-लेश्यां तु परिणमेत् ॥

३०—अत्यल्प भाषी है, उपशान्त है, जितेन्द्रिय है—जो इन सभी प्रवृत्तियों से युक्त है, वह पद्म लेश्या में परिणत होता है।

३१—अट्टरुद्दाणि वज्जित्ता
धम्मसुक्काणि झायए[2]।
पसन्तचित्ते दन्तप्पा
समिए गुत्ते य गुत्तिहिं ॥

आर्त्त-रौद्रे वर्जयित्वा
धर्म्य-शुक्ले ध्यायेत्।
प्रशान्त-चित्तो दान्तात्मा
समितो गुप्तश्च गुप्तिभिः ॥

३१—जो मनुष्य आर्त्त और रौद्र—इन दोनों ध्यानों को छोड़ कर धर्म्य और शुक्ल—इन दो ध्यानों में लीन रहता है, प्रशान्त-चित्त है, अपनी आत्मा का दमन करता है, समितियों से समित है, गुप्तियों से गुप्त है,

३२—सरागे वीयरागे वा[3]
उवसन्ते[4] जिइन्दिए।
एयजोगसमाउत्तो
सुक्कलेसं तु परिणमे ॥

सरागो वीतरागो वा
उपशान्तो जितेन्द्रियः।
एतद्योग-समायुक्तः
शुक्ल-लेश्यां तु परिणमेत् ॥

३२—उपशान्त है, जितेन्द्रिय है—जो इन सभी प्रवृत्तियों से युक्त है, वह सराग हो या वीतराग, शुक्ल लेश्या में परिणत होता है।

३३—असंखिज्जाणोसप्पिणीण[5]
उस्सप्पिणीण जे समया।
संखाईया[6] लोगा
लेसाण हुन्ति ठाणाइं ॥

असंख्येयानामवसर्पिणीनां
उत्सर्पिणीनां ये समयाः।
संख्यातीता लोका
लेश्यानां भवन्ति स्थानानि ॥

३३—असंख्येय अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी के जितने समय होते हैं, असंख्यात लोकों के जितने आकाश-प्रदेश होते हैं, उतने ही लेश्याओं के स्थान (अध्यवसाय-परिमाण) होते हैं।

३४—'मुहुत्तद्धं तु'[7] जहन्ना
तेत्तीसं सागरा मुहुत्तऽहिया।
उक्कोसा होइ ठिई
नायव्वा किण्हलेसाए ॥

मुहूर्त्तार्धं तु जघन्या
त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमा मुहूर्त्ताधिका।
उत्कृष्टा भवति स्थितिः
ज्ञातव्या कृष्ण-लेश्यायाः ॥

३४—कृष्ण लेश्या की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त अधिक तेतीस सागर की होती है।

---

१. °याइ (अ)।
२. साहए (बृ०, सु०); झायए (बृ० पा०)।
३. य (अ)।
४. छउजोगे (बृ० पा०)।
५. असंखेज्जाणओ उसप्पिणीण (अ)।
६. असंखेया (बृ० पा०)।
७. मुहुत्तद्धा उ (बृ० पा०)।

३५—'मुहुत्तद्धं तु'[१] जहन्ना
दस उदही पलियमसंखभाग-
मब्भहिया ।
उक्कोसा होइ ठिई
नायव्वा नीललेसाए ॥

मुहूर्त्तार्धं तु जघन्या
दशोदधिपल्यासंख्यभागाधिका ।
उत्कृष्टा भवति स्थितिः
ज्ञातव्या नील-लेश्यायाः ॥

३५—नील लेश्या की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग अधिक दश सागर की होती है।

३६—'मुहुत्तद्धं तु'[२] जहन्ना
तिण्णुदही पलियमसंखभाग-
मब्भहिया ।
उक्कोसा होइ ठिई
नायव्वा काउलेसाए ॥

मुहूर्त्तार्धं तु जघन्या
त्र्युदधिपल्यासंख्यभागाधिका ।
उत्कृष्टा भवति स्थितिः
ज्ञातव्या कापोत-लेश्यायाः ॥

३६—कापोत लेश्या की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग अधिक तीन सागर की होती है।

३७—'मुहुत्तद्धं तु'[३] जहन्ना
दोउदही पलियमसंखभाग-
मब्भहिया ।
उक्कोसा होइ ठिई
नायव्वा तेउलेसाए ॥

मुहूर्त्तार्धं तु जघन्या
द्व्युदधिपल्योपमासङ्ख्यभागाधिका ।
उत्कृष्टा भवति स्थितिः
ज्ञातव्या तेजो-लेश्यायाः ॥

३७—तेजो लेश्या की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग अधिक दो सागर की होती है।

३८—'मुहुत्तद्धं तु'[४] जहन्ना
दस 'होन्ति सागरा
मुहुत्तहिया'[५] ।
उक्कोसा होइ ठिई
नायव्वा पम्हलेसाए ॥

मुहूर्त्तार्धं तु जघन्या
दश भवन्ति सागरा मुहूर्त्ताधिकाः ।
उत्कृष्टा भवति स्थितिः
ज्ञातव्या पद्म-लेश्यायाः ॥

३८—पद्म लेश्या की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट स्थिति मुहूर्त्त अधिक दश सागर की होती है।

३९—'मुहुत्तद्धं तु'[६] जहन्ना
तेत्तीसं सागरा मुहुत्तहिया ।
उक्कोसा होइ ठिई
नायव्वा सुक्कलेसाए ॥

मुहूर्त्तार्धं तु जघन्या
त्रयस्त्रिंशत्सागरा मुहूर्त्ताधिकाः ।
उत्कृष्टा भवति स्थितिः
ज्ञातव्या शुक्ल-लेश्यायाः ॥

३९—शुक्ल लेश्या की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट स्थिति मुहूर्त्त अधिक तेतीस सागर की होती है।

---

१. मुहुत्तद्धा उ (बृ० पा०)।
२. मुहुत्तद्धा उ (बृ० पा०)।
३. मुहुत्तद्धा उ (बृ० पा०)।
४. मुहुत्तद्धा उ (बृ० पा०)।
५. उदही हुंति मुहुत्तमब्भहिया (उ, ऋ०)।
६. मुहुत्तद्धा उ (बृ० पा०)।

४०—एसा खलु लेसाणं
ओहेण ठिई उ वण्णिया होइ।
चउसु वि गईसु एत्तो
लेसाण ठिइं तु वोच्छामि॥

एषा खलु लेश्यानां
ओघेन स्थितिस्तु वर्णिता भवति।
चतसृष्वपि गतिष्वितः
लेश्यानां स्थितिं तु वक्ष्यामि॥

४०—लेश्याओं की यह स्थिति ओघ रूप (अपृथग्-भाव) से कही गई है। अब आगे पृथग्-भाव से चारों गतियों में लेश्याओं की स्थिति का वर्णन करूंगा।

४१—दस वाससहस्साइं
काऊए ठिई जहन्निया होइ।
'तिण्णुदही 'पलिओवम
असंखभागं'[1] च उक्कोसा'[2]॥

दशवर्षसहस्राणि
कापोतायाः स्थितिर्जघन्यका भवति।
त्र्युदधिपल्योपमा
ऽसङ्ख्यभागं चोत्कृष्टा॥

४१—नारकीय जीवों के कापोत लेश्या की जघन्य स्थिति दश हजार वर्ष और उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग अधिक तीन सागर की होती है।

४२—तिण्णुदही पलिय-
मसंखभागा जहन्नेण नीलठिई।
दस उदही 'पलिओवम
असंखभागं'[3] च उक्कोसा॥

त्र्युदधिपल्या
असङ्ख्ययभागा जघन्येन नीलस्थितिः।
दशोदधिपल्योपमा
ऽसङ्ख्यभागं चोत्कृष्टा॥

४२—नील लेश्या की जघन्य स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग अधिक तीन सागर और उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग अधिक दश सागर की होती है।

४३—'दस उदही 'पलिय-
मसंखभागं'[4] जहन्निया होइ।
तेत्तीससागराइं उक्कोसा
होइ किण्हाए॥'[5]

दशोदधिपल्या
ऽसङ्ख्यभागं जघन्यका भवति।
त्रयस्त्रिंशत्सागराः
उत्कृष्टा भवति कृष्णायाः॥

४३—कृष्ण लेश्या की जघन्य स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग अधिक दश सागर और उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागर की होती है।

४४—एसा नेरइयाणं
लेसाण ठिई उ वण्णिया होइ।
तेण परं वोच्छामि
तिरियमणुस्साण देवाणं॥

एषा नैरयिकाणां
लेश्यानां स्थितिस्तु वर्णिता भवति।
ततः परं वक्ष्यामि
तिर्यङ्-मनुष्याणां देवानाम्॥

४४—यह नैरयिक जीवों के लेश्याओं की स्थिति का वर्णन किया गया है। इससे आगे तिर्यंच, मनुष्य और देवों की लेश्या स्थिति का वर्णन करूंगा।

---

१. पलियमसंख भागं (बृ०); पलियमसंखेज्ज भागं (बृ०)।
२. उक्कोसा तिन्नुदही पलियमसंखेज्जभागऽहिय (बृ० पा०)।
३. पलिअ असंखभागं (उ, ऋ०)।
४. पलियमसंख भागं च (उ)।
५ दस उदही पलियअसंख भागं च जहन्नेण कण्ह लेसाए। तेत्तीस सागराइं मुहुत्त अहिया उ उक्कोसा॥ (अ)।

४५—अन्तोमुहुत्तमद्धं
लेसाण ठिई जहिं जहिं जा उ ।
तिरियाण नराणं वा[1]
वज्जित्ता केवलं लेसं ॥

अन्तर्मुहूर्ताध्वानं
लेश्यानां स्थितिः यस्मिन् यस्मिन् यास्तु ।
तिरश्चां नराणां वा
वर्जयित्वा केवलां लेश्याम् ॥

४५—तिर्यञ्च और मनुष्य में जितनी लेश्याएं होती हैं, उनमें से शुक्ल लेश्या को छोड़ कर शेष सब लेश्याओं की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की होती है ।

४६—मुहुत्तद्धं तु जहन्ना
उक्कोसा होइ पुव्वकोडी उ ।
नवहि वरिसेहि ऊणा
नायव्वा सुक्कलेसाए ॥

मुहूर्तार्धं तु जघन्या
उत्कृष्टा भवति पूर्वकोटी तु ।
नवभिर्वर्षैरूना
ज्ञातव्या शुक्ल-लेश्यायाः ॥

४६—शुक्ल लेश्या की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट स्थिति नौ वर्ष न्यून एक करोड़ पूर्व की होती है ।

४७—एसा तिरियनराणं
लेसाण ठिई उ वण्णिया होइ ।
तेण परं वोच्छामि
लेसाण ठिई उ देवाणं ॥

एषा तिर्यङ्-नराणां
लेश्यानां स्थितिस्तु वर्णिता भवति ।
ततः परं वक्ष्यामि
लेश्यानां स्थितिस्तु देवानाम् ॥

४७—यह तिर्यञ्च और मनुष्य के लेश्याओं की स्थिति का वर्णन किया गया है । इससे आगे देवों की लेश्याओं की स्थिति का वर्णन करूंगा ।

४८—दस वाससहस्साइं
किण्हाए ठिई जहन्निया होइ ।
पलियमसंखिज्जइमो
उक्कोसा होइ किण्हाए ॥

दशवर्षसहस्राणि
कृष्णायाः स्थितिर्जघन्यका भवति ।
पल्यासंख्येयतमः
उत्कृष्टा भवति कृष्णायाः ॥

४८—भवनपति और वाणव्यन्तर देवों के कृष्ण लेश्या की जघन्य स्थिति दश हजार वर्ष और उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग की होती है ।

४९—जा किण्हाए ठिई खलु
उक्कोसा सा उ समयमब्भहिया ॥
जहन्नेणं नीलाए
'पलियमसंखं तु'[2] उक्कोसा ॥

या कृष्णायाः स्थितिः खलु
उत्कृष्टा सा तु समयाभ्यधिका ।
जघन्येन नीलायाः
पल्यासङ्ख्यं तूत्कृष्टा ॥

४९—कृष्ण लेश्या की जो उत्कृष्ट स्थिति है, उसमें एक समय मिलाने पर वह नील लेश्या की जघन्य स्थिति होती है और उसकी उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग जितनी है ।

५०—जा नीलाए ठिई खलु
उक्कोसा सा उ समयमब्भहिया।
जहन्नेणं काऊए
पलियमसंखं च उक्कोसा ॥

या नीलायाः स्थितिः खलु
उत्कृष्टा सा तु समयाभ्यधिका ।
जघन्येन कापोतायाः
पल्यासङ्ख्यं चोत्कृष्टा ॥

५०—नील लेश्या की जो उत्कृष्ट स्थिति है, उसमें एक समय मिलाने पर वह कापोत लेश्या की जघन्य स्थिति होती है और उसकी उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग जितनी है ।

---

१. तु (बृ०); च (उ, ऋ०) ।
२. पलियमसंखं च (उ, ऋ०); पलियमसंखिज्ज (बृ०) ।

५१—तेण परं वोच्छामि
तेउलेसा जहा सुरगणाणं।
भवणवइवाणमन्तर-
जोइसवेमाणियाणं च ॥

ततः परं वक्ष्यामि
तेजो-लेश्यां यथा सुर-गणानाम् ।
भवनपति-वाणव्यन्तर-
ज्योतिर्वैमानिकानां च ॥

५१—इससे आगे भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवों के तेजो लेश्या की स्थिति का निरूपण करूंगा।

५२—पलिओवमं[1] जहन्ना
उक्कोसा सागरा उ दुण्हऽहिया[2]।
पलियमसंखेज्जेणं
होई भागेण[3] तेऊए ॥

पल्योपमं जघन्या
उत्कृष्टा सागरौ तु द्व्यधिकौ।
पल्यासङ्ख्येयेन
भवति भागेन तैजस्याः ॥

५२—तेजो लेश्या की जघन्य स्थिति एक पल्योपम और उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग अधिक दो सागर की होती है।

५३—दस वाससहस्साइं
तेऊए ठिई जहन्निया होइ।
दुण्णुदही पलिओवम
असंखभागं च उक्कोसा ॥

दशवर्षसहस्राणि
तैजस्याः स्थितिः जघन्यका भवति।
द्व्युदधिपल्योपमा-
ऽसङ्ख्येयभागं चोत्कृष्टा ॥

५३—तेजो लेश्या की जघन्य स्थिति दश हजार वर्ष और उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग अधिक दो सागर की होती है।

५४—जा तेऊए ठिई खलु
उक्कोसा सा उ समयमब्भहिया।
जहन्नेणं पम्हाए दसउ
मुहुत्तऽहियाइं च उक्कोसा ॥

या तैजस्याः स्थितिः खलु
उत्कृष्टा सा तु समयाभ्यधिका।
जघन्येन पद्मायाः दश तु
मुहूर्ताधिकानि चोत्कृष्टा ॥

५४—जो तेजो लेश्या की उत्कृष्ट स्थिति है, उसमें एक समय मिलाने पर वह पद्म लेश्या की जघन्य स्थिति होती है और उसकी उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त अधिक दश सागर की होती है।

५५—जा पम्हाए ठिई खलु
उक्कोसा सा उ समयमब्भहिया।
जहन्नेणं सुक्काए
तेत्तीसमुहुत्तमब्भहिया ॥

या पद्मायाः स्थितिः खलु
उत्कृष्टा सा तु समयाभ्यधिका।
जघन्येन शुक्लायाः
त्रयस्त्रिंशत् मुहूर्त्ताभ्यधिका ॥

५५—जो पद्म लेश्या की उत्कृष्ट स्थिति है, उसमें एक समय मिलाने पर वह शुक्ल लेश्या की जघन्य स्थिति होती है और उसकी उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त अधिक तेंतीस सागर की होती है।

५६—किण्हा नीला काऊ
तिन्नि वि एयाओ
अहम्मलेसाओ[4]।
एयाहि तिहि वि जीवो
दुग्गइं उववज्जई बहुसो[5] ॥

कृष्णा नीला कापोताः
तिस्रोऽप्येता अधर्म-लेश्याः।
एताभिस्तिसृभिरपि जीवो
र्गं तमुपपद्यते ॥

५६—कृष्ण, नील और कापोत—ये तीनों अधर्म-लेश्याएं हैं। इन तीनों से जीव दुर्गति को प्राप्त होता है।

---

१. पलिओवमं च (अ)।
२. दुण्णिहिया (उ, ऋ०)।
३. तिभागेण (अ)।
४. अहम्म° (अ, बृ० पा०)।
५. × (उ, ऋ०)।

५७—तेऊ पम्हा सुक्का
तिन्नि वि एयाओ धम्मलेसाओ।
एयाहि तिहि वि जीवो
सुग्गइं उववज्जई बहुसो[1] ॥

तैजसी पद्मा शुक्ला
तिस्रोऽप्येता धर्म-लेश्याः ।
एताभिस्तिसृभिरपि जीवः
सुगतिमुपपद्यते ॥

५७—तेजस्, पद्म और शुक्ल—ये तीनों धर्म-लेश्याएं हैं। इन तीनों से जीव सुगति को प्राप्त होता है।

५८—लेसाहिं सव्वाहिं
पढमे समयम्मि परिणयाहिं तु ।
'न वि कस्सवि उववाओ'[2]
परे भवे अत्थि[3] जीवस्स ॥

लेश्याभिः सर्वाभिः
प्रथमे समये परिणताभिस्तु ।
नापि कस्याप्युपपादः
परे भवेऽस्ति जीवस्य ॥

५८—पहले समय में परिणत सभी लेश्याओं में कोई भी जीव दूसरे भव में उत्पन्न नहीं होता।

५९—लेसाहिं सव्वाहिं
चरमे समयम्मि परिणयाहिं तु ।
'न वि कस्सवि उववाओ'[4]
परे भवे अत्थि[5] जीवस्स ॥

लेश्याभिः सर्वाभिः
चरमे समये परिणताभिस्तु ।
नापि कस्याप्युपपादः
परे भवेऽस्ति जीवस्य ॥

५९—अन्तिम समय में परिणत सभी लेश्याओं में कोई भी जीव दूसरे भव में उत्पन्न नहीं होता।

६०—अन्तमुहुत्तम्मि गए
अन्तमुहुत्तम्मि सेसए चेव ।
लेसाहिं परिणयाहिं
जीवा गच्छन्ति परलोयं ॥

अन्तर्मुहूर्त्ते गते
अन्तर्मुहूर्त्ते शेषके चैव ।
लेश्याभिः परिणताभिः
जीवा गच्छन्ति परलोकम् ॥

६०—लेश्याओं की परिणति होने पर अन्तर्मुहूर्त्त बीत जाता है अन्तर्मुहूर्त्त शेष रहता है, उस समय जीव परलोक में जाते हैं।

६१—तम्हा एयाण[6] लेसाणं
अणुभागे वियाणिया ।
अप्पसत्थाओ वज्जित्ता
पसत्थाओ अहिट्ठेज्जासि[7] ॥
—त्ति बेमि ।

तस्मादेतासां लेश्यानां
अनुभागान् विज्ञाय ।
अप्रशस्ता वर्जयित्वा
प्रशस्ता अधितिष्ठेत् ॥
—इति ब्रवीमि ।

६१—इसलिए इन लेश्याओं के अनुभागों को जान कर मुनि अप्रशस्त लेश्याओं का वर्जन करे और प्रशस्त लेश्याओं को स्वीकार करे।

—ऐसा मैं कहता हूं।

---

१. × (उ, ऋ०)।
२. न हु कस्सवि उववत्ति (बृ०); न वि............(बृ० पा०); न हु............(उ, ऋ०, स०)।
३. भवइ (बृ०, स०)।
४. न हु कस्सवि उववत्ति (बृ०); न वि .....(बृ० पा०); न हु......(उ, ऋ०, स०)।
५. भवइ (बृ०, स०)
६. एयाणि (उ, ऋ०)।
७. अहिट्ठिए (उ, ऋ०)।

इस अध्ययन (श्लो० १६) में केवल शुक्लध्यान के अभ्यास की विधि बतलाई गई है—'सुक्कज्झाणं झियाएज्जा'।

इसमें मृत्यु-धर्म की ओर भी इंगित किया गया है। मुनि जब तक जीए तब तक असंग जीवन जीए और जब काल-धर्म उपस्थित हो, तब वह आहार का परित्याग कर दे। (श्लो० २०) आगमकार को अनशनपूर्वक मृत्यु अधिक अभीप्सित है।

जीवन-काल में देह-व्युत्सर्ग के अभ्यास का निर्देश दिया गया है। (श्लो० १६) देह-व्युत्सर्ग का अर्थ देह-मुक्ति नहीं, किन्तु देह के प्रतिबन्ध से मुक्ति है। मनुष्य के लिए देह तब तक बन्धन रहता है, जब तक वह देह से प्रतिबद्ध रहता है। देह के प्रतिबन्ध से मुक्त होने पर वह मात्र साधन रहता है, बन्धन नहीं।

देह-व्युत्सर्ग असंग का मुख्य हेतु है। यही अनगार का मार्ग है। इससे दुःखों का अंत होता है। (श्लो० १) अनगार का मार्ग दुःख-प्राप्ति के लिए नहीं, किन्तु दुःख-मुक्ति के लिए है। अनगार दुःख को स्वीकार नहीं करता, किन्तु उसके मूल को विनष्ट करने का मार्ग चुनता है और उसमें चलता है। उस पर चलने में जो दुःख प्राप्त होते हैं, उन्हें वह झेलता है।

मनोहर गृह का त्याग और श्मशान, शून्यागार व वृक्ष-मूल में निवास कष्ट है पर यह कष्ट झेलने के लक्ष्य से निष्पन्न कष्ट नहीं है, किन्तु इन्द्रिय-विजय (श्लो० ४, ५) के मार्ग में प्राप्त कष्ट है। इसी प्रकार अन्न-पाक न करना और भिक्षा लेना कष्ट है पर यह भी अहिंसा-धर्म के अनुपालन में प्राप्त कष्ट है। (श्लो० १०, ११, १२, १६)

इस प्रकार इस लघु-काय अध्ययन में अनेक महत्त्वपूर्ण चर्या-अंगों की प्ररूपणा हुई है।

पणतीसइमं अज्झयणं :
अणगारमग्गगई

पंचत्रिंश अध्ययन :
अनगार-मार्ग-गति

पणतीसइमं अज्झयणं : पंचत्रिंश अध्ययन

अणगारमग्गगई : अनगार-मार्ग-गति

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
१—सुणेह मेगग्गमणा[1] मग्गं बुद्धेहि देसियं । जमायरन्तो भिक्खू दुक्खाणन्तकरो भवे ॥	शृणुत मे एकाग्र-मनसः मार्गं बुद्धैर्देशितम् । यमाचरन् भिक्षुः दुःखानामन्तकरो भवेत् ॥	१—तुम एकाग्र मन होकर बुद्धों (तीर्थंकरों) के द्वारा उपदिष्ट उस मार्ग को मुझ से सुनो, जिसका आचरण करता हुआ भिक्षु दुःखों का अन्त कर देता ।
२—गिहवासं परिच्चज्ज पवज्जंअस्सिओ[2] मुणी । इमे संगे वियाणिज्जा[3] जेहिं सज्जन्ति माणवा ॥	गृह-वासं परित्यज्य प्रव्रज्यामाश्रितो मुनिः । इमान् संगान् विजानीयात् येषु सज्यन्ते मानवाः ॥	२—जो मुनि गृह-वास को छोड़ कर प्रव्रज्या को अंगीकार कर चुका, वह उन संगों (लेपों) को जाने, जिनसे मनुष्य सक्त (लिप्त) होता है ।
३—तहेव हिंसं अलियं चोज्जं अबम्भसेवणं । इच्छाकामं च लोभं च संजओ परिवज्जए ॥	तथैव हिंसामलीकं चौर्यमब्रह्म-सेवनम् । इच्छा-कामं च लोभं च संयतः परिवर्जयेत् ॥	३—संयमी मुनि हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य-सेवन, इच्छा-काम (अप्राप्त वस्तु की आकांक्षा) और लोभ इन—सबका परिवर्जन करे ।
४—मणोहरं चित्तहरं मल्लधूवेण वासियं । सकवाडं पण्डुरुल्लोयं मणसा वि न पत्थए ॥	मनोहरं चित्रगृहं माल्य-धूपेन वासितम् । सकपाटं पाण्डुरोल्लोचं मनसाऽपि न प्रार्थयेत् ॥	४—जो स्थान मनोहर चित्रों से आकीर्ण, माल्य और धूप से सुवासित, किवाड़ सहित, श्वेत चन्दवा से युक्त हो वैसे स्थान की मन से भी प्रार्थना (अभिलाषा) न करे ।
५—इन्दियाणि उ भिक्खुस्स तारिसम्मि उवस्सए । दुक्कराइं निवारेउं[4] कामरागविवड्ढणे ॥	इन्द्रियाणि तु भिक्षोः तादृशे उपाश्रये । दुष्कराणि निवारयितुं कामराग-विवर्धने ॥	५—काम-राग को बढ़ाने वाले वैसे उपाश्रय में इन्द्रियों का निवारण करना (उन पर नियन्त्रण पाना) भिक्षु के लिए दुष्कर होता है ।

१. मे एगग्गमणा (उ, ऋ०) ।
२. पवज्जामस्सिए (उ, ऋ०) ।
३. वियाणेत्ता (अ) ।
४. उ धारेउं (बृ०) ; निवारेउं (बृ० पा०) ।

आमुख

अट्ठाइसवें अध्ययन में मोक्ष-मार्ग की गति (अवबोध) दी गई है और इस अध्ययन में अनगार-मार्ग की। इसीलिए उसका नाम—'मोक्खमग्गगई' और इसका नाम—'अणगारमग्गगई'—'अनगार-मार्ग-गति' है।

अनगार मुमुक्षु होता है, अतः उसका मार्ग मोक्ष-मार्ग से भिन्न कैसे होगा ? यदि नहीं होगा तो इसके प्रतिपादन का फिर क्या अर्थ है ?

इस प्रश्न को हम इस भाषा में सोचें—मोक्ष-मार्ग व्यापक शब्द है। उसके चार अंग हैं—ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप :

नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा।
एस मग्गो त्ति पन्नत्तो, जिणेहि वरदंसिहिं ॥ (२८।२)

अनगार-मार्ग मोक्ष-मार्ग की तुलना में सीमित है। ज्ञान, दर्शन और तप की आराधना गृहवास में भी हो सकती है। उसके जीवन में केवल अनगार—चारित्र की आराधना नहीं होती। प्रस्तुत अध्ययन में उसी का प्रतिपादन है। इस तथ्य को इस भाषा में भी रखा जा सकता है कि प्रस्तुत अध्ययन में मोक्ष-मार्ग के तीसरे अंग (चारित्र) के द्वितीय अंश—अनगार-चारित्र—का कर्त्तव्य-निर्देश है।

इस अध्ययन का मुख्य प्रतिपाद्य संग-विज्ञान है। संग का अर्थ लेप या आसक्ति है। उसके १३ अंग बतलाए गए हैं—

१—हिंसा,
२—असत्य,
३—चौर्य,
४—अब्रह्म-सेवन,
५—इच्छा-काम,
६—लोभ,
७—संसक्त-स्थान,
८—गृह-निर्माण,
९—अन्न-पाक,
१०—धनार्जन की वृत्ति,
११—प्रतिबद्ध भिक्षा,
१२—स्वाद-वृत्ति और
१३—पूजा की अभिलाषा।

इक्कीसवें अध्ययन में पाँचवाँ महाव्रत अपरिग्रह है। इस अध्ययन में उसके स्थान पर इच्छा-काम व लोभ-वर्जन है :

अहिंस सच्चं च अतेणगं च, तत्तो य बम्भं अपरिग्गहं च।
पडिवज्जिया पंच महव्वयाणि, चरिज्ज धम्मं जिणदेसियं विऊ ॥ (२१।१२)
तहेव हिंसं अलियं, चोज्जं अबम्भसेवणं।
इच्छाकामं च लोभं च, संजओ परिवज्जए ॥ (३५।३)

चौतीसवें अध्ययन (श्लो० ३१) में बतलाया गया है—'धम्मसुक्काणि झायए'—मुनि धर्म्य और शुक्ल ध्यान का अभ्यास करे।

६—सुसाणे सुन्नगारे वा
रुक्खमूले व एक्कओ[1]।
पइरिक्के[2] परकडे वा
वासं तत्थऽभिरोयए ॥

श्मशाने शून्यागारे वा
वृक्ष-मूले वा एककः।
प्रतिरिक्ते परकृते वा
वासं तत्राभिरोचयेत् ॥

६—इसलिए एकाकी भिक्षु श्मशान में, शून्य गृह में, वृक्ष के मूल में अथवा परकृत एकान्त स्थान में रहने की इच्छा करे।

७—फासुयम्मि अणाबाहे
इत्थीहिं अणभिद्दुए।
तत्थ संकप्पए वासं
भिक्खू परमसंजए ॥

प्रासुके अनाबाधे
स्त्रीभिरनभिद्रुते।
तत्र संकल्पयेद्वासं
भिक्षुः परम-संयतः ॥

७—परम संयत भिक्षु प्रासुक, अनाबाध और स्त्रियों के उपद्रव से रहित स्थान में रहने का संकल्प करे।

८—न सयं गिहाइं कुज्जा
णेव अन्नेहिं कारए।
गिहकम्मसमारम्भे
भूयाणं दीसई वहो ॥

न स्वयं गृहाणि कुर्वीत
नैव अन्यैः कारयेत्।
गृहकर्म-समारम्भे
भूतानां दृश्यते वधः ॥

८-९—भिक्षु न स्वयं घर बनाए और न दूसरों से बनवाए। गृह-निर्माण के समारम्भ (प्रवृत्ति) में जीवों—त्रस और स्थावर, सूक्ष्म और बादर—का वध देखा जाता है। इसलिए संयत भिक्षु गृह-समारम्भ का परित्याग करे।

९—तसाणं थावराणं च
सुहुमाणं बायराण य।
तम्हा गिहसमारम्भं
संजओ परिवज्जए ॥

त्रसानां स्थावराणां च
सूक्ष्माणां बादराणां च।
तस्माद् गृह-समारम्भं
संयतः परिवर्जयेत् ॥

१०—तहेव भत्तपाणेसु
पयण[3] पयावणेसु य।
पाणभूयदयट्ठाए
न पये न पयावए ॥

तथैव भक्त-पानेषु
पचन-पाचनेषु च।
प्राण-भूत-दयार्थं
न पचेत् न पाचयेत् ॥

१०—भक्त-पान के पकाने और पकवाने में हिंसा होती है, अतः प्राणों और भूतों की दया के लिए भिक्षु न पकाए और न पकवाए।

११—जलधन्ननिस्सिया जीवा[4]
पुढवीकट्ठनिस्सिया[5]।
हम्मन्ति भत्तपाणेसु
तम्हा भिक्खू न पायए ॥

जल-धान्य-निश्रिता जीवाः
पृथिवी-काष्ठ-निश्रिताः।
हन्यन्ते भक्त-पानेषु
तस्माद् भिक्षुर्न पाचयेत् ॥

११—भक्त और पान के पकाने में जल और धान्य के आश्रित तथा पृथ्वी और काष्ठ के आश्रित जीवों का हनन होता है, इसलिए भिक्षु न पकवाए।

---

१. एगओ (उ, ऋ०); एगया (बृ०); एक्कतो (बृ० पा०)।
२. परक्के (बृ०); पइरिक्कं (बृ० पा०)।
३. पयणेसु (ऋ०); पयणे य (अ)।
४. पाणा (अ)।
५. ०काय० (उ)।

१२—विसप्पे सव्वओधारे बहुपाणविणासणे । नत्थि जोइसमे सत्थे तम्हा जोइं न दीवए ॥	विसर्पत् सर्वतोधारं बहुप्राणि-विनाशनम् । नास्ति ज्योतिः-समं शस्त्रं तस्माज्ज्योतिर्न दीपयेत् ॥	१२—अग्नि फैलने वाली, सब ओर से धार वाली और बहुत जीवों का विनाश करने वाली होती है, उसके समान दूसरा कोई शस्त्र नहीं होता, इसलिए भिक्षु उसे न जलाए ।
१३—हिरण्णं जायरूवं च मणसा वि न पत्थए । समलेट्ठुकंचणे भिक्खू विरए कयविक्कए ॥	हिरण्यं जातरूपं च मनसाऽपि न प्रार्थयेत् । समलेष्टु-कांचनो भिक्षुः विरतः क्रय-विक्रयात् ॥	१३—क्रय और विक्रय से विरत, मिट्टी के ढेले और सोने को समान समझने वाला भिक्षु सोने और चाँदी की मन से भी इच्छा न करे ।
१४—किणन्तो कइओ होइ विक्किणन्तो य वाणिओ । कयविक्कयम्मि वट्टन्तो भिक्खू न भवइ तारिसो ॥	क्रीणन् क्रयिको भवति विक्रीणन् च वाणिजः । क्रय-विक्रये वर्तमानः भिक्षुर्नभवति तादृशः ॥	१४—वस्तु को खरीदने वाला क्रयिक होता है और बेचने वाला वणिक् । क्रय और विक्रय में वर्तन करने वाला भिक्षु वैसा नहीं होता—उत्तम भिक्षु नहीं होता ।
१५—भिक्खियव्वं न केयव्वं भिक्खुणा भिक्खवत्तिणा । कयविक्कओ महादोसो भिक्खावत्ती[1] सुहावहा ॥	भिक्षितव्यं न क्रेतव्यं भिक्षुणा भैक्ष-वृत्तिना । क्रय-विक्रयो महान् दोषो भिक्षा-वृत्तिः सुखावहा ॥	१५—भिक्षा-वृत्ति वाले भिक्षु को भिक्षा ही करनी चाहिए, क्रय-विक्रय नहीं । क्रय-विक्रय महान् दोष है । भिक्षा-वृत्ति सुख को देने वाली है ।
१६—समुयाणं उंछमेसिज्जा जहासुत्तमणिन्दियं । लाभालाभम्मि संतुट्ठे पिण्डवायं 'चरे मुणी'[2] ॥	समुदानमुञ्छमेषयेत् यथा-सूत्रमनिन्दितम् । लाभालाभे सन्तुष्टः पिण्ड-पातं चरेत् मुनिः ॥	१६—मुनि सूत्र के अनुसार, अनिन्दित और सामुदायिक उञ्छ की एषणा करे । वह लाभ और अलाभ से सन्तुष्ट रहकर पिण्ड-पात (भिक्षा) की चर्या करे ।
१७—अलोले न रसे गिद्धे जिब्भादन्ते अमुच्छिए ॥ न रसट्ठाए भुंजिज्जा जवणट्ठाए महामुणी ॥	अलोलो न रसे गृद्धो दान्त-जिह्वोऽमूर्च्छितः । न रसार्थं भुंजीत यापनार्थं महामुनिः ॥	१७—अलोलुप, रस में अगृद्ध, जीभ का दमन करने वाला और अमूर्च्छित महामुनि रस (स्वाद) के लिए न खाए, किन्तु जीवन-निर्वाह के लिए खाए ।

१. भिक्खू वित्ती (उ, ऋ०)।
२. गवेसए (बृ० पा०)।

१८—अच्चणं रयणं चेव
वन्दणं पूयणं तहा।
इड्ढीसक्कारसम्माणं
मणसा वि न पत्थए॥

अर्चनां रचनां चैव
वन्दनं पूजनं तथा।
ऋद्धि-सत्कार-सम्मानं
मनसाऽपि न प्रार्थयेत्॥

१८—मुनि अर्चना, रचना (अक्षत, मोती आदि का स्वस्तिक बनाना), वन्दना, पूजा, ऋद्धि, सत्कार और सम्मान की मन से भी प्रार्थना (अभिलाषा) न करे।

१९—सुक्कझाणं झियाएज्जा
अणियाणे अकिंचणे।
वोसट्ठकाए विहरेज्जा
जाव कालस्स पज्जओ॥

शुक्ल-ध्यानं ध्यायत्
अनिदानोऽकिंचनः।
व्युत्सृष्ट-कायो विहरेत
यावत्कालस्य पर्ययः॥

१९—मुनि शुक्ल ध्यान ध्याए। अनिदान और अकिंचन रहे। वह जीवन भर व्युत्सृष्ट-काय (देहाध्यास से मुक्त) होकर विहार करे।

२०—निज्जूहिऊण आहारं
कालधम्मे उवट्ठिए।
जहिऊण[1] माणुसं बोन्दिं
पहू दुक्खे विमुच्चई॥

निर्यूह्य आहारं
काल-धर्मे उपस्थिते।
त्यक्त्वा मानुषं शरीरं
प्रभुर्दुःखं विमुच्यते॥

२०—समर्थ मुनि काल-धर्म के उपस्थित होने पर आहार का परित्याग करके, मनुष्य शरीर को छोड़ कर दुःखों से विमुक्त हो जाता है।

२१—निम्ममो निरहंकारो
वीयरागो अणासवो[2]।
संपत्तो केवलं नाणं
सासयं परिणिव्वुए॥
—त्ति बेमि।

निर्ममो निरहंकार
वीतरागोऽनाश्रवः।
सम्प्राप्तः केवलं ज्ञानं
शाश्वतं परिनिर्वृत्तः॥
—इति ब्रवीमि।

२१—निर्मम, निरहंकार, वीतराग और आश्रवों से रहित मुनि शाश्वत केवलज्ञान को प्राप्त कर परिनिर्वृत्त हो जाता है—सर्वथा आत्मस्थ हो जाता है।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

१. चइऊण (उ, ऋ०)।
२. निरासवे (चू०)।

छत्तीसइमं अज्झयणं :
जीवाजीवविभत्ती

षट्त्रिंश अध्ययन :
जीवाजीव-विभक्ति

आमुख

इस अध्ययन में जीव और अजीव के विभागों का निरूपण किया गया है। इसलिए इसका नाम—'जीवाजीवविभत्ती'—'जीवाजीव-विभक्ति' है।

जैन तत्त्व-विद्या के अनुसार मूल तत्त्व दो हैं—जीव और अजीव। शेष सब तत्त्व इनके अवान्तर विभाग हैं। प्रस्तुत अध्ययन में लोक की परिभाषा इसी आधार पर की गई है : "जीवा चेव अजीवा य, एस लोए वियाहिए"। (श्लो० २)

प्रज्ञापना के प्रथम पद में जीव और अजीव की प्रज्ञापना की गई है। उसकी जीव-प्रज्ञापना का क्रम प्रस्तुत अध्ययन की जीव-विभक्ति से कुछ भिन्न है। यहाँ संसारी जीवों के दो प्रकार किए गए हैं—त्रस और स्थावर। स्थावर के तीन प्रकार हैं—पृथ्वी, जल और वनस्पति। (श्लो० ६८,६९) त्रस के भी तीन प्रकार हैं—अग्नि, वायु और उदार। (श्लो० १०७) उदार के चार प्रकार हैं—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय। (श्लो० १२६)

प्रज्ञापना में संसारी जीवों के पाँच प्रकार किए गए हैं—एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय।[1]

प्रस्तुत अध्ययन के जीव-विभाग में एकेन्द्रिय का उल्लेख नहीं है और प्रज्ञापना में त्रस-स्थावर का विभाग नहीं है। आचारांग (प्रथम श्रुत-स्कन्ध) सबसे प्राचीन आगम माना जाता है। उसमें जीव-विभाग छह जीव-निकाय के रूप में प्राप्त है। छह जीव-निकाय का क्रम इस प्रकार है—पृथ्वी, जल, अग्नि, वनस्पति, त्रस और वायु।[2] आचारांग के नौवें अध्ययन में छह जीव-निकाय का क्रम भिन्न प्रकार से मिलता है—पृथ्वी, जल, तेजस्, वायु, वनस्पति और त्रस।[3] वहाँ त्रस और स्थावर ये दो विभाग भी मिलते हैं।[4]

आचारांग के आधार पर यह अनुमान किया जा सकता है कि जीवों का प्राचीनतम विभाग छह जीव-निकाय के रूप में रहा है। त्रस और स्थावर का विभाग भी प्राचीन है, किन्तु स्थावर के तीन प्रकार और त्रस के तीन प्रकार—यह विभाग आचारांग में नहीं मिलता। स्थानांग में यह प्राप्त है।[5] सम्भव है स्थानांग से ही उत्तराध्ययन में यह गृहीत हुआ है।

प्रज्ञापना का विभाग और भी उत्तरवर्ती जान पड़ता है।

जीव और अजीव का विशद वर्णन जीवाजीवाभिगम सूत्र में मिलता है।[6] वह उत्तरवर्ती आगम है,

---

१—प्रज्ञापना, (प्रथम पद), सूत्र ६।

२—आचारांग, १।१।२-७।

३—वही, १।६।१।१२।

४—वही, १।६।१।१४।

५—स्थानांग, ३।२। सू० १६४ :

तिविहा तसा पं० तं०—तेउकाइया वाउकाइया उराला तसा पाणा,

तिविहा थावरा, पं० तं०—पुढविकाइया आउकाइया वणस्सइकाइया।

६—जीवाजीवाभिगम, प्रतिपत्ति १-६।

इसलिए उसमें जीव-विभाग सम्बन्धी अनेक मतों का संग्रहण किया गया है :

(१) दो प्रकार के जीव—	त्रस और स्थावर ।
(२) तीन प्रकार के जीव—	स्त्री, पुरुष और नपुंसक ।
(३) चार प्रकार के जीव—	नैरयिक, तिर्यंच-योनिक, मनुष्य और देव ।
(४) पाँच प्रकार के जीव—	एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय ।
(५) छह प्रकार के जीव—	पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक और त्रसकायिक ।
(६) सात प्रकार के जीव—	नैरयिक, तिर्यंच, तिर्यंची, मनुष्य, स्त्री, देव और देवी ।
(७) आठ प्रकार के जीव—	प्रथम समय के नैरयिक, अप्रथम समय के नैरयिक ।
	,, ,, तिर्यंच, ,, ,, तिर्यंच ।
	,, ,, मनुष्य, ,, ,, मनुष्य ।
	,, ,, देव, ,, ,, देव ।
(८) नौ प्रकार के जीव—	पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय ।
(९) दस प्रकार के जीव—	प्रथम समय के एकेन्द्रिय, अप्रथम समय के एकेन्द्रिय ।
	,, ,, द्वीन्द्रिय, ,, ,, द्वीन्द्रिय ।
	,, ,, त्रीन्द्रिय, ,, ,, त्रीन्द्रिय ।
	,, ,, चतुरिन्द्रिय, ,, ,, चतुरिन्द्रिय ।
	,, ,, पंचेन्द्रिय, ,, ,, पंचेन्द्रिय ।

इस प्रकार आगम-ग्रन्थों में अनेक विवक्षाओं से जीवों के अनेक विभाग प्राप्त होते हैं । प्रस्तुत अध्ययन में अजीव के दो भेद किए हैं—रूपी और अरूपी । (श्लो० ४)

अरूपी अजीव के दस भेद हैं (श्लो० ४,५,६) :

(१) धर्मास्तिकाय,
(२) धर्मास्तिकाय का देश,
(३) धर्मास्तिकाय का प्रदेश,
(४) अधर्मास्तिकाय,
(५) अधर्मास्तिकाय का देश,
(६) अधर्मास्तिकाय का प्रदेश,
(७) आकाशास्तिकाय,
(८) आकाशास्तिकाय का देश,
(९) आकाशास्तिकाय का प्रदेश और
(१०) अद्धा-समय ।

रूपी अजीव के चार भेद हैं (श्लो० १०) :

(१) स्कन्ध,
(२) स्कन्ध-देश,
(३) स्कन्ध-प्रदेश और
(४) परमाणु ।

प्रज्ञापना और जीवाजीवाभिगम सूत्र में भी अजीव का यही विभाग मान्य है ।

छत्तीसइमं अज्झयणं : षट्त्रिंश अध्ययन

जीवाजीवविभत्ती : जीवाजीव-विभक्ति

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
१—जीवाजीवविभत्तिं 'सुणेह मे'[1] एगमणा इओ। जं जाणिऊण समणे[2] सम्मं जयइ संजमे॥	जीवाजीवविभक्ति शृणुत मम एक-मनसः इतः। यां ज्ञात्वा श्रमणः सम्यग् यतते संयमे॥	१—तुम एकाग्र-मन होकर मेरे पास जीव और अजीव का वह विभाग सुनो, जिसे जान कर श्रमण संयम में सम्यक् प्रयत्न करता है।
२—जीवा चेव अजीवा य एस लोए वियाहिए। अजीवदेसमागासे अलोए से वियाहिए॥	जीवाश्चैवाजीवाश्च एष लोको व्याख्यातः। अजीव-देश आकाशः अलोकः स व्याख्यातः॥	२—यह लोक जीव और अजीवमय है। जहाँ अजीव का देश आकाश ही है, उसे अलोक कहा गया है।
३—दव्वओ खेत्तओ चेव कालओ भावओ तहा। परूवणा तेसि भवे जीवाणमजीवाण य॥	द्रव्यतः क्षेत्रतश्चैव कालतोभावतस्तथा। प्ररूपणा तेषां भवेत् जीवनामजीवानां च॥	३—जीव और अजीव को प्ररूपणा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव—इन चार दृष्टियों से होती है।
४—रूविणो चेवऽरूवी य अजीवा दुविहा भवे। अरूवी दसहा वुत्ता रूविणो वि चउव्विहा॥	रूपिणश्चैवाऽरूपिणश्च अजीवा द्विविधा भवेयुः। अरूपिणो दशधोक्ताः रूपिणोऽपि चतुर्विधाः॥	४—अजीव दो प्रकार का है—रूपी और अरूपी। अरूपी के दश और रूपी के चार प्रकार हैं।
५—धम्मत्थिकाए तद्देसे तप्पएसे य आहिए। अहम्मे तस्स देसे य तप्पएसे य आहिए॥	धर्मास्तिकायस्तद्देशः तत्प्रदेशश्चाख्यातः। अधर्मस्तस्य देशश्च तत्प्रदेशश्चाख्यातः॥	५—धर्मास्तिकाय और उसका देश तथा प्रदेश, अधर्मास्तिकाय और उसका देश तथा प्रदेश,

१. मे सुणेह (बृ०)।
२. भिक्खू (उ, ऋ०, बृ०); समणे (बृ० पा०)।

६—आगासे तस्स देसे य
तप्पएसे य आहिए।
अद्धासमए चेव
अरूवी दसहा भवे॥

आकाशस्तस्य देशश्च
तत्प्रदेशश्चाख्यातः।
अध्वासमयश्चैव
अरूपिणो दशधा भवेयुः॥

६—आकाशास्तिकाय और उसका देश तथा प्रदेश तथा एक अध्वासमय (काल)—ये दस भेद अरूपी अजीव के होते हैं।

७—धम्माधम्मे य दोऽवेए[1]
लोगमित्ता वियाहिया।
लोगालोगे य आगासे
समए समयखेत्तिए॥

धर्माधर्मौ च द्वावप्येतौ
लोकमात्रौ व्याख्यातौ।
लोकालोके चाकाशः
समयः समय-क्षेत्रिकः॥

७—धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय लोक-प्रमाण हैं। आकाश लोक और अलोक दोनों में व्याप्त है। समय समय-क्षेत्र (मनुष्य-लोक) में ही होता है।

८—धम्माधम्मागासा
तिन्नि वि एए अणाइया।
अपज्जवसिया चेव
सव्वद्धं तु वियाहिया॥

धर्माऽधर्माऽऽकाशानि
त्रीण्यप्येतान्यनादीनि।
अपर्यवसितानि चैव
सर्वाध्वं तु व्याख्यातानि॥

८—धर्म, अधर्म और आकाश ये तीन द्रव्य अनादि-अनन्त और सार्वकालिक होते हैं।

९—'समए वि सन्तइं पप्प
एवमेव'[2] वियाहिए।
आएसं पप्प साईए
सपज्जवसिए वि य।

समयोऽपि संततिं प्राप्य
एवमेव व्याख्यातः।
आदेशं प्राप्य सादिकः
सपर्यवसितोऽपि च॥

९—प्रवाह की अपेक्षा समय अनादि-अनन्त है। एक-एक क्षण की अपेक्षा से वह सादि-सान्त है।

१०—खन्धा य खन्धदेसा य
तप्पएसा तहेव य।
परमाणुणो य बोद्धव्वा
रूविणो य चउव्विहा॥

स्कन्धाश्च स्कन्ध-देशाश्च
तत्प्रदेशास्तथैव च।
परमाणवश्च बोद्धव्याः
रूपिणश्च चतुर्विधाः॥

१०—रूपी पुद्गल के चार भेद होते हैं—१-स्कन्ध, २-स्कन्ध-देश, ३-स्कन्ध-प्रदेश और ४-परमाणु।

११—एगत्तेण पुहत्तेण
खन्धा य परमाणुणो।
लोएगदेसे लोए य
भइयव्वा ते उ खेत्तओ॥
इत्तो कालविभागं तु
तेसिं वुच्छं चउव्विहं॥

एकत्वेन पृथक्त्वेन
स्कन्धाश्च परमाणवः।
लोकैकदेशे लोके च
भक्तव्यास्ते तु क्षेत्रतः॥
इतः काल-विभागं तु
तेषां वक्ष्ये चतुर्विधम्॥

११—अनेक परमाणुओं के एकत्व से स्कन्ध बनता है और उसका पृथक्त्व होने से परमाणु बनते हैं। क्षेत्र की अपेक्षा से वे (स्कन्ध) लोक के एक देश और समूचे लोक में भाज्य है—असंख्य विकल्प युक्त हैं। अब उनका चतुर्विध काल-विभाग कहूँगा।

---
१. दोएए (उ); दोवे य (ऋ०)।
२. एमेव संतइं पप्प समए वि (बृ० पा०)।

१२—संतइं पप्प तेऽणाई
अपज्जवसिया वि य।
ठिइं पडुच्च साईया
सपज्जवसिया वि य॥

सन्तति प्राप्य तेऽनादयः
अपर्यवसिता अपि च।
स्थितिं प्रतीत्य सादिकाः
सपर्यवसिता अपि च॥

१२—वे (स्कन्ध और परमाणु) प्रवाह की अपेक्षा से अनादि-अनन्त हैं तथा स्थिति (एक क्षेत्र में रहने) की अपेक्षा से सादि-सान्त हैं।

१३—असंखकालमुक्कोसं
'एगं समयं जहन्निया'[1]।
अजीवाण[2] य रूवीणं
ठिई एसा वियाहिया॥

असङ्ख्यकालमुत्कर्षं
एकं समयं जघन्यका।
अजीवानां च रूपिणां
स्थितिरेषा व्याख्याता॥

१३—रूपी अजीवों (पुद्गलों) की स्थिति जघन्यतः एक समय और उत्कृष्टतः असंख्यात काल की होती है।

१४—अणन्तकालमुक्कोसं
एगं समयं जहन्नयं।
अजीवाण[2] य रूवीण
अन्तरेयं वियाहियं॥

अनन्तकालमुत्कर्षं
एकं समयं जघन्यकम्।
अजीवानां च रूपिणां
अन्तरमिदं व्याख्यातम्॥

१४—उनका अन्तर (स्वस्थान से स्खलित होकर वापिस नहीं आने तक का काल) जघन्यतः एक समय और उत्कृष्टतः अनन्त काल का होता है।

१५—वण्णओ गन्धओ चेव
रसओ फासओ तहा।
संठाणओ य विन्नेओ
परिणामो तेसि पंचहा॥

वर्णतो गन्धतश्चैव
रसतः स्पर्शतस्तथा।
संस्थानतश्च विज्ञेयः
परिणामस्तेषां पंचधा॥

१५—वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान की अपेक्षा से उनका परिणमन पाँच प्रकार का होता है।

१६—वण्णओ परिणया जे उ
पंचहा ते पकित्तिया।
किण्हा नीला य लोहिया
हालिद्दा सुकिला तहा॥

वर्णतः परिणता ये तु
पंचधा ते प्रकीर्तिताः।
कृष्णा नीलाश्च लोहिताः
हारिद्राः शुक्लास्तथा॥

१६—वर्ण की अपेक्षा से उनका परिणति पाँच प्रकार की होती है—१-कृष्ण, २-नील, ३-रक्त, ४-पीत और ५-शुक्ल।

१७—गन्धओ परिणया जे उ
दुविहा ते वियाहिया।
सुब्भिगन्धपरिणामा
दुब्भिगन्धा तहेव य॥

गन्धतः परिणता ये तु
द्विविधास्ते व्याख्याताः।
सुरभिगन्ध-परिणामाः
दुर्गन्धास्तथैव च॥

१७—गन्ध की अपेक्षा से उनकी परिणति दो प्रकार की होती है—१-सुगन्ध और २-दुर्गन्ध।

---

१. एगो समओ जहन्नयं (बृ०); इक्को समओ जहन्निया (ढ)।
२. अजीवाणं (ढ)।

१८—रसओ परिणया जे उ
पंचहा ते पकित्तिया।
तित्तकडुयकसाया
अम्बिला महुरा तहा॥

रसतः परिणता ये तु
पंचधा ते प्रकीर्तिताः।
तिक्त-कटुक-कषायाः
अम्ला मधुरास्तथा॥

१८—रस की अपेक्षा से उनकी परिणति पाँच प्रकार की होती है—१-तिक्त, २-कटु, ३-कसैला, ४-खट्टा और ५-मधुर।

१९—फासओ परिणया जे उ
अट्ठहा ते पकित्तिया।
कक्खडा मउया चेव
गरुया लहुया तहा॥

स्पर्शतः परिणता ये तु
अष्टधा ते प्रकीर्तिताः।
कर्कशा मृदुकाश्चैव
गुरुका लघुकास्तथा॥

१९-२०—स्पर्श की अपेक्षा से उनकी परिणति आठ प्रकार की होती है—१-कर्कश, २-मृदु, ३-गुरु, ४-लघु, ५-शीत, ६-उष्ण, ७-स्निग्ध और ८-रुक्ष।

२०—सीया उण्हा य निद्धा य
तहा लुक्खा य आहिया।
इइ फासपरिणया एए
पुग्गला समुदाहिया॥

शीता उष्णाश्च स्निग्धाश्च
तथा रूक्षाश्चव्याख्याताः।
इति स्पर्श-परिणता एते
पुद्गलाः समुदाहृताः॥

२१—संठाणपरिणया जे उ
पंचहा ते पकित्तिया।
परिमण्डला 'य वट्टा'[1]
तंसा चउरंसमायया॥

संस्थान-परिणता ये तु
पंचधा ते प्रकीर्तिताः।
परिमण्डलाश्च वृत्ताः
त्र्यस्राश्चतुरस्रा आयताः॥

२१—संस्थान की अपेक्षा से उनकी परिणति पाँच प्रकार की होती है—१-परिमण्डल, २-वृत्त, ३-त्रिकोण, ४-चतुष्क और ५-आयत।

२२—वण्णओ जे भवे किण्हे
भइए से उ गन्धओ।
रसओ फासओ चेव
भइए संठाणओ वि य॥

वर्णतो यो भवेत् कृष्णः
भाज्यः स तु गन्धतः।
रसतः स्पर्शतश्चैव
भाज्यः संस्थानतोऽपि च॥

२२—जो पुद्गल वर्ण से कृष्ण है, वह गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान से भाज्य (अनेक विकल्प युक्त) होता है।

२३—वण्णओ जे भवे नीले
भइए से उ गन्धओ।
रसओ फासओ चेव
भइए संठाणओ वि य॥

वर्णतो यो भवेन् नीलः
भाज्यः स तु गन्धतः।
रसतः स्पर्शतश्चैव
भाज्यः संस्थानतोऽपि च॥

२३—जो पुद्गल वर्ण से नील है, वह गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान से भाज्य होता है।

---

१. वट्टा य (बृ०)।

२४—वण्णओ लोहिए जे उ,
भइए से उ गन्धओ।
रसओ फासओ चेव
भइए संठाणओ वि य॥

वर्णतो लोहितो यस्तु
भाज्यः स तु गन्धतः।
रसतः स्पर्शतश्चैव
भाज्यः संस्थानतोऽपि च॥

२४—जो पुद्गल वर्ण से रक्त है, वह गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान से भाज्य होता है।

२५—वण्णओ पीयए जे उ
भइए से उ गन्धओ।
रसओ फासओ चेव
भइए संठाणओ वि य॥

वर्णतः पीतको यस्तु
भाज्यः स तु गन्धतः।
रसतः स्पर्शतश्चैव
भाज्यः संस्थानतोऽपि च॥

२५—जो पुद्गल वर्ण से पीत है, वह गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान से भाज्य होता है।

२६—वण्णओ सुक्किले जे उ
भइए से उ गन्धओ।
रसओ फासओ चेव
भइए संठाणओ वि य॥

वर्णतः शुक्लो यस्तु
भाज्यः स तु गन्धतः।
रसतः स्पर्शतश्चैव
भाज्यः संस्थानतोऽपि च॥

२६—जो पुद्गल वर्ण से श्वेत है, वह गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान से भाज्य होता है।

२७—गन्धओ जे भवे सुब्भी
भइए से उ वण्णओ।
रसओ फासओ चेव
भइए संठाणओ वि य॥

गन्धतो यो भवेत् सुरभिः
भाज्यः स तु वर्णतः।
रसतः स्पर्शतश्चैव
भाज्यः संस्थानतोऽपि च॥

२७—जो पुद्गल गन्ध से सुगन्ध वाला है, वह वर्ण, रस, स्पर्श और संस्थान से भाज्य होता है।

२८—गन्धओ जे भवे दुब्भी
भइए से उ वण्णओ।
रसओ फासओ चेव
भइए संठाणओ वि य॥

गन्धतो यो भवेद्दुर्गन्धः
भाज्यः स तु वर्णतः।
रसतः स्पर्शतश्चैव
भाज्यः संस्थानतोऽपि च॥

२८—जो पुद्गल गन्ध से दुर्गन्ध वाला है, वह वर्ण, रस, स्पर्श और संस्थान से भाज्य होता है।

२९—रसओ तित्तए जे उ
भइए से उ वण्णओ।
गन्धओ फासओ चेव
भइए संठाणओ वि य॥

रसतस्तिक्तो यस्तु
भाज्यः स तु वर्णतः।
गन्धतः स्पर्शतश्चैव
भाज्यः संस्थानतोऽपि च॥

२९—जो पुद्गल रस से तिक्त है, वह वर्ण, गंध, स्पर्श और संस्थान से भाज्य होता है।

३०—रसओ कडुए जे उ
भइए से उ वण्णओ।
गन्धओ फासओ चेव
भइए संठाणओ वि य॥

रसतः कटुको यस्तु
भाज्यः स तु वर्णतः।
गन्धतः स्पर्शतश्चैव
भाज्यः संस्थानतोऽपि च॥

३०—जो पुद्गल रस से कड़ुवा है, वह वर्ण, गन्ध, स्पर्श और संस्थान से भाज्य होता है।

३१—रसओ कसाए जे उ
भइए से उ वण्णओ।
गन्धओ फासओ चेव
भइए संठाणओ वि य॥

रसतः कषायो यस्तु
भाज्यः स तु वर्णतः।
गन्धतः स्पर्शतश्चैव
भाज्यः संस्थानतोऽपि च॥

३१—जो पुद्गल रस से कसैला है, वह वर्ण, गन्ध, स्पर्श और संस्थान से भाज्य होता है।

३२—रसओ अम्बिले जे उ
भइए से उ वण्णओ।
गन्धओ फासओ चेव
भइए संठाणओ वि य॥

रसतः अम्लो यस्तु
भाज्यः स तु वर्णतः।
गन्धतः स्पर्शतश्चैव
भाज्यः संस्थानतोऽपि च॥

३२—जो पुद्गल रस से खट्टा है, वह वर्ण, गन्ध, स्पर्श और संस्थान से भाज्य होता है।

३३—रसओ महुरए जे उ
भइए से उ वण्णओ।
गन्धओ फासओ चेव
भइए संठाणओ वि य॥

रसतो मधुरको यस्तु
भाज्यः स तु वर्णतः।
गन्धतः स्पर्शतश्चैव
भाज्यः संस्थानतोऽपि च॥

३३—जो पुद्गल रस से मधुर है, वह वर्ण, गन्ध, स्पर्श और संस्थान से भाज्य होता है।

३४—फासओ कक्खडे जे उ
भइए से उ वण्णओ।
गन्धओ रसओ चेव
भइए संठाणओ वि य॥

स्पर्शतः कर्कशो यस्तु
भाज्यः स तु वर्णतः।
गन्धतो रसतश्चैव
भाज्यः संस्थानतोऽपि च॥

३४—जो पुद्गल स्पर्श से कर्कश है, वह वर्ण, गन्ध, रस और संस्थान से भाज्य होता है।

३५—फासओ मउए जे उ
भइए से उ वण्णओ।
गन्धओ रसओ चेव
भइए संठाणओ वि य॥

स्पर्शतो मृदुको यस्तु
भाज्यः स तु वर्णतः।
गन्धतो रसतश्चैव
भाज्यः संस्थानतोऽपि च॥

३५—जो पुद्गल स्पर्श से मृदु है, वह वर्ण, गन्ध, रस और संस्थान से भाज्य होता है।

३६—फासओ गुरुए जे उ
भइए से उ वण्णओ।
गन्धओ रसओ चेव
भइए संठाणओ वि य॥

स्पर्शतो गुरुको यस्तु
भाज्यः स तु वर्णतः।
गन्धतो रसतश्चैव
भाज्यः संस्थानतोऽपि च॥

३६—जो पुद्गल स्पर्श से गुरु है, वह वर्ण, गन्ध, रस और संस्थान से भाज्य होता है।

३७—फासओ लहुए जे उ
भइए से उ वण्णओ।
गन्धओ रसओ चेव
भइए संठाणओ वि य॥

स्पर्शतो लघुको यस्तु
भाज्यः स तु वर्णतः
गन्धतो रसतश्चैव
भाज्यः संस्थानतोऽपि च॥

३७—जो पुद्गल स्पर्श से लघु है, वह वर्ण, गन्ध, रस और संस्थान से भाज्य होता है।

३८—फासओ सीयए जे उ
भइए से उ वण्णओ।
गन्धओ रसओ चेव
भइए संठाणओ वि य॥

स्पर्शतः शीतको यस्तु
भाज्यः स तु वर्णतः।
गन्धतो रसतश्चैव
भाज्यः संस्थानतोऽपि च॥

३८—जो पुद्गल स्पर्श से शीत है, वह वर्ण, गन्ध, रस और संस्थान से भाज्य होता है।

३९—फासओ उण्हए जे उ
भइए से उ वण्णओ।
गन्धओ रसओ चेव
भइए संठाणओ वि य॥

स्पर्शतः उष्णको यस्तु
भाज्यः स तु वर्णतः।
गन्धतो रसतश्चैव
भाज्यः संस्थानतोऽपि च॥

३९—जो पुद्गल स्पर्श से उष्ण है, वह वर्ण, गन्ध, रस और संस्थान से भाज्य होता है।

४०—फासओ निद्धए जे उ
भइए से उ वण्णओ।
गन्धओ रसओ चेव
भइए संठाणओ वि य॥

स्पर्शतः स्निग्धको यस्तु
भाज्यः स तु वर्णतः।
गन्धतो रसतश्चैव
भाज्यः संस्थानतोऽपि च॥

४०—जो पुद्गल स्पर्श से स्निग्ध है, वह वर्ण, गन्ध, रस और संस्थान से भाज्य होता है।

४१—फासओ लुक्खए जे उ
भइए से उ वण्णओ।
गन्धओ रसओ चेव
भइए संठाणओ वि य॥

स्पर्शतो रुक्षको यस्तु
भाज्यः स तु वर्णतः।
गन्धतो रसतश्चैव
भाज्यः संस्थानतोऽपि च॥

४१—जो पुद्गल स्पर्श से रूक्ष है, वह वर्ण, गन्ध, रस और संस्थान से भाज्य होता है।

४२—परिमण्डलसंठाणे
भइए से उ वण्णओ।
गन्धओ रसओ चेव
भइए फासओ वि य॥

परिमण्डल-संस्थानः
भाज्यः स तु वर्णतः।
गन्धतो रसतश्चैव
भाज्यः स्पर्शतोऽपि च॥

४२—जो पुद्गल संस्थान से परिमण्डल है, वह वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श से भाज्य होता है।

४३—संठाणओ भवे वट्टे
भइए से उ वण्णओ।
गन्धओ रसओ चेव
भइए फासओ वि य॥

संस्थानतो भवेद् वृत्तः
भाज्यः स तु वर्णतः।
गन्धतो रसतश्चैव
भाज्यः स्पर्शतोऽपि च॥

४३—जो पुद्गल संस्थान से वृत्त है, वह वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श से भाज्य होता है।

४४—संठाणओ भवे तंसे
भइए से उ वण्णओ।
गन्धओ रसओ चेव
भइए फासओ वि य॥

संस्थानतो भवेत् त्र्यस्रः
भाज्यः स तु वर्णतः।
गन्धतो रसतश्चैव
भाज्यः स्पर्शतोऽपि च॥

४४—जो पुद्गल संस्थान से त्रिकोण है, वह वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श से भाज्य होता है।

४५—संठाणओ व चउरंसे
भइए से उ वण्णओ।
गन्धओ रसओ चेव
भइए फासओ वि य॥

संस्थानतो यश्चतुरस्रः
भाज्यः स तु वर्णतः।
गन्धतो रसतश्चैव
भाज्यः स्पर्शतोऽपि च॥

४५—जो पुद्गल संस्थान से चतुष्कोण है, वह वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श से भाज्य होता है।

४६—जे आययसंठाणे
भइए से उ वण्णओ।
गन्धओ रसओ चेव
भइए फासओ वि य॥

य आयत-संस्थानः
भाज्यः स तु वर्णतः।
गन्धतो रसतश्चैव
भाज्यः स्पर्शतोऽपि च॥

४६—जो पुद्गल संस्थान से आयत है, वह वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श से भाज्य होता है।

४७—एसा अजीवविभत्ती
समासेण वियाहिया।
इत्तो जीवविभत्तिं
वुच्छामि अणुपुव्वसो॥

एषाऽजीव-विभक्तिः
समासेन व्याख्याता।
इतो जीव-विभक्तिं
वक्ष्याम्यनुपूर्वशः॥

४७—यह अजीव-विभाग संक्षेप में कहा गया है। अब अनुक्रम से जीव-विभाग का निरूपण करूंगा।

४८—संसारत्था य सिद्धा य दुविहा जीवा वियाहिया[1]। 'सिद्धा णेगविहा वुत्ता'[2] तं मे कित्तयओ सुण ॥	संसारस्थाश्च सिद्धाश्च द्विविधाः जीवा व्याख्याताः। सिद्धा अनेकविधा उक्ताः तान् मे कीर्तयतः शृणु ॥	४८—जीव दो प्रकार के होते हैं—(१) संसारी और (२) सिद्ध। सिद्ध अनेक प्रकार के होते हैं। मैं उनका निरूपण करता हूँ, तुम मुझ से सुनो।
४९—इत्थी पुरिससिद्धा य तहेव य नपुंसगा। सलिंगे अन्नलिंगे य गिहिलिंगे तहेव य ॥	स्त्री-पुरुष-सिद्धाश्च तथैव च नपुंसकाः। स्व-लिंगा अन्य-लिंगाश्च गृह-लिंगास्तथैव च ॥	४९—स्त्रीलिंग सिद्ध, पुरुषलिंग सिद्ध, नपुंसकलिंग सिद्ध, स्वलिंग सिद्ध, अन्यलिंग सिद्ध, गृहलिंग सिद्ध आदि उनके अनेक प्रकार हैं।
५०—उक्कोसोगाहणाए य जहन्नमज्झिमाइ य। उड्ढं अहे य तिरियं च समुद्दम्मि जलम्मि य ॥	उत्कर्षावगाहनायां च जघन्यमध्यमयोश्च। ऊर्ध्वमधश्च तिर्यक् च समुद्रे जले च ॥	५०—उत्कृष्ट, जघन्य और मध्यम अवगाहना (कद) में, ऊँचे, नीचे और तिरछे लोक में तथा समुद्र व अन्य जलाशयों में भी जीव सिद्ध होते हैं।
५१—दस 'चेव नपुंसेसुं'[3] वीसं इत्थियासु य। पुरिसेसु य अट्ठसयं समएणेगेण सिज्झई ॥	दस चैव नपुंसकेषु विंशतिः स्त्रीषु च। पुरुषेषु चाष्टशतं समयेनैकेन सिध्यति ॥	५१—दश नपुंसक, बीस स्त्रियाँ और एक सौ आठ पुरुष एक ही क्षण में सिद्ध हो सकते हैं।
५२—चत्तारि य गिहिलिंगे अन्नलिंगे दसेव य। सलिंगेण य अट्ठसयं समएणेगेण सिज्झई ॥	चत्वारश्च गृह-लिंगे अन्य-लिंगे दशैव च। स्व-लिंगेन चाष्टशतं समयेनैकेन सिध्यति ॥	५२—गृहस्थ वेश में चार, अन्य तीर्थिक वेश में दश और निर्ग्रन्थ वेश में एक सौ आठ जीव एक साथ सिद्ध हो सकते हैं।
५३—उक्कोसोगाहणाए य सिज्झन्ते जुगवं दुवे। चत्तारि जहन्नाए जवमज्झऽट्ठुत्तरं[4] सयं ॥	उत्कर्षावगाहनायां च सिध्यतो युगपद् द्वौ। चत्वारो जघन्यायाम् यवमध्यायामष्टोत्तरं शतम् ॥	५३—उत्कृष्ट अवगाहना में दो, जघन्य अवगाहना में चार और मध्यम अवगाहना में एक सौ आठ जीव एक ही क्षण में सिद्ध हो सकते हैं।

१. भवंति ते (बृ० पा०)।
२. सत्थाणगविहा सिद्धा (बृ० पा०)।
३. य नपुंसएसुं (बृ०)।
४. मज्झे अट्ठुत्तरं (अ)।

५४—'चउरुड्ढलोए य दुवे समुद्दे
तओ जले वीसमहे तहेव'[1]।
सयं च अट्ठुत्तर तिरियलोए
समएणेगेण उ 'सिज्झई उ'[2]॥'[3]

चत्वार ऊर्ध्व-लोके च द्वौ समुद्रे
त्रयो जले विंशतिरधस्तथैव।
शतं चाष्टोत्तरं तिर्यग्-लोके
समयेनैकेन तु सिध्यति॥

५४—ऊँचे लोक में चार, समुद्र में दो, अन्य जलाशयों में तीन, नीचे लोक में बीस, तिरछे लोक में एक सौ आठ जीव एक ही क्षण में सिद्ध हो सकते हैं।

५५—कहिं पडिहया सिद्धा ?
कहिं सिद्धा पइट्ठिया ?।
कहिं बोन्दि चइत्ताणं ?
कत्थ गन्तूण सिज्झई ?॥

क्व: प्रतिहता: सिद्धा: ?
क्व सिद्धाः प्रतिष्ठिताः ?।
क्व शरीरं त्यक्त्वा ?
कुत्र गत्वा सिध्यन्ति तु ?॥

५५—सिद्ध कहाँ रुकते हैं ? कहाँ स्थित होते हैं ? कहाँ शरीर को छोड़ते हैं ? और कहाँ जाकर सिद्ध होते हैं ?

५६—अलोए पडिहया सिद्धा
लोयग्गे य पइट्ठिया।
इहं बोन्दि चइत्ताणं
तत्थ गन्तूण सिज्झई॥

अलोके प्रतिहताः सिद्धाः
लोकाग्रे च प्रतिष्ठिताः।
इह शरीरं त्यक्त्वा
तत्र गत्वा सिध्यन्ति॥

५६—सिद्ध अलोक में रुकते है। लोक के अग्रभाव में स्थित होते हैं। मनुष्य लोक में शरीर को छोड़ते हैं और लोक के अग्रभाग में जाकर सिद्ध होते हैं।

५७—बारसहिं जोयणेहिं
सव्वट्ठस्सुवरिं भवे।
ईसीपब्भारनामा उ[4]
पुढवी छत्तसंठिय॥

द्वादशभिर्योजनैः
सर्वार्थस्योपरि भवेत्।
ईषत्प्राग्भारनाम्नी तु
पृथ्वी छत्र-संस्थिता॥

५७—सर्वार्थसिद्ध विमान से बारह योजन ऊपर ईषत्-प्राग्भारा नामक पृथ्वी है। वह छत्राकार में अवस्थित है।

५८—पणयालसयसहस्सा
जोयणाणं तु आयया।
तावइयं चेव वित्थिण्णा
'तिगुणो तस्सेव परिरओ'[5]॥

पंचचत्वारिंशत् शतसहस्राणि
योजनानां त्वायता।
तावन्ति चैव विस्तीर्णा
त्रिगुणस्तस्मादेव परिरयः॥

५८—उसकी लम्बाई और चौड़ाई पैंतालीस लाख योजन की है। उसकी परिधि उस (लम्बाई-चौड़ाई) से तिगुनी है।

---

१. तहेव य (अ)।
२. सिज्झइ धुवं (उ, ऋ०)।
३. चउरो उड्ढलोगंमि वीसपहुत्तं अहे भवे।
सयं अट्ठोत्तरं तिरिए एग समएण सिज्झइ॥
दुवे समुद्दे सिज्झंति सेस जलेसु तओ जणा।
एसा हु सिज्झणा भणिया पुव्वभावं पडुच्च उ॥ (बृ० पा०)।
४. × (उ, ऋ०)।
५. तिउण साहिय परिरयं (बृ० पा०)।

५९—अट्ठजोयणबाहल्ला
सा मज्झम्मि वियाहिया ।
परिहायन्ती चरिमन्ते
मच्छियपत्ता तणुयरी ॥

अष्टयोजन-बाहल्या
सा मध्ये व्याख्याता ।
परिहीयमाणा चरमान्ते
मक्षिका-पत्रात् तनुतरा ॥

५९—मध्य भाग में उसकी मोटाई आठ योजन की है। वह क्रमशः पतली होती-होती अन्तिम भाग में मक्खी के पर से भी अधिक पतली हो जाती है।

६०—अज्जुणसुवण्णगमई
सा पुढवी निम्मला सहावेणं ।
उत्ताणगछत्तगसंठिया य
भणिया जिणवरेहिं ॥

अर्जुन-सुवर्णकमयी
सा पृथिवी निर्मला स्वभावेन ।
उत्तानकच्छत्रक-संस्थिता च
भणिता जिनवरैः ॥

६०—वह श्वेत-स्वर्णमयी, स्वभाव से निर्मल और उत्तान (सीधे) छत्राकार वाली है—ऐसा जिनवर ने कहा है।

६१—संखंककुन्दसंकासा
पण्डुरा निम्मला सुहा ।
सीयाए जोयणे तत्तो
लोयन्तो उ वियाहिओ ॥

शङ्खाङ्ककुन्द-संकाशा
पाण्डुरा निर्मला शुभा ।
सीताया योजने ततः
लोकान्तस्तु व्याख्यातः ॥

६१—वह शंख, अंक-रत्न और कुन्द पुष्प के समान श्वेत, निर्मल और शुद्ध है। उस सीता नाम की ईषत्-प्राग्भारा पृथ्वी से एक योजन ऊपर लोक का अन्त (अग्रभाग) है।

६२—जोयणस्स उ जो तस्स[1]
कोसो उवरिमो भवे ।
'तस्स कोसस्स छब्भाए
सिद्धाणोगाहणा भवे'[2] ॥

योजनस्य तु यस्तस्य
क्रोश उपरिवर्ती भवेत् ।
तस्य क्रोशस्य षड्भागे
सिद्धानामवगाहना भवेत् ॥

६२—उस योजन के उपरले कोस के छठे भाग में सिद्धों की अवगाहना (अवस्थिति) होती है।

६३—तत्थ सिद्धा महाभागा
लोयग्गम्मि पइट्ठिया[3] ।
भवप्पवंच उम्मुक्का
सिद्धिं वरगइं गया ॥

तत्र सिद्धा महाभागाः
लोकाग्र प्रतिष्ठिताः ।
भव-प्रपञ्चोन्मुक्ताः
सिद्धिं वरगतिं गताः ॥

६३—अनन्त शक्तिशाली भव-प्रपंच से उन्मुक्त और सर्वश्रेष्ठ गति (सिद्धि) को प्राप्त होने वाले सिद्ध वहाँ लोक के अग्रभाग में स्थित होते हैं।

६४—उस्सेहो जस्स जो होइ
भवम्मि चरिमम्मि उ[4] ।
तिभागहीणा तत्तो य
सिद्धाणोगाहणा भवे ॥

उत्सेधो यस्य यो भवति
भवे चरमे तु ।
त्रिभागहीना ततश्च
सिद्धानामवगाहना भवेत् ॥

६४—अन्तिम भव में जिसकी जितनी ऊँचाई होती है, उससे त्रिभागहीन (एक तिहाई—कम) उसकी अवगाहना होती है।

---

१. तत्थ (बृ०); तस्स (बृ० पा०)।
२. कोसस्सवि य जो तत्थ छब्भागो उवरिमो भवे (बृ० पा०)।
३. य संट्ठिया (अ)।
४. य (बृ०)।

६५—एगत्तेण साईया
अपज्जवसिया वि य।
पुहुत्तेण अणाईया
अपज्जवसिया वि य॥

एकत्वेन सादिकाः
अपर्यवसिता अपि च।
पृथुत्वेनानादिकाः
अपर्यवसिता अपि च॥

६५—एक-एक की अपेक्षा से सिद्ध सादि-अनन्त और पृथुता (बहुत्व) की अपेक्षा से अनादि-अनन्त हैं।

६६—अरूविणो जीवघणा
नाणदंसणसन्निया।
अउलं सुहं संपत्ता
उवमा जस्स नत्थि उ॥

अरूपिणो जीव-घनाः
ज्ञान-दर्शन-संज्ञिताः।
अतुलं सुखं सम्प्राप्ता
उपमा यस्य नास्ति तु॥

६६—वे सिद्ध-जीव अरूप, सघन (एक दूसरे से सटे हुए) और ज्ञान-दर्शन में सतत उपयुक्त होते हैं। उन्हे वैसा सुख प्राप्त होता है, जिसके लिए संसार में कोई उपमा नहीं है।

६७—लोएगदेसे[1] ते सव्वे
नाणदंसणसन्निया।
संसारपारनिच्छिन्ना
सिद्धिं वरगइं गया॥

लोकैकदेशे ते सर्वे
ज्ञान-दर्शन-संज्ञिताः।
संसार-पार-निस्तीर्णाः
सिद्धिं वरगतिं गताः॥

६७—ज्ञान और दर्शन से सतत उपयुक्त, संसार समुद्र से निस्तीर्ण और सर्वश्रेष्ठ गति (सिद्धि) को प्राप्त होने वाले सब सिद्धलोक के एक देश में अवस्थित है।

६८—संसारत्था उ जे जीवा
दुविहा ते वियाहिया।
तसा य थावरा चेव
थावरा तिविहा तहिं॥

संसारस्थास्तु ये जीवाः
द्विविधास्ते व्याख्याताः।
त्रसाश्च स्थावराश्चैव
स्थावरास्त्रिविधास्तत्र॥

६८—संसारी जीव दो प्रकार के हैं—(१) त्रस और (२) स्थावर। स्थावर तीन प्रकार के हैं—

६९—पुढवी आउजीवा य
तहेव य वणस्सई।
इच्चेए थावरा तिविहा
तेसिं भेए सुणेह मे॥

पृथिव्यब्जीवाश्च
तथैव च वनस्पतिः।
इत्येते स्थावरास्त्रिविधाः
तेषां भेदान् शृणुत मे॥

६९—(१) पृथ्वी, (२) जल और (३) वनस्पति। ये तीन स्थावर के मूल भेद हैं। इनके उत्तर भेद मुझ से सुनो।

७०—दुविहा पुढवीजीवा उ
सुहुमा बायरा तहा।
पज्जत्तमपज्जत्ता
एवमेए[2] दुहा पुणो॥

द्विविधाः पृथिवी-जीवास्तु
सूक्ष्मा बादरास्तथा।
पर्याप्ता अपर्याप्ताः
एवमेव द्विधा पुनः॥

७०—पृथ्वी-काय के जीव दो प्रकार के हैं—(१) सूक्ष्म और (२) बादर। इन दोनों के (१) पर्याप्त और (२) अपर्याप्त—ये दो-दो भेद होते हैं।

---

१. लोगग्ग° (बृ० पा०)।
२. एगमेगे (बृ० पा०)।

७१—बायरा जे उ पज्जत्ता
दुविहा ते वियाहिया ।
सण्हा खरा य बोद्धव्वा
सण्हा सत्तविहा तहिं ॥

बादरा ये तु पर्याप्ताः
द्विविधास्ते व्याख्याताः ।
श्लक्ष्णाः खराश्च बोद्धव्याः
श्लक्ष्णाः सप्तविधास्तत्र ॥

७१—बादर पर्याप्त पृथ्वीकायिक जीवों के दो भेद हैं—(१) मृदु, और (२) कठोर । मृदु के सात भेद हैं :

७२—किण्हा नीला य रुहिरा य[1]
हालिद्दा सुक्किला तहा ।
पण्डुपणगमट्टिया
खरा छत्तीसईविहा ॥

कृष्णा नीलाश्च रुधिराश्च
हारिद्राः शुक्लास्तथा ।
पाण्डु-पनक-मृत्तिका
खराः षट्त्रिंशद्विधाः ॥

७२—(१) कृष्ण, (२) नील, (३) रक्त, (४) पीत, (५) श्वेत, (६) पांडु (भूरीमिट्टी) और (७) पनक (अति सूक्ष्म रज) । कठोर पृथ्वी के छत्तीस प्रकार हैं :

७३—पुढवी य सक्करा वालुया य
उवले सिला य लोणूसे ।
'अयतम्बतउय'[2] -सीसग-
रुप्पसुवण्णे य वइरे य ॥

पृथिवी च शर्करा बालुका च
उपलः शिला च लवणोषौ ।
अयस्ताम्र-त्रपुक-सीसक-
रूप्य-सुवर्णं च वज्रं च ॥

७३—(१) शुद्ध पृथ्वी, (२) शर्करा, (३) बालू, (४) उपल, (५) शिला, (६) लवण, (७) नौनी मिट्टी, (८) लोहा, (९) रांगा, (१०) ताम्बा, (११) शीशा, (१२) चाँदी, (१३) सोना, (१४) वज्र,

७४—हरियाले हिंगुलुए
मणोसिला सासगंजणपवाले ।
अब्भपडलऽब्भवालुय
बायरकाए मणिविहाणा ॥

हरितालं हिंगुलकः
मनःशिला सस्यकाऽञ्जनप्रवालानि ।
अभ्रपटलमभ्रबालुका
बादरकाये मणिविधानानि ॥

७४—(१५) हरिताल, (१६) हिंगुल, (१७) मैनसिल, (१८) सस्यक, (१९) अंजन, (२०) प्रवाल, (२१) अभ्रक पटल, (२२) अभ्र बालुक । मणियों के भेद, जैसे—

७५—गोमेज्जए य रुयगे
अंके फलिहे य लोहियक्खे य ।
मरगयमसारगल्ले
भुयमोयगइन्दनीले य ॥

गोमेदकश्च रुचकः
अंक-स्फटिकश्च लोहिताक्षश्च ।
मरकत-मसारगल्लः
भुजमोचक इन्द्रनीलश्च ॥

७५—(२३) गोमेदक, (२४) रुचक, (२५) अंक, (२६) स्फटिक और लोहिताक्ष, (२७) मरकत एवं मसार गल्ल, (२८) भुज-मोचक, (२९) इन्द्रनील,

७६—चन्दणगेरुयहंसगब्भ
पुलए सोगन्धिए य बोद्धव्वे ।
चन्दप्पहवेरुलिए
जलकन्ते सूरकन्ते य ॥

चन्दन-गैरिक-हंसगर्भः
पुलकः सौगन्धिकश्च बोद्धव्यः
चन्द्रप्रभो वैडूर्यः
जलकान्तः सूर्यकान्तश्च ॥

७६—(३०) चन्दन, गेरुक एवं हंस गर्भ, (३१) पुलक, (३२) सौगन्धिक, (३३) चन्द्रप्रभ, (३४) वैडूर्य, (३५) जलकान्त और (३६) सूर्य कान्त ।

---

१. × (अ) ।
२. अयंब तओ य (अ) ; अय तउय तम्ब (उ, ऋ०) ।

७७—एए खरपुढवीए
भेया छत्तीसमाहिया ।
एगविहमणाणत्ता
सुहुमा तत्थ वियाहिया ॥

एते खरपृथिव्याः
भेदाः षट्त्रिंशदाख्याताः ।
एकविधा अनानात्वाः
सूक्ष्मास्तत्र व्याख्याताः ॥

७७—कठोर पृथ्वी के ये छत्तीस प्रकार होते हैं। सूक्ष्म पृथ्वीकायिक जीव एक ही प्रकार के होते हैं। उनमें नानात्व (बहु विधता) नहीं होता।

७८—सुहुमा सव्वलोगम्मि
लोगदेसे य बायरा ।
इत्तो कालविभागं तु
तेसिं वुच्छं चउव्विहं ॥

सूक्ष्माः सर्वलोके
लोक-देशे च बादराः ।
इतः काल-विभागं तु
तेषां वक्ष्ये चतुर्विधम् ॥

७८—सूक्ष्म पृथ्वीकायिक जीव समूचे लोक में और बादर पृथ्वीकायिक जीव लोक के एक भाग में व्याप्त हैं। इनके चतुर्विध काल-विभाग का निरूपण करूँगा।

७९—संतइं पप्पऽणाईया[1]
अपज्जवसिया वि य ।
ठिइं पडुच्च साईया
सपज्जवसिया वि य ॥

संतति प्राप्यानादिकाः
अपर्यवसिता अपि च ।
स्थितिं प्रतीत्य सादिकाः
सपर्यवसिता अपि च ॥

७९—प्रवाह की अपेक्षा से वे अनादि-अनन्त और स्थिति की अपेक्षा से सादि-सान्त हैं।

८०—बावीससहस्साइं
वासाणुक्कोसिया भवे ।
आउठिई पुढवीणं
अन्तोमुहुत्तं जहन्निया[2] ॥

द्वाविंशति-सहस्राणि
वर्षाणामुत्कर्षिता भवेत् ।
आयुः-स्थितिः पृथिवीनां
अन्तर्मुहूर्तं जघन्यका ॥

८०—उनकी आयु-स्थिति जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टतः बाईस हजार वर्ष की है।

८१—असंखकालमुक्कोसं
अन्तोमुहुत्तं जहन्नयं ।
कायठिई पुढवीणं
तं कायं तु अमुंचओ ॥

असंख्यकालमुत्कर्षं
अन्तर्मुहूर्तं जघन्यकम् ।
काय-स्थितिः पृथिवीनां
तं कायं त्वमुंचताम् ॥

८१—उनकी काय-स्थिति (निरन्तर उसी काय में जन्म लेते रहने की काल-मर्यादा) जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टतः असंख्यात-काल की है।

८२—अणन्तकालमुक्कोसं
अन्तोमुहुत्तं जहन्नयं ।
विजढंमि सए काए
पुढवीजीवाण अन्तरं ॥

अनन्तकालमुत्कर्षं
अन्तर्मुहूर्तं जघन्यकम् ।
वित्यक्ते स्वके काये
पृथिवी-जीवानामन्तरम् ॥

८२—उनका अन्तर (पृथ्वीकाय को छोड़ कर पुनः उसी काय में उत्पन्न होने तक का काल) जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टतः अनन्त काल का है।

१. °तेणाई (अ)।
२. जहन्नगं (अ)।

८३—एएसिं वण्णओ चेव
गन्धओ रसफासओ।
संठाणादेसओ वावि
विहाणाइं सहस्ससो॥

एतेषां वर्णतश्चैव
गन्धतो रस-स्पर्शतः।
संस्थानादेशतो वापि
विधानानि सहस्रशः॥

८३—वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान की दृष्टि से उनके हजारों भेद होते हैं।

८४—दुविहा आउजीवा उ
सुहुमा बायरा तहा।
पज्जत्तमपज्जत्ता
एवमेए दुहा पुणो॥

द्विविधा अब्जीवास्तु
सूक्ष्मा बादरास्तथा।
पर्याप्ता अपर्याप्ता:
एवमेव द्विधा पुनः॥

८४—अप्कायिक जीव दो प्रकार के हैं—(१) सूक्ष्म और (२) बादर। इन दोनों के पर्याप्त और अपर्याप्त ये दो-दो भेद होते हैं।

८५—बायरा जे उ पज्जत्ता
पंचहा ते पकित्तिया।
सुद्धोदए य उस्से
हरतणू महिया हिमे॥

बादरा ये तु पर्याप्ताः
पंचधा ते प्रकीर्तिताः।
शुद्धोदकंचावश्यायः
हरतनुर्महिकाहिमम्॥

८५—बादर पर्याप्त अप्कायिक जीवों के पाँच भेद होते हैं—(१) शुद्धोदक, (२) ओस, (३) हरतनु, (४) कुहासा और (५) हिम।

८६—एगविहमणाणत्ता
सुहुमा तत्थ वियाहिया।
सुहुमा सव्वलोगम्मि
लोगदेसे य बायरा॥

एकविधा अनानात्वाः
सूक्ष्मास्तत्र व्याख्याताः।
सूक्ष्माः सर्वलोके
लोक-देशे च बादराः॥

८६—सूक्ष्म अप्कायिक जीव एक ही प्रकार के होते हैं, उनमें नानात्व नहीं होता। वे समूचे लोक में तथा बादर अप्कायिक जीव लोक के एक भाग में व्याप्त हैं।

८७—सन्तइं पप्पऽणाईया[1]
अपज्जवसिया वि य।
ठिइं पडुच्च साईया
सपज्जवसिया वि य॥

सन्ततिं प्राप्यानादिकाः
अपर्यवसिता अपि च।
स्थितिं प्रतीत्य सादिकाः
सपर्यवसिता अपि च॥

८७—प्रवाह की अपेक्षा से वे अनादि-अनन्त और स्थिति की अपेक्षा से सादि-सान्त हैं।

८८—सत्तेव सहस्साइं
वासाणुक्कोसिया भवे।
आउट्ठिई आऊणं
अन्तोमुहुत्तं जहन्निया[2]॥

सप्तैव सहस्राणि
वर्षाणामुत्कर्षिता भवेत्।
आयुः-स्थितिरपां
अन्तर्मुहूर्तं जघन्यका॥

८८—उनकी आयु स्थिति जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टतः सात हजार वर्ष की है।

---

१. °तेणाई (अ)।
२. जहन्नगं (अ)।

८९—असंखकालमुक्कोसं
अन्तोमुहुत्तं जहन्निया ।
कायट्ठिई आऊणं
तं कायं तु अमुंचओ ॥

असंख्यकालमुत्कर्षं
अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यका ।
काय-स्थितिरपां
तं कायं त्वमुंचताम् ॥

८९—उनकी काय-स्थिति (निरन्तर उसकी काय में जन्म लेते रहने की काल-मर्यादा) जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टतः असंख्यात काल की है ।

९०—अणन्तकालमुक्कोसं
अन्तोमुहुत्तं जहन्नयं ।
विजढंमि सए काए
आऊजीवाण अन्तरं ॥

अनन्तकालमुत्कर्षं
अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यकम् ।
वित्यक्ते स्वके काये
अप्जीवानामन्तरम् ॥

९०—उनका अन्तर (अप्काय को छोड़ कर पुनः उसी काय में उत्पन्न होने तक का काल) जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टतः अनन्त-काल का है ।

९१—एएसिं वण्णओ चेव
गन्धओ रसफासओ ।
संठाणादेसओ वावि
विहाणाइं सहस्ससो ॥

एतेषां वर्णतश्चैव
गन्धतो रस-स्पर्शतः ।
संस्थानादेशतो वापि
विधानानि सहस्रशः ॥

९१—वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान की दृष्टि से उनके हजारों भेद होते हैं ।

९२—दुविहा वणस्सईजीवा
सुहुमा बायरा तहा ।
पज्जत्तमपज्जत्ता
एवमेए[1] दुहा पुणो ॥

द्विविधा वनस्पति-जीवाः
सूक्ष्मा बादरास्तथा ।
पर्याप्ता अपर्याप्ताः
एवमेते द्विविधा पुनः ॥

९२—वनस्पतिकायिक जीव दो प्रकार के हैं—(१) सूक्ष्म और (२) बादर । इन दोनों के पर्याप्त और अपर्याप्त ये दो-दो भेद होते हैं ।

९३—बायरा जे उ पज्जत्ता
दुविहा ते वियाहिया ।
साहारणसरीरा य
पत्तेगा य तहेव य ॥

बादरा ये तु पर्याप्ताः
द्विविधास्ते व्याख्याताः ।
साधारण-शरीराश्च
प्रत्येकाश्च तथैव च ॥

९३—बादर पर्याप्त वनस्पतिकायिक जीवों के दो भेद होते हैं—(१) साधारण-शरीर और (२) प्रत्येक-शरीर ।

९४—'पत्तेगसरीरा उ
णेगहा ते पकित्तिया'[2] ।
रुक्खा गुच्छा य गुम्मा य
लया वल्ली तणा तहा ॥

प्रत्येक शरीरास्तु
अनेकधा ते प्रकीर्तिताः ।
वृक्षा गुच्छाश्च गुल्माश्च
लता-वल्ली तृणानि तथा ॥

९४—प्रत्येक-शरीर वनस्पतिकायिक जीवों के अनेक प्रकार हैं—वृक्ष, गुच्छ, गुल्म, लता, वल्ली और तृण ।

---

१. एवमेव (अ) ।
२. बारसविह भेएणं पत्तेया उ वियाहिया (बृ० पा०) ।

९५—लयावलया[1] पव्वगा[2] कुहुणा
जलरुहा ओसहीतिणा[3] ।
हरियकाया य बोद्धव्वा
पत्तेया इति आहिया ॥

लता-वलयानि पर्वजाः
कुहणा जलरुहा औषधि-तृणानि ।
हरित-कायाश्च बोद्धव्याः
प्रत्येका इति आख्याताः ॥

९५—लता-वलय (नारियल आदि), पर्वज (ईख आदि), कुहण (भूंफोड़ आदि), जलरुह (कमल आदि), औषधि-तृण (अनाज) और हरित-काय – ये सब प्रत्येक-शरीर हैं ।

९६—साहारणसरीरा उ
णेगहा ते पकित्तिया ।
आलुए मूलए चेव
सिंगबेरे तहेव य ॥

साधारण-शरीरास्तु
अनेकविधा ते प्रकीर्तिताः ।
आलुको मूलकश्चैव
शृङ्गबेरं तथैव च ॥

९६—साधारण-शरीर वनस्पतिकायिक जीवों के अनेक प्रकार हैं—आलू, मूली, अदरक,

९७—हिरिली सिरिली सिस्सिरिली
जावई केदकन्दली[4] ।
पलंदूलसणकन्दे य
कन्दली य कुडुंबए[5] ॥

हिरली सिरिली सिस्सिरिली
जावई केदकन्दली ।
पलाण्डु-लशुन-कन्दश्च
कन्दली च कुस्तुम्बकः ॥

९७—हिरलीकन्द, सिरिलीकन्द, सिस्सिरिलीकन्द, जावईकन्द, केद-कंदलीकन्द, प्याज, लहसुन, कन्दली, कुस्तुम्बक,

९८—लोहि णीहू य थिहू य
कुहगा य तहेव य ।
कण्हे य वज्जकन्दे य
कन्दे सूरणए[6] तहा ॥

लोही स्निहु श्च स्तिभु श्च
कुहकाश्च तथैव च ।
कृष्णश्च वज्रकन्दश्च
कन्दः सूरणकस्तथा ॥

९८—लोही, स्निहु, कुहक, कृष्ण, वज्र-कन्द, सूरणकन्द,

९९—अस्सकण्णी य बोद्धव्वा
सीहकण्णी तहेव य ।
मुसुण्ढी य हलिद्दा य
ऽणेगहा एवमायओ ॥

अश्वकर्णी च बोद्धव्या
सिंहकर्णी तथैव च ।
मुसुण्ढी च हरिद्रा च
अनेकधा एवमादयः ॥

९९—अश्वकर्णी, सिंहकर्णी, मुसुंढी और हरिद्रा आदि । ये सब साधारण-शरीर हैं ।

१००—एगविहमणाणत्ता
सुहुमा तत्थ वियाहिया ।
सुहुमा सव्वलोगम्मि
लोगदेसे य बायरा ॥

एकविधा अनानात्वाः
सूक्ष्मास्तत्र व्याख्याताः ।
सूक्ष्माः सर्वलोके
लोक-देशे च बादराः ॥

१००—सूक्ष्म वनस्पतिकायिक जीव एक ही प्रकार के होते हैं, उनमें नानात्व नहीं होता । वे समूचे लोक में तथा बादर वनस्पतिकायिक जीव लोक के एक भाग में व्याप्त हैं ।

---

१. वलया य (अ) ।
२. पव्वया (बृ०) ; पव्वगा (बृ० पा०) ।
३. ०तहा (अ, आ, इ, उ, ऋ०) ।
४. केलि० (उ) ।
५. कुडुव्वए (उ, ऋ०) ; कुहव्वए (स) ।
६. पुसूरणे (उ) ।

१०१—संतइं पप्पऽणाईया[1]
अपज्जवसिया वि य।
ठिइं पडुच्च साईया
सपज्जवसिया वि य॥

सन्तर्ति प्राप्यानादिकाः
अपर्यवसिता अपि च।
स्थिति प्रतीत्य सादिकाः
सपर्यवसिता अपि च॥

१०१—प्रवाह की अपेक्षा से वे अनादि-अनन्त और स्थिति की अपेक्षा से सादि-सान्त हैं।

१०२—दस चेव सहस्साइं
वासाणुक्कोसिया भवे।
वणप्फईण[2] आउं तु
अन्तोमुहुत्तं जहन्नगं॥

दश चैव सहस्राणि
वर्षाणामुत्कर्षिता भवेत्।
वनस्पतीनामायुस्तु
अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यकम्॥

१०२—उनकी आयु-स्थिति जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टतः दश हजार वर्ष की है।

१०३—अणन्तकालमुक्कोसं
अन्तोमुहुत्तं जहन्नयं।
कायठिई पणगाणं
तं कायं तु अमुंचओ॥

अनन्तकालमुत्कर्षं
अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यकम्।
काय-स्थितिः पनकानां
तं कायन्त्वमुंचताम्॥

१०३—उनकी काय-स्थिति (निरन्तर उसी काय में जन्म लेते रहने की काल-मर्यादा) जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टतः अनन्त काल की है।

१०४—असंखकालमुक्कोसं
अन्तोमुहुत्तं जहन्नयं।
विजढंमि सए काए
पणगजीवाण अन्तरं॥

असङ्ख्यकालमुत्कर्षं
अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यकम्।
वित्यक्ते स्वके काये
पनक-जीवानामन्तरम्॥

१०४—उनका अन्तर (वनस्पतिकाय को छोड़ कर पुनः उसी काय में उत्पन्न होने तक का काल) जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टतः असंख्यात काल का है।

१०५—एएसि वण्णओ चेव
गन्धओ रसफासओ।
संठाणादेसओ वावि
विहाणाइं सहस्ससो॥

एतेषां वर्णतश्चैव
गन्धतो रस-स्पर्शतः।
संस्थानादेशतो वापि
विधानानि सहस्रशः॥

१०५—वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान की दृष्टि से उनके हजारों भेद होते हैं।

१०६—इच्चेए थावरा तिविहा
समासेण वियाहिया।
इत्तो उ तसे तिविहे
वुच्छामि अणुपुव्वसो॥

इत्येते स्थावरास्त्रिविधाः
समासेन व्याख्याताः।
इतस्तु त्रसान् त्रिविधान्
वक्ष्याम्यनुपूर्वशः॥

१०६—यह तीन प्रकार के स्थावर जीवों का संक्षिप्त वर्णन है। अब तीन प्रकार के त्रस जीवों का क्रमशः निरूपण करूँगा।

---

१. °तेणाइ (अ)।
२. वणस्सईण (उ, ऋ॰, बृ॰); वणप्फईण (बृ॰ पा॰)।

१०७—तेऊ वाऊ य बोद्धव्वा
उराला य तसा तहा।
इच्चेए तसा तिविहा
तेसिं भेए सुणेह मे॥

तेजो वायुश्च बोद्धव्यो
उदाराश्च त्रसास्तथा।
इत्येते त्रसास्त्रिविधाः
तेषां भेदान् शृणुत मे॥

१०७—तेजसकाय, वायुकाय और उदार त्रसकाय—ये तीन भेद त्रसकाय के हैं। अब इनके भेदों को मुझ से सुनो।

१०८—दुविहा तेउजीवा उ
सुहुमा बायरा तहा।
पज्जत्तमपज्जत्ता
एवमेए दुहा पुणो॥

द्विविधास्तेजोजीवास्तु
सूक्ष्मा बादरास्तथा।
पर्याप्ता अपर्याप्ता
एवमेते द्विधा पुनः॥

१०८—तेजसकायिक जीवों के दो प्रकार हैं—(१) सूक्ष्म और (२) बादर। उन दोनों के पर्याप्त और अपर्याप्त—ये दो-दो भेद होते हैं।

१०९—बायरा जे उ पज्जत्ता
णेगहा ते वियाहिया।
इंगाले मुम्मुरे अगणी
अच्चि जाला तहेव य॥

बादरा ये तु पर्याप्ताः
अनेकधा ते व्याख्याताः।
अंगारो मुर्मुरोऽग्निः
अर्चिर्ज्वाला तथैव च॥

१०९—बादर पर्याप्त तेजसकायिक जीवों के अनेक भेद हैं—अंगार, मुर्मुर, अग्नि, अर्चि, ज्वाला,

११०—उक्का विज्जू य बोद्धव्वा
णेगहा एवमायओ।
एगविहमणाणत्ता
सुहुमा ते वियाहिया॥

उल्का विद्युच्च बोद्धव्याः
अनेकधा एवमादयः।
एकविधा अनानात्वाः
सूक्ष्मास्ते व्याख्याताः॥

११०—उल्का, विद्युत् आदि। सूक्ष्म तेजसकायिक जीव एक ही प्रकार के होते हैं, उनमें नानात्व नहीं होता।

१११—सुहुमा सव्वलोगम्मि
लोगदेसे[1] य बायरा।
इत्तो कालविभागं तु
तेसिं वुच्छं चउव्विहं॥

सूक्ष्माः सर्वलोके
लोके-देशे च बादराः।
इतः काल-विभागं तु
तेषां वक्ष्यामि चतुर्विधम्॥

१११—वे (सूक्ष्म तेजसकायिक जीव) समूचे लोक में और बादर तेजसकायिक जीव लोक के एक भाग में व्याप्त हैं। अब मैं उनके चतुर्विध काल-विभाग का निरूपण करूंगा।

११२—संतइं पप्पऽणाईया
अपज्जवसिया वि य।
ठिइं पडुच्च साईया
सपज्जवसिया वि य॥

सन्ततिं प्राप्यानादिकाः
अपर्यवसिता अपि च।
स्थितिं प्रतीत्य सादिकाः
सपर्यवसिता अपि च॥

११२—प्रवाह की अपेक्षा से वे अनादि-अनन्त और स्थिति की अपेक्षा से सादि-सान्त हैं।

---
१. एगदेसे (अ)।

११३—तिण्णेव अहोरत्ता
उक्कोसेण वियाहिया ।
आउट्ठिई तेऊणं
अन्तोमुहुत्तं जहन्निया ॥

त्रीण्येवाहोरात्राणि
उत्कर्षेण व्याख्याता ।
आयुः-स्थिति स्तेजसाम्
अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यका ॥

११३—उनकी आयु-स्थिति जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टतः तीन दिन-रात की है।

११४—असंखकालमुक्कोसं
अन्तोमुहुत्तं जहन्नयं ।
कायट्ठिई तेऊणं
तं कायं तु अमुंचओ ॥

असंख्यकालमुत्कर्षं
अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यकम् ।
काय-स्थितिस्तेजसाम्
तं कायन्त्वमुंचताम् ॥

११४—उनकी काय-स्थिति (निरन्तर उसी काय में जन्म लेते रहने की काल-मर्यादा) जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टतः असंख्यात काल की है।

११५—अणन्तकालमुक्कोसं
अन्तोमुहुत्तं जहन्नयं ।
विजढंमि सए काए
तेउजीवाण अन्तरं ॥

अनन्तकालमुत्कर्षं
अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यकम् ।
वित्यक्ते स्वके काये
तेजोजीवानामन्तरम् ॥

११५—उनका अन्तर (तेजस्काय को छोड़ कर पुनः उसी काय में उत्पन्न होने तक का काल) जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टतः अनन्त काल का है।

११६—एएसिं वण्णओ चेव
गन्धओ रसफासओ ।
संठाणादेसओ वावि
विहाणाइं सहस्ससो ॥

एतेषां वर्णतश्चैव
गन्धतो रस-स्पर्शतः ।
संस्थानादेशतो वापि
विधानानि सहस्रशः ॥

११६—वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान की दृष्टि से उनके हजारों भेद हैं।

११७—दुविहा वाउजीवा उ
सुहुमा बायरा तहा ।
पज्जत्तमपज्जत्ता
एवमेए दुहा पुणो ॥

द्विविधा वायु-जीवास्तु
सूक्ष्मा बादरास्तथा ।
पर्याप्ता अपर्याप्ता
एवमेते द्विधा पुनः ॥

११७—वायुकायिक जीवों के दो प्रकार हैं—(१) सूक्ष्म और (२) बादर। उन दोनों के पर्याप्त और अपर्याप्त—ये दो-दो भेद होते हैं।

११८—बायरा जे उ पज्जत्ता
पंचहा ते पकित्तिया ।
उक्कलियामण्डलिया-
घणगुंजा सुद्धवाया य ॥

बादरा ये तु पर्याप्ता
पंचधा ते प्रकीर्तिताः ।
उत्कलिका मण्डलिका
घन-गुंजाः शुद्ध-वाताश्च ॥

११८—बादर पर्याप्त वायुकायिक जीवों के पाँच भेद होते हैं—(१) उत्कलिका, (२) मण्डलिका, (३) घनवात, (४) गुंजावात और (५) शुद्धवात।

११९—संवट्टगवाते य
ऽणेगविहा[1] एवमायओ।
एगविहमणाणत्ता
सुहुमा ते वियाहिया॥

संवर्त्तक-वाताश्च
अनेकधा एवमादयः।
एकविधा अनानात्वाः
सूक्ष्मास्ते व्याख्याताः॥

११९—उनके संवर्तक-वात आदि और भी अनेक प्रकार हैं। सूक्ष्म वायुकायिक जीव एक ही प्रकार के होते है, उनमें नानात्व नहीं होता।

१२०—सुहुमा सव्वलोगम्मि
लोगदेसे[2] य बायरा।
इत्तो कालविभागं तु
तेसिं वुच्छं चउव्विहं॥

सूक्ष्माः सर्वलोके
लोक-देशे च बादराः।
इतः काल-विभागं तु
तेषां वक्ष्यामि चतुर्विधम्॥

१२०—वे (सूक्ष्म-वायुकायिक जीव) समूचे लोक में और बादर वायुकायिक जीव लोक के एक भाग में व्याप्त हैं। अब मैं उनके चतुर्विध काल-विभाग का निरूपण करूंगा।

१२१—संतइं पप्पऽणाईया
अपज्जवसिया वि य।
ठिइं पडुच्च साईया
सपज्जवसिया वि य॥

सन्तति प्राप्यानादिकाः
अपर्यवसिता अपि च।
स्थितिं प्रतीत्य सादिकाः
सपर्यवसिता अपि च॥

१२१—प्रवाह की अपेक्षा से वे अनादि-अनन्त हैं और स्थिति की अपेक्षा से सादि-सान्त हैं।

१२२—तिण्णेव सहस्साइं
वासाणुक्कोसिया भवे।
आउट्ठिई वाऊणं
अन्तोमुहुत्तं जहन्निया॥

त्रीण्येव सहस्राणि
वर्षाणामुत्कर्षिता भवेत्।
आयुः-स्थितिर्वायूनाम्
अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यकम्॥

१२२—उनकी आयु-स्थिति जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टतः तीन हजार वर्षों की है।

१२३—असंखकालमुक्कोसं
अन्तोमुहुत्तं जहन्नयं।
कायट्ठिई वाऊणं
तं कायं तु अमुंचओ॥

असंख्यकालमुत्कर्षं
अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यकम्।
काय-स्थितिर्वायूनां
तं कायन्त्वमुंचताम्॥

१२३—उनकी काय-स्थिति (निरन्तर उसी काय में जन्म लेते रहने की काल-मर्यादा) जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टतः असंख्यात काल की है।

१२४—अणन्तकालमुक्कोसं
अन्तोमुहुत्तं जहन्नयं।
विजढंमि सए काए
वाउजीवाण अन्तरं॥

अनन्तकालमुत्कर्षं
अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यकम्।
वित्यक्ते स्वके काये
वायु-जीवानामन्तरम्॥

१२४—उनका अन्तर (वायुकाय को छोड़ कर पुनः उसी काय में उत्पन्न होने तक का काल) जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टतः अनन्त काल का है।

---

१. ऽणेगहा (उ, ऋ०)।
२. एगदेसे (अ)।

१२५—एएसिं वण्णओ चेव
गन्धओ रसफासओ।
संठाणादेसओ वावि
विहाणाइं सहस्ससो॥

एतेषां वर्णतश्चैव
गन्धतो रस-स्पर्शतः।
संस्थानादेशतो वाऽपि
विधानानि सहस्रशः॥

१२५—वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान की दृष्टि से उनके हजारों भेद होते हैं।

१२६—ओराला तसा जे उ
चउहा[1] ते पकित्तिया।
बेइन्दियतेइन्दिय-
चउरोपंचिन्दिया चेव॥

उदाराः त्रसा ये तु
चतुर्धा ते प्रकीर्तिताः।
द्वीन्द्रियास्त्रीन्द्रियाः
चतुष्पंचेन्द्रियाश्चैव॥

१२६—उदार त्रस-कायिक जीव चार प्रकार के हैं—(१) द्वीन्द्रिय, (२) त्रीन्द्रिय, (३) चतुरिन्द्रिय और (४) पंचेन्द्रिय।

१२७—बेइन्दिया उ[2] जे जीवा
दुविहा ते पकित्तिया।
पज्जत्तमपज्जत्ता
तेसिं भेए सुणेह मे॥

द्वीन्द्रियास्तु ये जीवाः
द्विविधास्ते प्रकीर्तिताः।
पर्याप्ता अपर्याप्ताः
तेषां भेदान् शृणुत मे॥

१२७—द्वीन्द्रिय जीव दो प्रकार के हैं—(१) पर्याप्त और (२) अपर्याप्त। उनके भेद तुम मुझसे सुनो।

१२८—किमिणो सोमंगला
चेव अलसा माइवाहया।
वासीमुहा य सिप्पीया[3]
संखा संखणगा[4] तहा॥

कृमयः सौमङ्गलाश्चैव
अलसा मातृवाहकाः।
वासीमुखाश्च शुक्तयः
शङ्खा शङ्खनकास्तथा॥

१२८—कृमि, सौमंगल, अलस, मातृ-वाहक, वासीमुख, सीप, शंख, शंखनक,

१२९—पल्लोयाणुल्लया[5] चेव
तहेव य वराडगा।
जलूगा जालगा चेव
चन्दणा य तहेव य।

'पल्लोया' 'अणुल्लया' चैव
तथैव च वराटकाः।
जलौका जालकाश्चैव
चन्दनाश्च तथैव च॥

१२९—पल्लोय, अणुल्लक, कोडी, जौंक, जालक, चन्दनिया,

१३०—इइ बेइन्दिया एए
णेगहा एवमायओ।
लोगेगदेसे ते सव्वे
न सव्वत्थ वियाहिया॥[6]

इति द्वीन्द्रिया एते
अनेकधा एवमादयः।
लोकैकदेशे ते सर्वे
न सर्वत्र व्याख्याताः॥

१३०—आदि अनेक प्रकार के द्वीन्द्रिय जीव हैं। वे लोक के एक भाग में ही प्राप्त होते हैं, समूचे लोक में नहीं।

---

१. चउव्विहा (ऋ०)।
२. य (अ, ऋ०)।
३. सप्पीया (आ, इ, ऋ०)।
४. संखलगा (अ); संखाणगा (उ)।
५. गल्लोया° (आ); अल्लोया° (ऋ०)।
६. इस श्लोक के बाद इतना और है।
एत्तो काल विभागं तु तेसिं वुच्छं चउव्विहं॥ (उ)।

१३१—संतइं पप्पऽणाईया
अपज्जवसिया वि य।
ठिइं पडुच्च साईया
सपज्जवसिया वि य॥

सन्तति प्राप्यानादिकाः
अपर्यवसिता अपि च।
स्थितिं प्रतीत्य सादिकाः
सपर्यवसिता अपि च॥

१३१—प्रवाह की अपेक्षा से वे अनादि-अनन्त और स्थिति की अपेक्षा से सादि-सान्त है।

१३२—वासाइं बारसे व उ
उक्कोसेण वियाहिया।
बेइन्दियआउठिई
अन्तोमुहुत्तं जहन्निया॥

वर्षाणि द्वादशैव तु
उत्कर्षेण व्याख्याता।
द्वीन्द्रियायुः स्थितिः
अन्तर्मुहूर्तं जघन्यका॥

१३२—उनकी आयु-स्थिति जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टतः बारह वर्ष की है।

१३३—संखिज्जकालमुक्कोसं
अन्तोमुहुत्तं जहन्नयं[1]।
बेइन्दियकायठिई
तं कायं तु अमुंचओ॥

संख्येयकालमुत्कर्षं
अन्तर्मुहूर्तं जघन्यकम्।
द्वीन्द्रियकाय-स्थितिः
तं कायन्त्वमुंचताम्॥

१३३—उनकी काय-स्थिति (निरन्तर उसी काय में जन्म लेते रहने की काल-मर्यादा) जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टतः संख्यात काल की है।

१३४—अणन्तकालमुक्कोसं
अन्तोमुहुत्तं जहन्नयं।
बेइन्दियजीवाणं
अन्तरेयं[2] वियाहियं॥

अनन्तकालमुत्कर्षं
अन्तर्मुहूर्तं जघन्यकम्।
द्वीन्द्रिय-जीवानां
अन्तरं च व्याख्यातम्॥

१३४—उनका अन्तर (द्वीन्द्रिय के काय को छोड़ कर पुनः उसी काय में उत्पन्न होने तक का काल) जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टतः अनन्त-काल का है।

१३५—एएसिं वण्णओ चेव
गन्धओ रसफासओ।
संठाणादेसओ वावि
विहाणाइं सहस्ससो॥

एतेषां वर्णतश्चैव
गन्धतो रस-स्पर्शतः।
संस्थानादेशतो वापि
विधानानि सहस्रशः॥

१३५—वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान की दृष्टि से उनके हजारों भेद होते हैं।

१३६—तेइन्दिया उ जे जीवा
दुविहा ते पकित्तिया।
पज्जत्तमपज्जत्ता
तेसिं भेए सुणेह मे॥

त्रीन्द्रियास्तु ये जीवाः
द्विविधास्ते प्रकीर्तिताः।
पर्याप्ता अपर्याप्ताः
तेषां भेदान् शृणुत मे॥

१३६—त्रीन्द्रिय जीव दो प्रकार के हैं—(१) पर्याप्त और (२) अपर्याप्त। उनके भेद तुम मुझसे सुनो।

---

१. जहन्निया (अ)।
२. °णं (अ)।

१३७—कुन्थुपिवीलिउड्डंसा
उक्कलुद्देहिया तहा।
तणहारकट्ठहारा
मालुगा पत्तहारगा॥

कुन्थु-पिपीलिकोद्दंशाः
उत्कलोपदेहिकास्तथा।
तृणहार-काष्ठहाराः
मालूकाः पत्रहारकाः॥

१३७—कुंथु, चींटी, खटमल, मकड़ी, दीमक, तृणाहारक, काष्ठाहारक (घुन), मालुक, पत्राहारक,

१३८—कप्पासऽट्ठिमिंजा य
तिंदुगा तउसमिंजगा।
सदावरी य गुम्मी य
बोद्धव्वा इन्दकाइया॥

कर्पासास्थिमिंजाश्च
तिन्दुकाः त्रपुषमिञ्जकाः।
शतावरी च गुल्मी च
बोद्धव्या इन्द्रकायिकाः॥

१३८—कर्पासास्थि मिंजक, तिन्दुक, त्रपुष मिंजक, शतावरी, कानखजूरी, इन्द्रकायिक,

१३९—इन्दगोवगमाईया
णेगहा एवमायओ।
लोएगदेसे ते सव्वे
न सव्वत्थ वियाहिया॥

इन्द्रगोपकादिकाः
अनेकधा एवमादयः।
लोकैकदेशे ते सर्वे
न सर्वत्र व्याख्याताः॥

१३९—इन्द्रगोपक आदि अनेक प्रकार के त्रीन्द्रिय जीव हैं। वे लोक के एक भाग में ही प्राप्त होते हैं, समूचे लोक में नहीं।

१४०—संतइं पप्पऽणाईया
अपज्जवसिया वि य।
ठिइं पडुच्च साईया
सपज्जवसिया वि य॥

सन्तति प्राप्यनादिकाः
अपर्यवसिता अपि च।
स्थिति प्रतीत्य सादिकाः
सपर्यवसिता अपि च॥

१४०—प्रवाह की अपेक्षा से वे अनादि-अनन्त और स्थिति की अपेक्षा से सादि-सान्त हैं।

१४१—एगूणपण्णऽहोरत्ता[1]
उक्कोसेण वियाहिया।
तेइन्दियआउठिई
अन्तोमुहुत्तं जहन्निया॥

एकोनपंचाशदहोरात्राणि
उत्कर्षेण व्याख्याता।
त्रीन्द्रियायुः-स्थितिः
अन्तर्मुहूर्तं जघन्यका॥

१४१—उनकी आयु-स्थिति जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टतः उनचास दिनों की है।

१४२—संखिज्जकालमुक्कोसं
अन्तोमुहुत्तं जहन्नयं[2]।
तेइन्दियकायठिई
तं कायं तु अमुंचओ॥

संख्येयकालमुत्कर्षं
अन्तर्मुहूर्तं जघन्यकम्।
त्रीन्द्रियकाय-स्थितिः
तं कायन्त्वमुंचताम्॥

१४२—उनकी काय-स्थिति (निरन्तर उसी काय में जन्म लेते रहने की काल-मर्यादा) जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टतः संख्यात-काल की है।

---

१. एगूणवण्ण॰ (उ, ऋ॰)।
२. जहन्निया (अ)।

१४३—अणन्तकालमुक्कोसं
अन्तोमुहुत्तं जहन्नयं।
तेइन्दियजीवाणं
अन्तरेयं वियाहियं॥

अनन्तकालमुत्कर्षं
अन्तर्मुहूर्तं जघन्यकम्।
त्रीन्द्रिय-जीवानां
अन्तरमेतद् व्याख्यातम्॥

१४३—उनका अन्तर (त्रीन्द्रिय के काय को छोड़कर पुनः उसी काय में उत्पन्न होने तक का काल) जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टतः अनन्तकाल का है।

१४४—एएसिं वण्णओ चेव
गन्धओ रसफासओ।
संठाणादेसओ वावि
विहाणाइं सहस्ससो॥

एतेषां वर्णतश्चैव
गन्धतो रस-स्पर्शतः।
संस्थानादेशतो वापि
विधानानि सहस्रशः॥

१४४—वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान की दृष्टि से उनके हजारों भेद होते हैं।

१४५—चउरिन्दिया उ जे जीवा
दुविहा ते पकित्तिया।
पज्जत्तमपज्जत्ता
तेसिं भेए सुणेह मे॥

चतुरिन्द्रियास्तु ये जीवाः
द्विविधास्ते प्रकीर्तिताः।
पर्याप्ता अपर्याप्ताः
तेषां भेदान् शृणुत मे॥

१४५—चतुरिन्द्रिय जीव दो प्रकार के हैं—(१) पर्याप्त और (२) अपर्याप्त। उनके भेद तुम मुझ से सुनो।

१४६—अन्धिया पोत्तिया चेव
मच्छिया मसगा तहा।
भमरे कोडपयंगे य
ढिंकुणे कुंकुणे तहा॥

अन्धिकाः पोत्तिकाश्चैव
मक्षिका मशकास्तथा।
भ्रमराः कीट-पतंगाश्च
ढिंकुणा कुंकणास्तथा॥

१४६—अन्धिका, पोत्तिका, मक्षिका, मच्छर, भ्रमर, कीट, पतंग, ढिंकुण, कुंकुण,

१४७—कुक्कुडे सिंगिरीडी य
नन्दावत्ते य विंछिए।
डोले भिंगारी[1] य
विरली अच्छिवेहए॥

कुक्कुटाः भृङ्गरीटयश्च
नन्दावर्त्ताश्च वृश्चिकाः।
डोला भृङ्गारिणश्च
विरल्योऽक्षि वेधकाः॥

१४७—भृंगिरीटी, कुक्कुड़, नन्दावर्त, बिच्छू, डोल, भृंगरीटक, विरली, अक्षिवेधक,

१४८-अच्छिले माहए[2] अच्छि-
रोडएविचित्ते चित्तपत्तए।
ओहिंजलिया जलकारी य
नीया तन्तवगाविय[3]॥

अक्षिला मागधा अक्षिरोडका
विचित्राश्चित्रपत्रकाः।
ओहिंजलिया जलकार्यश्च
नीचास्तन्तवका अपि च॥

१४८—अक्षिल, मागध, अक्षिरोडक विचित्र-पत्रक, चित्र-पत्रक, ओहिंजलिया, जलकारी, नीचक, तन्तवक,

१. भिंगिरीडी (उ, ऋ०, स)।
२. सांहिए (अ)।
३. तंबगाइया (उ, ऋ०)।

१४९—इइ चउरिन्दिया एए
ऽणेगहा एवमायओ।
लोगस्स एग देसम्मि
ते सव्वे परिकित्तिया ॥[1]

इति चतुरिन्द्रिया एते
अनेकधा एवमादयः।
लोकस्यैकदेशे
ते सर्वे परिकीर्तिताः ॥

१४९—आदि अनेक प्रकार के चतुरिन्द्रिय जीव हैं। वे लोक के एक भाग में ही प्राप्त होते हैं, समूचे लोक में नहीं।

१५०—संतइं पप्पऽणाईया
अपज्जवसिया वि य।
ठिइं पडुच्च साईया
सपज्जवसिया वि य ॥

सन्तर्ति प्राप्यानादिकाः
अपर्यवसिता अपि च।
स्थितिं प्रतीत्य सादिकाः
सपर्यवसिता अपि च ॥

१५०—प्रवाह की अपेक्षा से वे अनादि-अनन्त और स्थिति की अपेक्षा से सादि-सान्त होते हैं।

१५१—'छच्चेव य'[2] मासा उ
उक्कोसेण वियाहिया।
चउरिन्दियआउठिई[3]
अन्तोमुहुत्तं जहन्निया ॥

षट् चैव च मासास्तु
उत्कर्षेण व्याख्याता।
चतुरिन्द्रियायुः-स्थितिः
अन्तर्मुहूर्तं जघन्यका ॥

१५१—उनकी आयु-स्थिति जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टतः छह मास की है।

१५२—संखिज्जकालमुक्कोसं
अन्तोमुहुत्तं जहन्नयं[4]।
चउरिन्दियकायठिई
तं कायं तु अमुंचओ ॥

संख्येयकालमुत्कर्षं
अन्तर्मुहूर्तं जघन्यकम्।
चतुरिन्द्रियकाय-स्थितिः
तं कायं त्वमुंचताम् ॥

१५२—उनकी काय-स्थिति (निरन्तर उसी काय में जन्म लेते रहने की काल-मर्यादा) जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टतः संख्यात काल की है।

१५३—अणन्तकालमुक्कोसं
अन्तोमुहुत्तं जहन्नयं[5]।
'विजढंमि सए काए'[6]
अन्तरेयं वियाहियं ॥

अनन्तकालमुत्कर्षं
अन्तर्मुहूर्तं जघन्यकम्।
वित्यक्ते स्वके काये
अन्तरमेतद् व्याख्यातम् ॥

१५३—उनका अन्तर (चतुरिन्द्रिय के काय को छोड़कर पुनः उसी काय में उत्पन्न होने तक का काल) जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टतः अनन्त काल का है।

१५४—एएसिं वण्णओ चेव
गन्धओ रसफासओ।
'संठाणादेसओ वावि'[7]
विहाणाइं सहस्ससो ॥

एतेषां वर्णतश्चैव
गन्धतो रस-स्पर्शतः।
संस्थानादेशतो वापि
विधानानि सहस्रशः ॥

१५४—वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और [illegible] दृष्टि से उनके हजारों भेद होते हैं।

---

१. इस श्लोक के पश्चात् इतना और है :—
एत्तो काल विभागं तु तेसिं वुच्छं चउव्विहं ॥ (ढ)।
२. छच्चेविउ (अ)।
३. चउरिंदिया य आउठिई (अ)।
४. जहन्निया (अ)।
५. जहन्निया (अ)।
६. चउरिन्दियजीवाणं (उ)।
७. संठाण भेयओ या वि (अ)।

१५५—पंचिन्दिया उ जे जीवा
चउव्विहा ते वियाहिया।
नेरइयतिरिक्खा य
मणुया देवा य आहिया॥

पंचेन्द्रियास्तु ये जीवाः
चतुर्विधास्ते व्याख्याताः।
नैरयिकास्तिर्यञ्चश्च
मनुजा देवाश्चाख्याताः॥

१५५—पंचेन्द्रिय जीव चार प्रकार के हैं—(१) नैरयिक, (२) तिर्यञ्च, (३) मनुष्य और (४) देव।

१५६—नेरइया सत्तविहा
पुढवीसु सत्तसू भवे।
रयणाभ सक्कराभा
वालुयाभा य आहिया॥

नैरयिकाः सप्तविधाः
पृथिवीषु सप्तसु भवेयुः।
रत्नाभा शर्कराभा
वालुकाभा चाख्याता॥

१५६—नैरयिक जीव सात प्रकार के हैं। वे सात पृथ्वियों में उत्पन्न होते हैं। वे सात पृथ्वियाँ ये हैं—(१) रत्नाभा, (२) शर्कराभा (३) वालुकाभा,

१५७—पंकाभा धूमाभा
तमा तमतमा तहा।
इइ नेरइया एए
सत्तहा परिकित्तिया॥

पंकाभा धूमाभा
तमः तमस्तमः तथा।
इति नैरयिका एते
सप्तधा परिकीर्तिताः॥

१५७—(४) पंकाभा, (५) धूमाभा, (६) तमः और (७) तमस्तमः। इन सात पृथ्वियों में उत्पन्न होने के कारण ही नैरयिक सात प्रकार के हैं।

१५८—लोगस्स एगदेसम्मि
ते सव्वे उ वियाहिया।
एत्तो कालविभागं तु
वुच्छं तेसिं चउव्विहं॥

लोकस्यैक-देशे
ते सर्वे तु व्याख्याताः।
इतः काल-विभागं तु
वक्ष्यामि तेषां चतुर्विधम्॥

१५८—वे लोक के एक भाग में हैं। अब मैं उनके चतुर्विध काल-विभाग का निरूपण करूँगा।

१५९—संतइं पप्पऽणाईया
अपज्जवसिया वि य।
ठिइं पडुच्च साईया
सपज्जवसिया वि य॥

सन्तति प्राप्यानादिकाः
अपर्यवसिता अपि च।
स्थितिं प्रतीत्य सादिकाः
सपर्यवसिता अपि च॥

१५९—प्रवाह की अपेक्षा से वे अनादि-अनन्त और स्थिति की अपेक्षा से सादि-सान्त हैं।

१६०—सागरोवममेगं तु
उक्कोसेण वियाहिया।
पढमाए जहन्नेणं
दसवाससहस्सिया॥

सागरोपममेकं तु
उत्कर्षेण व्याख्याता।
प्रथमायां जघन्येन
दशवर्षसहस्रिका॥

१६०—पहली पृथ्वी में नैरयिकों की आयु-स्थिति जघन्यतः दस हजार वर्ष और उत्कृष्टतः एक सागरोपम की है।

१६१—तिण्णेव सागरा ऊ
उक्कोसेण वियाहिया।
दोच्चाए जहन्नेणं
एगं तु सागरोवमं ॥

त्रय एव सागरास्तु
उत्कर्षेण व्याख्याता।
द्वितीयायां जघन्येन
एकं तु सागरोपमम् ॥

१६१—दूसरी पृथ्वी में नैरयिकों की आयु-स्थिति जघन्यतः एक सागरोपम और उत्कृष्टतः तीन सागरोपम की है।

१६२—सत्तेव सागरा ऊ
उक्कोसेण वियाहिया।
तइयाए जहन्नेणं
तिण्णेव उ सागरोवमा ॥

सप्तैव सागरास्तु
उत्कर्षेण व्याख्याता।
तृतीयायां जघन्येन
त्रीणि एव तु सागरोपमाणि ॥

१६२—तीसरी पृथ्वी में नैरयिकों की आयु-स्थिति जघन्यतः तीन सागरोपम और उत्कृष्टतः सात सागरोपम की है।

१६३—दस सागरोवमा ऊ
उक्कोसेण वियाहिया।
चउत्थीए जहन्नेणं
सत्तेव उ सागरोवमा ॥

दशसागरोपमाणि तु
उत्कर्षेण व्याख्याता।
चतुर्थ्यां जघन्येन
सप्तैव तु सागरोपमाणि ॥

१६३—चौथी पृथ्वी में नैरयिकों की आयु-स्थिति जघन्यतः सात सागरोपम और उत्कृष्टतः दस सागरोपम की है।

१६४—सत्तरस सागरा ऊ
उक्कोसेण वियाहिया।
पंचमाए जहन्नेणं
दस चेव उ सागरोवमा ॥

सप्तदश सागरास्तु
उत्कर्षेण व्याख्याता।
पंचम्यां जघन्येन
दश चैव तु सागरोपमाः ॥

१६४—पाँचवीं पृथ्वी में नैरयिकों की आयु-स्थिति जघन्यतः दस सागरोपम और उत्कृष्टतः सतरह सागरोपम की है।

१६५—बावीस सागरा ऊ
उक्कोसेण वियाहिया।
छट्ठीए जहन्नेणं
सत्तरस सागरोवमा ॥

द्वाविंशतिः सागरास्तु
उत्कर्षेण व्याख्याता।
षष्ठ्यां जघन्येन
सप्तदश सागरोपमाणि ॥

१६५—छठीं पृथ्वी में नैरयिकों की आयु-स्थिति जघन्यतः सतरह सागरोपम और उत्कृष्टतः बाईस सागरोपम की है।

१६६—तेत्तीस सागरा[1] ऊ
उक्कोसेण वियाहिया।
सत्तमाए जहन्नेणं
बावीसं सागरोवमा ॥

त्रयस्त्रिंशत् सागरास्तु
उत्कर्षेण व्याख्याता।
सप्तम्यां जघन्येन
द्वाविंशतिः सागरोपमाणि ॥

१६६—सातवीं पृथ्वी में नैरयिकों की आयु-स्थिति जघन्यतः बाईस सागरोपम और उत्कृष्टतः तेतीस सागरोपम की है।

---
१. सागराइं (ऋ०)।

१६७—जा चेव उ आउठिई
नेरइयाणं वियाहिया ।
सा तेसिं कायठिई
जहन्नुक्कोसिया भवे ॥

या चैव तु आयुः-स्थितिः
नैरयिकाणां व्याख्याता ।
सा तेषां काय-स्थितिः
जघन्योत्कर्षिता भवेत् ॥

१६७—नैरयिक जीवों की जो आयु-स्थिति है, वही उनकी जघन्यतः या उत्कृष्टतः काय-स्थिति है ।

१६८—अणन्तकालमुक्कोसं
अन्तोमुहुत्तं जहन्नयं ।
विजढंमि सए काए
नेरइयाणं तु अन्तरं ॥

अनन्तकालमुत्कर्षं
अन्तर्मुहूर्तं जघन्यकम् ।
वित्यक्ते स्वके काये
नैरयिकाणान्तु अन्तरम् ॥

१६८—उनका अन्तर (नैरयिक के काय को छोड़ कर पुनः उसी काय में उत्पन्न होने तक का काल) जघन्यतः अन्तर्मूहूर्त और उत्कृष्टतः अनन्त-काल का है ।

१६९—एएसिं वण्णओ चेव
गन्धओ रसफासओ ।
'संठाणादेसओ वावि'[1]
विहाणाइं सहस्ससो ॥

एतेषां वर्णतश्चैव
गन्धतो रस-स्पर्शतः ।
संस्थानादेशतो वापि
विधानानि सहस्रशः ॥

१६९—वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान की दृष्टि से उनके हजारों भेद होते हैं ।

१७०—पंचिन्दियतिरिक्खाओ
दुविहा ते वियाहिया ।
सम्मुच्छिमतिरिक्खाओ[2]
गब्भवक्कन्तिया तहा ॥

पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चः
द्विविधास्ते व्याख्याताः ।
सम्मूर्च्छिम-तिर्यञ्चः
गर्भविक्रान्तिकास्तथा ॥

१७०—पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्च जीव दो प्रकार के हैं—(१) सम्मूर्च्छिम-तिर्यञ्च और (२) गर्भ-उत्पन्न-तिर्यञ्च ।

१७१—दुविहावि ते भवे तिविहा
जलयरा थलयरा तहा ।
खहयरा य बोद्धव्वा
तेसि भेए सुणेह मे ॥

द्विविधा अपि ते भवेयुस्त्रिविधाः
जलचराः स्थलचरास्तथा ।
खचराश्च बोद्धव्याः
तेषां भेदान् शृणुत मे ॥

१७१—ये दोनों ही जलचर, स्थलचर और खेचर के भेद से तीन-तीन प्रकार के हैं । उनके भेद तुम मुझ से सुनो ।

१७२—मच्छा य कच्छभा य
गाहा य मगरा तहा ।
संसुमारा य बोद्धव्वा
पंचहा[3] जलयराहिया ॥

मत्स्याश्च कच्छपाश्च
ग्राहाश्च मकरास्तथा ।
संसुमाराश्च बोद्धव्याः
पंचधा जलचरा आख्याताः ॥

१७२—जलचर जीव पाँच प्रकार के है—(१) मत्स्य, (२) कच्छप, (३) ग्राह, (४) मकर और (५) संसुमार ।

१. सठाण भेयओ या वि (अ) ।
२. ० तिरिक्खा य (उ) ।
३. पंचविहा (अ) ।

१७३—लोएगदेसे ते सव्वे
न सव्वत्थ वियाहिया।
एत्तो कालविभागं तु
वुच्छं तेसिं चउव्विहं॥

लोकैकदेशे ते सर्वे
न सर्वत्र व्याख्याताः।
इतः काल-विभागं तु
वक्ष्यामि तेषां चतुर्विधम्॥

१७३—वे लोक के एक भाग में ही होते हैं, समूचे लोक में नहीं। अब मैं उनके चतुर्विध काल-विभाग का निरूपण करूँगा।

१७४—संतइं पप्पऽणाईया
अपज्जवसिया वि य।
ठिइं पडुच्च साईया
सपज्जवसिया वि य॥

सन्तर्ति प्राप्यानादिकाः
अपर्यवसिता अपि च।
स्थितिं प्रतीत्य सादिकाः
सपर्यवसिता अपि च॥

१७४—प्रवाह की अपेक्षा से वे अनादि-अनन्त और स्थिति की अपेक्षा से सादि-सान्त हैं।

१७५—एगा य पुव्वकोडीओ
उक्कोसेण वियाहिया।
आउट्ठिई जलयराणं
अन्तोमुहुत्तं जहन्निया॥

एका च पूर्वकोटी
उत्कर्षेण व्याख्याता।
आयुः-स्थितिर्जलचराणां
अन्तर्मुहूर्तं जघन्यका॥

१७५—उनकी आयु-स्थिति जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टतः एक करोड़ पूर्व की है।

१७६—पुव्वकोडीपुहत्तं तु
उक्कोसेण वियाहिया।
कायट्ठिई जलयराणं
अन्तोमुहुत्तं जहन्निया॥

पूर्वकोटिपृथक्त्वन्तु
उत्कर्षेण व्याख्याता।
काय-स्थितिर्जलचराणां
अन्तर्मुहूर्तं जघन्यका॥

१७६—उनकी काय-स्थिति (निरन्तर उसी काय में जन्म लेते रहने की काल-मर्यादा) जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टतः (दो से नौ) पूर्व की है।

१७७—अणन्तकालमुक्कोसं
अन्तोमुहुत्तं जहन्नयं।
विजढंमि सए काए
जलयराणं तु अन्तरं॥

अनन्तकालमुत्कर्षं
अन्तर्मुहूर्तं जघन्यकम्।
वित्यक्ते स्वके काये
जलचराणां तु अन्तरम्॥

१७७—उनका अन्तर (जलचर के काय को छोड़ कर पुनः उसी काय में उत्पन्न होने तक का काल) जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टतः अनन्त काल का है।

१७८—'एएसिं वण्णओ चेव
गंधओ रसफासओ।
संठाणादेसओ वावि
विहाणाइं सहस्ससो॥'[1]

एतेषां वर्णतश्चैव
गन्धतो रस-स्पर्शतः।
संस्थानादेशतो वापि
विधानानि सहस्रशः॥

१७८—वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान की दृष्टि से उनके हजारों भेद होते हैं।

---

१. × (अ, बृ०)।

१७९—चउप्पया य परिसप्पा
दुविहा थलयरा भवे।
चउप्पया चउविहा
ते मे कित्तयओ सुण॥

चतुष्पदाश्च परिसर्पाः
द्विविधाः स्थलचरा भवेयुः।
चतुष्पदाश्चतुर्विधाः
तान् मे कीर्तयतः शृणु॥

१७९—स्थलचर जीव दो प्रकार के हैं—(१) चतुष्पद और (२) परिसर्प। चतुष्पद चार प्रकार के हैं। वे तुम मुझ से सुनो।

१८०—एगखुरा दुखुरा चेव
गण्डीपयसणप्पया।
हयमाइगोणमाइ-
गयमाइसीहमाइणो॥

एकखुरा द्विखुराश्चैव
गण्डीपदाः सनखपदाः।
हयादयो गवादयः
गजादयः सिंहादयः॥

१८०—(१) एक खुर—घोड़े आदि, (२) दो खुर—बैल आदि, (३) गंडीपद—हाथी आदि। (४) सनखपद—सिंह आदि।

१८१—भुओरगपरिसप्पा य
परिसप्पा दुविहा भवे।
गोहाई अहिमाई य
एक्केक्का णेगहा भवे॥

भुज-उरग-परिसर्पाश्च
परिसर्पा द्विविधा भवेयुः।
गोधादयो ह्यादयश्च
एकैके अनेकधा भवेयुः॥

१८१—परिसर्प के दो प्रकार हैं—(१) भुजपरिसर्प—हाथों के बल चलने वाले गोह आदि, (२) उरःपरिसर्प—पेट के बल चलने वाले साँप आदि। ये दोनों अनेक प्रकार के होते हैं।

१८२—लोएगदेसे ते सव्वे
न सव्वत्थ वियाहिया।
एत्तो कालविभागं तु
वुच्छं तेसिं चउव्विहं॥

लोकैकदेशे ते सर्वे
न सर्वत्र व्याख्याताः।
इतः काल-विभागं तु
वक्ष्यामि तेषां चतुर्विधम्॥

१८२—वे लोक के एक भाग में होते हैं, समूचे लोक में नहीं। अब मैं उनके चतुर्विध काल-विभाग का निरूपण करूँगा।

१८३—संतइं पप्पऽणाईया
अपज्जवसिया वि य।
ठिइं पडुच्च साईया
सपज्जवसिया वि य॥

सन्तति प्राप्यानादिकाः
अपर्यवसिता अपि च।
स्थितिं प्रतीत्य सादिकाः
सपर्यवसिता अपि च॥

१८३—प्रवाह की अपेक्षा से वे अनादि-अनन्त और स्थिति की अपेक्षा से सादि-सान्त हैं।

१८४—पलिओवमाउ[1] तिण्णि उ
उक्कोसेण वियाहिया।
आउट्ठिई थलयराणं
अन्तोमुहुत्तं जहन्निया॥

पल्योपमानि तु त्रीणि तु
उत्कर्षेण व्याख्याता।
आयुः-स्थितिः स्थलचराणां
अन्तर्मुहूर्तं जघन्यका॥

१८४—उनकी आयु-स्थिति जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टतः तीन पल्योपम की है।

---

१. °इ (उ)।

१८५—पलिओवमाउ तिण्णि उ[1]
उक्कोसेण तु साहिया।
पुव्वकोडीपुहुत्तेणं
अन्तोमुहुत्तं जहन्निया॥

पल्योपमानि तु त्रीणि तु
उत्कर्षेण तु साधिका।
पूर्वकोटि-पृथक्त्वेन
अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यका॥

१८५—जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टतः पृथक्त्व करोड़ पूर्व अधिक तीन पल्योपम की है।

१८६—कायट्ठिई थलयराणं
अन्तरं तेसिमं भवे।
कालमणन्तमुक्कोसं
अन्तोमुहुत्तं जहन्नयं॥

काय-स्थितिः स्थलचराणां
अन्तरं तेषामिदं भवेत्।
कालमनन्तमुत्कर्षं
अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यकम्॥

१८६—यह स्थलचर जीवों की काय-स्थिति (निरन्तर उसी काय मे जन्म लेते रहने की काल-मर्यादा) है। उनका अन्तर (स्थलचर के काय को छोड़ कर पुनः उसी काय में उत्पन्न होने तक का काल) जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टतः अनन्त-काल का है।

१८७—एएसि वण्णओ चेव
गंधओ रसफासओ।
संठाणादेसओ वावि
विहाणाइं सहस्ससो॥

एतेषां वर्णतश्चैव
गन्धतो रस-स्पर्शतः।
संस्थानादेशतो वापि
विधानानि सहस्रशः॥

१८७—वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान की दृष्टि से उनके हजारों भेद होते हैं।

१८८—चम्मे उ लोमपक्खी य
तइया समुग्गपक्खिया।
विययपक्खी य बोद्धव्वा
पक्खिणो य चउव्विहा॥

चर्म (पक्षिणः) तु रोमपक्षिणश्च
तृतीयाः समुद्गपक्षिणः।
विततपक्षिणश्च बोद्धव्याः
पक्षिणश्च चतुर्विधाः॥

१८८—खेचर जीव चार प्रकार के हैं—(१) चर्म पक्षी, (२) रोम पक्षी, (३) समुद्ग पक्षी और (४) वितत पक्षी।

१८९—लोगेगदेसे ते सव्वे
न सव्वत्थ वियाहिया।
इत्तो कालविभागं तु
वुच्छं तेसिं चउव्विहं॥[2]

लोकैकदेशे ते सर्वे
न सर्वत्र व्याख्याताः।
इतः काल-विभागं तु
वक्ष्यामि तेषां चतुर्विधम्॥

१८९—वे लोक के एक भाग में होते हैं, समूचे लोक में नहीं। अब मैं उनके चतुर्विध काल-विभाग का निरूपण करूंगा।

---

१. य (अ)।

२. श्लोक क्रमांक १८७ से १८९ के स्थान पर निम्न श्लोक हैं :

विजढंमि सए काए थलयराणं तु अंतरं।
चम्मेय लोम पक्खीय तइया समुग्ग पक्खिया॥
विततपक्खी उ (य) बोधव्वा पक्खिणो उ चउव्विहा।
लोएग देसे ते सव्वे न सव्वत्थ वियाहिया॥ (अ, ऋ०)।
विजढंमि सए काए थलयराणं तु अंतरं।
एएसि वण्णओ चेव गंधओ रसफासओ॥
संठाण देसओ वावि विहाणाइं सहस्सओ।
चम्मे उ लोम पक्खीअ तइया समुग्ग पक्खिया॥
विययपक्खी य बोधव्वा पक्खिणो य चउव्विहा।
लोएग देसे ते सव्वे न सव्वत्थ वियाहिया॥ (इ)।

१९०—संतइं पप्पऽणाईया
अपज्जवसिया वि य।
ठिइं पडुच्च साईया
सपज्जवसिया वि य॥

सन्तर्ति प्राप्यानादिकाः
अपर्यवसिता अपि च।
स्थितिं प्रतीत्य सादिकाः
सपर्यवसिता अपि च॥

१९०—प्रवाह की अपेक्षा से वे अनादि-अनन्त और स्थिति की अपेक्षा से सादि-सान्त हैं।

१९१—पलिओवमस्स भागो
असंखेज्जइमो भवे।
आउट्ठिई खहयराणं
अन्तोमुहुत्तं जहन्निया॥

पल्योपमस्य भागः
असंख्येयतमो भवेत्।
आयुः-स्थितिः खेचराणां
अन्तर्मुहूर्तं जघन्यका॥

१९१—उनकी आयु-स्थिति जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टतः पल्योपम के असंख्यातवें भाग की है।

१९२—असंखभागो पलियस्स
उक्कोसेण उ साहिओ।
पुव्वकोडीपुहत्तेणं
अन्तोमुहुत्तं जहन्निया॥

असंख्यभागः पल्यस्य
उत्कर्षेण तु साधिकः।
पूर्वकोटी-पृथक्त्वेन
अन्तर्मुहूर्तं जघन्यका॥

१९२—जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टतः पृथक्त्व करोड़ पूर्व अधिक पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग—

१९३—कायठिई खहयराणं
अन्तरं तेसिमं भवे।
कालं अणन्तमुक्कोसं
अन्तोमुहुत्तं जहन्नयं॥

काय-स्थितिः खेचराणां
अन्तरं तेषामिदं भवेत्।
कालमनन्तमुत्कर्षं
अन्तर्मुहूर्तं जघन्यकम्॥

१९३—यह खेचर जीवों की काय-स्थिति (निरन्तर उसी काय में जन्म लेते रहने की काल-मर्यादा) है। उनका अन्तर (खेचर के काय को छोड़ कर पुनः उसी काय में उत्पन्न होने तक का काल) जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टतः अनन्त-काल का है।

१९४—एएसिं वण्णओ चेव
गन्धओ रसफासओ।
'संठाणादेसओ वावि'[1]
विहाणाइं सहस्ससो॥

एतेषां वर्णतश्चैव
गन्धतो रस-स्पर्शतः।
संस्थानादेशतो वापि
विधानानि सहस्रशः॥

१९४—वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान की दृष्टि से उनके हजारों भेद होते हैं।

१९५—मणुया दुविहभेया उ
ते मे कित्तयओ सुण।
संमुच्छिमा य मणुया
गब्भवक्कन्तिया तहा॥

मनुजा द्विविधभेदास्तु
तान् मे कीर्तयतः शृणु।
सम्मूर्च्छिमाश्च मनुजाः
गर्भावक्रान्तिकास्तथा॥

१९५—मनुष्य दो प्रकार के हैं—(१) सम्मूर्च्छिम और (२) गर्भ-उत्पन्न।

---

१. संठाण भेयओ वा वि (अ)।

१९६—गब्भवक्कन्तिया जे उ
तिविहा ते वियाहिया ।
अकम्मकम्मभूमा य
अन्तरद्दीवया तहा ॥

गर्भावक्रान्तिका ये तु
त्रिविधास्ते व्याख्याताः ।
अकर्मकर्म-भूमाश्च
अन्तर्-द्वीपकास्तथा ॥

१९६—गर्भ-उत्पन्न मनुष्य तीन प्रकार के हैं—(१) अकर्म-भूमिक, (२) कर्म-भूमिक और (३) अन्तर्द्वीपक ।

१९७—'पन्नरस तीसइ विहा'[1]
भेया अट्ठवीसइं ।
संखा उ कमसो तेसिं
इइ एसा वियाहिया ॥

पंचदशत्रिंशद्विधाः
भेदा अष्टाविंशतिः ।
सङ्ख्या तु क्रमशस्तेषां
इत्येषा व्याख्याता ॥

१९७—कर्म-भूमिक मनुष्यों के पन्द्रह, अकर्म-भूमिक मनुष्यों के तीस तथा अन्तर्द्वीपक मनुष्यों के अट्ठाईस भेद होते हैं ।

१९८—संमुच्छिमाण एसेव
भेओ होइ आहिओ ।
लोगस्स एगदेसम्मि
ते सव्वे वि[2] वियाहिया ॥

सम्मूर्च्छिमाणामेष एव
भेदो भवति आख्यातः ।
लोकस्यैकदेशे
ते सर्वेऽपि व्याख्याताः ॥

१९८—सम्मूर्च्छिम मनुष्यों के भी उतने ही भेद हैं, जितने गर्भ-उत्पन्न मनुष्यों के हैं। वे लोक के एक भाग में ही होते हैं ।

१९९—संतइं पप्पऽणाईया
अपज्जवसिया वि य ।
ठिइं पडुच्च साईया
सपज्जवसिया वि य ॥

सन्ततिं प्राप्यानादिकाः
अपर्यवसिता अपि च ।
स्थितिं प्रतीत्य सादिकाः
सपर्यवसिता अपि च ॥

१९९—प्रवाह की अपेक्षा से वे अनादि-अनन्त और स्थिति की अपेक्षा से सादि-सान्त हैं ।

२००—पलिओवमाइं तिण्णि उ
उक्कोसेण वियाहिया ।
आउट्ठिई मणुयाणं
अन्तोमुहुत्तं जहन्निया ॥

पल्योपमानि त्रीणि तु
उत्कर्षेण व्याख्याता ।
आयुः-स्थितिर्मनुजानां
अन्तर्मुहूर्तं जघन्यका ॥

२००—उनकी आयु-स्थिति जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टतः तीन पल्योपम की है ।

२०१—पलिओवमाइं तिण्णि उ
उक्कोसेण वियाहिया[3] ।
पुव्वकोडीपुहुत्तेणं
अन्तोमुहुत्तं जहन्निया[4] ॥

पल्योपमानि त्रीणि तु
उत्कर्षेण व्याख्याता ।
पूर्वकोटि-पृथक्त्वेन
अन्तर्मुहूर्तं जघन्यका ॥

२०१—जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टतः पृथक्त्व करोड़ पूर्व अधिक तीन पल्योपम—

१. तीसं पन्नरस विहा (बृ० पा०) ।
२. य (अ) ; × (उ) ।
३. तु साहिया (बृ०) ।
४ जहण्णगा (अ) ।

२०२—कायट्ठिई मणुयाणं
अन्तरं तेसिमं भवे ।
अणन्तकालमुक्कोसं
अन्तोमुहुत्तं जहन्नयं ॥

काय-स्थितिर्मनुजानां
अन्तरं तेषामिदं भवेत् ।
अनन्तकालमुत्कर्षं
अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यकम् ॥

२०२—यह मनुष्यों की काय-स्थिति (निरन्तर उसी काय में जन्म लेते रहने की काल-मर्यादा) है। उनका अन्तर (मनुष्य के काय को छोड़ कर पुनः उसी काय में उत्पन्न होने तक का काल) जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टतः अनन्त-काल का है।

२०३—एएसिं वण्णओ चेव
गन्धओ रसफासओ ।
'संठाणादेसओ वावि'[1]
विहाणाइं सहस्ससो ॥

एतेषां वर्णतश्चैव
गन्धतो रस-स्पर्शतः ।
संस्थानादेशतो वापि
विधानानि सहस्रशः ॥

२०३—वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान की दृष्टि से उनके हजारों भेद होते हैं।

२०४—देवा चउव्विहा वुत्ता
ते मे कित्तयओ सुण ।
भोमिज्जवाणमन्तर-
जोइसवेमाणिया तहा ॥

देवाश्चतुर्विधा उक्ताः
तान् मे कीर्तयतः शृणु ।
भौमेया व्यन्तराः
ज्योतिष्काः वैमानिकास्तथा ॥

२०४—देव चार प्रकार के हैं— (१) भवन-वासी, (२) व्यन्तर, (३) ज्योतिष्क और (४) वैमानिक।

२०५—दसहा उ भवणवासी
अट्ठहा वणचारिणो ।
पंचविहा जोइसिया
दुविहा वेमाणिया तहा ॥

दशधा तु भवनवासिनः
अष्टधा वनचारिणः ।
पंचविधा ज्योतिष्का
द्विविधा वैमानिकास्तथा ॥

२०५—भवनवासी देव दस प्रकार के हैं। व्यन्तर आठ प्रकार के हैं। ज्योतिष्क पाँच प्रकार के हैं। वैमानिक दो प्रकार के हैं।

२०६—असुरा नागसुवण्णा
विज्जू अग्गी य आहिया ।
दीवोदहिदिसा वाया
थणिया भवणवासिणो ॥

असुरा नाग-सुपर्णाः
विद्युदग्निश्च आख्याताः ।
द्वीपोदधिदिशो वाताः
स्तनिता भवनवासिनः ॥

२०६—(१) असुर कुमार, (२) नाग कुमार, (३) सुपर्ण कुमार, (४) विद्युत्कुमार, (५) अग्निकुमार, (६) द्वीपकुमार, (७) उदधि कुमार, (८) दिक्कुमार, (९) वायु कुमार और (१०) स्तनित कुमार—ये भवनवासी देवों के दस प्रकार हैं।

२०७—पिसायभूय जक्खा य
रक्खसा किन्नरा य किंपुरिसा ।
महोरगा य गन्धव्वा
अट्ठविहा वाणमन्तरा ॥

पिशाच-भूत-यक्षाश्च
राक्षसाः किन्नराश्च किंपुरुषाः ।
महोरगाश्च गन्धर्वाः
अष्टविधा वाणमन्तराः ॥

२०७—(१) पिशाच, (२) भूत, (३) यक्ष, (४) राक्षस, (५) किन्नर, (६) किंपुरुष (७) महोरग और (८) गन्धर्व—ये व्यंतर देवों के आठ प्रकार हैं।

१. संठाण भेयओ वा वि (अ)।

२०८—चन्दा सूरा य नक्खत्त
गहा तारागणा तहा।
दिसाविचारिणो[1] चेव
पंचहा[2] जोइसालया ॥

चन्द्राः सूर्याश्च नक्षत्राणि
ग्रहास्तारागणास्तथा।
दिशा-विचारिणश्चैव
पंचधा ज्योतिषालयाः ॥

२०८—(१) चन्द्र, (२) सूर्य, (३) नक्षत्र, (४) ग्रह और (५) तारा—ये पाँच भेद ज्योतिष्क देवों के हैं। ये दिशा-विचारी-मेरु की प्रदक्षिणा करते हुए विचरण करने वाले हैं।

२०९—वेमाणिया उ जे देवा
दुविहा ते वियाहिया।
कप्पोवगा य बोद्धव्वा
कप्पाईया तहेव य ॥

वैमानिकास्तु ये देवाः
द्विविधास्ते व्याख्याताः।
कल्पोपगाश्च बोद्धव्याः
कल्पातीतास्तथैव च ॥

२०९—वैमानिक देवों के दो प्रकार हैं—(१) कल्पोपग और (२) कल्पातीत।

२१०—कप्पोवगा बारसहा
सोहम्मीसाणगा तहा।
सणंकुमारमाहिन्दा
बम्भलोगा य लन्तगा ॥

कल्पोपगा द्वादशधा
सौधर्मेशानगास्तथा।
सनत्कुमार-माहेन्द्राः
ब्रह्मलोकाश्च लान्तकाः ॥

२१०—कल्पोपग बारह प्रकार के हैं—(१) सौधर्म, (२) ईशानक, (३) सनत्कुमार, (४) माहेन्द्र, (५) ब्रह्मलोक (६) लान्तक,

२११—महासुक्का सहस्सारा
आणया पाणया तहा।
आरणा अच्चुया चेव
इइ कप्पोवगा सुरा ॥

महाशुक्राः सहस्राराः
आनताः प्राणतास्तथा।
आरणा अच्युताश्चैव
इति कल्पोपगाः सुराः ॥

२११—(७) महाशुक्र, (८) सहस्रार, (९) आनत, (१०) प्राणत, (११) आरण और (१२) अच्युत।

२१२—कप्पाईया उ[3] जे देवा
दुविहा ते वियाहिया।
गेविज्जाऽणुत्तरा चेव
गेविज्जा नवविहा तहिं[4] ॥

कल्पातीतास्तु ये देवाः
द्विविधास्ते व्याख्याताः।
ग्रैवेयानुत्तराश्चैव
ग्रैवेया नवविधास्तत्र ॥

२१२—कल्पातीत देवों के दो प्रकार हैं—(१) ग्रैवेयक और (२) अनुत्तर। ग्रैवेयकों के निम्नोक्त नौ प्रकार हैं:

२१३—हेट्ठिमाहेट्ठिमा चेव
हेट्ठिमामज्झिमा तहा।
हेट्ठिमा उवरिमा चेव
मज्झिमाहेट्ठिमा तहा ॥

अधस्तनाऽधस्तनाश्चैव
अधस्तनमध्यमास्तथा।
अधस्तनोपरितनाश्चैव
मध्यमाऽधस्तनास्तथा ॥

२१३—(१) अधः-अधस्तन, (२) अधः-मध्यम, (३) अधः-उपरितन, (४) मध्य-अधस्तन,

१. ठिया° (आ, ब, ऋ०)।
२. पंचविहा (अ)।
३. य (ऋ०)।
४. तहा (ऋ०)।

२१४—मज्झिमामज्झिमा चेव
मज्झिमाउवरिमा तहा।
उवरिमाहेट्ठिमा चेव
उवरिमामज्झिमा तहा॥

मध्यममध्यमाश्चैव
मध्यमोपरितनास्तथा।
उपरितनाऽधस्तनाश्चैव
उपरितनमध्यमास्तथा॥

२१४—(५) मध्य-मध्यम, (६) मध्य-उपरितन, (७) उपरि-अधस्तन, (८) उपरि-मध्यम,

२१५—उवरिमाउवरिमा चेव
इय गेविज्जगा सुरा।
विजया वेजयन्ता य[1]
जयन्ता अपराजिया॥

उपरितनोपरितनाश्चैव
इति ग्रैवेयकाः सुराः।
विजया वैजयन्ताश्च
जयन्ता अपराजिताः॥

२१५—और (९) उपरि-उपरितन—ये ग्रैवेयक देव हैं। (१) विजय, (२) वैजयन्त, (३) जयन्त, (४) अपराजित

२१६—सव्वट्ठसिद्धगा[2] चेव
पंचहाऽणुत्तरा सुरा।
इइ वेमाणिया देवा[3]
णेगहा एवमायओ॥

सर्वार्थसिद्धकाश्चैव
पंचधा अनुत्तराः सुराः।
इति वैमानिका देवाः
अनेकधा एवमादयः॥

२१६—और (५) सर्वार्थसिद्धक—ये अनुत्तर देवों के पाँच प्रकार हैं। इस प्रकार वैमानिक देवों के अनेक प्रकार हैं।

२१७—लोगस्स एगदेसम्मि
ते सव्वे परिकित्तिया।
इत्तो कालविभागं तु
वुच्छं तेसिं चउव्विहं॥

लोकस्यैकदेशे
ते सर्वे परिकीर्तिताः।
इतः काल-विभागं तु
वक्ष्यामि तेषां चतुर्विधम्॥

२१७—वे सब लोक के एक भाग में रहते हैं। अब मैं उनके चतुर्विध काल-विभाग का निरूपण करूंगा।

२१८—संतइं पप्पाऽणाईया
अपज्जवसिया वि य।
ठिइं पडुच्च साईया
सपज्जवसिया वि य॥

सन्तर्ति प्राप्यानादिकाः
अपर्यवसिता अपि च।
स्थितिं प्रतीत्य सादिकाः
सपर्यवसिता अपि च॥

२१८—प्रवाह की अपेक्षा से वे अनादि-अनन्त और स्थिति की अपेक्षा से सादि-सान्त हैं।

२१९—साहियं सागरं एक्कं
उक्कोसेण ठिई भवे।
भोमेज्जाणं जहन्नेणं
दसवाससहस्सिया॥

साधिकः सागर एकः
उत्कर्षेण स्थितिः भवेत्।
भौमेयानां जघन्येन
दशवर्षसहस्रिका॥

२१९—भवनवासी देवों की आयु-स्थिति जघन्यतः दस हजार वर्ष और उत्कृष्टतः *किंचित् अधिक एक सागरोपम की है।*

---

१. × (अ)।
२. °सिद्धिगा (अ)।
३. एए (ऋ, बृ०)।

२२०—पलिओवममेगं तु
उक्कोसेण ठिई भवे।
वन्तराणं जहन्नेणं
दसवाससहस्सिया ॥

पल्योपममेकन्तु
उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत्।
व्यन्तराणां जघन्येन
दशवर्षसहस्रिका ॥

२२०—व्यन्तर देवों की आयु-स्थिति जघन्यतः दस हजार वर्ष और उत्कृष्टतः एक पल्योपम की है।

२२१—पलिओवमं एगं तु
वासलक्खेण साहियं।
पलिओवमऽट्ठभागो
जोइसेसु जहन्निया ॥

पल्योपममेकन्तु
वर्षलक्षेण साधिकम्।
पल्योपमाष्टमभागः
ज्योतिष्केषु जघन्यका ॥

२२१—ज्योतिष्क देवों की आयु-स्थिति जघन्यतः पल्योपम के आठवें भाग और उत्कृष्टतः एक लाख वर्ष अधिक एक पल्योपम की है।

२२२—दो चेव सागराइं
उक्कोसेण वियाहिया[1]।
सोहम्मंमि जहन्नेणं
एगं च पलिओवमं ॥

द्वौ चैव सागरौ
उत्कर्षेण व्याख्याता।
सौधर्मे जघन्येन
एकं च पल्योपमम् ॥

२२२—सौधर्म देवों की आयु-स्थिति जघन्यतः एक पल्योपम और उत्कृष्टतः दो सागरोपम की है।

२२३—सागरा साहिया दुन्नि
उक्कोसेण वियाहिया[2]।
ईसाणम्मि जहन्नेणं
साहियं पलिओवमं ॥

सागरौ साधिकौ द्वौ
उत्कर्षेण व्याख्याता।
ईशाने जघन्येन
साधिकं पल्योपमम् ॥

२२३—ईशान देवों की आयु-स्थिति जघन्यतः किंचित् अधिक एक पल्योपम और उत्कृष्टतः किंचित् अधिक दो सागरोपम की है।

२२४—सागराणि य सत्तेव
उक्कोसेण ठिई भवे।
सणंकुमारे जहन्नेणं
दुन्नि ऊ सागरोवमा ॥

सागराश्च सप्तैव
उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत्।
सनत्कुमारे जघन्येन
द्वे तु सागरोपमे ॥

२२४—सनत्कुमार देवों की आयु-स्थिति जघन्यतः दो सागरोपम और उत्कृष्टतः सात सागरोपम की है।

२२५—साहिया सागरा सत्त
उक्कोसेण ठिई भवे।
माहिन्दम्मि जहन्नेणं
साहिया दुन्नि सागरा ॥

साधिकाः सागराः सप्त
उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत्।
माहेन्द्रे जघन्येन
साधिकौ द्वौ सागरौ ॥

२२५—माहेन्द्रकुमार देवों की आयु-स्थिति जघन्यतः किंचित् अधिक दो सागरोपम और उत्कृष्टतः किंचित् अधिक सात सागरोपम की है।

१. ठिई भवे (आ, स)।
२. ठिई भवे (आ, स)।

२२६—दस चेव सागराइं
उक्कोसेण ठिई भवे।
बम्भलोए जहन्नेणं
सत्त ऊ सागरोवमा ॥

दश चैव सागराः
उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत्।
ब्रह्मलोके जघन्येन
सप्त तु सागरोपमाणि ॥

२२६—ब्रह्मलोक देवों की आयु-स्थिति जघन्यतः सात सागरोपम और उत्कृष्टतः दस सागरोपम की है।

२२७—चउद्दस[1] सागराइं
उक्कोसेण ठिई भवे।
लन्तगम्मि जहन्नेणं
दस ऊ सागरोवमा ॥

चतुर्दश सागराः
उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत्।
लान्तके जघन्येन
दश तु सागरोपमाणि ॥

२२७—लान्तक देवों की आयु-स्थिति जघन्यतः दस सागरोपम और उत्कृष्टतः चौदह सागरोपम की है।

२२८—सत्तरस सागराइं
उक्कोसेण ठिई भवे।
महासुक्के जहन्नेणं
चउद्दस सागरोवमा ॥

सप्तदश सागराः
उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत्।
महाशुक्रे जघन्येन
चतुर्दश सागरोपमाणि ॥

२२८—महाशुक्र देवों की आयु-स्थिति जघन्यतः चौदह सागरोपम और उत्कृष्टतः सतरह सागरोपम की है।

२२९—अट्ठारस सागराइं
उक्कोसेण ठिई भवे।
सहस्सारे जहन्नेणं
सत्तरस सागरोवमा ॥

अष्टादश सागराः
उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत्।
सहस्रारे जघन्येन
सप्तदश सागरोपमाणि ॥

२२९—सहस्रार देवों की आयु-स्थिति जघन्यतः सतरह सागरोपम और उत्कृष्टतः अठारह सागरोपम की है।

२३०—सागरा अउणवीसं तु
उक्कोसेण ठिई भवे।
आणयम्मि जहन्नेणं
अट्ठारस सागरोवमा ॥

सागरा एकोनविंशतिस्तु
उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत्।
आनते जघन्येन
अष्टादश सागरोपमाणि ॥

२३०—आनत देवों की आयु-स्थिति जघन्यतः अठारह सागरोपम और उत्कृष्टतः उन्नीस सागरोपम की है।

२३१—वीसं तु सागराइं
उक्कोसेण ठिई भवे।
पाणयम्मि जहन्नेणं
सागरा अउणवीसई ॥

विंशतिस्तु सागराः
उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत्।
प्राणते जघन्येन
सागरा एकोनविंशतिः ॥

२३१—प्राणत देवों की आयु-स्थिति जघन्यतः उन्नीस सागरोपम और उत्कृष्टतः बीस सागरोपम की है।

---

१. चोद्दसओ (अ)।

२३२—सागरा इक्कवीसं तु उक्कोसेण ठिई भवे। आरणम्मि जहन्नेणं वीसई सागरोवमा ॥	सागरा एकविंशतिस्तु उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत्। आरणे जघन्येन विंशतिः सागरोपमाणि ॥	२३२—आरण देवों की आयु-स्थिति जघन्यतः बीस सागरोपम और उत्कृष्टतः इक्कीस सागरोपम की है।
२३३—बावीसं सागराइं उक्कोसेण ठिई भवे। अच्चुयम्मि जहन्नेणं सागरा इक्कवीसई ॥	द्वाविंशतिः सागराः उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत्। अच्युते जघन्येन सागरा एकविंशतिः ॥	२३३—अच्युत देवों की आयु-स्थिति जघन्यतः इक्कीस सागरोपम और उत्कृष्टतः बाईस सागरोपम की है।
२३४—तेवीस सागराइं उक्कोसेण ठिई भवे। पढमम्मि जहन्नेणं बावीसं सागरोवमा ॥	त्रयोविंशतिः सागराः उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत्। प्रथमे जघन्येन द्वाविंशतिः सागरोपमाणि ॥	२३४—प्रथम ग्रैवेयक देवों की आयु-स्थिति जघन्यतः बाईस सागरोपम और उत्कृष्टतः तेईस सागरोपम की है।
२३५—चउवीस सागराइं उक्कोसेण ठिई भवे। बिइयम्मि जहन्नेणं तेवीसं सागरोवमा ॥	चतुर्विंशतिः सागराः उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत्। द्वितीये जघन्येन त्रयोविंशतिः सागरोपमाणि ॥	२३५—द्वितीय ग्रैवेयक देवों की आयु-स्थिति जघन्यतः तेईस सागरोपम और उत्कृष्टतः चौबीस सागरोपम की है।
२३६—पणवीस सागराइं उक्कोसेण ठिई भवे। तइयम्मि जहन्नेणं चउवीसं सागरोवमा ॥	पंचविंशतिः सागराः उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत्। तृतीये जघन्येन चतुर्विंशतिः सागरोपमाणि ॥	२३६—तृतीय ग्रैवेयक देवों की आयु-स्थिति जघन्यतः चौबीस सागरोपम और उत्कृष्टतः पच्चीस सागरोपम की है।
२३७—छव्वीस सागराइं उक्कोसेण ठिई भवे। चउत्थम्मि जहन्नेणं सागरा पणुवीसई ॥	षड्विंशतिः सागराः उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत्। चतुर्थे जघन्येन सागराः पंचविंशतिः ॥	२३७—चतुर्थ ग्रैवेयक देवों की आयु-स्थिति जघन्यतः पच्चीस सागरोपम और उत्कृष्टतः छब्बीस सागरोपम की है।

२३८—सागरा सत्तवीसं तु
उक्कोसेण ठिई भवे।
पंचमम्मि जहन्नेणं
सागरा उ छवीसई॥

सागराः सप्तविंशतिस्तु
उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत्।
पंचमे जघन्येन
सागराः तु षड्विंशतिः॥

२३८—पंचम ग्रैवेयक देवों की आयु-स्थिति जघन्यतः छब्बीस सागरोपम और उत्कृष्टतः सत्ताईस सागरोपम की है।

२३९—सागरा अट्ठवीसं तु
उक्कोसेण ठिई भवे।
छट्ठम्मि जहन्नेणं
सागरा सत्तवीसई॥

सागरा अष्टाविंशतिस्तु
उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत्।
षष्ठे जघन्येन
सागराः सप्तविंशतिः॥

२३९—षष्ठ ग्रैवेयक देवों की आयु-स्थिति जघन्यतः सत्ताईस सागरोपम और उत्कृष्टतः अट्ठाईस सागरोपम की है।

२४०—सागरा अउणतीसं तु
उक्कोसेण ठिई भवे।
सत्तमम्मि जहन्नेणं
सागरा अट्ठवीसई॥

सागरा एकोनत्रिंशत्तु
उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत्।
सप्तमे जघन्येन
सागरा अष्टाविंशतिः॥

२४०—सप्तम ग्रैवेयक देवों की आयु-स्थिति जघन्यतः अट्ठाईस सागरोपम और उत्कृष्टतः उनतीस सागरोपम की है।

२४१—तीसं तु सागराइं
उक्कोसेण ठिई भवे।
अट्ठमम्मि जहन्नेणं
सागरा अउणतीसई॥

त्रिंशत्तु सागराः
उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत्।
अष्टमे जघन्येन
सागराः एकोनत्रिंशत्॥

२४१—अष्टम ग्रैवेयक देवों की आयु-स्थिति जघन्यतः उनतीस सागरोपम और उत्कृष्टतः तीस सागरोपम की है।

२४२—सागरा इक्कतीसं तु
उक्कोसेण ठिई भवे।
नवमम्मि जहन्नेणं
तीसई सागरोवमा॥

सागरा एकत्रिंशत्तु
उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत्।
नवमे जघन्येन
त्रिंशत्सागरोपमाणि॥

२४२—नवम ग्रैवेयक देवों की आयु-स्थिति जघन्यतः तीस सागरोपम और उत्कृष्टतः इकत्तीस सागरोपम की है।

२४३—तेत्तीस सागराउ
उक्कोसेण ठिई भवे।
चउसुं पि विजयाईसुं
जहन्नेणेक्कतीसई[1]॥

त्रयस्त्रिंशत सागराः
उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत।
चतुर्ष्वपि विजयादिषु
जघन्येनैकत्रिंशत्॥

२४३—विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित देवों की आयु-स्थिति जघन्यतः इकतीस सागरोपम और उत्कृष्टतः तेंतीस सागरोपम की है।

१. जहन्ना इक्कतीसई (उ, ऋ०)।

२४४—अजहन्नमणुक्कोसा[1]
तेत्तीसं सागरोवमा ।
महाविमाण सव्वट्ठे
ठिई एसा वियाहिया ॥

अजघन्यानुत्कर्षा
त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि ।
महा-विमान सर्वार्थे
स्थितिरेषा व्याख्याता ॥

२४४—सर्वार्थसिद्धक देवों की जघन्यतः और उत्कृष्टतः आयु-स्थिति तेंतीस सागरोपम की है ।

२४५—जा चेव उ[2] आउठिई
देवाणं तु वियाहिया ।
सा तेसिं कायठिई
जहन्नुक्कोसिया[3] भवे ॥

या चैव तु आयुः-स्थिति
देवानान्तु व्याख्याता ।
सा तेषां काय-स्थितिः
जघन्योत्कर्षिता भवेत ॥

२४५—सारे ही देवों की जितनी आयु-स्थिति है उतनी ही उनकी जघन्य या उत्कृष्ट काय-स्थिति है ।

२४६—अणन्तकालमुक्कोसं
अन्तोमुहुत्तं जहन्नयं ।
विजढंमि सए काए
देवाणं हुज्ज अन्तरं ॥[4]

अनन्तकालमुत्कर्षं
अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यकम् ।
वित्यक्ते स्वके काये
देवानां भवेदन्तरम् ॥

२४६—उनका अन्तर (अपने-अपने काय को छोड़कर पुनः उसी काय में उत्पन्न होने तक का काल) जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टतः अनन्त-काल का है ।

२४७—एएसिं वण्णओ चेव
गन्धओ रसफासओ ।
'संठाणादेसओ वावि'[5]
विहाणाइं सहस्सओ ॥

एतेषां वर्णतश्चैव
गन्धतो रस-स्पर्शतः ।
संस्थानादेशतो वापि
विधानानि सहस्रशः ॥

२४७—वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान की दृष्टि से उनके हजारों भेद होते हैं ।

२४८—संसारत्था य सिद्धा य
इइ जीवा वियाहिया ।
रूविणो चेव ऽरूवो य
अजीवा दुविहा वि य ॥[6]

संसारस्थाश्च सिद्धाश्च
इति जीवा व्याख्याताः ।
रूपिणश्चैवारूपिणश्च
अजीवा द्विविधा अपि च ॥

२४८—संसारी और सिद्ध—इन दोनों प्रकार के जीवों की व्याख्या की गई है । इसी प्रकार रूपी और अरूपी—इन दोनों प्रकार के अजीवों की व्याख्या की गई है ।

---

१. °मणुक्कोसं (अ, ऋ०) ।
२. य (अ) ।
३. जहन्नमु° (ऋ०, वृ०) ।
४. इस श्लोक के बाद दो श्लोक और हैं—
अणंतकालमुक्कोसं वासपुहत्तं जहन्नगं ।
आणयादीण कप्पाणं गेविज्जाणं तु अंतरं ॥
संखिज्जसागरुक्कोसं वासपुहत्तं जहन्नगं ।
अणुत्तराण देवाणं अंतरं तु वियाहिया ॥ (उ) ।
५. संठाण भेयओ या वि (अ) ।
६. श्लोक क्रमांक २४८ से २६८ के स्थान पर चूर्णि में निम्न दो श्लोक हैं :—
जीवमजीवे एते णच्चा सद्दहिऊण य ।
सव्वन्नूसंमतमी जएज्जा संजमे विदू ॥
पसत्थसज्झाणोवगए, कालं किच्चा ण संजए ।
सिद्धे वा सासए भवति देवे वावि महड्ढिए ॥

२४९—इइ जीवमजीवे य
सोच्चा सद्दहिऊण य ।
सव्वनयाण अणुमए
रमेज्जा संजमे मुणी ॥

इति जीवानजीवांश्च
श्रुत्वा श्रद्धाय च ।
सर्वनयानामनुमते
रमेत संयमे मुनिः ॥

२४९—इस प्रकार जीव और अजीव के स्वरूप को सुनकर, उसमें श्रद्धा उत्पन्न कर मुनि ज्ञान-क्रिया आदि सभी नयों के द्वारा अनुमत संयम में रमण करे ।

२५०—तओ बहूणि वासाणि
सामण्णमणुपालिया ।
इमेण कमजोगेण
अप्पाणं संलिहे मुणी ॥

ततो बहूनि वर्षाणि
श्रामण्यमनुपाल्य ।
अनेन क्रम-योगेन
आत्मानं संलिखेन्मुनिः ॥

२५०—मुनि अनेक वर्षों तक श्रामण्य का पालन कर इस क्रमिक प्रयत्न से आत्मा को कसे—संलेखना करे ।

२५१—बारसेव उ वासाइं
संलेहुक्कोसिया[1] भवे ।
संवच्छरं मज्झिमिया[2]
छम्मासा[3] य जहन्निया[4] ॥

द्वादशैव तु वर्षाणि
संलेखोत्कर्षिता भवेत् ।
संवत्सरं मध्यमिका
षण्मासा च जघन्यका ॥

२५१—संलेखना उत्कृष्टतः बारह वर्षों, मध्यमतः एक वर्ष तथा जघन्यतः छह मास की होती है ।

२५२—पढमे वासचउक्कम्मि
विगईनिज्जूहणं[5] करे ।
बिइए वासचउक्कम्मि
विचित्तं तु तवं चरे ॥

प्रथमे वर्ष-चतुष्के
विकृति-निर्यूहणं कुर्यात् ।
द्वितीये वर्ष-चतुष्के
विचित्रं तु तपश्चरेत् ॥

२५२—संलेखना करने वाला मुनि पहले चार वर्षों में विकृतियों (रसों) का परित्याग करे । दूसरे चार वर्षों में विचित्र तप (उपवास, बेला, तेला आदि) का आचरण करे ।

२५३—एगन्तरमायामं
कट्टु संवच्छरे दुवे ।
तओ संवच्छरद्धं तु
नाइविगिट्ठं तवं चरे ॥

एकान्तरमायामं
कृत्वा संवत्सरौ द्वौ ।
ततः संवत्सरार्द्धन्तु
नातिविकृष्टं तपश्चरेत् ॥

२५३—फिर दो वर्षों तक एकान्तर तप (एक दिन उपवास तथा एक दिन भोजन) करे । भोजन के दिन आचाम्ल करे । ग्यारहवें वर्ष के पहले छः महीनों तक कोई भी विकृष्ट तप (तेला, चोला आदि) न करे ।

---

१. संलेहुक्कोसतो (बृ० पा०) ।
२. मज्झिमतो (बृ० पा०) ; मज्झमिया (बृ०) ।
३. छम्मासे (अ) ।
४. जहन्नतो (बृ० पा०) ।
५. विचि० (बृ०) ; विगई० (बृ० पा०) ।

२५४—'तओ संवच्छरद्धं तु
विगिट्ठं तु तवं चरे।
परिमियं चेव आयामं
तंमि संवच्छरे करे॥'[1]

ततः संवत्सरार्द्धन्तु
विकृष्टन्तु तपश्चरेत्।
परिमितञ्चैवायामं
तस्मिन् संवत्सरे कुर्यात्॥

२५४—ग्यारहवें वर्ष के पिछले छः महीनों में विकृष्ट तप करे। इस पूरे वर्ष में परिमित (पारणा के दिन) आचाम्ल करे।

२५५—कोडीसहियमायामं
कट्टु संवच्छरे मुणी।
मासद्धमासिएणं तु
आहारेण[2] तवं चरे॥

कोटी-सहितमायामं
कृत्वा संवत्सरे मुनिः।
मासिकेनार्द्धमासिकेन तु
आहारेण तपश्चरेत्॥

२५५—बारहवें वर्ष में मुनि कोटि-सहित (निरन्तर) आचाम्ल करे। फिर पक्ष या मास का आहार-त्याग (अनशन) करे।

२५६—कन्दप्पमाभिओगं[3]
किब्बिसियं मोहमासुरत्तं च।
एयाओ दुग्गईओ
मरणम्मि विराहिया होन्ति॥

कान्दर्पी आभियोगी
किल्बिषिकी मोहा आसुरत्वंच।
एता दुर्गतयः
मरणे विराधिका भवन्ति॥

२५६—कांदर्पी भावना, आभियोगी भावना, किल्बिषिकी भावना, मोही भावना तथा आसुरी भावना—ये पाँच भावनाएँ दुर्गति की हेतुभूत हैं। मृत्यु के समय ये सम्यग्-दर्शन आदि की विराधना करती हैं।

२५७—मिच्छादंसणरत्ता
सनियाणा हु हिंसगा।
इय जे मरन्ति जीवा
तेसिं पुण दुलहा बोही॥

मिथ्यादर्शन-रक्ताः
सनिदानाः खलु हिंसकाः।
इति ये म्रियन्ते जीवाः
तेषां पुनर्दुर्लभा बोधिः॥

२५७—मिथ्या-दर्शन में रक्त, सनिदान और हिंसक दशा में जो मरते हैं, उनके लिए फिर बोधि बहुत दुर्लभ होती है।

२५८—सम्मद्दंसणरत्ता
अनियाणा सुक्कलेसमोगाढा।
इय जे मरन्ति जीवा
सुलहा तेसिं भवे बोही॥

सम्यगदर्शन-रक्ताः
अनिदानाः शुक्ल-लेश्यामवगाढाः।
इति ये म्रियन्ते जीवाः
सुलभा तेषां भवेद् बोधिः॥

२५८—सम्यग्-दर्शन में रक्त, अनिदान और शुक्ल-लेश्या में प्रवर्तमान जो जीव मरते हैं, उनके लिए बोधि सुलभ है।

२५९—मिच्छादंसणरत्ता
सनियाणा कण्हलेसमोगाढा।
इय जे मरन्ति जीवा
तेसिं पुण दुलहा बोही॥

मिथ्या-दर्शन-रक्ताः
सनिदानाः कृष्ण-लेश्यामवगाढ़ाः।
इति ये म्रियन्ते जीवाः
तेषां पुनर्दुर्लभा बोधिः॥

२५९—जो मिथ्या-दर्शन में रक्त, सनिदान और कृष्ण-लेश्या में प्रवर्तमान होते हैं, उनके लिए फिर बोधि बहुत दुर्लभ होती है।

---

१. परिमियं चेव आयामं गुणुक्कस्सं मुणी चरे।
तत्तो संवच्छरद्धऽण्णं विगिट्ठं तु तवं चरे॥ (बृ० पा०)।
२. खमणेणं (बृ० पा०)।
३. कंदप्पमाभिओगं च (अ)।

२६०—जिणवयणे अणुरत्ता
जिणवयणं जे करेन्ति भावेण ।
अमला असंकिलिट्ठा
ते होन्ति परित्तसंसारी ॥

जिनवचनेऽनुरक्ताः
जिनवचनं ये कुर्वन्ति भावेन ।
अमला असंक्लिष्टाः
ते भवन्ति परीत-संसारिणः ॥

२६०—जो जिन-वचन में अनुरक्त हैं तथा जिन वचनों का भाव-पूर्वक आचरण करते हैं, वे निर्मल और असंक्लिष्ट होकर परीत-संसारी (अल्प जन्म मरण वाले) हो जाते हैं ।

२६१—बालमरणाणि बहुसो
अकाममरणाणि चेव 'य बहूणि'[1] ।
मरिहिन्ति[2] ते वराया
जिणवयणं जे न जाणन्ति ॥

बाल-मरणानि बहुशः
अकाम-मरणानि चैव च बहूनि ।
मरिष्यन्ति ते बराकाः
जिनवचनं ये न जानन्ति ॥

२६१—जो प्राणी जिन-वचनों से परिचित नहीं हैं, वे बेचारे अनेक बार बाल-मरण तथा अकाम-मरण करते रहेंगे ।

२६२—बहुआगमविन्नाणा
समाहिउप्पायगा[3] य गुणगाही ।
एएण कारणेणं
अरिहा आलोयणं सोउं ॥

बह्वागम-विज्ञानाः
समाध्युत्पादकाश्च गुणग्राहिणः ।
एतेन कारणेन
अर्हा आलोचनां श्रोतुम् ॥

२६२—जो अनेक शास्त्रों के विज्ञाता, आलोचना करने वाले के मन में समाधि उत्पन्न करने वाले और गुणग्राही होते हैं, वे अपने इन्हीं गुणों के कारण आलोचना सुनने के अधिकारी होते हैं ।

२६३—कन्दप्पकोक्कुइयाइं[4] तह
सीलसहावहासविगहाहिं[5] ।
विम्हावेन्तो य परं
कन्दप्पं भावणं कुणइ ॥

कन्दर्प-कौत्कुच्ये
तथा शील-स्वभाव-हास्य-विकथाभिः ।
विस्मापयन् च परं
कान्दर्पी भावनां कुरुते ॥

२६३—जो काम-कथा करता रहता है, दूसरों को हँसाने की चेष्टा करता रहता है, शील, स्वभाव, हास्य और विकथाओं के द्वारा दूसरों को विस्मित करता रहता है, वह कांदर्पी भावना का आचरण करता है ।

२६४—मन्ताजोगं[6] काउं
भूईकम्मं च जे पउंजन्ति ।
सायरसइड्ढिहेउं
अभिओगं भावणं कुणइ ॥

मंत्र-योगं कृत्वा
भूति-कर्म च यः प्रयुङ्क्ते ।
सातरसर्द्धिहेतो
आभियोगीं भावनां कुरुते ॥

२६४—जो सुख, रस और समृद्धि के लिए मंत्र, योग और भूति-कर्म का प्रयोग करता है, वह अभियोगी भावना का आचरण करता है ।

---

१. बहुयाणि (इ, उ, ऋ०, स) ।
२. मरहंति (उ) ; मरिहंति (ऋ०) ।
३. °मुपायगा (अ) ।
४. °कोक्कुयाइं (बृ०, सु०) ।
५. °हसण° (बृ०, सु०) ।
६. मंतं° (अ) ।

२६५—नाणस्स केवलीणं
धम्मायरियस्स संघसाहूणं।
माई अवण्णवाई
किब्बिसियं भावणं कुणइ॥

ज्ञानस्य केवलिनां
धर्माचार्यस्य सङ्घसाधूनाम्।
मायी अवर्णवादी
किल्बिषिकीं भावनां कुरुते॥

२६५—जो ज्ञान, केवल-ज्ञानी, धर्माचार्य, संघ तथा साधुओं की निन्दा करता है, वह मायावी पुरुष किल्बिषिकी भावना का आचरण करता है।

२६६—अणुबद्धरोसपसरो
तह य निमित्तंमि होइ
पडिसेवि।
एएहि कारणेहिं
आसुरियं भावणं कुणइ॥

अनुबद्धरोषप्रसरः
तथा च निमित्ते भवति प्रतिसेवी।
एताभ्यां कारणाभ्यां
आसुरीं भावनां कुरुते॥

२६६—जो क्रोध को सतत् बढ़ावा देता रहता है और निमित्त कहता है, वह अपनी इन प्रवृत्तियों के कारण आसुरी भावना का आचरण करता है।

२६७—सत्थग्गहणं विसभक्खणं च
जलणं च जलप्पवेसो य।
अणायारभण्डसेवा
जम्मणमरणाणि बन्धन्ति॥

शस्त्र-ग्रहणं विष-भक्षणं च
ज्वलनं च जल-प्रवेशश्च।
अनाचार-भाण्ड-सेवा
जन्म-मरणानि बध्नन्ति॥

२६७—जो शस्त्र के द्वारा, विष-भक्षण के द्वारा अग्नि में प्रविष्ट होकर या पानी में कूद कर आत्म-हत्या करता है और जो मर्यादा से अधिक उपकरण रखता है, वह जन्म-मरण की परम्परा को पुष्ट करता है—मोही भावना का आचरण करता है।

२६८—इइ पाउकरे बुद्धे
नायए परिनिव्वुए।
छत्तीसं उत्तरज्झाए
भवसिद्धीयसंमए[1] ॥
—त्ति बेमि।

इति प्रादुरकरोद् बुद्धः
ज्ञातकः परिनिर्वृतः।
षट्त्रिंशदुत्तराध्यायान्
भव्य सिद्धिक-सम्मतान्॥
—इति ब्रवीमि।

२६८—इस प्रकार भव्य जीवों द्वारा सम्मत छत्तीस उत्तराध्ययनों का, तत्त्ववेत्ता, परिनिर्वृत्त (उपशान्तात्मा) ज्ञात-वंशीय भगवान् महावीर ने प्रादुष्करण किया।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

---

१. °संबुद्धे (बृ० पा०)।

पदानुक्रम

अ

का

की

चा

चि

वी

सू

से

शुद्धि-पत्रक : १

मूलपाठ, संस्कृत-छाया एवं हिन्दी-अनुवाद

पृष्ठ	श्लोक		अशुद्ध	शुद्ध
७	४।३	मूलपाठ	दुस्सील-पडि○	दुस्सीलपडि○
७	५।१	,,	कण-कु○	कणकु○
९	१५।३	,,	अप्पा-दन्तो	अप्पा दन्तो
१२	३२।२	सं० छाया	○दत्ते○	○दत्ते○
१३	३६	हि० अनु०	अच्छा छेदा है।	बहुत अच्छा छेदा है।
१४	४०।४	सं० छाया	त	न
२७	४।३	,,	सेवेत्	सेवेत
२८	१०।१	मूलपाठ	दं-स○	दंस○
४४	६।१	सं० छाया	सङ्गः	संङ्गै
६७	३।४	,,	उत्कपण	उत्कर्षेण
७२	३२।२	,,	समुच्छ्रयम्	समुच्छ्रयम्
१०१	११।१	,,	शुद्धेषणां	शुद्धेषणा
१०२	१८।२	,,	०वक्षास्स्वनेक०	०वक्षस्स्वनेक०
१०२	१८।४	,,	यथे व	यथेव
११०	१०।१	,,	ह्रियमाणे	ह्रियमाणे
१११	१९	हि० अनु०	देवेन्द्र ने नमि राजर्षि से	देवेन्द्र से नमि राजर्षि ने
११२	२२।२	सं० छाया	भित्वा	भित्त्वा
११२	२४।३	मूलपाठ	बालग्ग○	वालग्ग○
११६	४८।१	सं० छाया	च	तु
११८	५८।१	मूलपाठ	उत्तुमो	उत्तमो
१२४	१०	हि० अनु०	असंख्य-काल	संख्येय-काल
१२७	३०।१	मूलपाठ	अवउज्झियं	अवउज्झिय
१२८	३६।३	,,	बहए	बूहए
१२९	पंक्ति २	,,	बहुस्सुयपुज्जा	बहुस्सुयपुज्जं
१३१	,,	,,	,,	,,
१३४	१०।१	सं० छाया	स्थान:	स्थानै:
१३४	१०	हि० अनु०	जोच पल	जो चपल
१४५	१६।४	मूलपाठ	दहामु	दाहामु
१६२	११	हि० अनु०	उसको	उसके
१९९	सू०२	सं० छाया	स्थविर-	स्थविरै
२०३	सू०७	मूलपाठ	कुडुम्तरंसि	कुडुम्तरसि

पृष्ठ	श्लोक		अशुद्ध	शुद्ध
२०८	१३।१	मूलपाठ	गत०	गत्त०
२१५	१।२	,,	सुणिता	सुणित्ता
२२६	२१।२	सं० छाया	कस्मं	कस्मै
२२७	२७।४	,,	सम्यग	सम्यग्
२४०	९।१	सं० छाया	विष्येष्व○	विषयेष्व○
२४०	१०।४	,,	अनुजानात	अनजानीत
२४५	३६।३	,,	चेव	चेव
२४५	३८।३	,,	चेव	चेव
२४५	३७।१	,,	नैव	चेव
२४६	४१।१	,,	था	यथा
२४९	६१	हि० अनु०	सुण्डियों	मुसुण्डियों
२५२	७९।४	मूलपाठ	आहरित्त	आहरित्तु
२५५	९४	हि० अनु०	ज्ञान, चारित्र	ज्ञान, दर्शन, चारित्र
२६३	१६।४	मूलपाठ	?	!
२६३	१६।४	सं० छाया	?	!
२६४	१९।१	,,	महाराजः !	महाराज !
२६६	३१।३	,,	○भवितं	○भवितुं
२६७	३६।३	,,	काम-दुधा	कामदुधा
२७७	४।१	मूलपाठ	घरणी	घरणी
२७९	१३।१	,,	दयाणुकुम्पी	दयाणुकम्पी
२८१	२३	हि० अनु०	करन	करने
२९१	२३	,,	सहस्राश्रमण	सहस्राम्रवन
२९२	२८।४	सं० छाया	समवसृता	समवस्तृता
२९६	४८	हि० अनु०	उग्र-तप का आच-रण कर तथा सब कर्मों को खपा, वे दोनों (राजीमती और रथनेमि) अनुत्तर सिद्धि को प्राप्त हुए।	उग्र-तप का आचरण कर वे दोनों (राजी-मती और रथनेमि) केवली हुए और सब कर्मों को खपा अनुत्तर सिद्धि को प्राप्त हुए।
३०४	६।२	सं० छाया	○जिह्वयो	○जिह्वयो
३०४	६।४	,,	गोतमो	गौतमो

पृष्ठ	श्लोक		अशुद्ध	शुद्ध
३१६	८०।२	सं० छाया	°नाम	°नाम्
३२५	११३	,,	पंचेव	पंचैव
३२७	१३।१	,,	ओवो°	ओघो°
३२९	२६।४	,,	सवभ्य:	सर्वेभ्य:
३३७	१३।३	,,	प्रांजलि	प्राञ्जलि
३५२	१५।४	मूलपाठ	अमो°	ओम°
३५६	३४।१	सं० छाया	आतङ्क उपसग	आतंके उपसर्गे
३५८	४५।३	,,	°लिखेत	°लिखेत्
३५८	४७	हि० अनु०	दर्शग	दर्शन
३६५	३।२	सं० छाया	°विघ्नन	विघ्नन्
३६६	७।४	मूलपाठ	उज्जाहित्ता	उज्जहित्ता
३६८	१६।४	,,	°गिण्हइ	°गिण्हई
३७८	२९।४	सं० छाया	पूवं	पूर्वं
३७९	३५।४	मूलपाठ	°सज्झई	°सुज्झई
३९३	सू०१पं०३	सं० छा०	श्रमणन	श्रमणेन
३९३	सू०१पं०९	हि० अनु०	उच्चाचरण	उच्चारण
४००	सू० १२	,,	उत्तरोत्तर बढ़ने वाले	×
४००	सू० १३	सं० छाया	निरुणधि	निरुणद्धि
४०२	सू० २२	मुलपाठ	घणिय°	वणिय°
४०२	सू० २२	हि० अनु०	अन्भ-व	अनुभव
४०४	सू० ३१	सं० छाया	निजरयति	निर्जरयति
४०५	सू० ३४	,,	सक्लिश्यति	संक्लिश्यति
४०५	सू० ३२	मूलपाठ	विणियट्ठु°	विणियट्ट°
४०९	सू० ४९	,,	अणुस्सियत्ते	अणुस्सिए
४०९	सू० ४८	सं० छा०	जावो	जीवो
४०९	सू० ४९	,,	अनुत्सिकत्वेन	अनुत्सिक्तो
४१२	सू० ६१	हि० अनु०	अर	और
४१२	सू० ६१	,,	औन्त	अन्त
४१५	सू० ७१	सं० छा०	तावदेर्यापथिकं कमं	तावदैर्यापथिकं कर्म
४१५	सू० ७१	मूलपाठ	एणं	दंसणविजएणं
४१६	सू० ७२	हि० अनु०	है, त	है, तब
४२२	१०	,,	घन तप	घन-तप
४२२	८।३	मूलपाठ	य	×
४२२	८।४	,,	वज्झो	य वज्झो

पृष्ठ	श्लोक		अशुद्ध	शुद्ध
४२३	१४	हि० अनु०	१४-अविचार	अथवा
			द्रव्य	१४-द्रव्य
४२५	२३	,,	दशा वर्ण	दशा, वर्ण
४४२	७	,,	दु:ख को	दु:ख का
४४३	१४।४	मूलपाठ	दट्ठं	दट्ठुं
४४७	३५	हि० अनु०	षीतराग	वीतराग
४४८	४१	,,	घ्यापार	व्यापार
४४८	४१।३	सं० छाया	घ्यये	व्यये
४४९	४६।४	,,	दुखं	दु:खं
४५०	५१।३	,,	दान्त	दुर्दान्त-
४५१	५९।२	,,	दु:खोद्य-	दुखोघ-
४५१	५९।४	,,	यतस्य	यत्तस्य
४५५	८१।१	,,	स्पश	स्पर्शं
४५७	८९।२	,,	प्राप्नोति	प्राप्नोति स
४५७	९१।३	,,	बाल	बाल:
४७०	२१।१	,,	उदृधि०	उदधि०
४७०	२२।२	,,	उत्क्रर्षेण	उत्कर्षेण
४७१	२५।१	,,	कर्नणाम्	कर्मणाम्
४७९	११।४	मूलपाठ	नायब्वो	नायव्वो
४८२	३१	हि० अनु०	धेर्य	धर्म्य
४८३	३८,३९	,,	मुहूर्त्त	अन्तर्मुहुर्त्त
४८६	५६।४	सं० छाया	र्गतिमुपपद्यते	दुर्गतिमुपपद्यते बहुश:
४८७	६०	हि० अनु०	है	है और
४९६	१९।१	सं० छाया	ध्यायत्	ध्यायेत्
५०७	३९।१	,,	उणष्को	उष्णको
५१०	५५।१	,,	क्व:	क्व
५१०	५५।४	,,	तु	×
५१३	७४।२	,,	°ऽजन°	ऽञ्जन०
५१६	८९	हि० अनु०	उसकी	उसी
५१८	१०२।२	सं० छाया	०मुत्केर्षिता	०मुत्कर्षिता
५१९	११९।२	,,	लोके-देसे	लोक-देशे
५२२	१२६।३	मूलपाठ	बे०	बे०
५२२	१२८।१	,,	सोमंगला	सोमंगला चेव
५२२	१२८।२	,,	चेव	×
५२३	१३६।१	सं० छाया	ह्रीम्रिवा°	श्रीम्रिया°

शुद्धि-पत्रक : १-२

पृष्ठ	श्लोक		अशुद्ध	शुद्ध
५२५	१४३।४	सं० छाया	अण्तर०	अन्तर०
५२६	१५।१।२	,,	उत्कषण	उत्कर्षेण
५२६	१५३।४	,,	०मेतद्	०मेतद्
५२८	१६६।२	,,	उत्कषण	उत्कर्षेण
५२९	१६९।१	,,	वर्वतश्चैव	वर्णतश्चैव
५३०	१७६	हि० अनु०	पूर्व	करोड पूर्व
५३२	१८५	,,	की है।	की है—
५३२	१८८	,,	समुद्र	समुद्ग
५३३	१९१	,,	○तव	○तवें
५३६	२१३	,,	अर्घः	अघः
५३६	२०८।१	मूलपाठ	नक्खात्त	नक्खत्ता
५३७	२१९।२	सं० छाया	स्थिति भवेत्	स्थिति र्भवेत्
५४०	२३७।३	,,	चतुथ	चतुर्थ
५४१	२४३।१	,,	त्रयस्त्रिंशत	त्रयस्त्रिंषात्
५४२	२४५।४	,,	भवेत	भवेत्
५४४	२५८।१	,,	सम्यग०	सम्यग्०
५४५	२६३।४	,,	कान्दपा	कान्दर्पो
५४५	२६४।३	,,	०हेतो	०हेतोः
५४५	२६३।१	मूलपाठ	०इयाइं तह	०इयाइं
५४५	२६३।२	,,	सील○	तह सील○
५४५	२६१	हि० अनु०	के	से
५४५	२६३	,,	की	को

शुद्धि-पत्रक : २

पाठान्तर

पृष्ठ	पाठान्तर क्रम	अशुद्ध	शुद्ध
९	४	○दम्मे○	○दमे○
९	५	(अ, उ, म)	(अ, उ, ऋ)
१०	श्लोक २०।१	वाहिन्तो	वाहित्तो (अ, आ, इ, उ)
१३	३	(चू० प०)	(चू० पा०)।
१४	२	(बृ०पा०, चू०)	(बृ० पा०, चू० पा०)।
१४	३,४	(चू० पा०)	(चू०)।
१४	५	(अ, उ, बृ०)	(अ, उ); किती य (बृ०)।
४३	१	(बृ०पा०,चू०पा०)	(बृ०पा०, चू०)।
५१	२	(बृ०पा०,चू०पा०)	(ऋ, बृ०पा०, चू० पा०)
५१	७	पीहाति	पीहति
६९	२		अक्खे भम्मांमि (बृ०पा०)।
७०	२	अक्खाय	अक्खायं
७०	२	(बृ०पा०)	(चू०पा०)
७७	२	(चू०पा०)	(बृ०, चू०पा०)।
७८	५	(सु०)	(स०)
१००	७	थावरे हि वा (चू०)	थावरे हिं वा (चू०पा०)
१२५	१	कुतित्थं	कुतित्थ○
१२६	२	(उ, म, बृ०)	(उ, ऋ, बृ०)
२०७	५	धम्मलद्ध	धम्मलद्धुं
२७८	४	परमसंवेगु○	परमसंवेग○
३२६	५	○मुवहि	○मुवहिं
३९८	सू०६	'पडिवन्ने ये'५	'पडिवन्ने य णं'५
४०९	२	अणुस्सियसे	अणुस्सिए
४४१	२	(सु० आ)	(सु० पा०)।
४४१	५	मणिणो	मुणिणो
५०९	२	○णगविहा	○णेगविहा
५३१	१	○ह	○हं

शुद्धि-पत्रक : ३

आमुख

पृष्ठ	स्थल	अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	स्थल	अशुद्ध	शुद्ध
३	टि० ४	३०।८, ३०	३०।३०	२७६	,, ४	मौलिक	भौगोलिक
६०	पंक्ति १४	तद्भव-मरण :— वर्तमान...	तद्भव-मरण :—वर्तमान-भव के समान अगले भव का आयुष्य बांध लेने के पश्चात् वर्तमान...	२८६	,, २५	गई ।[1] उसी....	गई । राजीमती भी एक गुफा में गई । उसी...
				२८६	,, २६	सुलने	सुलाने
				३०२	,, ३	सामाजिक-	सामायिक-
६०	,, १५	सम्यक्‌दृष्टि	अविरत-सम्यक्‌दृष्टि	३३४	,, १६	(श्लोक ३१)	(श्लोक ३०)
६३	,, १६	उपेक्षा	अपेक्षा	३४७	,, १६	अपने	अपने अहं को
६४	,, २२	समय में	×	४४०	,, १२	क	को
१०५	,, ७	नगति	नगति[2]	४६४	,, १४	भय,	भय, शोक
१३१	,, १	बहुस्सुयपुज्जा	बहुस्सुयपुज्ज	४६५	,, ७	अप्रशस्त (ज्ञान)	अप्रशस्त श्रुत (ज्ञान)
१३२	,, २२	चाहिए ।	चाहिए ।[3]	४७५	,, ११	गया है ।	गया है, और दूसरे त्रिक को 'धर्म-लेश्या' कहा गया है ।
२२१	,, १७	(श्लोक २२,२३)	(श्लोक २२)				
२३७	,, २०	अपरिग्रह	परिग्रह	४९२	,, ९	(श्लोक १)	(श्लोक २१)

शुद्धिपत्रक : ४

पदानुक्रमणिका

पृष्ठ	कालम	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध	२	२	१९	जींव लोगम्मि	जीवलोगम्मि
१	१	३	अइमाय	अइमायं	२	२	२०	अकिंचपे	अकिंचणे
१	१	९	अएव्व आगया एसे	अय व्व आगयाएसे	२	३	२	णावणाए	भावणाए
१	१	१६	वाहिरेण	वाहिरेण	२	३	१८	अणेणगच्छन्दा इह	अणेगछन्दाइह
१	१	१८	अकड	अकडं	२	३	२६	अणेगाण	अणेगाणं
१	२	५	अकोहणो	अकोहणे	२	३	३२	सिद्धिमिहेग पक्खं	सिद्धिमिहेगपक्खं
१	२	२४	सव्वभक्खी	सव्वभक्खी	३	१	३	परियावसे ?	परियावसे ?
१	२	२८	अचिरकालकयंमिय	अचिरकालकयंमि य	३	१	९	ट्ठाणं	ठाणं
१	३	१२	अटठं न	अट्ठं न	३	३	१३	मज्जं	मज्झं
२	१	६	अट्ठमुहुत्ता	अट्ठ मुहुत्ता	३	३	२०	अप्प	अप्पं
२	१	१७	अट्ठेवउ	अट्ठेव उ	३	३	२७	अप्पडिहयबले	अप्पडिहयबले
२	२	२	अणभिग्गहिओ	अणभिग्गहिओ	४	२	३	मुणी	मुणि

शुद्धिपत्रक : ४

५

पृष्ठ	कालम	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४	२	२१	६-२	६-२
४	२	२२	१०-३६	१०-३४
४	२	३१	हु	य
४	२	३४	णिच्चो	निच्चा
४	३	१०	अमयं	अमयं
४	३	२०	अरदं	अरई
५	३	३	ट्ठाणेहिं	ठाणेहि
५	३	१२	ट्ठाणेहिं	ठाणेहि
५	३	१५	ट्ठाणेहि	ठाणेहि
५	३	१६	धरणी	घरणी
५	३	२४	ट्ठाणलक्खणो	ठाणलक्खणो
६	१	४	जणाओ	जणओ
६	१	१३	अट्ठिए	उट्ठिए
६	१	१७	निज्जओ	निज्जिओ
६	१	३२	१७-१६	११-१६
६	२	४	आकउम्मं	आउकम्मं
६	२	२७	अगमे गंगसोउ	अगासे गंग सोउ
६	३	२८	वन्दिता	वन्दित्ता
७	१	१२	जमसिणो	जसंमिणो
७	२	२	आसणगओ	आसण गओ
७	२	८	महड्ढिया	महिड्ढिया
८	१	१४	णजोगग	णजोग्गं
८	१	१५	चित्तसि	चित्तंसि
८	२	११	इहऽज्जथन्ते	इहऽज्जयन्ते
९	१	११	नीय	नीयं
९	२	२१	समूलिय	समूलियं
९	२	२२	बहू	वहू
९	३	३	धणे	धणे
९	३	४	उल्लंघणे	उल्लंघणे
९	३	५	उल्लिओ	उल्लियो
१०	१	१०	उस्सूलगसयग्घीओ	उस्सूलगसयग्घीओ
१०	१	१२	धासमेसन्तो	घासमेसन्तो
१०	३	१३	खत्तिओ	खत्तियो
११	३	७	तब	तवं

पृष्ठ	कालम	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१२	३	२६	°कुम्मीमु	°कुम्भीसु
१३	२	१८	कस	कसं
१४	१	१५	१२-३	१२-३;२२-४७
१५	२	७ के बाद		केसिं गोयममब्बवी २३-२२
१५	२	८	५२,६२,	५२,५७,६२,
१५	२	१३	२२,३७,	३७,
१६	१	२४	तिख°	तिक्ख°
१७	२	९	१६-२१	२६-२१
१८	३	१२	चरिमे···३४-५९	×
१९	१	१४	चिरकालेण घि	चिरकालेण वि
१९	२	४	°मन्ता	°भन्ता
१९	२	९	छुण्ह	छण्हं
२०	३	५	मं	मंथु
२३	१	११	जे सन्ति···	जे सन्ति···५-२
२४	३	४ के बाद		तं सव्व साहीणमिहेव लुब्भं १४-१६
२५	१	३	३-१०,	×
२६	२	१२,१३,१४	पालि०	पलि०
३३	१	२०	३५-५	३३-५
३५	१	४	१९	२९
३९	३	५	३६-२२,२६	३६-२२ से २६
४३	१	६	३६-६	२६-६
४४	३	३०	रोए	रोहए
४५	१	अन्तिम	१३४-१६,८	३४-१६.१८
४७	१	३४	२३-२४	२३-१४
४७	२	२०	३३-१०६	३२-१०६
५१	३	१५	सव्वं धम्मं···१४-५०	×
५१	३	अन्तिम	°ककर्णि २६-१,४६	°क्खर्णि २६-१
५२	१	१३	७६	७६,७८
५२	१	२४	नयविहिहि	नयविहीहि
५३	२	१	सिज्झ	सिज्झि°
५३	३	२९	द्दट्ठा	छट्ठा
५३	३	३०	वहुसो	बहुसो

पृष्ठ	कालम	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५४	१	६	वूओ	दूओ
५४	२	२७	वहू	बहू
५४	२	३१	नायराण	बायराण
५४	३	१४	घाण०	घाण०
५४	३	१७	जब्भ०	जिब्भ०
५५	२	४	बीयरुह	बीयरुह त्ति
५५	२	७	३२-३५-३६	३२-३५,३६
५५	३	४	०गीण०	०गोण०
५५	३	६	हरिया०	हरिय०

२६ वें अध्ययन का दूसरा सूत्र 'संवेगेणं भन्ते !' पृ० ३६६ से आरम्भ होगा। अतः बाद के सूत्र क्रमशः एक संख्या से बढ़ते चले जायेंगे। इसलिए २६ वें अध्ययन के सभी प्रमाणों को एक-एक सूत्र बढ़ा कर पढ़ा जाए।

आमुखों में प्रयुक्त ग्रन्थ-सूची

ग्रन्थ-नाम	लेखक-निर्युक्तिकार-वृत्तिकार, अनुवादक आदि	संस्करण	प्रकाशक
अनगारधर्मामृतम्	पं० आशाधर	सं० १९७६	माणिकचंद दिगम्बर जैन ग्रंथमाला समिति, बम्बई
अनुयोगद्वाराणि (वृत्ति सहित)	आर्यरक्षित सूरि		देवचन्द्र लालभाई पुस्तकोद्धार फण्ड, बम्बई
	वृत्तिकार हेमचन्द्र सूरि (मलधारी)	सन् १९२४	आगमोदय समिति, मेसाणा
	वृत्तिकार हरिभद्र	सन् १९२८	श्री ऋषभदेवजी केशरीमलजी श्वेताम्बर संस्था, रतलाम
अष्ट पाहुड	कुन्दकुन्द		
	भाषावचनिका—		
	पं० जयचन्द छाबड़ा, जयपुर	सन् १९५०	पाटनी दि० जैन ग्रन्थमाला, मारोठ (राजस्थान)
अष्टांगहृदय	वाग्भट		
आचाराङ्ग सूत्रम् (निर्युक्ति, वृत्ति सहित)	निर्युक्तिकार भद्रबाहु वृत्तिकार शीलांकाचार्य	सन् १९३५	सिद्धचक्र साहित्य प्रचारक समिति, बम्बई
आवश्यक सूत्रम् (निर्युक्ति, वृत्ति सहित)	निर्युक्तिकार भद्रबाहु वृत्तिकार मलयगिरि	सन् १९२८	आगमोदय समिति, बम्बई
इसि-भासियाइं सुत्ताइं	अनु० सं० मुनि मनोहर	सन् १९६३	सुधर्मा ज्ञान मन्दिर, बम्बई
उत्तराध्ययनानि (चूर्णि सहित)	चूर्णिकार जिनदास गणि महत्तर	सन् १९३३	ऋषभदेवजी केशरीमलजी श्री श्वेताम्बर संस्था, रत्नपुर (मालवा)
उत्तराध्ययनानि (निर्युक्ति, बृहद् वृत्ति सहित)	निर्युक्तिकार भद्रबाहु वृत्तिकार वादिवेताल शान्ति सूरि	सं० १९७२	देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार भांडागार संस्था, बम्बई
उत्तराध्ययनानि (सुखबोधा वृत्ति सहित)	वृत्तिकार नेमिचन्द्राचार्य	सं० १९९३	फूलचन्द खीमचन्द, बलाद, अहमदाबाद
उपदेशमाला (भाषान्तर)	धर्मदास गणि	सन् १९३३	मास्टर उमेदचन्द रामचन्द, अहमदाबाद
ओघनिर्युक्ति (भाष्य, वृत्ति सहित)	भद्रबाहु वृत्तिकार द्रोणाचार्य	सन् १९१९	आगमोदय समिति, मेसाणा
औपपातिक सूत्रम् (वृत्ति सहित)	वृत्तिकार अभयदेव सूरि	सं० १९९४	पं० भूरालाल कालीदास
गोम्मटसार (जीवकाण्ड)	नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती अनु० जे० एल० जैनी, एम० ए०	सन् १९२७	सेन्ट्रल जैन पब्लिशिंग हाउस, अजिताश्रम, लखनऊ
,, (कर्मकाण्ड)	अनु० ब्रह्मचारी शीतल प्रसाद	सन् १९३७	,, ,,
जातक	सं० भिक्खू जगदीसकस्सपो	सन् १९५९	पाली पब्लिकेशन बोर्ड (बिहार गवर्नमेंट)
जातक	हि०अनु० भदन्त आनन्द कौसल्यायन	प्रथम संस्करण	हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग
जीवाजीवाभिगम सूत्रम् (वृत्ति सहित)	वृत्तिकार मलयगिरि	१९१९	देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार फण्ड, बम्बई

ग्रन्थ-नाम	लेखक-निर्युक्तिकार-वृत्तिकार अनुवादक आदि	संस्करण	प्रकाशक
तत्त्वानुशासन	रामसेन	प्रथम	माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला समिति, बम्बई
तत्त्वार्थाधिगमसूत्र (सभाष्य)	उमास्वाति अनु० खूबचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री	सन् १९३२	परमश्रुतप्रभावक जैन मंडल, बम्बई
तत्त्वार्थ वृत्ति (श्रुतसागरीय)	श्रुतसागर सूरि स० प्रो० महेन्द्रकुमार जैन	सन् १९४९	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
तपागच्छ पट्टावलि	सं० मुनि कल्याण विजयजी		
दक्ष स्मृति			
दसवेआलियं तह उत्तरज्झयणाणि	वाचना प्रमुख : आचार्य तुलसी	सं० २०२३	जैन श्वेताम्बर तेरापन्थी महासभा कलकत्ता
दशवैकालिक (निर्युक्ति सहित)	निर्युक्तिकार भद्रबाहु	सन् १९१८	देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार भण्डागार संस्था, बम्बई
दशवैकालिक (वृत्ति सहित)	वृत्तिकार हरिभद्र	सन् १९१८	,, ,, ,,
दीघनिकाय (मूल पालि)	सं० भिक्खु जगदीस कस्सपो	सन् १९५८	पाली पब्लिकेशन बोर्ड, बिहार गवर्नमेन्ट
दीघनिकाय	हि० अनु० राहुल सांकृत्यायन	सन् १९३६	महाबोधि सभा, सारनाथ, बनारस
नंदी सूत्रम् (वृत्ति सहित)	वाचक क्षमाश्रमण वृत्तिकार मलयगिरि	सन् १९२४	आगमोदय समिति, मेसाणा
नन्दी सूत्रम (चूर्णि, वृत्ति सहित)	चूर्णिकार जिनदास महत्तर वृत्तिकार हरिभद्र सूरि	सन् १९३१	रूपचन्द्र नवलमल पाडी, सिरोही
नाभिनन्दोद्धार प्रबन्ध			
निशीथ सूत्रम् (भाष्य, चूर्णि सहित)	प्रणेता विसारगणि महत्तर चूर्णिकार जिनदास महत्तर सम्पादक श्री अमरमुनि	सन् १९५७	सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा
Patanjali's yoga Sutras	Patanjali Eng. Tr. by Rama Prasad, M.A	1910	Panini Office, Bhuvaneswari Asrama, Bahadurganj
पातञ्जल योगदर्शन	पतञ्जलि	सं० २०१७	गीताप्रेस, गोरखपुर
प्रज्ञापना (वृत्ति सहित)	श्यामाचार्य वृत्तिकार मलयगिरि	सन् १९१८	आगमोदय समिति, मेसाणा
प्रवचनसारोद्धार (पूर्व भाग)	नेमिचन्द्र सूरि टी० सिद्धसेन सूरि	१९२२	सेठ देवचन्द्र लालभाई, जैन पुस्तकोद्धार संस्था (ग्रन्थांक ५८)
,, (उत्तर भाग)	,,	१९२६	,, (ग्रन्थांक ६४)
भगवती (वृत्ति सहित)	वृत्तिकार अभयदेव सूरि		
मनुस्मृति	सं० मनुनारायणराम आचार्य, काव्यतीर्थ	सन् १९४६	निर्णयसागर प्रेस, बम्बई
मूलाचार (सटीक)	वेट्टकेराचार्य टीकाकार वसुनंदि	सं० १९७७	माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला समिति, बम्बई

आगमों में प्रयुक्त ग्रन्थ-सूची ३

ग्रन्थ-नाम	लेखक-निर्युक्तिकार-वृत्तिकार-अनुवादक आदि	संस्करण	प्रकाशक
मूलाचार	कुन्दकुन्दाचार्य		
	हि० अनु० जिनदास पार्श्वनाथ फडकले, शास्त्री, न्यायतीर्थ	वीर सं० २४८४	श्रुत भांडार व ग्रंथ प्रकाशन समिति, फलटण (उत्तर सितारा)
मूलाराधना (विजयोदया टीका सहित)	शिवार्य टीकाकार अपराजित सूरि	सन् १९३५	शोलापुर
विविध तीर्थकल्प	जिनप्रभ सूरि	सन् १९३४	सिंघी जैन ज्ञानपीठ, शान्तिनिकेतन (बंगाल)
समरसिंह			
समवायांग सूत्रम् (वृत्ति सहित)	वृत्तिकार अभयदेव सूरि	सन् १९१८	आगमोदय समिति, मेसाणा
सुत्तनिपात (पालि)	सं० भिक्खू जगदीस कस्सपो	सन् १९५९	पाली पब्लिकेशन बोर्ड (बिहार गवर्नमेंट)
सुत्तनिपात	हि०अनु० भिक्षु धर्मरत्न, एम० ए०	सन् १९५१	महाबोधि सभा, सारनाथ (बनारस)
सुत्तनिपात	गु० अनु० अध्यापक धर्मानन्द कोसम्बी	सन् १९३१	गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद
सूत्रकृताङ्ग (वृत्ति सहित)	वृत्तिकार अभयदेव सूरि	सन् १९१७	आगमोदय समिति, मेसाणा
सूत्रकृताङ्ग चूर्णि	जिनदास गणि	सन् १९४१	श्री ऋषभदेवजी केशरीमलजी श्वेताम्बर संस्था, रतलाम (मालवा)
स्थानाङ्ग सूत्रम् (वृत्ति सहित)	वृत्तिकार अभयदेव सूरि	सन् १९३७	शेठ माणेकलाल चुनीलाल, शेठ कान्तिलाल चुनीलाल, अहमदाबाद
The Uttaradhyayana Sutra	Jarl Charpentier, Ph.D.	1922	UPPSALA